मेरी कहानी

लेखक

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

हिन्दी-सम्पादक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

१९४६
सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

छठी बार : १९४६
मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस
दिल्ली

कमला को

जिसकी अब याद ही रह गई

संपादकीय

[पहले संस्करण से]

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठकों के हाथों में पहुंचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मैं अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूं। समझ में नहीं आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा मांगूं? एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत नहीं अच्छा रहता, फिर दूसरी और जिम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफी था। ऐसी दशा में श्री जवाहरलालजी की 'कहानी' के अनुवाद और सम्पादन के काम की जिम्मेदारी मेरे लिए दुःसाहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज? बापूजी—महात्माजी—की 'आत्म-कथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसंयोग आने पर इस गौरव से अपने को वंचित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने कांग्रेस-इतिहास के दोनों संस्करणों के अनुवाद और सम्पादन के बाद ही यह जिम्मेदारी भी उठानेके लिए मुझसे कहा तो मैंने फौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस खयाल से कि काम जल्दी और समय पर खत्म होजाय, अनुवाद में शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर जवाब दे दिया और गाड़ी अधबीच में ही रुक गई। लेकिन काम को जल्दी करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था, कि मैं डर गया। लेकिन मेरे [illegible]कुललालजी असावा तथा भाई शंकरलालजी वर्मा (मन्त्री, प्रान्तीय [illegible], अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। [illegible]लजी तो 'कांग्रेस इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम में भी [illegible]हे थे। इस बार भाई शंकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये।

यह इन दोनों के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मैं इनका बहुत आभारी हूं।

अनुवाद के सिलसिले में मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल, एम०एल०ए०, (केन्द्रीय) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गीय (प्रधान मन्त्री, इन्दौरराज्य-प्रजा-मण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और फ्रेञ्च उद्धरणों का अंग्रेजी भाषान्तर स्वयं मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि राम-चन्द्रजी दिवेकर (ग्वालियर) ने किया है। इसके लिए मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूं।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट जाने पर भी मेरे अनुरोध पर, इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादों का संशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटबिहारी वर्मा ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-संशोधन और कहीं-कहीं भाषा-सम्बन्धी संशोधन आदि में शुरू से ही सहा-यता दी है। अतः इन दोनों का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूं।

अनुवाद की भाषा में प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। और अनुवाद का पहला फार्म खुद जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होंने पसन्द किया था। उससे मुझे काफी उत्साह मिला था। अगर सारी पुस्तक पंडितजी को पसन्द आ गई तो मुझे बड़ा सन्तोष मिलेगा; क्योंकि मैं वर्त्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओं को पंडितजी की राय में बोलता हुआ पाता हूं।

गांधी-आश्रम, हटुंडी (अजमेर) **हरिभाऊ उपाध्याय**
गांधी-जयन्ती, १९३६।

पांचवें संस्करण का वक्तव्य

'मेरी कहानी' का यह पांचवां संस्करण प्रकाशित करते हमें प्रसन्नता होती है। अगर परिस्थिति अनुकूल होती तो यह बहुत पहले पाठकों की सेवा में उपस्थित हुआ होता। पर आज कागज की कमी के कारण, असाधारण मांग होते हुए भी, बहुत थोड़ी तादाद में इसे छपा पाये हैं। कागज, छपाई, तथा जिल्द बंधाई आदि के रेट दूने से अधिक हो जाने के कारण इसका मूल्य भी हमें दूने से ज्यादा यानी ३) से ७) करना पड़ रहा है। आशा है आज की स्थिति देखते हुए पाठक इसे ठीक समझेंगे।

चौथे संस्करण में अनुवाद की भाषा ठीक करने में स्व० श्री० महादेव देसाई के गुजराती अनुवाद से काफी सहायता ली गई थी। फिर भी कुछ त्रुटियां तथा प्रूफ की अशुद्धियां बाद में नजर आई थीं। इस संस्करण में सारी किताब फिर मूल से मिला कर देख दी गई है और भरसक इस बात का प्रयत्न किया गया है कि प्रूफ-सम्बन्धी कोई त्रुटि न रहे। फिर भी दृष्टि-दोष से भूलें रही गई होंगी। उदार पाठकों से प्रार्थना है वे उन्हें क्षमा करेंगे।

छठे संस्करण का वक्तव्य

'मेरी कहानी' का यह छठा संस्करण पाठकों की सेवा में भेंट करते हमें प्रसन्नता हो रही है। छपाई, कागज आदि में दाम बढ़ जाने से पिछले संस्करण का दाम ७) रखा गया था। अब भी चीजों के भाव कम नहीं हुए हैं बल्कि कुछ और बढ़े ही हैं। पर यह संस्करण अधिक तादाद में छपाने के कारण इसकी कीमत हम कुछ कम कर सके हैं, यह पाठकोंके लिए खुशी की बात होगी।

—मंत्री

प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ एकाध अखीरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फरवरी १९३५ के बीच, जेल में ही लिखी गई है। इसके लिखने का खास मकसद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊं, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड़-से दिन काटने के लिए बहुत जरूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनों की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं का ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक रहा है ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढ़नेवालों का खयाल रखकर ही मैंने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नहीं है; लेकिन अगर पढ़नेवालों का ध्यान आया भी, तो पहले अपने ही देश के लोगों का आया है। विदेशी पाठकों का खयाल करके लिखता तो शायद मैंने इससे जुदे रूप में इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातों पर ज्यादा जोर दिया होता। उस हालत में, जिन कुछ बातों को इसमें मैंने योंही टाल दिया है, उनपर जोर देता, और दूसरी जिन बातों को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हें महज सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालों का उनमें से ज्यादातर बातों से दिलचस्पी न हो, जिन्हें मैंने तफसील में लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बातें हों जिनके लिए बहस-मुबाहसे की कोई गुंजाइश नहीं है; लेकिन मैं समझता हूं कि आज के हिन्दुस्तान में उनका कुछ-न-कुछ महत्व जरूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलों और व्यक्तियों के बारे में बराबर जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवतः बाहरवालों के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढ़ते हुए, इस बात का खयाल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय में लिखी गई है जो मेरी जिन्दगी का खासतौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर साफ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक्त में यह लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कहीं-कहीं शायद ज्यादा संयत होती। मगर मैंने यही मुनासिब समझा

कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूं, क्योंकि दूसरों को शायद वही रूप ज्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावों का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग में उठते थे। इसमें जहांतक मुमकिन हो सकता था, मैंने अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन नहीं। यह बात, कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है,और इसलिए वह इसे उससे कहीं अधिक महत्व दे सकता है जितने की कि यह मुस्तहक है। इसलिए मैं यह चेतावनी देना चाहता हूं कि यह विवरण एकदम एकांगी—इकतर्फा—है,और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है। अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियों का, जिनका कि घटनाओं के निर्माण में हाथ रहा है, उल्लेख तक नहीं हो पाया है। किन्हीं बीती हुई घटनाओं के असली विवेचन में ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है। जो लोग हमारे निकट भूत की घटनाओं का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए किन्हीं दूसरे साधनों का सहारा लेना होगा। लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथाएं उन्हें छूटी हुई कड़ियों को जोड़ने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने में सहायक हो सकें।

मैंने अपने कुछ साथियों की,जिनके साथ मुझे बरसों काम करने का सौभाग्य रहा है,और जिनके प्रति मेरे हृदय में सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है; साथ ही समुदायों और व्यक्तियों की भी शायद और भी कड़ी आलोचना की है। मेरी यह आलोचना उनमें के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नहीं सकती। लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामों में पड़ते हैं,उन्हें आपस में एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते हैं, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए। दिखावटी शिष्टाचार और असमञ्जस और कभी-कभी परेशानी में डालनेवाले प्रश्नों को टाल देने से न तो हम एक-दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते हैं, और न अपने सामने की समस्याओं का मर्म ही जान सकते हैं। आपस के मतभेदों और उन सब बातों के प्रति, जिनमें मतैक्य है, आदर और वस्तुस्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, मुकाबला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए। लेकिन मेरा विश्वास

है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमें किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नहीं है।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओं के विवेचन को जान-बूझकर टाला है। जेल में मैं न तो इस स्थिति में था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकूं, न मैं अपने मन में यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया जाना चाहिए। जेल से छूटने के बाद भी मैंने उस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नहीं समझा। मैं जो कुछ लिख चुका था, उसके यह अनुकूल नहीं जान पड़ा। इस तरह यह 'मेरी कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्त्तमान के नजदीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कता-पूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरण का रेखा-चित्र मात्र रह गई है।

बेंडनवाइलर,
२ जनवरी, १९३६

जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

पण्डित मोतीलाल नेहरू

कश्मीरी घराना

"किसी आदमी का अपने बारे में खुद लिखना मुश्किल भी है और दिलचस्प भी, क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है; और अगर हम अपनी तारीफ करें तो पाठकों को उसे सुनना नागवार मालूम होता है।"

—अब्राहम काउली

मां-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो, तो अक्सर वह बिगड़ जाता है—फिर, हिन्दुस्तान में तो और भी ज्यादा; और जब लड़का ऐसा हो जो ११ साल की उम्र तक अपने मां-बाप का इकलौता रहा हो, तो फिर दुलार की खराबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरी दो बहनें उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी हैं और हम हरेक के बीच काफी साल का फर्क है। इस तरह अपने बचपन में मैं बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हमउम्र साथी न मिला—यहां तक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ, क्योंकि मैं किसी किंडर-गार्टन या बच्चों के मदरसे में पढ़ने नहीं भेजा गया। मेरी पढ़ाई की जिम्मेदारी घरू मास्टरों या अध्यापिकाओं पर थी।

मगर हमारे घर में किसी तरह का अकेलापन न था। हमारा परिवार बहुत बड़ा था, जिसमें चचेरे भाई वगैरा और दूसरे पास के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू परिवारों में आमतौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाई स्कूल या कॉलेज में पढ़ते थे। उनकी नजर में मैं उनके कामों या खेलों में शरीक होने लायक नहीं हुआ था। इस तरह इतने बड़े परिवार में मैं और भी अकेला लगता था और ज्यादातर अपने ही खयालों और खेलों में मुझे अकेले अपना वक्त काटना पड़ता था।

हम लोग कश्मीरी हैं। २०० बरस से ज्यादा हुए होंगे, १८ वीं सदी के शुरू में हमारे पुरखा यश और धन कमाने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयों से

नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुगल साम्राज्य के पतन के दिन थे। औरंगजेब मर चुका था और फर्रुखसियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फारसी के विद्वानों में उनका बड़ा नाम था। फर्रुखसियर जब कश्मीर गया तो उसकी नजर उनपर पड़ी और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुगलों की राजधानी थी। यह सन् १७१६ के आसपास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका कौटुंबिक नाम था बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, कौल तो गायब हो गया और हम महज नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डांवाडोल जमाना आया कि हमारे कुटुम्ब के वैभव का अन्त हो गया और वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परदादा, लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के बादशाह के नाममात्र के दरबार में कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेहरू, १८५७ के गदर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भरी जवानी में ही वह मर गये।

१८५७ के गदर की वजह से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे खानदान के तमाम कागज-पत्र और दस्तावेज तहस-नहस हो गये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोड़नेवाले और कई लोगों के साथ वहांसे चल पड़ा और आगरे जाकर बस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नहीं हुआ था। लेकिन मेरे दो चाचा जवान थे और कुछ अंग्रेजी जानते थे। उनके इस अंग्रेजी जानने की बदौलत मेरे छोटे चाचा और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक मौत से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगों के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रंग गोरा और बहुत अच्छा था—जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चों का हुआ करता है। इत्तिफाक से कुछ अंग्रेज सिपाही उन्हें रास्ते में मिले। उन्हें शक हुआ कि, हो-न-हो, यह लड़की किसी अंग्रेज की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे हैं। उन दिनों सरसरी तौर पर मुकदमा करके सजा ठोंक देना एक मामूली बात थी। इसलिए मेरे चाचा तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नजदीकी पेड़ पर जरूर फांसी पर लटका दिये गये होते। मगर खुश-

लेखक के दादा पण्डित गङ्गाधर नेहरू
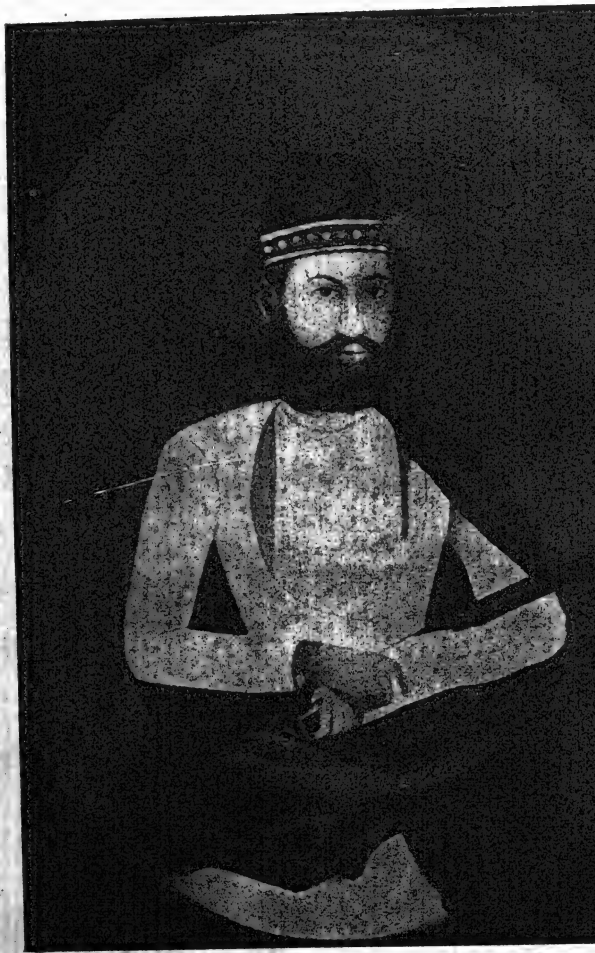
किस्मती से मेरे चाचा के अंग्रेजी-ज्ञान ने मदद की,जिससे इस फैसले में कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख्स गुजरा, जो मेरे चाचा वगैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरों की जान बचाई।

कुछ बरसों तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को पिताजी का जन्म हुआ[१]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहां है जिसमें वह मुगलों का दरबारी लिबास पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुगल सरदार जैसे लगते हैं, हालांकि सूरत-शकल उनकी कश्मीरियों की-सी ही है।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी मेरे दो चाचाओं पर आ पड़ी, जो कि उम्र में मेरे पिता से काफी बड़े थे। बड़े चाचा बंसीधर नेहरू थोड़े ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगोंसे बहुत-कुछ जुदा पड़ गये। छोटे चाचा, नन्दलाल नेहरू,राजपूताना की एक छोटी रियासत, खेतड़ी, के दीवान हुए और वहां दस बरस तक रहे। बाद में उन्होंने कानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हींके साथ रहे और उन्हींकी छत्रछाया में उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था और उसमें बंधु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावतः मेरी दादी के बहुत लाड़ले थे। वह बूढ़ी थीं और बड़ी दबंग भी। किसीकी ताब नहीं थी कि उनकी बात को टाले। उनको मरे अब पचास वर्ष हो गये होंगे; मगर बूढ़ी कश्मीरी स्त्रियां अब भी उनको याद करती हैं और कहती हैं कि वह बड़ी जोरदार औरत थीं। अगर किसी ने उनकी मर्जी के खिलाफ कोई काम किया तो बस मौत ही समझिये।

मेरे चाचा नये हाईकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाईकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहीं जा बसे। तब से इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वहीं, बहुत साल बाद, मेरा जन्म हुआ। चाचाजी की वकालत धीरे-धीरे बढ़ती गई और वह इलाहाबाद हाईकोर्ट के बड़े वकीलों

---

[१]—एक अजीब और मजेदार संयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए थे।

में गिने जाने लगे। इस बीच मेरे पिताजी कानपुर के स्कूल और इलाहाबाद के कॉलेज में शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू में उन्होंने महज फारसी और अरबी की तालीम पाई थी। उनकी अंग्रेजी शिक्षा बारह-तेरह वर्ष की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र में भी वह फारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी में भी कुछ दखल रखते थे। इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज्जत से पेश आते थे। छोटी उम्र में इतनी लियाकत हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज में वह ज्यादातर हँसी-खेल और धींगामुश्ती के लिए मशहूर थे। उन्हें संजीदा विद्यार्थी किसी तरह नहीं कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक बहुत था। कॉलेज में सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ ही गया था और सो भी उस वक्त जब कि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और बम्बई-जैसे बड़े शहरों को छोड़कर कहीं इसका चलन नहीं हुआ था। वह तेज-मिजाज और अक्खड़ थे,तो भी उनके अंग्रेज प्रोफेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलों से उनको बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी बुद्धि तेज थी और कभी-कभी एकाएक जोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफेसर का जिक्र प्रेम-भरे शब्दों में किया करते थे। वह थे मि० हैरिसन, जो म्योर सेण्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद के प्रिंसिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होंने बड़े जतन से संभाल कर रखी थी। यह उन दिनों की है, जब कि वह कॉलेज में पढ़ते थे।

कॉलेज की परीक्षाओं में वह पास होते चले गये। मगर कोई खास नामवरी उन्होंने हासिल नहीं की। आखिर को बी०ए० के इम्तहान में बैठे। मगर उसके लिए उन्होंने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी। और जो पहला पर्चा किया तो उससे उन्हें बिलकुल संतोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा, जब पहला ही पर्चा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद? उन्होंने बाकी पर्चे किये ही नहीं और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। (उन दिनों विश्वविद्यालय की परीक्षाएं आगरा में हुआ करती थीं)। मगर बाद को उनके प्रोफेसर ने उन्हें बुलाया और बहुत बिगड़े। उनका कहना था कि पहला पर्चा तुमने ठीक-ठीक किया है और बड़ी बेवकूफी की जो आगे के पर्चे नहीं किये। खैर,इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए खतम हो गई और बी०ए०पास करना आखिर रह ही गया।

अब उन्हें काम-धन्धा जमाने की फिक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गई, क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था जिसमें बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुंजाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाईकोर्ट-वकालत के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हें एक स्वर्ण-पदक भी मिला। कानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होंने कानपुर की जिला-अदालतों में वकालत शुरू की और चूंकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी-तोड़ मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हां, हँसी-खेल और मौज-मजा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का खास शौक था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दंगलों के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी इलाहाबाद आये और हाईकोर्ट में काम करने लगे। इधर चाचा, पण्डित नन्दलाल, एकाएक गुजर गये। इससे पिताजी को जबरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं,पिता के समान थे, और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके गुजर जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बड़ी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्रायः सारा भार उनके तरुण कन्धों पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे में जुट पड़े। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटा कर इसीमें लगे रहे। चाचाजी के करीब-करीब सब मुकदमे उन्हें मिल गये और उनमें अच्छी कामयाबी भी मिली। इससे अपने पेशे में भी उन्हें बहुत जल्दी कामयाबी मिलती चली गई। मुकदमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया खूब मिलने लगा। छोटी उम्र में ही उन्होंने वकालती पेशे में नामवरी हासिल कर ली; परन्तु उसकी कीमत उन्हें यह देनी पड़ी कि वकालत-देवी के ही मानो वह अधीन हो गए। उनके पास न सार्वजनिक और न घरू कामों के लिए वक्त रहता था—यहां तक कि छुट्टियों के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के

अंग्रेजी पढ़े लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींचने लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठकों में गये भी थे और जहां तक विचारों से सम्बन्ध है, वह कांग्रेसवादी रहे भी, पर उसके कामों में कोई खास दिलचस्पी नहीं लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक्त नहीं था। हां, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यों का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त होगा या नहीं। उस समय तक इन विषयों पर उन्होंने न तो ज्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हें इनकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन और संगठन में शामिल होना नहीं चाहते थे, जिसमें उन्हें किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पड़ता हो। यों बचपन और जवानी के शुरू की तेजी देखने में कम हो गई थी पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हें कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और अपने पर भरोसा रखने का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लड़ाई लड़ना, दिक्कतों का मुकाबला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनों राजनैतिक क्षेत्र से अपने को बचाये रखते थे। फिर उन दिनों तो कांग्रेस में लड़ाई का मौका भी बहुत कम था। बात दर-असल यह थी कि उस क्षेत्र से उनका परिचय नहीं था और उनका दिमाग अपने पेशे की बातों में और उसके लिए कड़ी मेहनत करने में लगा रहता था। उन्होंने सफलता की सीढ़ी पर अपना पैर मजबूती से जमा लिया था और एक-एक कदम ऊपर चढ़ते जाते थे और यह किसीकी मेहरबानी से नहीं, और न किसीकी खिदमत करके ही, बल्कि खुद अपने दृढ़ संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह जरूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेजों और उनके तौर-तरीके के कद्रदां भी थे। उनका यह खयाल बन गया था कि हमारे देश-वासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ उसीके लायक भी हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफरत-सी करते थे, हालांकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज्यादा और वे कर ही क्या सकते थे? हां, एक और खयाल भी उनके दिमाग में था, जो कि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज्यादातर—सब नहीं—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। आमदनी बढ़ी नहीं कि खर्च भी उसके साथ बढ़ा नहीं। रुपया जमा करना पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानो जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तोहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौकीन तो वह थे ही, जो कुछ कमाते थे सब खर्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा रहन-सहन धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे में ढलता गया।

मेरे बचपन[1] में हमारे घर का हाल यह था।

---

[1]–१४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी, संवत् १९४६ को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

२

बचपन

मेरा बचपन इस तरह बड़ों की छत्रछाया में बीता और उसमें कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सबकी-सब मेरी समझ में आ जाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारों के बारे में हुआ करती थीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फर्ज होना चाहिए कि वह इस हालत का मुकाबला करे और इसे हरगिज बर्दाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आये दिन सुनाई पड़ते थे। उनपर भी खूब चर्चा होती थी। यह एक आम बात थी कि जब कोई अंग्रेज किसी हिन्दुस्तानी को कत्ल कर देता, तो अंग्रेजों के जूरी उसको बरी कर देते। यह बात सबको खटकती थी। रेलगाड़ियों में यूरोपियनों के लिए डिब्बे रिजर्व रहते थे और गाड़ी में चाहे कितनी ही भीड़ हो– और जबरदस्त भीड़ रहा ही करती थी–कोई हिन्दुस्तानी उनमें सफर नहीं कर सकता था, भले ही वे खाली पड़े रहें। जो डिब्बे रिजर्व नहीं होते थे, उनपर भी अंग्रेज लोग अपना कब्जा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को घुसने नहीं देते थे। सार्वजनिक बगीचों और दूसरी जगहों में भी बेंचें और कुर्सियां रिजर्व रखी जाती थीं। विदेशी हाकिमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलट कर वार कर देता, तो मुझे बड़ी खुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त खुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार में मेरे चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेजों से और ज्यादातर यूरेशियनों से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक था। यूरेशियन तो अपने को शासकों की जाति का बताने के लिए अंग्रेज अफसरों और व्यापारियों से भी ज्यादा बुरी तरह पश आते थे। ऐसे झगड़े खासकर रेल के सफर में हुआ करते थे।

हालाँकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, जहाँतक मुझे याद है, किसी अंग्रेज के लिए मेरे दिल में बुरा भाव नहीं था। मेरी अध्यापिकाएं अंग्रेज थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में तो मैं अंग्रेजों की इज्जत ही करता था।

शाम को रोज कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड़ जाते और उनके बीच दिन भर की थकान मिटाते। उनकी जबरदस्त हँसी से सारा घर भर जाता था। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झाँकता और यह जानने की कोशिश करता कि ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें किया करते हैं। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता, तो खींचकर बाहर लाया जाता और सहमा हुआ कुछ देर तक पिताजी की गोदी में बैठाया जाता। एक बार मैंने उन्हें 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मैं जानता था। अक्सर पिताजी को और उनके मित्रों को पीते देखा था। मगर इस नई लाल चीज को देखकर मैं सहम गया और माँ के पास दौड़ा गया और कहा—"माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे हैं!"

मैं पिताजी की बहुत इज्जत करता था। मैं उन्हें बल, साहस और होशियारी की मूर्त्ति समझता था और दूसरों के मुकाबले इन बातों में बहुत ही ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मैं अपने दिल में मनसूबे बाँधा करता था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। पर जहाँ मैं उनकी इज्जत करता था और उन्हें बहुत ही चाहता था, वहाँ मैं उनसे डरता भी बहुत था। नौकर-चाकरों पर और दूसरों पर बिगड़ते हुए मैंने उन्हें देखा था। उस समय वह बड़े भयंकर मालूम होते थे और मैं मारे डर के काँपने लगता था। नौकरों के साथ उनका जो यह बर्ताव होता था, उससे मेरे मन में उनपर कभी-कभी गुस्सा आ जाया करता। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था और उनकी उम्र के ढलते दिनों म भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नहीं मिला। लेकिन खुश-किस्मती से उनमें हँसी-मजाक का माद्दा भी बड़े जोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आमतौर पर अपने-आपको जब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों

उनकी उम्र बढ़ती गई उनकी संयम-शक्ति भी बढ़ती गई; और फिर शायदही कभी वह ऐसा भीषण स्वरूप धारण करते थे।

उनकी तेज-मिजाजी की एक घटना मुझे याद है, क्योंकि बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५-६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज मैंने पिताजी की मेज पर दो फाउण्टेन-पेन पड़े देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा—पिताजी एक साथ दो पेनों का क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल लिया। बाद में बड़े जोरों की तलाश हुई कि पेन कहां चला गया। तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। पेन मिल गया और मैं गुनहगार करार दिया गया। पिताजी बहुत नाराज हुए और मेरी खूब मरम्मत की। मैं दर्द व अपमान से अपना-सा मुंह लिये मां की गोद में दौड़ा गया और कई दिन तक मेरे दर्द करते हुए छोटे-से बदन पर क्रीम और मरहम लगाये गए।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सजा के कारण पिताजी को मैंने कोसा हो। मैं समझता हूं, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सजा तो तुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी जरूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज्जत और मुहब्बत बनी रही—हां, अब एक डर और उसमें शामिल हो गया था। मगर माँ के बारे में ऐसा न था। उसमें से मैं बिलकुल नहीं डरता था, क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरे सब किये-धरे को माफ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उसपर थोड़ा बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं माँ को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नजदीक मालूम होती थी। मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ पिताजी से कहने का स्वप्न में भी खयाल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, कद में छोटी और नाटी थीं और मैं जल्द ही करीब-करीब उनके बराबर ऊंचा हो गया था और अपने को उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थीं। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे खूबसूरत हाथ-पांव मुझे बहुत भाते थे। मेरी माँ के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान में आये थे।

एक और शख्स थे–जिनपर लड़कपन में मैं भरोसा करता था। वह थे पिताजी के मुंशी मुबारक अली। वह बदायूं के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग खुशहाल थे। मगर १८५७ के गदर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और

अंग्रेजी फौज ने उसको एक हदतक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरेक के प्रति, और खासकर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहनशील बना दिया था और मेरे लिए तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ महसूस करता तो सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफेद दाढ़ी थी और मेरी नौजवान आँखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के खजाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घंटों अलिफलैला की और दूसरी किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की गदर की बातें सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी मर गये। उनकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथाएं भी मैं सुना करता था। ये मेरी माँ और चाचियाँ सुनाया करती थीं। मेरी एक चाची, पण्डित नन्दलालजी की विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू-ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थीं। उनके पास इन कहानियों का तो मानो खजाना ही भरा था। इस कारण हिन्दू पौराणिक कथाओं और गाथाओं की मुझे काफी जानकारी हो गई थी।

धर्म के मामले में मेरे खयालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे और इसको कोई महत्व नहीं देते थे। हाँ, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया करती थीं। हालाँकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े आदमियों की देखादेखी उनकी अवहेलना किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मुझे उनमें एक लुत्फ आता था। कभी-कभी मैं अपनी माँ या चाची के साथ गंगा नहाने जाया करता और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह के मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधु-सन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिलपर हुआ।

फिर त्योहार के दिन आते थे—होली, जब कि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियाँ चलाते थे; दिवाली रोशनी का त्योहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हजारों दिये जलाये जाते; जन्माष्टमी, जिसमें जेल में जन्मे श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्ष-गांठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमें स्वाँग और

जुलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नकल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ हुई घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मर्सिये गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहन कर बड़ी मसजिद में नमाज के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैंयां और दूसरी बढ़िया चीजें खाया करता। इनके सिवा रक्षा-बन्धन, भैया-दूज वगैरा छोटे त्योहार भी हम लोग मानते थे।

कश्मीरियों के कुछ खास त्योहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मानते। इनमें सबसे बड़ा नौरोज याने वर्ष-प्रतिपदा का त्योहार है। इस दिन हम लोग नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लड़कियों को हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में ज्यादा दिलचस्पी रहती, जिसका खास मुझही से ताल्लुक था—याने मेरी वर्ष-गांठ का उत्सव। इस दिन मैं बड़े उत्साह और रंग में रहता था। सुबह ही एक बड़ी तराजू में मैं गेहूँ और दूसरी चीजों के थैलों से तौला जाता और फिर वे चीजें गरीबों को बाँट दी जातीं और बाद को नये-नये कपड़ों से सजा-धजाकर मुझे भेंट और तोहफे नजर किये जाते। फिर शाम को दावत दी जाती। उस दिन का मानो मैं राजा ही हो जाता, मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख होता था कि वर्ष-गांठ साल में एक बार ही क्यों आती है। और मैंने इस बात का आन्दोलन-सा खड़ा करने की कोशिश की कि वर्ष-गांठ के मौके बरस में एक बार ही क्यों और अधिक क्यों न आया करें! उस वक्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयेगा जब ये वर्ष-गाँठें हमको अपने बुढ़ापे के आने की दुःखदाई याद दिलाया करेंगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी में बरात भी जाया करते। सफर में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सवों में हम बच्चों की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थीं और हम आजादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने में कई कुटुम्बों के लोग आकर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़कियां भी होती थीं। ऐसे मौकों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नहीं रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत

रने का मौका मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की डाँट-फटकार
ी जरूर पड़ जाती थी।

हिन्दुस्तान में क्या गरीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियों में धूम-
ाम और फिजूल-खर्ची करते हैं उनकी हर तरह बुराई ही की जाती है और
ठीक भी है। फिजूल-खर्ची के अलावा उसमें बड़े भद्दे ढंग के प्रदर्शन भी होते हैं,
नमें न कोई सुन्दरता होती है, न कला (कहना नहीं होगा कि इसमें अपवाद
होते हैं)। इन सबके असली गुनहगार हैं मध्यम वर्ग के लोग। गरीब भी
र्ज लेकर फिजूल-खर्ची करते हैं। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि
नकी दरिद्रता उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओं के कारण है। अक्सर यह भुला
या जाता है कि गरीब लोगों की जिन्दगी बड़ी उदास, नीरस और एक ढर्रे की
ती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमें उन्हें अच्छा खाने-
ने और गाने-बजाने का कुछ मौका मिल जाता है, जो कि उनकी मेहनत-मशक्कत
रेगिस्तान में झरने के समान होता है। रोजमर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज
र जोवन-क्रम से हट क कुछ आराम और आनन्द की छटा दीख जाती है और
नको हँसने-खेलने के इतने कम मौके मिलते हैं, उनको कौन ऐसा निष्ठुर बेपीर
ा जो इतना भी आनन्द, आराम और तसल्ली न मिलने देना चाहेगा? हाँ,
जूल-खर्ची को आप शौक से बन्द कर दीजिए और उनकी शाह-खर्ची भी—कैसे
और बेमानी लफ्ज हैं ये जो उस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं,
से गरीब लोग अपनी गरीबी में भी दिखाते हैं— कम कर दीजिए, लेकिन मेहर-
ीकरके उनके जीवन को ज्यादा उदास और हँसी-खुशी से खाली मत बनाइये।

यही बात मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए भी है। फिजूल खर्ची को छोड़
ो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं, जहाँ कि दूर के रिश्ते-
और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा
ा-चौड़ा है; यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है।
का साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए यहाँ
ी के जलसों को लोग इतना चाहते हैं। एक और चीज इसके मुकाबले की
और कुछ बातों में तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे
निकल गई है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, व
स की बैठकें।

और लोगों की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत में, कश्मीरियों को एक खास सुभीता है। उनमें परदे का रिवाज कभी नहीं रहा है। मैदान में आने पर वहाँके रिवाज के मुताबिक, दूसरों से और गैर-कश्मीरियों से जहां तक ताल्लुक है, उन्होंने उस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर में, जहां कि कश्मीरी अधिक बसते हैं, उन दिनों यह सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में उन्होंने स्त्री और पुरुष के सामाजिक जीवन को वैसा ही आजाद रखा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर में आजादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियों की दावतों और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते हैं। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपनी एक मंडली बनाकर बैठती हैं, लड़के-लड़कियाँ बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते हैं। लेकिन यह तो कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक पश्चिम की तरह की आजादी उन्हें नहीं थी।

इस तरह मेरा बचपन गुजरा। कभी-कभी, जैसा कि बड़े कुटुम्बों में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी के कानों तक पहुँचते। तब वह नाराज होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवकूफी के नतीजे हैं। मैं यह तो नहीं समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है, मगर मैं इतना जरूर समझता था कि कोई बुरी बात हुई है, क्योंकि लोग एक-दूसरे से रुष्ट हो कर बोलते थे या दूर-दूर रहने की कोशिश करते थे। ऐसी हालत में मैं बड़ा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पड़ते, तो हम लोगों के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों की एक छोटी-सी घटना मुझे अभी तक याद है। ६-७ वर्ष का रहा होऊँगा। मैं रोज घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—खाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। घर में काफी घबराहट और हलचल मच गई और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब जो भी सवारी मिली उसे लेकर मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके अगुआ बने हुए थे। वह रास्ते में मुझे मिले और मेरा इस तरह स्वागत किया मानो मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो

३

थियोसॉफी

जब कि मैं दस साल का था, हम लोग एक नये और काफी बड़े मकान में आ गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रखा था। इस मकान में एक बड़ा बाग और एक तैरने का बड़ा-सा हौज था और वहां ज्यों-ज्यों नई-नई चीजें दिखाई पड़तीं, त्यों-त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नये-नये हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुत-सा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहां मजदूरों को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूँ कि मकान में तैरने के लिए एक बड़ा हौज था। मैं तैरना जान गया और पानी के भीतर मुझे जरा भी डर नहीं मालूम होता था। गरमी के दिनों में कई बार मौका-बे-मौका मैं उसमें नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते थे। वह एक नई चीज थी। वहां तथा मकान में बिजली की जो बत्तियां लगाई गई थीं वे इलाहाबाद में उन दिनों नई बातें थीं। इन नहानेवालों के झुण्ड में मुझे बड़ा आनन्द आता था और उनमें जो तैरना नहीं जानते थे उनमें से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खींचकर डराने में बड़ा ही लुत्फ आता था। मुझे सर तेजबहादुर सप्रू का किस्सा याद आता है, जब कि उन्होंने इलाहाबाद-हाईकोर्ट में नई-नई वकालत शुरू की थी। वह तैरना नहीं जानते थे और न जानना ही चाहते थे। वह पन्द्रह इञ्च पानी में पहली साढ़ी पर ही बैठ जाते थे और कसम खानेको एक सीढ़ीभी नीचे नहीं उतरते थे और अगर कोई उन्हें आगे खींचने की कोशिश करता तो जोर से चिल्ला उठते थे। मेरे पिता जी खुद भी तैराक नहीं थे, मगर वह किसी तरह हाथ पैर फटफटा कर और जी कड़ा करके हौज के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनों बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमें मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरों की तरफ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए मैं अखबार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात में मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का जन्म। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मेरे कोई भाई या बहन नहीं है जब कि और कइयों के हैं। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनों यूरप में थे। मुझे याद है कि उस वक्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की खबर दी और कहा—शायद मजाक में—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नहीं हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बँटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आ गया—इस खयाल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना खयाल रखनेवाला समझे।

पिताजी की यूरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफान खड़ा कर दिया। यूरप से लौटने पर उन्होंने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक-दूसरे कश्मीरी,पण्डित बिशननारायण दर जो बाद में कांग्रेस के सभापति हुए थे, इंग्लैण्ड गये थे और वहां से बैरिस्टर हो कर आये थे। लौटने पर बेचारों ने प्रायश्चित भी कर लिया तो भी पुराने खयाल के लोगों ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी किस्म का ताल्लुक नहीं रखा। इससे बिरादरी में करीब-करीब बराबर के दो टुकड़े हो गये थे। बाद को कई कश्मीरी युवक विलायत पढ़ने गये और लौटकर सुधारक दल में मिल गये—लेकिन उन सबको प्रायश्चित्त करना पड़ता था। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या, एक तमाशा होता था, जिसमें किसी तरह की धार्मिकता नहीं थी। उसके मानी सिर्फ रस्म अदा करना या एक गिरोह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफा प्रायश्चित्त कर लेने के बाद वे सब लोग हर तरह के नवीन सुधारों के कामों में शरीक होते थे—यहांतक कि अब्राह्मण और अहिन्दू के यहां भी आते-जाते और खाना खाते थे।

पिताजी एक कदम और आगे बढ़े और उन्होंने किसी रस्म या नाममात्र के लिए भी किसी प्रकार का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। इससे बड़ा तहलका मच गया, खासकर पिताजी की तेजी और अक्खड़पन के कारण। आखिरकार कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गए और एक तीसरा दल बन गया। थोड़े ही साल के अन्दर जैसे-जैसे खयालात बदलते गये और पुरानी

पाबन्दियाँ हटती गईं, ये सब दल एक में मिल गये । कई कश्मीरी लड़के और लड़कियाँ इंग्लैण्ड और अमेरिका पढ़ने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नहीं हुआ । खान-पान का परहेज करीब-करीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगों को, खासकर बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को छोड़कर, गैर-कश्मीरियों, मुसलमानों तथा गैर-हिन्दुस्तानियों के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गई। दूसरी जातिवालों के साथ स्त्रियों का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गई । १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक जोर का अखीरी धक्का दिया । दूसरी बिरादरीवालों के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज अभी बहुत बढ़ा नहीं है—हालाँकि दिन-दिन बढ़ती पर है । मेरी दोनों बहनों ने गैर-कश्मीरियों के साथ शादी की[1] और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही एक हंगेरियन लड़की ब्याह लाया है । अन्तर्जातीय विवाह पर एतराज धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि ज्यादातर वंश-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है । कश्मीरियों में यह अभिलाषा पाई जाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के संस्कारों को कायम रखें। उन्हें डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और गैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदेंगे, तो इन दोनों बातों को खो देंगे । इस विशाल देश में हम कश्मीरियों की संख्या सागर में बूंद के बराबर है ।

सबसे पहले कश्मीरी ब्राह्मण, जिन्होंने आधुनिक समय म, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की थी, मिर्जा मोहनलाल 'कश्मीरी' (वह अपने को ऐसा ही कहा करते थे) थे । वह बड़े खूबसूरत और बुद्धिमान् थे । दिल्ली के मिशन कॉलेज में पढ़ते थे । एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फारसी के दुभाषिया बनकर वह वहाँ गये । बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होंने सैर की । और जहाँ कहीं गये उन्होंने अपनी एक-एक शादी की, मगर आमतौर पर ऊँचे दर्जे के लोगों के यहाँ । वह मुसलमान हो गये थे और ईरान में शाही घराने की एक लड़की से भी शादी कर ली थी, इसीलिए उनको 'मिर्जा' की उपाधि मिली थी । वह यूरप भी गये थे और तत्कालीन युवती

---

[1]पंडित जी की पुत्री इन्दिरा ने भी एक गैर-कश्मीरी से शादी कर ली है ।—अनु०

महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होंने अपनी यात्रा के बड़े रोचक वर्णन और सुन्दर संस्मरण लिखे हैं।

जब मैं कुल ग्यारह वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और माँ फ्रांसीसी या बेलजियन थीं। वह एक पक्के थियोसॉफिस्ट थे और मिसेज बेसेण्ट की सिफारिश से आये थे। कोई तीन साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातों में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा। उस समय मेरे एक और शिक्षक थे—एक बूढ़े पंडितजी, जो मुझे हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने के लिए रखे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के बाद भी पंडितजी मुझे बहुत कम पढ़ा पाये थे—इतना थोड़ा कि मैं अपने नाम-मात्र के संस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैंने हॅरो में पढ़ी थी। कुसूर तो इसमें मेरा ही था। भाषाएँ पढ़ने में मेरी गति अच्छी नहीं थी और व्याकरण में तो मेरी रुचि बिलकुल ही नहीं थी।

एफ० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा और मैंने कई अंग्रेजी किताबें पढ़ डालीं—अलबत्ता बिना किसी उद्देश्य के। बच्चों और लड़कों-सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था। लुई केरोल[1] और किप्लिंग[2] की पुस्तकें मुझे बहुत पसन्द थीं। 'डॉन क्विक्जोट्'[3] नामक पुस्तक में गुस्ताव दोरे के चित्र मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए और फिजॉफ नान्सन[4] की 'फारदेस्ट नॉर्थ'

---

[1]अतिशय कल्पनोत्तेजक बाल-साहित्य-लेखक। [2]हिन्दुस्तान में पैदा हुआ, भारतीय जीवन के विषय में अनेक काल्पनिक कथाएँ लिखनेवाला एक साम्राज्य-भक्त अंग्रेज लेखक। इंग्लैण्ड और साम्राज्य-विषयक इसकी अन्धभक्ति तो पाठक को खटकती है, लेकिन लेखनशैली पर वह मुग्ध होजाता है।

[3]यह एक स्पेनिश उपन्यास है जिसमें थोड़ी शक्ति पर हवाई किले बाँधने वाले पात्र का अनुपम चित्र खींचा गया है। [4]पेरी के उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने के पहले उत्तर में बड़ी दूर-दूर तक जानेवाला नार्वेजियन यात्री। इस पुस्तक में इसने अपनी यात्रा का वर्णन किया है। वह नार्वे में अध्यापक था। इसने पीड़ितों के लिए बहुत काम किया और जब रूस में भयानक अकाल पड़ा था तब इसने बड़ी सेवा की थी। इसे शान्ति-स्थापना के लिए नोबल पुरस्कार मिला है। थोड़े ही दिन पहले इसकी मृत्यु हुई है। —अनु०

ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नई दुनिया का दरवाजा खोल दिया। स्कॉट,[1] डिकेन्स[2] और थैकरे[3] के कई उपन्यास मुझे पढ़े याद हैं। एच० जी० वेल्स[4] की साहस-कथाएँ, मार्क ट्वेन[5] की विनोद-कथाएँ और शार्लाक-होम्स[6] की जासूसी कहानियाँ भी पढ़ी हैं। 'प्रिजनर्स ऑफ जेन्दा'[7] ने मेरे दिमाग में घर ही कर लिया था। और जेरोम के० जेरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट'[8] से बढ़कर हास्य-रस की पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी। दूसरी किताबें भी मुझे याद हैं। वे हैं डू मॉरियर[9] की 'ट्रलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुचि बढ़ी थी, जोकि कई परिवर्तनों के हो चुकने के बाद अब भी मुझ में कुछ हद तक कायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी मेरा परिचय कराया। हमने एक विज्ञान की प्रयोगशाला खड़ी कर ली थी और मैं घण्टों प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

पुस्तकें पढ़ने के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े जोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफी। हर हफ्ते उनके कमरे में थियोसॉफिस्टों की सभा हुआ करती। मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफी की भाषा और विचार-शैली मुझे हृदयंगम होनें लगी। वहां आध्यात्मिक विषयों पर तथा 'अवतार', 'काम-शरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरों' और दिव्य पुरुषों के आसपास दिखाई देनेवाले 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व', इन विषयों पर चर्चा होती और मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे

---

[1][2][3]प्रसिद्ध अंग्रेज उपन्यासकार। [4]प्रसिद्ध आधुनिक विज्ञान-कथा-लेखक और सुधारक। [5]अमेरिकन हास्य-रस-लेखक। [6]कॉनन डायल नामक अंग्रेज लेखक का प्रसिद्ध जासूसी पात्र। [7]एण्टनी होप का प्रसिद्ध उपन्यास। [8]काल्पनिक यात्रा-वर्णन-विषयक पुस्तक, जिसे पढ़कर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। इस अंग्रेज लेखक का सारा साहित्य इसी प्रकार का है। [9]पिछली सदी के एक अंग्रेज लेखक (जिसके पिता फ्रांसीसी और माता अंग्रेज थीं)। इसकी पुस्तकें बालकों की कल्पना को उत्तेजित करती हैं। 'पीटर इबटसन' में अपने बच्चे का सुन्दर वर्णन है और बड़ी आकर्षक भाषा में उपन्यास के पात्रों के मुख से जीवन का मर्म समझाया गया है।—अनु०

थियोसॉफिस्टों से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, बुद्ध-धर्म के 'धम्मपद', पायथागोरस,[1] तयाना के अपोलोनियस[2] और कई दार्शनिकों और ऋषियों के ग्रन्थों का जिक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था, परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावाना मालूम होता था और मैं मानने लगा था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है! यहीं से जिन्दगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ से धर्म और परलोक के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा था। हिन्दू-धर्म, खासकर, मेरी नजर में ऊंचा उठ गया था; उसके क्रिया-कांड और व्रत-उत्सव नहीं—बल्कि उसके महान् ग्रंथ, उपनिषद् और भगवद्गीता। मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण जरूर मालूम होते थे। मुझे 'काम-शरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी विमान के यों ही ऊँचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सच्चे और साफ मालूम होते हैं और नीचे का सारा विशाल विश्व-पटल एक चित्रपट-सा दिखाई पड़ता है। मैं नहीं जानता कि फ़ायड[3] तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इन सपनों के क्या अर्थ लगाते होंगे।

उन दिनों मिसेज बेसेण्ट इलाहाबाद आई हुई थीं और उन्होंने थियोसॉफी-सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता और अपने-आपको भूल जाता था, जैसे कि किसी सपने में हूं। मैं उस समय तेरह साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से इजाजत लेने गया, तो उन्होंने उसे हँसकर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्व देना नहीं चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे

---

[1]ईसापूर्व छठी सदी में यह यूनानी तत्त्ववेत्ता हुआ था। इसे सांख्यवादी कह सकते हैं। यह पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त को मानता था, इसकी दृष्टि में पशुओं के आत्मा थी और इसलिए यह तथा इसके अनुयायी मांसाहार से नफरत करते थे। [2]एक यूनानी तत्त्ववेत्ता जो ईसा के पहले हो गया है। कहते हैं यह हिन्दुस्तान आया था। यह वेदान्ती था। [3]इस युग का प्रसिद्ध जर्मन मानसशास्त्रवेत्ता। —अनु०

दुःख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह में बहुत बातों में बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफिस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफिकल सोसायटी में शरीक हुए जब मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान में थीं। धार्मिक विश्वास से नहीं, बल्कि कुतूहल के कारण ही शायद वह मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र जो उनके साथ सोसायटी में शरीक हुए थे, कायम रहे और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊँचे चढ़ते गये।

इस तरह मैं तेरह वर्ष की उम्र में थियोसॉफिकल सोसायटी का मेम्बर बना और खुद मिसेज बेसेन्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमें कुछ उपदेश दिया और कुछ गूढ़ चिह्नों से परिचित कराया—जो कि शायद फ्री मेसनरी ढंग के थे। उस समय मैं हर्ष से पुलकित हो उठा था। मैं थियोसॉफिकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी दाढ़ी बड़ी भव्य थी।

तीस बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा और क्या अनुभव करता होगा, इसका खयाल करना मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पड़ता है कि अपने थियोसॉफी के इन दिनों में मेरा चेहरा गम्भीर, नीरस और उदास दिखाई पड़ता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है, और जैसा कि थियोसॉफिस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखाई पड़ता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊँची सतह पर हूं और अवश्य ही मेरा रंग-ढंग ऐसा था कि जिसमें मुझे मेरे हम-उम्र लड़के या लड़की अपनी संगत के लायक न समझते होंगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया और बहुत थोड़े ही अरसे में थियोसॉफी मेरी जिन्दगी से बिलकुल हट गई। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका और थियोसॉफी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुःख होता है कि थियोसॉफिस्ट तबसे मेरी निगाह में कुछ नीचे उतर गये हैं। वे खतरे की बनिस्बत आराम ज्यादा पसन्द करते हैं। इसलिए ऊँचे एवं बढ़े-चढ़े होने के बजाय मामूली आदमी-से दिखाई देते हैं। शहीदों के रास्ते जाने की

बनिस्बत फूलों पर चलना पसन्द करते हैं। लेकिन हां, मिसेज बेसेण्ट के लिए मेरे दिल में बहुत ग्रादर रहा है।

जिस दूसरी मार्के की घटना ने मेरे जीवन पर उस समय ग्रसर डाला, वह थी रूस-जापान की लड़ाई। जापानियों की विजय से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता ग्रौर रोज मैं ग्रखबारों में ताजी खबरें पढ़ने को उतावला रहता। मैंने जापान सम्बन्धी कई किताबें मँगाई ग्रौर उनमें से थोड़ी-बहुत पढ़ीं भी। जापान के इतिहास में तो मानो मैं ग्रपने को गवां बैठा था। पुराने जापान के सरदारों की कहानियाँ चाव से पढ़ता ग्रौर लापकेडियो हर्न[1] का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं यूरप के पंजे से एशिया ग्रौर हिन्दुस्तान को ग्राजाद करने के भावों में डूबा रहता। मैं बहादुरी के बड़े-बड़े मनसूबे बाँधा करता था कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लड़ूंगा।

मैं चौदह साल का था। हमारे घर में रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बड़े चचेरे भाई ग्रपने-अपने काम-धन्धों में लग गये थे ग्रौर ग्रलहदा रहने लगे थे। मेरे मन में नये-नये विचार ग्रौर गोलमोल कल्पनाएँ मँडराया करती थीं ग्रौर स्त्री-जाति में मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी, लेकिन ग्रब भी मैं लड़कियों की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना-जुलना ज्यादा पसन्द करता ग्रौर लड़कियों के साथ मिलना-जुलना ग्रपनी शान के खिलाफ समझता था। लेकिन कभी-कभी कश्मीरी दावतों में—जहाँ सुन्दर लड़कियों का ग्रभाव नहीं रहता था—या दूसरी जगह उनपर कहीं निगाह पड़ गई या बदन छूगया तो मेरे रोंगटे खड़े होजाते थे।

मई १९०५ में, जब मैं पन्द्रह साल का था, हम इंग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, माँ, मेरी छोटी बहन ग्रौर मैं, चारों साथ गये थे।

---

[1]जापानी लेखक जिसने जापानी-जीवन के ग्रनुपम चित्र चित्रित किये हैं। —ग्रनु०

४

हॅरो और कैम्ब्रिज

मई के अखीर में हम लोग लन्दन पहुँचे। डोवर से ट्रेन में जाते हुए, रास्ते में, सुशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी। हम लोग उसे देखने गये। मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनों बाद ही डाक्टर अन्सारी से मेरी भेंट हुई। उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे। उन्होंने वहाँ के विद्यालयों में भारी सफलता प्राप्त की थी। उन दिनों वह लन्दन के अस्पताल में हाउस-सर्जन थे।

हॅरो में दाखिल होने की दृष्टि से मेरी उम्र कुछ बड़ी थी, क्योंकि मैं उन दिनों पन्द्रह बरस का था। इसलिए यह मेरी खुशकिस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गई। मेरे परिवार के लोग पहले तो यूरोप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महीनों बाद हिंदुस्तान लौट गये।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिलकुल अकेला कभी नहीं रहा था। इसलिए मुझे बड़ा ही सूना-सूना-सा मालूम पड़ता और घर की याद सताती थी। लेकिन यह हालत ज्यादा दिनों तक नहीं रही। कुछ हद तक मैं स्कूल की जिंदगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद में लगा रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा। हमेशा मेरे दिल में यह खयाल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही खयाल करते होंगे। कुछ हद तक मैं सबसे अलग-अकेला ही रहा। लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था। खेलों में मैं चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मैं खेल से पीछे हटने वाला भी न था।

शुरू में तो मुझे नीचे के दरजे में भरती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फौरन ही मुझे तरक्की मिल गई। सम्भवतः कई बातों में, और खासकर आम बातों की जानकारी में, मैं अपनी उम्र के लोगों से आगे था। इसमें शक नहीं कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मैं अपने ज्यादा-

तर सहपाठियों से ज्यादा किताब और अखबार पढ़ता था। मुझे याद है कि मैंने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज लड़के बड़े मट्ठर होते है, क्योंकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते। लेकिन मुझे इसमें अपवाद भी मिले थे, खास तौर पर ऊपर के दर्जों में।

इंग्लैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहाँतक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर में हुआ और उसमें लिबरलों की बड़ी भारी जीत हुई थी। १९०६ के शुरू में हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे सरकार की बाबत कई सवाल पूछे और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे में मैं ही एक ऐसा लड़का था जो उस विषय पर बहुत-सी बातें बता सका—यहां तक कि कैम्पबैल-बैनरमैन के मंत्रिमंडल के सदस्यों की करीब-करीब पूरी फेह-रिस्त मैंने बतादी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी वह था हवाई जहाजों की शुरुआत। वह जमाना राइट ब्रदर्स और सेन्तोस दुमो का था (इनके बाद ही फौरन फारमान लैथम और ब्लीरियो आये)। जोश में आकर मैंने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मैं हर हफ्ते के अखीर में हवाई जहाज द्वारा उड़कर आपसे हिन्दुस्तान में मिल सकूंगा।

इन दिनों हॅरो में चार या पांच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहने वालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौका मिलता था,लेकिन हमारे अपने ही घर में—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोकप्रिय थे। मेरे जाने के बाद फौरन ही वह वहाँ से चले गये। बाद में महाराजा कपूर-थला के बड़े लड़के परमजीत सिंह आये,जो आजकल टीका साहब हैं। वहाँ उनका मेल बिलकुल नहीं मिला। वह दुखी रहते थे और दूसरे लड़कों से मिलते-जुलते नहीं थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीकों का मजाक उड़ाते थे। इससे वह बहुत चिढ़ते थे और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे, तब तुम्हें देख लूंगा। यह कहना बेकार है कि इस घुड़की का कोई अच्छा असर नहीं होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रांस में रह चुके थे और फ्रांसीसी भाषा में धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेजी स्कूलों में विदेशी भाषाओं के सिखाने के तरीके

कुछ ऐसे थे कि फ्रांसीसी भाषा के दर्जे में उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नहीं आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब एकाएक हमारे कमरों में घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। बाद को हमें मालूम हुआ कि परमजीत सिंह की सोने की मूँठ की खूबसूरत स्टिक खो गई है। तलाशी में वह नहीं मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान में ईटन और हॅरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह स्टिक उनके मकान में रखी मिली। जाहिर है कि किसी साहब ने मैच में उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासों में थोड़े-से यहूदी भी थे। यों वे मजे में काफी मिल-जुलकर रहते थे, लेकिन तह में उनके खिलाफ यह खयाल जरूर काम करता था कि ये लोग 'बदमाश यहूदी' हैं, और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजान में, मैं भी यही सोचने लगा कि इनसे नफरत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल में यहूदियों के खिलाफ कभी कोई भाव न था और अपने जीवन में आगे जाकर तो यहूदियों में मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मैं हॅरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मैं यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नहीं चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ खींच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खबरें आती थीं, उनसे मैं बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेजी अखबारों में बहुत ही कम खबरें मिलती थीं, लेकिन जितनी मिलती थीं उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश में, बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में, बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन बातों का मुझपर भारी असर पड़ा। लेकिन हॅरो में एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मैं इस विषय की बात कर सकता। छुट्टियों में मैं अपने कुछ चचेरे भाइयों तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तों से मिला और मुझे अपने जी को हल्का करने का मौका मिला।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए मुझे जी० एम० ट्रैवेलियन की गैरी-

बाल्डी-सम्बन्धी एक पुस्तक इनाम में मिली थी । इस पुस्तक में मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फौरन ही इस माला की बाकी दो किताबें भी खरीद लीं और उनमें गैरीबाल्डी की पूरी कहानी बड़े ध्यान के साथ पढ़ी । हिन्दुस्तान में भी इस तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आजादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह से मिल-जुल गये । इन खयालों के लिए हॅरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम होने लगी और मैं विश्वविद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा । इसीलिए मैंने पिताजी को इस बात के लिए राजी कर लिया और मैं हॅरो में सिर्फ दो बरस रहकर वहाँ से चला गया । ये दो बरस का समय वहाँ के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था ।

यद्यपि मैं हॅरो से खुद अपनी मरजी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे अच्छी तरह याद है कि जब विदा होने का समय आया, तब मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरी आंखों में आंसू आ गये । मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी। वहाँ से सदा के लिए अलग होने से मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया । परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह खयाल आ जाता है कि हॅरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुःख कितना था ? क्या कुछ हद तक यह बात न थी कि मैं इसलिए दुःखी था कि हॅरो की परम्परा और उसके गीत की ध्वनि के अनुसार मुझे दुःखी होना चाहिए था ? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकता था, क्योंकि वहां के वातावरण में घुल-मिल जाने के खयाल से मैंने उस प्रथा का विरोध कभी नहीं किया ।

१९०७के अक्तूबर के शुरू में मैं केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र सत्रह या अठारह बरस के लगभग थी । मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अण्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुकाबले यहाँ मुझे जो चाहूँ सो करने की काफी आजादी मिलेगी । मैं लड़कपन के बन्धन से मुक्त हो गया था और यह महसूस करने लगा था कि आखिर मैं भी अब बड़ा होने का दावा कर सकता हूँ । मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और यदि कोई जान-पहचान वाला मिल जाता तो बहुत खुश होता ।

केम्ब्रिज में मैं तीन साल रहा । ये तीनों साल शान्तिपूर्वक बीते,इनमें किसी

प्रकार के विघ्न नहीं पड़े। तीनों साल धीरे-धीरे, धीमी-धीमी, बहनेवाली कैम नदी की तरह बीते। ये साल बड़े आनन्द के थे। इनमें बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढ़ता रहा। मैंने प्राकृतिक-विज्ञान का कोर्स लिया था। मेरे विषय थे रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र। परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्हीं विषयों तक सीमित न थी। केम्ब्रिज में या छुट्टियों में लन्दन में अथवा दूसरी जगहों में मुझे जो लोग मिले उनमें से बहुत-से विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों के बारे में, साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में बातचीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढ़ी-चढ़ी बातें मुझे बड़ी मुश्किल मालूम हुईं, परन्तु जब मैंने कुछ किताबें पढ़ीं, तब सब बातें समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसी के बारे में अपना घोर अज्ञान जाहिर नहीं होने देता था। हम लोग नीत्शे[1] और बर्नार्ड शॉ[2] की भूमिकाओं तथा लॉज डिकिन्सन[3] की नई-से-नई पुस्तकों के बारे में बहस किया करते थे। उन दिनों केम्ब्रिज में नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपने को बड़ा अक्लमंद समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयों पर बड़े अधिकारी-रूप से, शान के साथ बातें करते थे और बातचीत के सिलसिले में ब्लॉक, हैवलॉक एलिस, एबिंग और वीनिंगर के नाम लेते जाते थे। हम लोग यह महसूस करते थे कि इन विषयों के सिद्धान्तों के बारे में हमें जितना जानते हैं, विशेषज्ञों को छोड़कर और किसी को उससे ज्यादा जानने की जरूरत नहीं है।

वास्तव में, हम बातें जरूर बढ़-चढ़कर करते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे मे हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो जरूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोड़ने के बाद भी, बहुत बरसों तक केवल सिद्धांत तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों हुआ, यह कहना कुछ कठिन है। हममें से अधिकांश का स्त्रियों की ओर जोर का आकर्षण था और मुझे इस बात में सन्देह है कि हम में से कोई उनके सहवास में किसी प्रकार का पाप समझता

---

[1]आधुनिक जर्मन तत्त्ववेत्ता—प्रचलित नीति और धर्म-मान्यताओं का विरोधी। [2]आधुनिक प्रसिद्ध अंग्रेज नाट्यकार। [3]केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध अध्यापक। —अनु०

था। यह निश्चित है कि मैं उसमें कोई पाप नहीं समझता था, मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नहीं थी। हम लोग आपस में कहा करते थे—स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से, वह तो इन आचारों से परे हैं। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध में आम तौर पर जिन तरीकों से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रखा। उन दिनों मैं निश्चित रूप से एक संकोची लड़का था, शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन में अकेला रहा था।

उन दिनों जीवन के प्रति मेरा सामान्य दृष्टिकोण अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अंश तक युवावस्था में स्वाभाविक था और कुछ अंश तक ऑस्कर वाइल्ड[1] और वाल्टर पेटर[2] के प्रभाव के कारण था। आनन्द के अनुभव और आराम की जिन्दगी बिताने की इच्छा को भोगवाद जैसा बड़ा नाम देना है तो आसान और तबीयत को खुश करनेवाली बात। लेकिन मेरे मामले में इसके अलावा कुछ और बात भी थी, क्योंकि मेरा खासतौर पर आराम की जिन्दगी की तरफ रुझान न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नहीं थी और धर्म के दमनकारी बंधनों को मैं पसंद भी नहीं करता था, इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे जीवन-मार्ग की खोज करता। उन दिनों मैं सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नहीं जाता था, इसलिए जीवन का सौन्दर्यमय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि मैं सुचारु-रीति से जीवन-यापन करूँ। गँवारू ढंग से उसका उपभोग मैं नहीं करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूरा तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मैं जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई बात समझूं। साथ ही खतरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। पिताजी की तरह मैं भी हर वक्त कुछ हद तक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी और फिर बड़ी-बड़ी बाजियों का—जीवन के बड़े-बड़े आदर्शों का। १९०७ तथा १९०८ में हिन्दुस्तान की राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमें वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा में मैं आराम की जिन्दगी तो

---

[1]-[2]नीति-मुक्त कला के हामी आधुनिक अंग्रेज लेखक। —अनु०

बसर कर ही नहीं सकता था। ये सब बातें मिलकर, और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छाएँ, मेरे मन में अजीब खिचड़ी पकातीं, भँवर-सी पैदा कर देतीं। उन दिनों ये सब बातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थीं। परन्तु इससे उन दिनों मैं परेशान न था, क्योंकि इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तब तक जीवन—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पड़ते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीजें देखनी थीं, इतने नये क्षेत्रों की खोज करनी थी। जाड़े की लम्बी रातों में हम लोग अँगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ आपस में बातें तथा विचार-विनिमय करते; उस समय तक, जबतक अँगीठी की आग बुझकर हमें जाड़े से कँपाकर बिछौने पर न भेज देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद में हमारी आवाज मामूली न रहकर तेज हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश में आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनों हम लोग गम्भीरता के स्वाँग भर कर जीवन की समस्याओं के साथ खेलते थे, क्योंकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्याएँ न हो पाई थीं और हम लोग संसार के झमेलों के चक्कर में नहीं फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवीं शताब्दी के शुरू के दिन थे। कुछ ही दिनों में हमारा वह संसार मिटने को था और उसकी जगह दुनिया के युवकों के लिए मृत्यु और विनाश एवं पीड़ा तथा हृदय-वेदना से भरा हुआ दूसरा संसार आने वाला था। लेकिन हम भविष्य का परदा तोड़कर आनेवाले जमाने नहीं देख सकते थे। हमें तो ऐसा लगता था कि हम किसी अचूक प्रगतिशील परिस्थिति से घिरे हुए हैं और जिनके पास इस परिस्थिति के लिए साधन थे उनके लिए तो वह सुखदायिनी थी।

मैंने भोगवाद तथा वैसी ही दूसरी और उस दूसरी अनेक भावनाओं की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनों मुझपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मैंने उन दिनों इन विषयों पर भलीभाँति साफ-साफ विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की जरूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट लहरें भर थीं, जो मेरे मन में उठा करती थीं और जिन्होंने इसी दौरान में अपना थोड़ा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अंकित कर दिया। इन बातों के ध्यान के बारे में मैं उन दिनों ऐसा परेशान नहीं होता था। उन दिनों तो मेरी जिंदगी काम और विनोद से भरी हुई थी।

सिर्फ एक चीज ऐसी जरूरी थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राजनैतिक कश्मकश। केम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक प्रभाव डाला उनमें मैंरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और यूरप' मुख्य है।

१९०७ से कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानों उबलता रहा। १८५७ के गदर के बाद पहली मर्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक की हलचलों और उनके कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरों से और बँगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञाएं ले रही थी, उनसे इंग्लैण्ड में रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियों में खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम-दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक 'मजलिस' थी। इसमें हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलों पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसें कुछ हदतक बेमानी थीं। पार्लमेन्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नहीं। मैं अक्सर मजलिस जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहाँ शायद ही बोला होऊँ। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट दूर नहीं कर सका। कॉलिज में "मैग्पी और स्टाम्प" नाम की जो वाद-विवाद-सभा थी, उसमें भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ेगा और मुझे अक्सर जुर्माना देना पड़ता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगू, जो बाद में भारत-मन्त्री हो गये थे, अक्सर इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कॉलेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेन्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैंने उन्हीं से सुनी। जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि सच नहीं हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है, क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अन्धश्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय में विज्ञानों के अध्ययन का मुझपर बहुत

प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनों जिस तरह अपने सिद्धांतों और निश्चयों को ध्रुवसत्य समझता था वैसा ही मैं समझने लगा था, क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के शुरू का विज्ञान अपनी और संसार की बाबत बड़ा निश्चयात्मक था। आजकल का विज्ञान वैसा नहीं है।

मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर चर्चा करते हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लाते थे, यहां तक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ करते थे। लेकिन बाद में मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाईकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गम्भीर बैरिस्टर आदि बन गये। इन आराम-घर के आग-बबूलों में से बिरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतिज्ञों ने केम्ब्रिज में हम लोगों को भेंट देने की कृपा की थी। हम उनकी इज्जत तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानों हम उनसे बड़े हैं। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी संस्कृति उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और दृष्टि व्यापक थी। जो लोग हमारे यहां आये उनमें विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपनी एक बैठक में मिले। वहां हम सिर्फ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होंने तो ऐसी गर्जना की कि मानों वह दस हजार की सभा में भाषण दे रहे हों। उनकी आवाज इतनी बुलन्द थी कि मैं उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढंग से बातचीत की और उनकी बातों का मुझपर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा था कि विपिनचन्द्र पाल के मुकाबले मुझे लालाजी का भाषण बहुत अच्छा लगा। इससे वह बड़े खुश हुए क्योंकि उन दिनों उन्हें बंगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नहीं लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज में एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ यही खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल में खड़े होकर उन्होंने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहां तक कि हममें से बहुतों को यही याद नहीं रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध में था?

हिन्दुस्तानियों में हरदयाल का नाम बड़ा था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज में पहुंचने से कुछ पहले ऑक्सफोर्ड में थे। अपने हॅरो के दिनों में मैं उनसे लन्दन में एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज में मेरे समकालीनों में से कई ऐसे निकले जिन्होंने आगे जाकर हिन्दुस्तान की कांग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुंचने के कुछ ही दिन बाद वहां से चले गये। सैफुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक अहमद शेरवानी कम बढ़ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे, मेरे समय में केम्ब्रिज में थे। मेरे दूसरे समकालीनों में से कोई मिनिस्टर बना और कोई इंडियन सिविल सर्विस का सदस्य।

लन्दन में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इंडिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में गया ही। कभी-कभी हमें उनका 'इंडियन सोशलॉजिस्ट' नाम का अखबार देखने को मिल जाता था। बहुत दिनों बाद, सन् १९२६ में श्यामजी मुझे जिनेवा में मिले थे। उनकी जेब 'इंडियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियोंसे भरी पड़ी थी और वह प्रायः हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे।

लन्दन में इंडिया-आफिस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था। इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यह समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी थी। फिर भी यह बहुत-से हिन्दुस्तामियों को, चाहे मन से हो या बेमन से, बरदाश्त करना पड़ता था, क्यों उसकी सिफारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय में दाखिल होना गैर-मुमकिन हो गया था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी हालांकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नहीं था। यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटों में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें बहुत से वकालत में उनके साथी थे। उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया था और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम दलवालों की तीव्र आलोचना की थी।

संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष भी बन गये थे। १९०७ में जिस समय सूरत में कांग्रेस में गोलमाल होकर वह भंग हुई और अन्त में सोलहों आना माडरेटों की हो गई, उस समय वह वहां उपस्थित थे।

सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच०डबल्यू०नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद में पिताजी के अतिथि बन कर रहे। उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिताजी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानों की खातिर-तवाजों को छोड़ कर और सब बातों में माडरेट हैं।" उनका यह अन्दाज कतई गलत था, क्योंकि पिताजी अपनी नीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी अलग भगा दिया। प्रचण्ड भावों, प्रबल विचारों, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ में और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों में भी माडरेट थे और गरम दल के सख्त खिलाफ थे, हालांकि मेरा खयाल है कि वह तिलक को तारीफ करते थे।

ऐसा क्यों था? कानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे; अतः उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधान-वादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तबतक कुछ होता जाता नहीं, जबतक कि इन शब्दों के मुताबिक काम न हो और उन्हें किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नज-दीक दिखाई नहीं देती थी। उनको यह मालूम नहीं होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमें बहुत दूर तक ले जा सकेंगे। इसके अलावा उन आन्दोलनों के पीछे वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की आशा नहीं लगाते थे। ऐसी बातों को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हें कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुत-से पुराने सामाजिक रीति-रिवाजों को, जात-पांत वगैरा को कतई ना-पसन्द करते थे और उन्हें उन्नति-विरोधी समझते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी और पाश्चात्य ढंग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था। वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश में इंग्लैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है। १९०७ में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह

सामाजिक दृष्टि से पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह, अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका साधारण जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके वे प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वे जाति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए छोटे-मोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

माडरेटों के साथ अपना भाग्य नत्थी कर पिताजी ने आक्रामक ढंग अख्तियार किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़ कर अधिकांश गरमदल वाले नौजवान थे और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ़ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफिक काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे। जिन लोगों को वह बेवकूफ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे और इसलिए वह जब कभी मौका मिलता उनपर टूट पड़ते थे। मेरा खयाल है कि केम्ब्रिज छोड़ने के बाद मैंने उनका एक लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक धृष्टतापूर्ण पत्र लिखा, जिसमें मैंने यह भी झलकाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे और वह सचमुच बहुत नाराज हुए भी। उन्होंने करीब-करीब यहां तक सोच लिया था कि मुझे फौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला लें।

जब मैं केम्ब्रिज में था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कैरियर' चुनना चाहिए। कुछ समय के लिए इंडियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गयी। उन दिनों उसमें एक खास आकर्षण था। परन्तु चूंकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मैं ही, अतः वह विचार छोड़ दिया गया। शायद इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मैं उस इम्तिहान में बैठना भी चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहां ठहरना पड़ता। मैंने केम्ब्रिज में जब अपनी

डिग्री ली तब में बीस वर्ष का था और उन दिनों इंडियन सिविल सर्विस के लिए उम्र की मियाद बाईस वर्ष से लेकर चौबीस वर्ष तक थी। इम्तिहान में कामयाब होने पर इंग्लैण्ड में एक साल और बिताना पड़ता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मैं जल्दीसे घर लौट आऊं। पिताजी पर एक बात का औरभी असर पड़ा और वह यह थी कि अगर मैं आई०सी०एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहोंमें रहना पड़ता। पिताजी और माँ दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मैं उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशेके, यानी वकालत के, पक्ष में पड़ा और मैं इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति में गरम दल की ओर झुकाव बढ़ते जाने पर भी आई०सी०एस० में शामिल होने को और इस तरह हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन की मशीन का एक पुरजा बनने के खयाल को मैंने ऐसा बुरा नहीं समझा। आगे के सालों में इस तरह का खयाल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने बाद मैं केम्ब्रिज से चला आया। विज्ञान के जो तीन विषय मैंने लिये थे उनके इम्तिहान में मुझे बहुत बड़ी सफलता मिली हो ऐसा नहीं मान सकते—दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल में लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। कानून की पढ़ाई में बहुत समय नहीं लगता था और बैरिस्टरी के एकके बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा। हाँ, उसमें मुझे न तो सम्मान मिला, न अपमान। बाकी वक्त मैंने यों ही बिताया। कुछ आम किताबें पढ़ीं, फैबियन[1] और समाजवादी[2] विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनोंके राजनैतिक

[1,2]—१८८४ में स्थापित समाजवादी सिद्धान्त रखनेवालों की संस्था और उसके सदस्य। ये क्रान्ति के द्वारा सुधार नहीं चाहते। पर आशा रखते हैं कि लेखों और प्रचार के द्वारा औद्योगिक स्थिति में सुधार हो जायगा। समाजवादी इससे आगे गये। उन्होंने अपना ध्येय बनाया——जमीन और सम्पत्ति का मालिक समाज है, समाज की ही सत्ता उसपर होनी चाहिए——इस सिद्धान्त के आधार पर क्रान्ति करना। इस कारण फबियन महज 'म्यूनिसिपल समाजवादी' कहलाने लगे। —अनु०

आन्दोलन में भी दिलचस्पी ली। आयलैंड और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलनों में मेरी खास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी में जब मैं आयलैंण्ड गया तो सिनफिन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ खींचा था।

इन्हीं दिनों मुझे हैरो के पुराने दोस्तोंके साथ रहने का मौका मिला। और उसके साथ मेरी आदतें कुछ खर्चीली हो गई थीं। पिताजी मुझे खर्च के लिए काफी रुपया भेजते थे। लेकिन मैं उससे भी ज्यादा खर्च कर डालता था, इसलिए उन्हें मेरे बारे में बड़ी चिन्ता हो चली थी। उन्हें अन्देशा हो गया था कि कहीं मैं बुरी संगत में तो नहीं पड़ गया हूँ। परन्तु असल में ऐसी कोई बात मैं नहीं कर रहा था। मैं तो सिर्फ, उन खुशहाल परन्तु कमअक्ल अंग्रेजों की देखादेखी-भर कर रहा था, जो बड़े ठाट-बाट से रहा करते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश्यहीन आराम-तलबी की जिन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नहीं हुई। मेरे पहले के हौसले ठंडे पड़ने लगे और एक चीज थी जो बढ़ रही थी - मेरा घमण्ड।

छुट्टियों में मैंने कभी-कभी यूरप के भिन्न-भिन्न देशों की भी सैर की। १९०९ की गरमी में जब काउण्ट जैपलिन अपने नये हवाई जहाज में कौन्स्टैन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड़ कर बर्लिन आये, तब मैं और पिताजी दोनों वहीं थे। मेरा खयाल है कि वह उसकी सब से पहली लम्बी उड़ान थी। इसलिए उस अवसर पर बड़ी खुशियाँ मनाई गईं और खुद कैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टैम्पिलोफ फील्ड में जो भीड़ इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। जैपलिन ने ठीक समय पर आकर बड़े ढंग से ऊपर-ऊपर हमारी परिक्रमा की। ऐडला होटल ने उस दिन अपने सब निवासियों को काउण्ट जैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेंट किया था। वह चित्र अब तक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उड़ा और जिसने एफिल टावर के पहले-पहल चक्कर लगाये। मेरा खयाल है कि उड़ाके का नाम कोंत द लाबेर था। अठारह बरस बाद, जब लिंडबर्ग अटलांटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड़ कर पैरिस आया था, तब भी मैं वहां था।

१९१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फौरन ही जब मैं सैर-सपाटे के लिए नार्वे गया था, तब एक दुर्घटना से मैं बाल-बाल बच गया। हम लोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए, एक छोटे-से होटल में अपने मुकामपर पहुँचे और गरमी के कारण नहाने की इच्छा प्रकट की। वहाँ ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी। होटल में नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था। लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं। अतः मेज के या मुंह पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों से, जो होटलवालोंने हमें उदारतापूर्वक दिये थे,सुसज्जित होकर हममें सेदो,एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज, पड़ोस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफानी धारा में जा पहुंचे मैं पानी में घुस गया। वह गहरा तो न था,लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पाँव जमे जाते थे और उसकी जमीन बड़ी रपटीली थी। मैं रपट कर गिर गया। बरफ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये। मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये और पैर जम न सके। तूफानी धारा मुझे तेजी से बहाये ले जारही थी,परन्तु मेरे अंग्रेज साथीने किसी तरह बाहर निकल-कर मेरे साथ भागना शुरू किया और अन्त में किसी प्रकार मेरा पैर पकड़ने में कामयाब हुआ और उसने मुझे बाहर खींच लिया। इसके बाद हमें मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे में थे। क्योंकि हम से दो-तीन-सौ गज की दूरी परयह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी और वह जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय वस्तु थी।

१९१२ की गरमी में मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी शरद ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज्यादा इंग्लैण्ड में रहने के बाद, आखिर को हिन्दुस्तान लौट आया। इस बीच छुट्टी के दिनोंमें दो बार मैं घर गया था। परन्तु अब मैं हमेशा के लिए लौटा और मुझे लगा कि जब मैं बम्बई में उतरा तो अपने पास कुछ न होते हुए भी अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

५

लौटने पर

देश का राजनैतिक वातावरण

१६१२ के अखीर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत फीका मालूम होता था। तिलक जेल में थे, गरमदलवाले कुचल दिये गये थे। किसी प्रभावशाली नेता के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। बंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति हो गई थी और सरकार को कौंसिलों की मिण्टो-मॉर्ले योजना के अनुसार माडरेटों को अपनी ओर करने में कामयाबी मिल गई थी। प्रवासी भारतवासियों की समस्या में, खासतौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी जरूर ली जाती थी। कांग्रेस माडरेटों के हाथ में थी। साल में एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ लोगों का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बड़े दिनों की छुट्टियों में मैं डेलीगेट की हैसियत से बाँकीपुर की कांग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अंग्रेजी जानने वाले उच्च श्रेणी के लोगोंका उत्सब था, जहाँ सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्त्री कियेहुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुतः वह एक सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक गरमागरमी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौट कर आये थे, उसमें उपस्थित थे। उस अधिवेशन के प्रमुख व्यक्ति वही थे। अपनी तेजस्विता, सचाई और शक्ति से वहाँ आये उन थोड़े से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मुझपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बाँकीपुर से लौट रहे थे तब एक खास घटना हो गई। वह उन दिनों पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हें अपने

लिए एक फर्स्ट क्लास का डब्बा रिजर्व कराने का हक था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगों की भीड़ से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम में खलल पड़ता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हें एकान्त में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय और कांग्रेस के अधिवेशन के बाद वह चाहते थे कि सफर में उन्हें शान्ति मिले। उन्हें उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाकी गाड़ी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियों से ठसाठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद, भूपेन्द्रनाथ वसु, जो बाद में जाकर इंडिया कौंसिल के मेम्बर हुए, गोखले के पास गये और योंही उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफर कर सकता हूँ? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौंके, क्योंकि वसु महाशय बड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राजी हो गये। चन्द मिनट बाद श्री वसु फिर गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी डब्बे में चले चलें तो आपको तकलीफ तो न होगी? गोखले ने फिर चुपचाप 'हां' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले वसु साहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थों पर सोने में बहुत तकलीफ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायं। मेरा खयाल है कि अन्त में यही हुआ। बेचारे गोखलेको ऊपरकी बर्थपर चढ़ कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी।

मैं हाईकोर्ट में वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। यूरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहां आकर पुरानी मेल-मुलाकातें कायम कर लेने से खुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे अपनी तरह के अधिकांश लोगों के साथ जिस तरह की जिंदगी बितानी पड़ती थी, उसकी सब ताजगी गायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश्यहीन जीवन की नीरस खानापूरी में ही फंस रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरी दोगली, कम-से-कम खिचड़ी, शिक्षा इस बात के लिए जिम्मेदार थी कि मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से असन्तोष था। इंग्लैण्ड की अपनी सात बरस की जिन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनाएं बन गई थीं वे जिन चीजों को मैं यहां देखता था उनसे मेल नहीं खाती थीं। तकदीर से मेरे घर का वायुमण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना काफी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में वही साथी, जो उन्हीं पुराने विषयों पर, आमतौर पर

कानूनी पेशे-सम्बन्धी बातों पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्सन्देह यह वायु-मण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ गति या स्फूर्ति मिले और मेरे मन में जीवन के बिलकुल नीरसपन का भाव घर करने लगा। कहने योग्य विनोद या प्रमोद की बातें भी न थीं।

ई० एम० फॉर्स्टर ने हाल ही में लॉज डिकिंसन की जो जीवनी लिखी है, उसमें उन्होंने लिखा है कि डिकिंसन ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे में कहा था कि "ये दोनों जातियां (यूरोपियन और हिन्दुस्तानी) एक दूसरे से मिल क्यों नहीं सकतीं? महज इसलिए कि हिन्दुस्तानियों से अंग्रेज ऊब जाते हैं, यही सीधा-सादा कठोर सत्य है।" यह सम्भव है कि बहुत-से अंग्रेज यही महसूस करते हों और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। दूसरी पुस्तक में फॉर्स्टर ने कहा है कि हिन्दुस्तान में हरेक अंग्रेज यही महसूस करता है और उसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह विजित देश पर कब्जा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है, और ऐसी हालत में दोनों जातियों में परस्पर सहज और संकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावत: दोनों एक-दूसरे के सामने असुविधा अनुभव करते हैं। दोनों एक-दूसरे से ऊबे रहते हैं और जब दोनों ही एक-दूसरे से अलग होते ह तो उन्हें खुशी होती है और वे आजादी के साथ सांस लेते तथा फिर से स्वाभाविक रूप से चलने-फिरने लगते हैं।

आमतौर पर अंग्रेज एक ही किस्म के हिन्दुस्तानियों से मिलते हैं—उन लोगों से जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक रहता है। वास्तव में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुँच ही नहीं होती और अगर ऐसा कोई शख्स उन्हें मिल भी जाय, तो वे उसे जी खोलकर बात करने को तैयार नहीं कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्व देकर आगे बढ़ाया है। इसमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेज दोनों ही तरफ के हाकिम आ जाते हैं। इस वर्ग के लोग खास तौर पर मट्ठर और तंग खयाल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त हो जाता है तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनों से अलग हो जाता है। दफ्तर में दिन-भर मिसलों में—जो हमेशा चक्कर लगाती रहती हैं और कभी खत्म नहीं होतीं—

सर खपा कर ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहांसे अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते हैं, वहां व्हिस्की पी कर 'पंच' तथा इंग्लैण्ड से आये हुए सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं—किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी होंगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इस पर भी अपने इस धीमे मानसिक ह्रास के लिए वे हिन्दुस्तान पर दोष मढ़ते हैं, यहां की आब-हवा को कोसते हैं और आम तौर पर आन्दोलन करनेवालों को बददुआ देते हैं कि वे उनकी दिक्कतें बढ़ाते हैं। लेकिन यह महसूस नहीं कर पाते कि उनके मानसिक और सांस्कृतिक क्षय का कारण वह मजबूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वे खुद जिसके एक छोटे-से पुरजे हैं।

जब छुट्टियों और फर्लो के बाद भी अंग्रेज हाकिमों की यह हालत है तब जो हिन्दुस्तानी अफसर उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर कैसे हो सकते हैं,क्योंकि वे अंग्रेजी नमूनों की नकल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य की राजधानी नई दिल्ली में ऊंचे हिन्दुस्तानी और अंग्रेज हाकिमों के पास बैठकर, तरक्कियों, छुट्टी के कायदों, तबादलों और नौकरों की रिश्वतखोरी तथा बेईमानियों वगैरा के कभी खत्म न होनेवाले किस्सों को सुनने से ज्यादा जी घबड़ानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई-जैसे शहरों को छोड़कर बाकी सब जगहों में इस हाकिमाना वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्यम श्रेणी के लगभग तमाम लोगों की जिन्दगी, खास तौर पर अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के जीवन पर, चढ़ाई करके उसे अपने रंग में रंग दिया। पेशेवर लोग--जैसे वकील,डॉक्टर तथा दूसरे लोग--भी उसके शिकार हो गये, और अर्ध-सरकारी विश्वविद्यालयों के शिक्षा-भवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में रहते हैं जिसका सर्व-साधारणसे तथा मध्यम श्रेणी के नीचेके लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन दिनों राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक सीमित थी। बंगाल में १९०६ से राष्ट्रीय आन्दोलन ने जरा इस वस्तुस्थिति को झकझोर कर बंगाल के मध्यम श्रेणी के निचले लोगों में, और कुछ हद तक जनता में भी, नई जान डाल दी। आगे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेजी से बढ़ने को था। परन्तु राष्ट्रीय संग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक संकीर्ण सिद्धान्त

होता है और अपने में इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामों के लिए कुछ नहीं बचता।

इसलिए इंग्लैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों में, मैं जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा। अपने वकालत के पेशे में मुझे पूरा उत्साह नहीं था। राजनीति के मानी मेरे मन में यह था कि विदेशी शासन के खिलाफ उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हो। लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहता, फिजी में हिन्दुस्तानी मजदूरों के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के खिलाफ या दक्षिण अफ्रीका म प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के खिलाफ यानी ऐसे खास मौकों पर जब कभी कोई आन्दोलन उठ खड़ा होता, तो मैं अपनी पूरी ताकत से उसमें जुट कर खूब मेहनत करता। लेकिन ये काम तो सिर्फ कुछ समय के लिए ही होते थे।

शिकार जैसे दूसरे कामों में मैंने अपना जी बहलाना चाहा, लेकिन उसकी तरफ मेरा खास लगाव या झुकाव न था। बाहर जाना और जंगल में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मैं कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूं। सच बात तो यह है कि मैं जानवरों को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालांकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफाक से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गई थी। शिकार के लिए मेरे मन में जो थोड़ा-बहुत उत्साह था, वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा पड़ गया। यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरों पर गिर पड़ा और अपनी आंसूभरी बड़ी-बड़ी आंखों से मेरी तरफ देखने लगा। तब से उन आंखों की मुझे अक्सर याद आ जाती है।

उन शुरू के सालों में श्री गोखले की भारत-सेवक समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था। मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नहीं सोची। कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था। परन्तु समिति के मेम्बरों के लिए मेरे दिल में बड़ी इज्जत थी, क्योंकि उन्होंने निर्वाह-मात्र पर अपने को स्वदेश की सेवा में लगा दिया था। मैंने दिल में कहा कि कम-से-कम यह एक समिति ऐसी है, जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार काम करते हैं, फिर चाहे वह काम सोलहों आने ठीक दिशा में भले ही न हो।

विश्व-व्यापी महायुद्ध शुरू हुआ और उसमें हमारा ध्यान लग गया, हालाँकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उसका हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी वीभत्सता के पूरे स्वरूप का अनुभव भी नहीं किया। राजनीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। 'ब्रिटिश डिफेन्स आफ रिएल्म एक्ट' की तरह जो 'भारत रक्षा कानून' बना था, देश को वह जोर से जकड़े हुए था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड्यंत्रों और गोलियों से उड़ाये जाने की खबरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की जबरन भरती की खबरें सुनाई देती थीं।

यद्यपि लोग जोर-जोर से राजभक्ति का राग अलापते थे, तो भी अंग्रेजों के साथ उनकी बहुत-ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की खबरें सुनकर क्या माडरेट और क्या गरमदलवाले, दोनों को खुशी होती थी। यह नहीं कि किसी को जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे इन प्रभुओं का गरूर उतर जाय। कमजोर और असहाय मनुष्यों के मन में अपने से जबरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की खबर सुनकर जैसी खुशी होती है, वैसा ही यह भाव था। मैं समझता हूँ कि हममें से अधिकांश इस लड़ाई के बारे में मिले-जुले भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमें मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा फ्रान्सीसियों के साथ थी। मित्र-राष्ट्रों की ओर से बेहयाई के साथ जो लगातार प्रचार किया गया, उसका कुछ असर जरूर पड़ा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बातें सही न मानने की काफी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे राजनैतिक जीवन फिर बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये और उन्होंने तथा मिसेज बेसेण्ट ने होमरूल लीगें कायम कीं। मैं दोनों लीगोंमें शामिल हुआ, लेकिन काम मैंने खास तौरपर मिसेज बेसेण्टकी लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मंच पर मिसेज बेसेण्ट दिनोंदिन अधिक भाग लेने लगीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में कुछ अधिक जोशभर गया और मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मंडल में बिजली-सी दौड़ गई और हम-जैसे अधिकांश नवयुवकों के दिल फड़कने लगे। निकट भविष्य में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मीदें करने लगे। मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देशभर में होम-रूल आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल लीगों में न सिर्फ वे पुराने गरम दलवाले

ही शामिल हुए, जो १९०७ से कांग्रेससे अलग होगये थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों में से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनताको इन लोगों ने छुआ तक नहीं। परन्तु कई माडरेट लीडर आगे भी बढ़े। उनमेंसे कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहां पहुंच चुके थे, वहींके वहीं डटे रहे। मुझे याद है कि 'यूरोपियन डिफेंस फोर्स' के ढंग पर सरकार हिंदुस्तान में मध्यमवर्गके लोगों में से जिस नये 'इंडियन डिफेंस फोर्स' का संगठन कर रही थी, उसके बारे में बड़ी चर्चा होती थी। कई मामलों में इस हिंदुस्तानी डिफेंस फोर्स के साथ वह व्यवहार नहीं किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फोर्स के साथ किया जाता था और हममें से बहुतों को यह महसूस हुआ कि जब तक यह सब अपमानजनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय तब तक हमें इस फोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद, आखिर हम लोगों ने संयुक्त प्रांत में सहयोग करना ही तय किया, क्योंकि यह सोचा गया कि इन हालतों में भी हमारे नौजवानों के लिए यह अच्छा है कि वे फौजी शिक्षा ग्रहण करें। मैंने इस फोर्स में दाखिल होने के लिए अपनी अर्जी भेज दी और उस तजवीजको बढ़ानेके लिए हम लोगोंने इलाहाबादमें एक कमिटी भी बनाली। इसी समय मिसेज बेसेण्टकी नजरबन्दी हुई और उस क्षण के जोश में मैंने कमिटी के मेम्बरोंको, जिनमें पिताजी, डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी०वाई चिंतामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बातके लिए राजी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद्द कर दें और सरकार की नजरबन्दीवाली हरकत के विरोध स्वरूप डिफेंस फोर्स के सिलसिले के दूसरे सब काम भी बंद कर दें। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा खयाल है कि लड़ाईके दिनों में ऐसा आक्रामक कार्य करने लिये इनमें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होमरूल लीग में शामिल हो गये। कुछ महीने बाद ज्यादातर माडरेट नेताओं ने लीग से इस्तीफा दे दिया। पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद-शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटों की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति तो जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ घृणा का बर्ताव करती थी उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करनेके खिलाफ बगावत करती थी और पुराने नरम दल के नेता उन्हें आकर्षित नहीं करते थे। उनकी

भाषा और उनके ढंग उन्हें बहुत खटकते थे। मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी की घटना का उनके ऊपर काफी असर पड़ा, लेकिन आगे कदम रखने से पहले वह अब भी हिचकिचाते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटों के तरीकों से कुछ नहीं हो सकता लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नहीं मिलता, तबतक दूसरा कोई भी कारगर काम नहीं किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय तो मैं आपमें से तेज-से-तेज के साथ कदम मिलाकर चलने को तैयार हूं। हमारे ही घर में अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग में वह संयुक्त कांग्रेस-लीग-योजना बनी जिसे १९१६ ईसवी में कांग्रेस ने लखनऊ में मंजूर किया। इस बात से पिताजी बड़े खुश हुए, क्योंकि इससे सम्मिलित प्रयास का रास्ता खुल गया। उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने साथियों से बिगाड़ करके भी हमारे साथ चलने को तैयार थे। भारत-मंत्री की हैसियत से एडविन मांटेग्यू ने हिन्दुस्तान में जो दौरा किया तबतक, और दौरे के दरमियान, माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे। लेकिन मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट[१] के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू हो गया। १९१८ में लखनऊ में एक विशेष प्रान्तीय कान्फ्रेंस हुई। पिताजी इसके सभापति थे। इसीमें वह सदा के लिए माडरेटों से अलग हो गये। माडरेटों को डर था कि यह कान्फ्रेंस मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रस्तावों के खिलाफ कड़ा रुख अख्तियार करेगी। इसलिए उन्होंने उसका बायकाट कर दिया। इसके बाद इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कांग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होंने बायकाट किया। तबसे अबतक वे कांग्रेस के बाहर ही हैं।

माडरेटों ने जो ढंग अख्तियार किया वह यह था कि वे कांग्रेस के अधिवेशनों तथा दूसरे आम जल्सों से चुपचाप अलग होकर दूर रहें और बहुमत के खिलाफ होने पर वहां जाकर अपना दृष्टिकोण भी न रखें और न उसके लिए लड़ें। यह ढंग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ। मेरा खयाल है कि देश में अधिकांश लोगों का यही आम खयाल था और मुझे विश्वास हैकि हिन्दुस्तान की राजनीति में माडरेटों का प्रभाव जो प्रायः सोलह आने जाता रहा, वह एक हद तक

---

[१] 'मंडल' से प्रकाशित 'कांग्रेस का इतिहास', प्रकरण ४ देखिये — अनु०

उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ। मेरा खयाल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो कांग्रेस के शुरू के उन कुछ जल्सों में भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था और उन्होंने अपने अकेले का दृष्टिकोण वहाँ रखा।

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मैं आम सभाओं में व्याख्यान देने से बचा रहा। अभी तक मुझे जनता में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी। कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अंग्रेजी में तो होने नहीं चाहिएं और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था। मुझे वह छोटी-सी घटना याद है, जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले-पहल इलाहाबाद में एक सार्वजनिक भाषण दूं। सम्भवतः यह १९१५ में हुआ। तारीख के बारे में ठीक-ठीक नहीं कह सकता। इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या, यह तरतीब भी मुझे साफ-साफ याद नहीं है। प्रेस का मुंह बन्द करनेवाले एक कानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें मुझे यह मौका मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला सो भी अंग्रेजी में। ज्योंही मीटिंग खत्म हुई, मुझे इस बात से बड़ी सकुच हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो कुछ या जिस तरह कहा उस पर वह खुश हुए हों सो बात नहीं। बल्कि उनकी इस बेहद खुशी का सबब सिर्फ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्वजनिक काम दरअसल केवल व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनों हमें, इलाहाबाद के बहुत-से नौजवानों को यह भी आशा थी कि मुमकिन है डॉक्टर सप्रू राजनीति में कुछ आगे कदम रखें। शहर में माडरेट दल के जितने लोग थे उन सबमें उन्हींसे इस बात की सबसे ज्यादा सम्भावना थी, क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौके पर उत्साह की लहर में बह जाते थे। उनके मुकाबले पिताजी बहुत ठंडे मालूम पड़ते थे, हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण हमें उनसे बहुत कम उम्मीद रह गई थी और कुछ वक्त के लिए हमें सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदें थीं। इसमें तो कोई शक नहीं कि

अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओं के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ खींचते थे और हम लोग उनसे देर-देर तक बातें करके उनपर यह जोर डालते थे कि वह जोर के साथ देश का नेतृत्व करें।

उस जमाने में, घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नहीं था। उनकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरम दलकी तरफ जो मेरा झुकाव था, उसे पिताजी बड़े गौर से देख रहे थे; खास तौर पर बातूनी राजनीति के बारे में मेरी नुक्ताचीनियों को और कार्य के लिए की जानेवाली मेरी आग्रहपूर्ण मांग को। मुझे भी यह बात साफ साफ नहीं दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए और पिताजी कभी-कभी खयाल करते थे कि मैं सीधे उस हिंसात्मक कार्य की तरफ जा रहाहूं, जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख्तियार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे,जब कि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ था नहीं। हां, यह खयाल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालतको चुपचाप बरदाश्त नहीं करना चाहिए और कुछ-न-कुछ करना जरूर चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नहीं दिखाई देता था। लेकिन मैं यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनों ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के खिलाफ अधिक लड़ाकू और आक्रामक रवैया अख्तियार किया जाय। पिताजी खुद माडरेटों की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जब तक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं, तबतक वह एक स्थिति को छोड़कर दूसरी को कभी नहीं अपनाते। आगे रखे जानेवाले हरेक कदम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और घोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लड़ने के बाद जब वह कोई कदम आगे रख देते थे तब फिर पीछे पैर नहीं हटाते थे। उन्होंने आगे जो कदम बढ़ाया, वह किसी उत्साह के झोंके में नहीं, बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एक बार आगे कदम रख देने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हें पीछे मुड़ कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति में बाह्य परिवर्तन मिसेज बेसेण्ट की नजरबन्दी के वक्त आया और तब से वह कदम-ब-कदम आगे ही बढ़ते गये और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोड़ते गये। अन्त में १९१९ म पंजाब में जो दुःखान्त काण्ड हुआ उसने

उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका और उन्होंने गांधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की बागडोर बांध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नहीं कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शंकाएं उठ रही थीं, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनों के सार्वजनिक प्रश्नों पर शान्तिपूर्वक बातचीत नहीं कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बातचीत में वह नाराज हो जाते और हमें बात जहां-की-तहां खतम कर देनी पड़ती।

मैं गांधीजी से पहले-पहल १९१६ में बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ-कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ्रीका में उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे। उन दिनों उन्होंने कांग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपनेको प्रवासी भारतीयों के मसले की सीमा तक बांध रखा था। इसके बाद ही चम्पारन में निलहे गोरों के कारण होनेवाले किसानों के दुःख दूर करने में उन्होंने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगों ने देखा कि वह हिन्दुस्तान में भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार हैं और उनसे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-कांग्रेस के बाद उन दिनों इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू ने कई बढ़िया भाषण दिये। उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनों मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कॉलेज के दिनों के गोलमोल साम्यवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ में रोजर केसमेन्ट[1] ने अपने मुकदमे में जो

---

[1] रोजर केसमेंट एक समय ब्रिटिश सरकार के उपनिवेशों में उच्च पद पर था। दक्षिण अमेरिका के पुटुमायों में एंग्लो-पेरूवियन रबर कम्पनी ने वहां के निवासियों पर जो जुल्म किये थे उनकी जांच करने के लिए १९१० में इसकी नियुक्ति की गई थी और उसकी रिपोर्ट से बड़ी सनसनी फैली थी। इसके बाद यह ब्रिटिश साम्राज्य का कट्टर शत्रु बन गया। महायुद्ध में भाग न लेने के लिए

आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमें यह बताया कि गुलाम जातिवालों के भाव कैसे होने चाहिएं ? आयर्लैण्ड में ईस्टर के दिनों म जो बगावत हुई उसकी विफलता ने भी हमें अपनी तरफ खींचा; क्योंकि जो निश्चित विफलता पर हंसता हुआ संसार के सामने यह ऐलान करता है कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नहीं कुचल सकती, वह सच्चा साहस नहीं था, तो क्या था ?

उन दिनों ये ही मेरे भाव थे। परन्तु नई किताबों के पढ़ने से मेरे दिमाग में साम्यवादी विचारों के अंगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनों वे भाव अस्पष्ट थे, वैज्ञानिक न होकर दयापूर्ण और हवाई अधिक थे। युद्धकाल में तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रेण्ड रसल[1] के लेख तथा ग्रन्थ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारों और इच्छाओं से मेरे मन का भीतरी संघर्ष तथा अपने वकालत के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ़ गया। यों मैं उसे चलाता रहा, क्योंकि उसके सिवा मैं करता भी क्या? लेकिन मैं अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि एक ओर खास तौर पर आक्रामक ढंग का सार्वजनिक कार्य, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ यह वकालत का पेशा, दोनों एक साथ निभ नहीं सकते। सवाल सिद्धान्त का नहीं, समय और शक्ति का था। न जाने क्यों कलकत्ता के नामी वकील सर रासबिहारी घोष मुझसे बहुत खुश थे। वह मुझे इस विषय में बहुत नेक सलाह दिया करते थे। खासतौर पर उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मैं पसन्द के किसी कानूनी विषय पर एक किताब लिखूं, क्योंकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपने को 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है।

उसने अपने आयरिश भाइयों से अनुरोध किया। नवम्बर १९१४ में वह बर्लिन गया और वहाँ जर्मन सरकार के साथ ब्रिटिश के खिलाफ सुलह की। आयर्लैण्ड में १९१६ के ईस्टर सप्ताह में बलवे की तैयारी की। बारह अप्रैल को जर्मनी से जहाज में गोला बारूद भरकर आयर्लैण्ड के किनारे उतरा। मय जहाज के वह पकड़ा गया। 'राज्य के शत्रु' होने का इल्जाम इसपर लगाया गया और तीन अगस्त को उसे फांसी की सजा दी गई। —अनु०

१ लार्ड-पद छोड़कर समाजवाद का प्रचार करनेवाला अंग्रेज अध्यापक और समर्थ लेखक। महायुद्ध में युद्धनीतियों का विरोध करने के लिए इसने सजा भी पाई थी। —अनु०

उन्होंने यह भी कहा कि इस किताब के लिखने में मैं तुम्हें विचारों की भी मदद दूंगा और उस किताब का संशोधन भी कर दूंगा। लेकिन मेरे वकीली जीवन में उनकी यह दिलचस्पी बेकार थी, क्योंकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली और कोई चीज नहीं हो सकती थी कि मैं कानूनी किताब लिखने में अपना समय और शक्ति बरबाद करूं।

बुढ़ापे में सर रासबिहारी बहुत ही चिड़चिड़े हो गए थे। फौरन ही उन्हें गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरों पर उनका बड़ा आतंक-सा रहता था। लेकिन मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमजोरियाँ भी बिलकुल अनाकर्षक नहीं मालूम होती थीं। एक मर्तबा मैं और पिताजी शिमला में उनके मेहमान थे। मेरा खयाल है कि यह १९१८ की बात है—ठीक उस समय की, जब माण्टेगू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट छपकर आई थी। उन्होंने एक दिन शाम को कुछ मित्रों को खाने के लिए बुलाया और उनमें खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस में जोर-जोर से बातें तथा एक दूसरे पर हमला करने लगे, क्योंकि वे राजनीति में भिन्न-भिन्न दलों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनों प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थ, यद्यपि पीछे जाकर वह अत्यन्त नरम और माडरेटों तक के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गए थे। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होंने लन्दन में मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी इसे कैसे बरदाश्त कर सकते थे? वह बिगड़कर बोले कि गोखले एक पुरुषोत्तम थे और मेरे खास मित्र थे। मैं किसी को उनके खिलाफ एक भी शब्द नहीं कहने दूंगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा नहीं लगा, लेकिन उन्होंने कोई नाराजगी नहीं दिखलाई। जाहिर है कि वह शास्त्री के उतने प्रशंसक नहीं थे जितने गोखले के। यहाँतक कि उन्होंने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मैं रुपये-पैसे से भारत-सेवक-समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद मैंने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुकाबले तिलक की तारीफ करने लगे। बोले—"तिलक निस्सन्देह महा-पुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा हैं।" 'महात्मा!" रासबिहारी बोले—"मुझे महात्माओं से चिढ़ है। मैं उनसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहता।"

६

हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, वसन्त-पंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने कश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो श्रीनगर की घाटी में छोड़ दिया, और मैं अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा, तथा लद्दाख रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में उन संकड़ी और निर्जन घाटियों में, जो तिब्बत के मैदान की तरफ ले जाती हैं,घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। ज़ोजी-ला घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ खाली कड़ी कट्टान। हम उस घाटी की संकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गये, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ बरफ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थीं, और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशियर—हिमसरोवर—हमसे मिलने के लिए नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी, लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ थी कि अक्सर हमें चीजों की दूरी के बारे में भ्रम होजाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ नंगी चट्टान और बरफ, और पाला और कभी-कभी कुछ सुन्दर फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इन जंगली और सुनसान निवासों में मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमंग का ठिकाना न था।

इस यात्रा में मुझे एक बड़ा दिल को कँपा देनेवाला अनुभव हुआ। ज़ोजी-ला घाटी से आगे सफर करते हुए एक जगह, जो मेरे खयाल में मातायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँसे सिर्फ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह हिम से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या हैं? जोश खूब था और तजरुबे नदारद। हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ग्यारह हजार पाँचसौ

फीट की ऊँचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ वहाँ का एक गडरिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई बरफीली-नदियों को पार किया। हमारी मुश्किलें बढ़ती गईं तथा साँस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ सामान उठानेवालों के मुंह से खून निकलने लगा, हालाँकि उन पर बहुत बोझ नहीं था। इधर बर्फ पड़ने लगी और बर्फीली नदियाँ भयानक रूप से रपटीली हो गईं। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक कदम आगे बढ़ने के लिए बहुत कोशिश करनी पड़ती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खता करते ही गये। हमने अपना खेमा सुबह चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद एक सुविशाल हिम-सरोवर देखने का पुरस्कार मिला। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारों ओर बरफ से ढकी हुई पर्वत-चोटियाँ थीं, मानो देवताओं का मुकुट अथवा अर्द्धचंद्र हो। परन्तु ताजा बरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आँखों से ओझल कर दिया। पता नहीं कि हम कितनी ऊंचाई पर थे, लेकिन मेरा खयाल है कि हम लोग पन्द्रह-सोलह हजार फीट ऊँचाई पर जरूर होंगे; क्योंकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमें इस हिम सरोवर को, जो सम्भवतः आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचेकी गुफाको जाना था। हम लोगोंने सोचा कि चढ़ाई खत्म होने से हमारी मुश्किलें भी खत्म हो गई होंगी, इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हँसते हुए यात्रा की यह मंजिल भी तय करनी शुरू की। इसमें बड़ा धोखा था, क्योंकि वहाँ दरारें बहुत-सी थीं और ताजी गिरनेवाली बरफ खतरनाक दरारों को ढक देती थी। इस नये बर्फ ने ही मेरा करीब-करीब खात्मा कर दिया होता क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रखा, वह नीचे को खिसक गई और मैं धम्म-से एक बड़ी दरार में जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज उसमें ,बिलकुल नीचे पहुँचकर हजारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इत्मीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन मेरे हाथ से रस्सी नहीं छूटी और मैं दरार की बाजू पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हम लोगोंके होश तो ढीले होगए थे किंतु फिर भी हम लोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गई। इनमें से कुछको पार करने के कोई साधन भी हमारे पास

न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-मांदे हताश हो लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गई।

कश्मीर के पहाड़ों तथा ऊंची-ऊंची घाटियों ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैंने एक बार फिर वहां जाने का संकल्प किया! मैंने कई योजनाएं सोचीं, और कई यात्राओं के मनसूबे बांधे और उनमें से एक के तो खयाल ही से मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। वह थी तिब्बत की अलौकिक झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलाश। यह अठारह बरस पहले की बात है और मैं आज भी कैलाश तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूं जितना पहले था। मैं फिर कश्मीर न जा सका, हालांकि वहां जाने की मेरी बहुत इच्छा रही। मैं राजनीति और सार्वजनिक कामों के जंजाल में अधिकाधिक उलझता गया और पहाड़ों पर चढ़ने या समुद्रों को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलों में जाकर ही सन्तोष करना पड़ा। लेकिन अब भी मैं वहां जाने के मनसूबे गढ़ा करता हूं क्योंकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल में भी नहीं रोक सकता। और इसके अलावा जेलों में ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या? अतः मैं यह स्वप्न देख रहा हूं कि जब मैं हिमालय पर चढ़कर उसे पार करूंगा और उस झील तथा कैलाश के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूंगा। परन्तु इस बीच में जीवन की घड़ियां दौड़ती जा रही हैं, जवानी अधेड़पन में बदल रही है और कभी-कभी मैं यह सोचता हूं कि मैं इतना बूढ़ा हो जाऊंगा कि कैलाश और मानसरोवर जा ही न सकूंगा। यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे, तब भी यात्रा करने में हमेशा आनन्द ही आता है।

मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-शृंगों की पड़ती छाया,
सांध्य गुलाबों से रंजित है जिनकी भीषण दुर्गमता;
फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकों पर बैठे अकुलाते,
शांत शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता![1]

---

[1] वाल्तेर द ला मेयर के एक पद्य का भावानुवाद। —अनु०

७

गांधीजी मैदान में

सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध के अन्त में हिन्दुस्तान में एक दबा हुआ जोश फैला हुआ था। कल-कारखाने जगह-जगह फैल गए थे और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गए थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को और भी बढ़ाने के लिए सत्ता और मौके मिलें। मगर आम लोग इतने खुशकिस्मत न थे और वे उस बोझ को कम करने की टोह में थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ अधिकार मिलेंगे और उसके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जोकि शान्तिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय, स्वशासन और स्वराज की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ चिह्न जनता में भी, और खासकर किसानों में, दिखाई पड़ते थे। पंजाब के देहाती इलाकों में जबरदस्ती रंगरूट भर्त्ती करने की दुःखदायी बातें लोग अभी तक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारू[1] वाले तथा दूसरे लोगों पर षड्यन्त्र के

---

[1]कोमागाटा-मारूवाली घटना थोड़े में इस प्रकार है—कनाडा में एक ऐसा कानून पास हुआ कि सिवा उन लोगोंके जो ठेठ कनाडा तक एक ही जहाज में सीधे यात्रा करें, दूसरे किसीको कनाडा में न उतरने दिया जाय। कनाडा से हिन्दुस्तान तक सीधा एक भी जहाज नहीं आता था। कनाडा में कई सिक्ख जा बसे थे। अतएव उनके लिए इस कानून का यह अर्थ हुआ कि वहां बसजानेवाले कोई भी सिक्ख, जो यहां थोड़े दिनके लिए आये हों,वापस कनाडा नहीं जासकत

मुकदमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारों ओर फैली हुई नाराजगी को और भी बढ़ा दिया। जगह-जगह लड़ाई के मैदानों से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नहीं रह गए थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत अशांति थी।

मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर जैसा रुख अख्तियार किया गया उस पर गुस्सा बढ़ रहा था और आंदोलन तेज होरहा था। तुर्किस्तान के साथ सन्धिपत्र पर अभी हस्ताक्षर नहीं होचुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहां एक ओर वे आंदोलन कर रहे थे तहां दूसरी ओर इंतजार भी कर रहे थे। देशभर में प्रतीक्षा और आशा की हवा जोरों पर थी, लेकिन उस आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट बिलों का दौर हुआ, जिसमें कानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने और सजा देने की धाराएं रक्खी गई थीं। सारे हिंदुस्तान में चारों ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उनका स्वागत किया था, यहांतक कि माडरेट लोगों ने भी अपनी पूरी ताकत से उनका विरोध किया था। और सच तो यह है कि हिंदुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एकस्वरसे उनका विरोध किया था। फिरभी सरकारीं अफसरोंने उनको कानून[1] बनवा ही डाला। और खास

न कनाडा-स्थित कोई सिक्ख हिन्दुस्तान से अपने कुटुम्बियों को ही ले जा सकते थे। इस चुनौती का जवाब देने के लिए १९१५में बाबा गुरुदत्तसिंह ने 'कोमागाटा मारू'नामक एक ठेठ कनाडा जानेवाला जहाज किरायेका किया और ६००सिक्खों को उसमें वहाँ ले गये। इन्हें वहाँ उतरने नहीं दिया गया। वापस लौटते हुए उन्हें कलकत्ते में बजबज स्टेशन पर उतरकर सीधे पंजाब जाने का हुक्म मिला। इस हुक्म को भंग किया गया और इससे बलवा पैदा हुआ; गोलियां चलाई गईं, कितने ही मारे गए, कइयों पर राजद्रोह और षड्यन्त्र के मुकदमे चले। बाबा गुरुदत्तसिंह वहां से भाग निकले और छिपे रहे। १९२१तक वह इधर-उधर घूमते रहे, फिर गांधीजी से भेंट हुई और उनकी सलाह के अनुसार अपने को गिरफ्तार करा दिया। १९२२ में वह लाहौर जेल से छूटे। —अनु०

[1] एक बिल वापिस लिया गया और दूसरा बिल पास होकर कानून बना। —अनु०

रिआयत सच पूछो तो यह की गई कि उनकी मियाद महज तीन वर्ष की रख दी गई !

पन्द्रह बरस पहले इन बिलों पर,और इसकी बदौलत जो हलचल मची उस पर, जरा निगाह दौड़ाना यहां उपयोगी होगा। रौलट-कानून बन तो गया,मगर, जहाँ तक मैं जानता हूं, अपनी तीन वर्ष की जिन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया हालांकि वे तीन साल शान्ति के नहीं, ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के गदर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखे थे। इस तरह ब्रिटिश-सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा कानून बनाया, जिसका उसने कुछ उपयोग भी नहीं किया और बदले में एक तूफान पैदा कर दिया। इससे बहुत-कुछ यह खयाल किया जा सकता है कि इस कानून को बनाने का उद्देश सिर्फ खलबली मचाना था।

एक और मजेदार बात सुनिए। आज पन्द्रह साल के बाद कितने ही कानून बन गए हैं जो रोज-रोज बरते भी जाते हैं और जो रौलट-बिल से भी ज्यादा सख्त हैं। इन नये कानूनों और आर्डिनेन्सों के मुकाबले, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश-हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे हैं, रौलट-बिल तो आजादी का परवाना समझा जा सकता है। हां, एक फर्क जरूर है। १९१९ से हमें मॉण्टेगू-चैम्सफोर्ड-योजना नामक स्वराज्य की एक किश्त मिल चुकी है और अब, सुनते हैं,एक बड़ी किश्त और मिलने वाली है। हम तरक्की जो कर रहे हैं!

१९१९ के शुरू में गांधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को कानून न बनने दें। इस अपील की उन्होंने, दूसरी अपीलों की तरह, कोई परवाह न की और उस हालत में, गांधीजी को अपनी तबियत के खिलाफ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा, जो उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होंने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उन पर लागू किये जाने पर वे कानून को न मानेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लम-खुल्ला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अखबारों में यह खबर पढ़ी तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला, जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा

और मैं फौरन ही सत्याग्रह-सभा में सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—कानून तोड़ना जेल जाना वगैरा पर—शायद ही गौर किया और अगर मैंने गौर किया होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड़ गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है, क्योंकि पिताजी इस नये विचार के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावों के बहाव में बह जानेवाले नहीं थे। कोई नया कदम आगे बढ़ाने के पहले वह उसके नतीजे को अच्छी तरह सोच लिया करते थे और जितना ही ज्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा उतना ही कम वह उन्हें जँचा। थोड़े-से लोगों के जेल जाने से क्या फायदा होगा? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पड़ेगा? इन आम बातो के अलावा असल बात तो थी—हमारा जाती सवाल। उन्हें यह बात बेहूदा लगती थी कि मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी शुरू नहीं हुआ था पर यह खयाल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे, तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनों जानते थे कि यह बड़ी-बड़ी बाजियाँ लगाने का सवाल है, जिसमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की सम्भावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक दूसरे की भावनाओं और बातों का खयाल रखें। मैं चाहता था कि जहाँतक हो सके कोशिश करूँ कि उनको तकलीफ न उठानी पड़े। मगर मुझे अपने दिल में यकीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रातें मैंने अकेले बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटीं। मैं सोचता रहता कि इसमें से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में मेरी क्या गति होगी, क्योंकि उनके खयाल में मुझे आगे-पीछे जेल जरूर जाना पड़ेगा।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गांधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो

पिताजी को असह्य हो। मुझे इससे दुःख ही हुआ; मगर उसी समय देश में ऐसी घटनाएं घट गईं, जिनसे सारी हालत ही बदल गई, और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस। सारे हिन्दुस्तान में हड़तालें और तमाम काम-काज बन्द--दिल्ली,अमृतसर और अहमदाबाद में पुलिस और फौज का गोली चलाना और बहुत-से आदमियों का मारा जाना--अमृतसर और अहमदाबाद में भीड़ के द्वारा हिंसा-कांड हो जाना--जलियाँवाला-बाग का हत्या-कांड--पंजाब में फौजी कानून के भीषण, अपमानजनक और जी दहलाने वाले कारनामे। पंजाब मानो दूसरे प्रान्तों से अलग काट दिया गया हो, उसपर मानो दुहेरा परदा पड़ गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखें उसतक नहीं पहुँच पाती थीं। वहाँ से मुश्किल से कोई खबर मिलती थी, और न कोई वहाँ जा सकता था, न वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का, जो किसी तरह उस नरक-कुंड से बाहर आ पहुँचता था, तो इतना भयभीत हो जाता था कि साफ-साफ हाल नहीं बता सकता था। हम लोग जो बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बड़ी खबर का इन्तज़ार करते रहते थे और हमारे दिल में कटुता भरती जा रही थी। हममें से कुछ लोग फौजी कानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पंजाब के उन हिस्सों में जाना चाहते थे, लेकिन हमें ऐसा नहीं करने दिया गया और इस बीच कांग्रेस की तरफ से दुखियों और पीड़ितों को सहायता पहुँचाने तथा जांच करने के लिए एक बड़ा संगठन बनाया गया।

ज्योंही खास-खास जगहों से फौजी कानून वापस लिया गया और बाहरवालों को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य कांग्रेसी और दूसरे लोग पंजाब में जा पहुँचे और सहायता तथा जाँच[1] के काम में अपनी सेवाएँ दीं। पीड़ितों की सहायता

---

[1] सरकार-नियुक्त हण्टर-कमटी से असहयोग क्यों किया गया, इसका हाल 'कांग्रेस इतिहास' में पढ़िए। इसके बाद कांग्रेस ने खुद अपनी जांच-कमिटी बैठाई। कमिटी के सदस्य थे--गांधीजी, पंडित मोतीलालजी, देशबन्धु दास, अब्बास तैयबजी, फजलुल हक और श्री सन्तानम्। पं० मोतीलालजी अमृतसर महासभा के सभापति चुने गए। तब श्री जयकर ने कमिटी में उनका स्थान लिया। कमिटी की रिपोर्ट का सारा मसविदा गांधीजी ने बनाया था। --अनु०

का काम मुख्यतः पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था और जांच का काम मुख्यत: पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख में। गांधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास तौर पर अपनी तरफ लिया और वहाँ मैं उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया था। मुझे उनके साथ और उनके नीचे काम करने का यह पहला मौका था। यह अनुभव मेरे लिए बड़ा कीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जलियांवाला-बाग से और उस भयंकर गली से, जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को कांग्रेस-जांच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गए थे। हमने कई बार खुद जाकर उस बाग को देखा था और उसकी हर चीज की जांच बड़े गौर से की थी।

यह कहा गया था, मैं समझता हूँ मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह खयाल था कि बाग से निकलने के दूसरे दरवाजे भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियां जारी रक्खीं। यदि डायर का यही खयाल था और दरअसल उसमें दरवाजा रहा होता, तो भी इसमें उसकी जिम्मेदारी कम नहीं हो जाती। मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा खयाल रहा। कोई शख्स इतनी ऊंची जगह पर खड़ा होकर जहां कि वह खड़ा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारों ओर से बड़े ऊंचे-ऊंचे मकानों से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ एक तरफ कोई सौ फीट के करीब कोई मकान न था, महज पांच फीट ऊंची दीवार थी। गोलियां तड़ा-तड़ चल रही थीं और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ा तो हजारों आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढ़ने की कोशिश करने लगे। तब गोलियां उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलाई गईं ताकि कोई उस पर से चढ़कर भाग न सके—जैसा कि हमारे बयानों तथा दीवार पर लगे गोलियों के निशानों से मालूम होता है। और जब यह सब खत्म हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दों और घायलों के ढेर दीवार के दोनों ओर पड़े हुए थे।

उस साल (१९१९) के अखीर में मैं अमृतसर से दिल्ली को रात की गाड़ी

से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे में मैं चढ़ा उसकी तमाम जगहें भरी हुई थीं, सिर्फ ऊपर एक 'बर्थ' खाली थी। सब मुसाफिर सो रहे थे। मैंने वह खाली बर्थ ले ली। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफिर फौजी अफसर थे। वे आपस में जोर-जोर से बातें कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आ ही पहुंचती थीं। उनमें से एक बड़ी तेजी के साथ, मगर विजय के घमण्ड में, बोल रहा था और फौरन ही मैं समझ गया कि शायद यह वही जलियांवाला-बाग के बहादुर डायर हैं। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बागी शहर को खाक में मिला दूं। मगर कहा, 'फिर मुझे रहम आगया और मैं रुक गया।' हण्टर-कमिटी में अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आरहा था। उसकी बातचीत और उसकी संगदिली को देखकर मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा—वह दिल्ली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियों वाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

पंजाब-जांच के जमाने में मुझे गांधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौका मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हें पसन्द नहीं करती थी। मगर करीब-करीब हमेशा अपनी दलीलों से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हें मंजूर कर लिया करती थी। और बाद की घटनाओं से मालूम हुआ कि उनकी सलाह में दूरन्देशी थी। तबसे उनकी राजनतिक अन्तर्दृष्टि में मेरी श्रद्धा बढ़ती गई।

पंजाब की दुर्घटनाओं और उनकी जांच के कार्य का मेरे पिताजी पर जबरदस्त असर हुआ। उनकी तमाम कानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था, जो एक साल बाद आनेवाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन दिनों इलाहाबाद से नरम दल का अखबार 'लीडर' निकल रहा था। उससे उनको संतोष नहीं था और उन्होंने १९१९ में 'इण्डिपेण्डेण्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यों तो इस अखबार को बड़ी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमें एक बात की बड़ी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नहीं था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोग—सब पर इस कमी की जिम्मेदारी

आती है। मैं खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी अनुभव न था। और उसके कामों की चिन्ता से मैं दिन-रात परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनों को जांच के सिलसिले में पंजाब जाना और ठहरना पड़ा था। हमारी लम्बी गैरहाजिरी में पत्र की हालत बहुत गिर गई और उसकी आर्थिक हालत भी बहुत बिगड़ गई। उस हालत से वह कभी उभर न सका। हालांकि १९२०-२१ में उसकी हालत बीच-बीच में कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्योंही हम जेल गये उसकी हालत बदतर होने लगी। आखिर १९२३ के शुरू में उसकी जिन्दगी खत्म हो गई। अखबार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद मैंने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की जिम्मेदारी नहीं ली। हां, जेल में तथा बाहर और-और कामों में लगे रहने के कारण ही मैं ऐसा न कर सकता था।

१९१९ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर-कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होंने माडरेट नेताओं के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन में शामिल हों। चूंकि फौजी-कानून की वजह से एक नई हालत पैदा हो गई थी, उन्होंने लिखा—"पंजाब का आहत-हृदय आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेंगे?" मगर उन्होंने उसका वैसा जवाब नहीं दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल नहीं हुए। उनकी आंखें उन नये सुधारों की ओर लगी हुई थीं जो माण्टेगू-चैम्सफोर्ड सिफारिशों के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इन्कार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा दुःख पहुंचा और इससे उनके और माडरेटों के दिल की खाई और चौड़ी हो गई।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गांधी-कांग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होंने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमें कुछ शक नहीं कि प्रतिनिधियों में अधिकांश और इससे भी ज्यादा बाहर की भीड़ में अधिकतर लोग अगुवा बनने के लिए गांधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज में 'महात्मा गांधी की जय' की आवाज बुलन्द हो रही थी। अली-बन्धु हाल ही नजरबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नई नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मद अली खिलाफ़त-डेपुटेशन में यूरप चले गये।

इधर हिन्दुस्तान में खिलाफत-कमिटी दिन-पर-दिन गांधीजी के असर में आने लगी और उसके अहिंसात्मक असहयोग के विचारों से सम्बन्ध जोड़ने की फिराक में थी। दिल्ली में जनवरी १९२० में खिलाफत के नेताओं, मौलवियों और उलेमाओं की एक शुरू-शुरू की मीटिंग मुझे याद है। खिलाफत-डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गांधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके दिल्ली पहुंचने के पहले, जो प्रार्थना-पत्र वाइसराय को दिया जाने वाला था, उसका मसविदा उन्हें रिवाज के मुताबिक भेजा जा चुका था। जब गांधीजी पहुंचे और उन्होंने उसका मजमून पढ़ा, तो उसे नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमें बहुत-कुछ परिवर्तन नहीं किया गया, तो मैं डेपुटेशन में शरीक न हो सकूंगा। उनका एतराज यह था कि इस मजमून में गोल-मोल बातें कही गई हैं। इसमें शब्द तो बहुत हैं, मगर यह साफ तौर पर नहीं कहा गया कि मुसलमानों की कम-से-कम मांगें क्या हैं। उन्होंने कहा कि 'इससे न तो बादशाह के साथ इन्साफ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ; न लोगों के साथ, न अपने साथ। उन्हें बढ़ी-चढ़ी माँगें पेश न करनी चाहिएं जिनपर वे अड़ना न चाहते हों। मगर छोटी-से-छोटी मांग बिलकुल साफ शब्दों में हो, जिसमें किसी प्रकार का शक-शुबहा न हो और फिर मरने तक उसपर डटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राजमार्ग है।'

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलकों में एक नई चीज थी। हम लोग बढ़ी-चढ़ी और गोल-मोल बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग में हमेशा सौदा करने की तजवीज़ें चला करती थीं। आखिर गांधीजी की बात कायम रही; उन्होंने वाइसराय के प्राइवेट-सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मजमून में क्या कमियां हैं और वह किस तरह गोल-मोल है और कुछ नया मजमून अपनी तरफ से भेजा जो उसमें जोड़ा जानेवाला था। इसमें उन्होंने कम-से-कम मांग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होंने नये मजमून का जोड़ा जाना मंजूर नहीं किया और कहा कि मेरी राय में पहला मजमून ही बिलकुल ठीक है। गांधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-पत्री से उनकी और खिलाफत कमिटी की स्थिति साफ हो जाती है और वह डेपुटेशन के साथ चले गये।

यह जाहिर था कि सरकार खिलाफत-कमिटी की मांगें मंजूर नहीं करेगी

और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी। अब मौलवियों और उलेमाओं में देर-देर तक बातें होती रहतीं। अहिंसात्मक असहयोग पर, और खासकर अहिंसा पर, चर्चा होती रहती। गांधीजी ने उनसे कह दिया था कि मैं अगुवा बनने के लिए तैयार हूँ, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिंसाको उसके पूरे मानी में अपना लें। इसके बारे में कोई कमजोरी, लाग-लपट और छिपावट मन में न होनी चाहिए। मौलवियों के लिए इस चीज को मान लेना आसान न था। लेकिन वे राजी हो गए। हां, उन्होंने यह अलबत्ता साफ कर दिया कि वे इसे धर्म के तौर पर नहीं बल्कि तात्कालिक नीति के तौर पर मानेंगे; क्योंकि हमारे मजहब में नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नहीं है।

१९२० में राजनैतिक और खिलाफत-आन्दोलन दोनों एक ही दिशा में और एक साथ चले और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंजूर कर लिये जाने पर आखिर दोनों एक साथ मिल गए। पहले खिलाफत कमिटी ने उस कार्य-क्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुकर्रर हुआ।

उस साल के शुरू में मुसलमानों की मीटिंग (मैं समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी) इलाहाबाद में सैयद रजाअली के मकान में इस कार्य-क्रम पर विचार करने के लिए हुई। मौलाना मुहम्मदअली तो यूरप में थे, मगर मौलाना शौकतअली उसमें मौजूद थे। मुझे उस सभा की याद है, क्योंकि मैं उससे बहुत निराश हुआ था। हाँ, शौकतअली अलबत्ता उत्साह में थे; बाकी सब लोग दुःखी और परेशान थे। उनमें यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामंजूर कर दें, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी खतरे में पड़ने का न था। मैंने दिल में कहा—क्या यही लोग एक क्रांतिकारी आन्दोलन के अगुवा होंगे और ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देंगे? गांधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर, ऐसा मालूम होता था कि, वे पहले से भी ज्यादा घबरा गए। उन्होंने एक डिक्टेटर के ढंग से बहुत अच्छा भाषण दिया। उसमें नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह स्पष्टता और कठोरता भी। उनकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमें कठोर निश्चय और हार्दिक सचाई भरी हुई थी, उनकी आंखों में मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमें से जबरदस्त कार्य-शक्ति और दृढ़ निश्चय की लौ निकल रही थी। उन्होंने कहा कि यह मुकाबला बड़ा जबरदस्त होगा और सामना भी बड़े जबरदस्त से है।

अगर आप लड़ना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और कड़ाई के साथ अहिंसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए। जब लड़ाई का एलान कर दिया जाता है, तो फौजी कानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिंसात्मक युद्ध में भी हमें अपनी तरफ से डिक्टेटर बनाने होंगे और फौजी कानून जारी करने होंगे, यदि हम चाहते हों कि हमारी विजय हो। आपको यह हक है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दें, मेरा सिर उतार लें, और जब कभी और जैसी चाहें सजा दे दें। लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुवा मानते हैं, तबतक आपको मेरी शर्तों का पाबन्द जरूर रहना होगा, आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फौजी कानून के अनुशासन में चलना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके सद्भाव, आपकी मंजूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्योंही आप मुझ से उकता जांय, त्योंही आप मुझे उठाकर फेंक दें, पैरों तले रौंद दें और मैं चूं तक न करूंगा।

इस आशय की कुछ बातें उन्होंने कहीं और यह फौजी मिसाल और उनकी हार्दिक सचाई देख कर वहां बहुत से श्रोताओं के बदन में सरसराहट होने लगी। मगर शौकतअली वहां मौजूद थे, जो अधकचरे लोगों में जोश भरा करते थे। और जब रायें लेने का समय आया तो उनमें से बहुतों ने चुपचाप, मगर झेंपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लड़ाई शुरू करने के पक्ष में हाथ ऊंचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे, तो मैंने गांधीजी से पूछा कि क्या इसी तरीके से आप एक महान् युद्ध शुरू करेंगे? मैंने तो वहां जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आंखों से आग की चिनगारी निकलने की आशा रखी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहां पालतू, डरपोक और अधेड़ लोगों का जमघट दिखाई पड़ा। और फिर भी इन लोगों ने—जनमत का इतना प्रभाव था—लड़ाई के हक में राय दे दी। निश्चय ही मुस्लिम-लीग के इन मेम्बरों में से बहुत कम ने आगे लड़ाई में योग दिया था। बहुतों को तो सरकारी कामों में पनाह मिल गई थी। मुस्लिम-लीग उस समय या बाद भी मुसलमानों के किसी भी बड़े वर्ग की प्रतिनिधि नहीं रह गई थी। हां, १९२० की खिलाफत-कमिटी अलबत्ता एक जोरदार और उससे कहीं ज्यादा प्रातिनिधिक संस्था थी, और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लड़ाई के लिए कमर कसी थी।

१ अगस्त को गांधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था— हालांकि अभी कांग्रेस ने न तो इसको मंजूर किया था, और न इसपर विचार ही किया था। उसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गांधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे।[१] मैं उनके साथ था, और हम सब उस जबरदस्त जुलूस में शरीक हुए थे जिसमें सारी बम्बई अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धांजलि देने के लिए दौड़ पड़ी थी।

---

[१] इसमें कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। गांधीजी तिलक महाराज के अवसान से काफी दिन पहले से अवसान तक बम्बई में ही थे। —अनु०

८

मेरा निर्वासन

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे वर्ग अर्थात् मध्यमवर्ग की राजनीति थी। उस समय, (और बहुत हद तक अब भी) मध्यमवर्ग के लोगों की राजनीति जबानी थी। क्या नरम और क्या गरम, दोनों विचार के लोग मध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी भलाई चाहते थे। माडरेट लोग खास करके मध्यमवर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आमतौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फूले-फले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिनसे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े जमींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यमवर्ग के ही थे; परन्तु निचली सतह के। कल-कारखानों के मजदूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गई थी, कुछ-कुछ जगहों में ही, स्थानीय रीति से संगठित हो पाये थे, और उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। किसान अपढ़, गरीबी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, जमींदार, साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गाँठते और उनको चूसते थे।

किसी अखबार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों खयाल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मजदूर हैं या उनका कोई महत्त्व है। अंग्रेजों के अखबार बड़े अफसरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेजों के सामाजिक जीवन की यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गानों और नाटकों की, लम्बी-लम्बी खबरें छपा करतीं। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिबिन्दु से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिलकुल नहीं की जाती थी, यहाँ तक कि कांग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दे दिया करते थे। कोई खबर तभी किसी काम की समझी जाती, जब हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली,

कांग्रेस को या उसके दावों को बुरा-भला कह बैठता या नुकताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा जिक्र आ जाता, और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहां कोई दंगा-फसाद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अखबार भी अंग्रेजी अखबारों की नकल करने की कोशिश करते। लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कहीं ज्यादा महत्त्व देते थे। यों तो वे हिन्दुस्तानियों को छोटी-बड़ी नौकरियां दिलवाने, उनकी तरक्की और तबादले में, और किसी जानेवाले अफसर की बिदाई में दी जानेवाली पार्टी में जिसमें लोगों में बड़ा उत्साह होता था, दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता, तो करीब-करीब हमेशा ही लगान वगैरा बढ़ जाता था, जिससे पुकार मच जाती; क्योंकि उसका असर जमींदारों की जेब पर भी पड़ता। बेचारे किसान, जो जमीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात ही नहीं पूछता था। ये अखबार जमींदार और कल-कारखानेवालों के होते थे। यह हालत थी उन अखबारों की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यों, खुद कांग्रेस की भी शुरू के दिनों में बराबर यही मांग थी कि जहां-जहां अभी बन्दोबस्त नहीं हो पाया है वहां स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय कि जिससे जमींदारों के अधिकारों की रक्षा हो सके, और उसमें किसानों का कहीं जिक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती के कारण हालत बहुत बदल गई है, और अब अंग्रेजों के अखबारों को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों के लिए जगह देनी पड़ती है, क्योंकि ऐसा न करें तो हिन्दुस्तानी पाठकों के टूट जाने का अन्देशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने खास ढंग से ही करते हैं। हिन्दुस्तानी अखबारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है। वे किसानों और मजदूरों की भी बातें किया करते हैं; क्योंकि एक तो आजकल यह फैशन हो गया है और दूसरे उनके पाठकों में कल-कारखानों और गांव-सम्बन्धी बातों के जानने की तरफ दिलचस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों और जमींदारी वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते हैं, जो कि उनके मालिक होते हैं। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अखबारों में अपना रुपया लगाने लगे हैं और वे हर तरह कोशिश करते हैं कि उन्हें अपने रुपयों का मुआवजा मिले। फिर भी इनमें से बहुत से अखबार 'कांग्रेसी' कहलाते

हैं, हालांकि वे जिनके नियंत्रण में हैं उनमें से बहुतेरे कांग्रेस के मेम्बर भी न होंगे। कांग्रेस शब्द लोगों को बहुत प्यारा हो गया है और कितने ही लोग और संस्थाएं उसे अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करती हैं। जो अखबार जरा आगे बढ़े विचारों का प्रतिपादन करते हैं उन्हें या तो बड़े-बड़े जुर्मानों का, यहांतक कि प्रेस-एक्ट के जरिये दबा दिये जाने या सेंसर किये जाने का भी, खौफ रहता है।

१९२० में मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारखानों में या खेतों में काम करनेवाले मजदूरो की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण बिलकुल मध्यमवर्ग के जैसा था। फिर भी मैं इतना जरूर जानता था कि उनमें गरीबी बहुत है और उनके दुःख भयंकर हैं और मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आजाद हो जाय, तो उसका पहला लक्ष्य यह होगा कि इस गरीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढ़ी तो राजनैतिक आजादी ही दिखाई दी, जिसमें मध्यमवर्ग की प्रधानता हुए बिना नहीं रह सकती। गांधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानों के प्रश्न पर मैं ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० में राजनैतिक बातों में और असहयोग के आगमन में लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्हीं दिनों एक नई बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो गई, जो आगे चलकर जीवन में महत्वपूर्ण बन गई। मैं स्वयं प्रायः कोई इच्छा न रखते हुए, किसानों के सम्पर्क में आ गया, और सो भी एक विचित्र रीति से।

मेरी मां और कमला (मेरी पत्नी) दोनों की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक्त एक बड़े राज्य के मामले में व्यस्त थे, जिसमें दूसरी ओर के वकील देशबन्धुदास थे। हम सेवाय होटल में ठहरे थे। उन दिनों अफगान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियों के दरमियान मसूरीमें सुलह की बातें हो रही थीं (यह १९१९में हुए छोटे अफगान युद्ध के बाद की बात है, जब कि अमानुल्ला तख्त पर बैठा था) और अफगान प्रतिनिधि सेवाय होटल में ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसी से मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें कोई खास दिलचस्पी नहीं थी और इस महीने भर में मैंने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नहीं देखा और अगर देखा भी हो तो मैं किसी को पहचानता न था।

लेकिन क्या देखता हूं कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट वहां आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमें मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मैं अफगान-प्रतिनिधि मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूं। मुझे यह एक बड़ी अजीब बात मालूम हुई, क्योंकि इस महीने भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नहीं और न मुझे उसका मौका मिल सकता था। सुपरिण्टेण्डेण्ट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलों पर गौर से निगाह रखता था और वहां दरअसल खुफिया लोगों का एक खासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिजाज के खिलाफ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उन्होंने मुझे डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से, जो कि देहरादून का सुपरिण्टेण्डेण्ट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूंकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वादा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमें कहा गया कि मैं २४ घंटे के अन्दर देहरादून जिले के बाहर चला जाऊं। इसके मानी यही थे कि मैं कुछ घंटों में ही मसूरी छोड़ दूं। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार मां और पत्नी दोनों को वहां छोड़कर जाऊँ, लेकिन उस वक्त मुझे उस हुक्म को तोड़ना मुनासिब नहीं मालूम हुआ। उस समय सविनय भंग तो था नहीं, इसलिए मैं मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी तरह मुलाकात थी। उन्होंने मित्र-भाव से सर हारकोर्ट को पत्र लिखा कि मुझे यकीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा; यह शिमला के किसी मनचले हाकिम की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया कि हुक्म में कोई ऐसी खराब बात नहीं है जिसके मानने से जवाहरलाल की शान में कोई फर्क आ जाता। इसके जवाब में पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोड़ने का तो कोई इरादा नहीं है; पर अगर उसकी मां या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए जरूरी हुआ, तो वह जरूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी मां की हालत ज्यादा खराब हो गई और पिताजी व मैं दोनों तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमें उस हुक्म के रद कर दिये जाने का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुंचने पर सबसे पहले जो शख्स मैंने होटल के

आंगन में देखा वह अफगान था जो मेरी छोटी बच्ची को गोद में लिये हुए था। मुझे मालूम हुआ कि वह अफगानिस्तान का एक मिनिस्टर और प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफगानों ने अखबारों में उसके समाचार पढ़े और उनकी दिलचस्पी यहांतक बढ़ी कि प्रतिनिधि-मंडल के प्रधान हर रोज फूल और फलों की एक डलिया मेरी मां को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मैं प्रतिनिधि-मण्डल के एक-दो सदस्यों से मिले भी थे और उन्होंने हमें अफगानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमन्त्रण दिया था। मगर अफसोस है कि हम उससे कुछ फायदा न उठा पाये, और पता नहीं वहां की नई हुकूमत में वह निमन्त्रण कायम रहा है या नहीं।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से में मैं किसान-आन्दोलन में जा फंसा और ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक फंसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण पर काफी असर डाला। कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता तो क्या हुआ होता? बहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खींचा गया होता; परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीका और इसलिए उसका असर भी कुछ और होता।

जून १९२० के शुरू में, जहांतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान प्रतापगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दु:खों और मुसीबतों की तरफ वहां के खास-खास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें। बाबा रामचन्द्र नामक उनके एक अगुवा थे, जो न तो वहां के रहनेवाले ही थे और न खुद किसान ही। मैंने सुना कि किसानों का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है। मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया। उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार जोर-जुल्म से वसूली करते हैं, कैसा उनका अमानुषी व्यवहार है, और कैसी उनकी असह्य हालत होगई है। उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चलकर उनकी हालत की जांच करें। उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर जरूर बहुत बिगड़ेंगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी हिफाजत के लिए हम

उनके साथ रहें। वे हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये। अखीर को मैंने उनसे वादा किया कि मैं एक-दो रोज बाद जरूर आऊंगा।

मैं कुछ साथियों को लेकर वहां पहुंचा। कोई तीन दिन वहां हम लोग गांव में रहे। वे रेलवे लाइन और पक्की सड़क से बहुत दूर थे। उस दौरे में मैंने कई नई बातें देखीं। हमने देखा, सारे देहाती इलाके में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमड़ा पड़ता है। जरा जबानी कहला दिया और बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए लोग इकट्ठे होगये। एक गांव से दूसरे गांव और दूसरे से तीसरे गांव, इस तरह सब गांव में सन्देसा पहुंच जाता और देखते-देखते सारे गांव खाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभा स्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते। और इससे भी ज्यादा तेजी से 'सीताराम' सीता . . रा . . आ . . आ . . म' की धुन आकाश में गूंज उठती और चारों तरफ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गांव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौड़ते चले आते। मर्द-औरत फटे-चिटे चिथड़े पहने थे; मगर उनके चेहरे पर जोश और उत्साह था और आंखें चमकती हुई दिखाई देती थीं, मानो कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फानन में उनकी तमाम मुसीबतों का खात्मा हो जायगा।

उन्होंने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आंखों से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हों, या उनके रहनुमा हों, जो उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुंचा देंगे। उनकी मुसीबतों को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड़ गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की जबरदस्त गरीबी और जिल्लत पर, और शर्म मेरी अपनी आराम की जिन्दगी पर, और शहरों की न-कुछ राजनीति पर, जिसमें भारत के इन अधनंगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई स्थान न था। नंगे-भूखे, दलित-पीड़ित भारतवर्ष का एक नया चित्र मेरी आंखों के सामने खड़ा होता हुआ दिखाई दिया। और हम लोगों के, जो दूर शहर से उन्हें देखने कभी-कभी आ जाते हैं, अपने प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी में पड़ गया और उसने मुझमें यह नई जिम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया, जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुःख की सैकड़ों कहानियां सुनीं। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिसके तले वे कुचले जा रहे हैं, किस तरह खिलाफ-कानून लाग लगाये जाते हैं और जोरो-जुल्म से वसूली की जाती है, जमीन और कच्चे झोंपड़ों से किस तरह उनको बेदखल किया जाता है, कैसे उनपर मार पड़ती है, कैसे चारों तरफ जमींदारों के एजेंट, साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं, किस तरह कड़ी धूप में मशक्कत करते हैं और अंत में यह देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है— दूसरे ही उठा ले जाते हैं और उसका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आये थे उनमें से बहुतों के जमीन नहीं थी और जिन्हें जमींदारों ने बे-दखल कर दिया था, उन्हें सहारे के लिए न अपनी जमीन थी न अपना झोंपड़ा। यों जमीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तड़प से फायदा उठाकर जमींदारों ने, जो कानून के मुताबिक एक हद से ज्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, कानून को ताक में रखकर भारी-भारी नजराना वगैरा बढ़ा दिया था। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नजराना वगैरा देते और फिर जब कर्ज और लगान तक न दे पाते तो बेदखल कर दिये जाते; उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीका पुराना चला आ रहा है और किसानों की दिन-ब-दिन बढ़नेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आरहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हद तक बढ़ गया और देहात के लोग इस तरह उमड़ पड़े? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे अवध में एक-सी थी। और यह किसानों का १९२०-२१ का बवण्डर तो सिर्फ प्रतापगढ़, रायबरेली और फैजाबाद जिले में ही फैला हुआ था। इसका आंशिक कारण तो बाबा रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुवा हो जाना था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के कारण मजदूर बनकर फिजी चला गया था। वहां से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के जिलों की तरफ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानों के कष्टों और दुःखों को सुनाता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढ़ा-लिखा थोड़ा था और

कुछ हद तक उसने किसानों से अपना जाती फायदा भी कर लिया। मगर हां, उसने भारी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानों को आपस में समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफों पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस में एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बड़ी भारी-भारी सभाएं होतीं और उससे उन्हें एक बल का अनुभव होता। यों 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे करीब-करीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और जरूरत के वक्त लोगों को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गांवों को आपस में बांधने का चिह्न बना दिया। फैजाबाद, प्रतापगढ़ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओं से भरे पड़े हैं। इन जिलों का समावेश पुराने अयोध्या-राज्य में होता था। तुलसीदासजी की रामायण वहां लोगों के घर-घर गाई जाती है। कितने ही लोगों को इसके हजारों दोहे, चौपाई जबानी याद थे। इस रामायण का गान और प्रासंगिक दोहे-चौपाइयों की मिसाल देना बाबा रामचन्द्र का एक खास तर्ज था। कुछ हद तक किसानों का संगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊटपटांग वायदे भी किये, जिनसे उन्हें बड़ी-बड़ी आशाएं बँधी। उसके पास किसी किस्म का कोई कार्यक्रम नहीं था, और जब उनका जोश आखिरी सीमा तक पहुंच गया, तो उसने उसकी जिम्मेदारी को दूसरों पर डालने की कोशिश की। यही कारण है जो वह कितने ही किसानों को इलाहाबाद लाया कि वहां के लोग उस आन्दोलन में दिलचस्पी लें।

एक साल तक और बाबा रामचन्द्र ने आन्दोलन में प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल गया। मगर बाद में वह बड़ा गैर-जिम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध खासतौर पर अच्छा क्षेत्र था। वह ताल्लुकेदारों की, जो कि अपने को 'अवध के राजा' कहते हैं, भूमि थी और अब भी है। जमींदारी-प्रथा का सबसे बिगड़ा हुआ रूप वहां मिलता है। जमींदारों के लगाये करों के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-जमीन मजदूरों की तादाद बढ़ रही थी। वहां यों सिर्फ एक ही किस्म के किसान थे और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागों में बांट सकते हैं। एक जमींदारी

इलाका, जिसमें बड़े-बड़े जमींदार हैं, और दूसरा वह जहाँ किसान जमीन के मालिक हैं। मगर कहीं-कहीं दोनों की खिचड़ी हो जाती है। बंगाल, बिहार और संयुक्तप्रान्त जमींदारी इलाका है। किसानी इलाके के लोगों की हालत इनसे अच्छी है, हालांकि वहां भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है। पंजाब और गुजरात के (जहां जमींदार किसान हैं) किसानों की हालत जमींदारी इलाके से कहीं अच्छी है। जमींदारी इलाके के ज्यादातर हिस्सों में कई किस्म के काश्तकार थे, दखीलकार, गैर-दखीलकार और शिकमी वगैरा। इन जुदा-जुदा काश्तकारों के स्वार्थ अक्सर आपस में टकराते और इस कारण मिलकर एक साथ कोई जोरदार काम नहीं किया जा सकता। लेकिन अवध में १९२० में न तो दखीलकार काश्तकार थे और न गैरदखीलकार ही थे। वहां सिर्फ आरजी काश्तकार थे, जो बे-दखल होते रहते थे और जिनकी जमीनें ज्यादा नजराना या लगान देने पर दूसरों को दे दी जाया करती थीं। इस तरह चूंकि वहां खासतौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहां एकसाथ काम करने के लिए संगठन करना और भी आसान था।

अवध में आरजी पट्टे की भी कोई गारण्टी देने का रिवाज नहीं था। जमींदार शायद ही कहीं लगान की रसीद देते थे और कोई भी जमींदार कह सकता था कि लगान अदा नहीं किया गया और काश्तकार को बे-दखल कर सकता था। उस बेचारे के लिए साबित करना गैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया। लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागें लगी हुई थीं। मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके में तरह-तरह की पचास ऐसी लागें लगी हुई हैं। मुमकिन है यह बात बढ़ाकर कही गई हो। मगर ताल्लुकेदार जिस तरह खास-खास मौकों पर—जैसे अपने कुटुम्ब में किसी की शादी हो तो, लड़के विलायत पढ़ने गये हों तो, गवर्नर या दूसरे बड़े अफसर को पार्टी दी गई हो तो, एक मोटर या हाथी खरीदा गया हो तो—उनके खर्च का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी। यहां तक कि इन लोगों के मोटराना (मोटर-टैक्स), हथियाना (हाथी के खरीदने का खर्च) वगैरा नाम पड़ गये थे।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नहीं जो अवध में इतना बड़ा किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ; बल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालों की मदद के या राजनैतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा के

कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना बढ़ गया ? यह किसान-आन्दोलन कांग्रेस से बिलकुल अलहदा था। देश में जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इससे कोई ताल्लुक न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनों विशाल और जोरदार आन्दोलनों का मूल कारण एक-सा था। हाँ, १९१९ में गांधीजी ने जो बड़ी-बड़ी हड़तालें कराई थीं उनमें किसानों ने भी हिस्सा लिया था, और उसके बाद से उनका नाम देहातियों में जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर हुआ कि हम शहरवालों को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नहीं था। किसी अखबार में उसपर एक सतर भी नहीं आती थी। उन्हें देहात की बातों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैंने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगों से किस तरह दूर पड़े हुए हैं, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम करते हैं !

९

किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गांवों में घूमता रहा और एक बार इलाहाबाद आकर फ़िर वापस गया। हम गांव-गांव घूमे—किसानों के साथ खाते, उन्हीं के साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घंटों उनसे बातचीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू में हम एक छोटी मोटर में गये थे। किसानों में इतना उत्साह था कि सैकड़ों ने रात-रात भर काम करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवों में जा सके। अक्सर मोटर अड़ जाती और बीसों आदमी खुशी-खुशी दौड़कर उसे उठाते। आखिर को हमें मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज्यादातर सफर पैदल ही करना पड़ा। जहां कहीं हम गये, हमारे साथ पुलिस और खुफिया के लोग, और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मैं समझता हूं, खेतों में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत ही आ गई होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानों से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिजाज नौजवान, पम्प शू पहने हुए। कभी-कभी वह हमसे कहते कि जरा धीरे चलें। मैं समझता हूं, आखिर हमारे साथ चलना उन्हें कठिन हो गया और वह रास्ते में ही कहीं रह गये।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज्यादा गर्मी पड़ा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेजी बदन को झुलसाये देती थी और आँखों को अन्धा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इंग्लैण्ड से लौटने के बाद हर साल गर्मियों में मैं पहाड़ पर चला जाया करता था। किंतु इस बार मैं दिन भर खुली धूप में घूमता था और सिर पर धूप से बचने को हैट भी न था। सिर्फ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरा बातों में मैं इतना मशगूल था कि धूप का कुछ खयाल भी नहीं रहा; और इलाहाबाद लौटने पर जब मैंने देखा तो पता चला कि मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। और मुझे याद पड़ा कि सफर में क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर

में अपने-आपसे खुश भी हुआ; क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मजबूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका, और मैं जो उससे डरता था उसकी जरूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बर्दाश्त कर सकता हूं। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह यह थी कि मेरा शरीर आमतौर पर मजबूत और काम करने के लायक था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और करीब-करीब अपने आखिरी दिनों तक उन्होंने रोजाना कसरत जारी रखी थी। उनके सिर पर चांदी-से सफेद बाल हो गए थे, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गई थीं और वह विचार करते-करते बूढ़े और थके-से दिखाई देते थे। मगर उनका बाकी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में प्रतापगढ़ जाने के पहले भी मैं गांवों से अक्सर गुजरता था। वहां ठहरता था और किसानों से बातचीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हजारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार नहीं करता था। यह बात मुझे इस प्रतापगढ़ की यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग में बना रखा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक किस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग उसका असर अपने पर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझपर पड़ी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गई और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तब तक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊं। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके खयाल से मैं दहशत खाया करता था। लेकिन मैं किसान-सभाओं में बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे गरीब लोगों के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी? मैं वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एकदिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग में जो कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था।

लोग चाहे थोड़े हों चाहे हजारों की तादाद में हों, मैं हमेशा बातचीत के या जाती ढंग से ही उनके सामने बोलता; और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमें रह जाती हो, लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान में प्रवाह काफी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नहीं पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नहीं पाते थे; क्योंकि भीड़ तो भारी होती थी और मेरी आवाज दूर तक नहीं पहुंच पाती थी। लेकिन जब वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब बातों की ज्यादा परवा उन्हें नहीं रहती।

मैं अपनी मां और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग में किसानों की ही बातें भरी थीं और मैं फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योंही मैं मसूरी से वापस लौटा फिर गांवों में घूमने चला गया; और मैंने देखा कि किसान-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। उन पीड़ित किसानों के अन्दर एक नया आत्म-विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊंचा करके चलने लगे थे। जमींदारों के कारिन्दों और पुलिस का डर उनके दिल में कम हो चला था। और यदि किसी का खेत बे-दखल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नहीं बढ़ता था। जमींदारों के नौकर जो उन्हें मारा-पीटा करते थे और कानून के खिलाफ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे वह कम हो गया था; और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहकीकात की कोशिश की जाती। इससे जमींदारों के कारिन्दों और पुलिस की ज्यादतियों की कुछ रोक हुई। ताल्लुकेदार घबराये और अपनी रक्षा का उपाय करते रहे और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-कानून में सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुकेदार और बड़े ज़मींदार जमीन के मालिक कहलाते हैं। वे अपने को 'लोगों के स्वाभाविक नेता' कहने में अपना फख्र समझते हैं। वे यों तो ब्रिटिश सरकार के लाड़ले और बिगड़ैल बेटे हैं, लेकिन सरकार ने उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी, या करने की भूल की थी, उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग से बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने काश्तकारों के लिए कुछ भी नहीं करते थे, जैसा कि दूसरे देशों के ज़मींदार अक्सर थोड़ा बहुत किया करते हैं, और जमीन और

लोगों को महज चूसकर अपना पेट भरनेवाले रह गये थे। उनके पास सबसे बड़ा काम यह रह गया था कि वे स्थानीय अफसरों की खुशामद करते रहें—जिनकी मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन ठहर नहीं सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थों और हकों की रक्षा की लगातार मांग करते रहते थे।

'जमींदार' शब्द से जरा धोखा हो जाता है और किसी-किसी को यह खयाल हो सकता है कि तमाम जमींदार बड़ी-बड़ी जमीनों के मालिक हैं। जिन सूबों में रैयतवारी तरीका है, वहां जमींदार के मानी हैं खुद खेती करनेवाला जमीन-मालिक। उन प्रान्तों में भी जहां जमींदारी प्रथा है, जमींदारों में, कम जमीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हजारों जमीन-मालिक, और वे हजारों लोग भी जो हद दर्जे की गरीबी में दिन काटते हैं और जो किसी तरह काश्तकारों से अच्छी हालत में नहीं है, आ जाते हैं। संयुक्त-प्रान्त में, जहां तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के करीब वे लोग हैं जिनकी गिनती जमींदार वर्ग में की जाती है। गालिबन इनमें से ९० फीसदी से ऊपर की हालत गरीब-से-गरीब काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फीसदी की हालत बहुत अच्छी है। बड़े समझे जानेवाले जमीन-मालिक सारे सूबे में पांच हजार से ज्यादा नहीं हैं और उसका कोई दसवां हिस्सा वास्तव में बड़े जमींदार कहलाने लायक है। बाज-बाज बड़े काश्तकार की हालत तो छोटे गरीब जमींदारों से कहीं अच्छी है। गरीब जमीन-मालिक और मध्यम दर्जे के जमींदार शिक्षा में पिछड़े हुए हैं। मगर हैं आमतौर पर बहुत अच्छे लोग—स्त्री व पुरुष दोनों। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो, तो वे बढ़िया नागरिक बन सकते हैं। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलनों में खासा हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुकेदारों और बड़े जमींदारों ने नहीं—हां, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर। औरतो और उनमें कुलीन वर्ग की खूबियां भी नहीं पाई जातीं। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनों में वे गिर गये हैं। अबतक तो इनका खात्मा ही होजाना चाहिए था। अब वे तभी तक जीवित रह सकेंगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगा।

पूरे १९२१ भर मैं देहाती इलाकों में आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया—यहांतक कि वह सारे युक्त-प्रान्त में फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गांवों में पहुंच चुका था। हर जिले में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर

देहात में जाता, और उसके साथ वह किसानों की शिकायतें दूर करने की बात भी मोटेतौर पर जोड़ देता था। स्वराज्य एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सब-कुछ आ जाता था, फिर भी वे दोनों आन्दोलन—असहयोग और किसान—बिलकुल अलहदा-अलहदा थे; हालाँकि हमारे प्रान्त में ये दोनों बहुत-कुछ एक दूसरे में मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। कांग्रेस के इस प्रचार का फल यह हुआ कि मुकदमेबाजी एकबारगी कम हो गई और गाँवों में पंचायतें कायम होकर उनमें मुकदमे फैसल होने लगे। कांग्रेस का असर शान्ति के हक में खासतौर पर ज्यादा पड़ा, क्योंकि जहां भी कोई कांग्रेसी कार्यकर्त्ता जाता, वहां वह इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर खासतौर पर जोर देता। हो सकता है कि लोगों ने न तो इसकी पूरी कद्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो; लेकिन इसने किसानों को मार-काट पर उतर पड़ने से रोका जरूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभड़ते हैं तो मार-पीट कर बैठते हैं और उनका उभाड़ किसानों और मालिकों की एक लड़ाई ही बन जाती है। और उन दिनों अवध के हिस्से के किसानों के जोश का पारा बहुत ऊंचा चढ़ा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने गजब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमें एक ताल्लुकेदार पीटा गया। ताल्लुकेदार अपने घरमें बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गालपर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था और बदचलन था।

एक और किस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करें हुईं। मगर ये टक्करें तो आगे-पीछे होकर ही रहतीं, क्योंकि सरकार संगठित किसानों की बढ़ती हुई ताकत को बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान बिना टिकट रेल में सफर करने लगे—खासतौर पर तब, जब कि उन्हें अपनी बड़ी-बड़ी सभाओं में समय-समय पर जाना पड़ता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद साठ से सत्तर हजार तक हो जाती। उन्हें हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लम-खुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुकाबला करने लगे, जैसाकि पहले कभी देखा-सुना नहीं गया था। वे रेलवे-कर्मचारियों से कहते—'साहब, अब पुराना जमाना चला गया।' किसके भड़काने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-

झुण्ड सफ़र करते थे, मैं नहीं जानता। हां, हमने उन्हें ऐसी कोई बात नहीं कही थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे हैं। बाद को जाकर रेलवेवालों ने कड़ाई की, तब यह सिलसिला बन्द हो गया।

१९२० की सर्दी के दिनों में (जब मैं कलकत्ते में काँग्रेस के विशेष अधिवेशन में गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। खास प्रतापगढ़ में उनपर मुकदमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुकदमे के दिन किसानों की एक बड़ी भीड़ से अदालत का अहाता भर गया और वहाँ से जेल के रास्ते भर एक लाइन बन गई, जहां कि नेता लोग रखे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसने मुकदमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड़ बढ़ती गई और उसने जेल को करीब-करीब घेर लिया किसान लोग मुट्ठीभर चने खाकर कुछ दिन बड़े मजे से रह सकते हैं। आखिर को किसान-नेता छोड़ दिये गये। शायद जेल में उनका मुकदमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानों ने उसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज अपनी भीड़ के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे; मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा मौका जल्दी पेश आया; लेकिन उसका अन्त दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के आरम्भ की बात है। मैं नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला कि जल्दी आओ, क्योंकि वहां उपद्रव की आशंका थी। दूसरे ही दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीं की जेल में रखे गये थे। किसानों को प्रतापगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख्तियार की थी वह याद थी ही। चुनांचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुंची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसीलिए उसने अतिरिक्त पुलिस और फौज का इन्तजाम कर रखा था कि उन्हें आगे न बढ़ने दिया जाय। कस्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उसपार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की खबर मिली और मैं फौरन नदी की तरफ गया, जहां फौज किसानों का सामना करने के लिए रखी गई थी। रास्ते में मुझे जिला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्जा मिला कि मैं वापिस लौट जाऊं। उसीकी पीठ पर मैंने

जवाब लिखा और पूछा कि किस कानून की किस दफा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है ? और जबतक इसका जवाब नहीं मिलेगा, तबतक मैं अपना काम जारी रखा चाहता हूं। जैसे ही मैं नदी तक पहुंचा कि दूसरे किनारे से गोलियों की आवाज सुनाई दी। मुझे पुल पर ही फौजवालों ने रोक दिया। मैं वहां इन्तजार कर ही रहा था कि एकाएक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानों ने मुझे आ घेरा, जो कि नदी के इस किनारे खेतों में छिप रहे थे। तब मैंने उसी जगह कोई दो हजार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ ही कदम आगे एक छोटे नाले के उसपार उनके भाइयों पर गोलियां बरसना और चारों ओर फौज-ही-फौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानों का डर कुछ कम हो गया। तब जिला-मजिस्ट्रेट उस स्थान से लौटे जहां गोलियां चलाई जा रही थीं और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहां उन्होंने किसी-न-किसी बहाने दो घंटे तक मुझे रोक रखा—जाहिर है कि उनका इरादा मुझे कुछ वक्त किसानों से और शहर के मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमें पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानों ने तितर-बितर होने या पीछे हटने से इनकार कर दिया था, मगर यों वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यकीन है कि अगर मैं, या हममें से कोई, जिनपर वे भरोसा रखते थे, वहां होते और उन्होंने उनसे कहा होता तो वे जरूर वहां से हट गये होते। जिन लोगों का वे विश्वास नहीं करते थे, उनका हुक्म मानने से उन्होंने इनकार कर दिया। किसी ने तो दरअसल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक ठहर जावें; किन्तु उन्होंने नहीं सुना। जहां वह खुद नाकामयाब हो चुके थे, वहां भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्योंकर सफल होने दे सकते ? विदेशी सरकारों का, जिनका दारोमदार अपने रौब पर होता है, यह तरीका नहीं हुआ करता।

रायबरेली के जिले में उन्हीं दिनों दो बार किसानों पर गोलियां चलीं और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पंचायत के मेम्बर के लिए मानो डर का राज्य ही फैल गया ! सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनों कांग्रेस की प्रेरणा से किसानों के अन्दर

चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी। इसलिए चरखा मानो राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसी की आफत आ जाती। चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकड़ों लोगों को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीकों से रायबरेली और प्रतापगढ़ जिले के देहाती इलाकों के किसान और कांग्रेस दोनों आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश की। ज्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता दोनों आन्दोलनों में एक ही थे।

कुछ दिन बाद, १९२१ में फैजाबाद जिले में दूर-दूर तक दमन हुआ। वहां एक अनोखे ढंग से झगड़ा खड़ा हुआ। कुछ देहात के किसानों ने जाकर एक ताल्लुकेदार का माल-असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगों को एक दूसरे जमींदार के नौकर ने भड़का दिया था, जिसका ताल्लुकेदार से कुछ झगड़ा था। उन गरीबों से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गांधी चाहते हैं कि वे लूट लें; और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय!' का नारा लगाते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन के अन्दर उस स्थान पर जा पहुंचा, जो अकबरपुर (फैजाबाद जिला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलाई और कुछ ही घंटों में पाँच-छः हजार लोग कई गांवों से, कोई दस-दस मील की दूरी से वहां इकट्ठे हो गये। मैंने उन्हें आड़े हाथों लिया और बताया कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुंचाया, और शर्मिन्दगी दिलाई और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है, वे सबके सामने अपना गुनाह कबूल करें। (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की भावना से, जैसा कुछ मैं उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैंने उन लोगों से, जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊंचा उठाने के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफसरों के सामने कई दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यकीनन उनपर आफत आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगों से मैंने एकान्त में बातचीत की और उन्होंने सीधे-सादे ढंग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुःख हुआ और इस बात पर अफसोस होने लगा कि मैंने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगों को लम्बी-लम्बी सजाएं पाने की हालत में ला दिया। लेकिन जिन लोगों को सजा भुगतनी पड़ी वे दो या तीन दर्जन से कम ही थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौका भला कहीं खोने जैसा था? उस जिले के किसान-आन्दोलन

को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फायदा उठाया गया। एक हजार से ऊपर गिरफ्तारियां हुईं और जिला-जेल ठसाठस भर गया। कोई एक साल तक मुकदमे चलते रहे। कितने ही तो मुकदमे के दौरान में जेल ही में मर गये। दूसरे कितनों ही को लम्बी-लम्बी सजाएं दी गईं। और पिछले दिनों जब मैं जेल गया, तो वहां उनमें से कुछ से मुलाकात हुई थी। क्या लड़के और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट रहे थे!

भारतीय किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज्यादा दिनों तक मुकाबला करने की उसमें ताकत नहीं रहती। अकालों और महामारियों में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात है कि साल भर तक उन्होंने सरकार व जमींदार दोनों के सम्मिलित दबाव का मुकाबला करने की ताकत दिखाई। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढ़तापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गई। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ्तार से चलता रहा—हां, पहले-जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकांश गांवों में पुराने कार्यकर्त्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ था। और जो थोड़ा-बहुत काम करते रहे। यहां यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था कांग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम बनने के पहले। किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावजूद बहुत-कुछ हाथ बंटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गई थी और उसने किसानों-सम्बन्धी कानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन काबू में आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया वह था अवध के किसानों को जमीन पर आजन्म अधिकार दे देना। यह दिखाई तो दिया था उनके लिए लुभावना, लेकिन अन्त में साबित यह हुआ कि उनकी हालत में उससे कुछ भी सुधार नहीं हुआ।

अवध में किसानों की हलचलें जब-तब होती रहती थीं, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९३१ में जो मन्दी सारे संसार में आई, उससे चीजों के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक संकट-काल आ खड़ा हुआ।

१०

असहयोग

अवध के किसानों की उथल-पुथल का पीछे कुछ ब्यौरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योंकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खड़ा कर दिया, जिसपर कि राष्ट्रीय विचारवालों ने शायद ही कुछ ध्यान दिया हो। हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में किसानों की हलचलें बार-बार होती रहती हैं, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण हैं। अवध के कुछ हिस्सों में जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ में हुआ वह उसी तरह का था—हालांकि वह अपने ढंग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषों से। बल्कि शुरू से अखीर तक बाहरी और राजनैतिक लोगों का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक स्थानीय मामला था, और इसलिए उसकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया था। यहांतक कि संयुक्तप्रान्त के अखबारों ने भी उसकी तरफ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखाई। उनके सम्पादकों और अधिकांश शहराती पाठकों के लिए नंगे किसानों की जमात के उन कामों में कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार का महत्त्व न था।

पंजाब और खिलाफत-सम्बन्धी अन्यायों की रोज चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायों को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगों की जबान पर एक ही विषय था। सब लोगों का ध्यान उसीमें लगा हुआ था। अलबत्ता शुरू में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज्य, पर ज्यादा जोर नहीं दिया जाता था। गांधीजी गोल-मोल और लम्बी-चौड़ी बातों को पसन्द नहीं करते हैं—वह हमेशा किसी खास और निश्चित बात पर सारी ताकत लगाना ज्यादा पसन्द करते हैं। फिर भी स्वराज्य की बातें वायुमण्डल में और लोगों के दिमागों में बहुत-कुछ घूमती रहती थीं, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे, उनमें बार-बार उनका जिक्र आया करता था।

पंजाब और खिलाफत के और खासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए १९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हें असहयोग की यह नई योजना नापसन्द थी और उन्होंने उसका विरोध किया था। हिंदुस्तान की राजनीति में वह आमतौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चितरूप से वैध और माडरेट थी। इस सदीके शुरूके दिनोंमें परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छा ने—उन्हें लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरमदलवालों का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अर्से तक विदेशों में रहने से और भी मजबूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकांश हिंदुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्कावेन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियों' में गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाकातों (१९०९ के लगभग) का हाल लिखा है। दोनों के बारे में उसने बहुत सख्त लिखा है, क्योंकि उसकी राय में वे बहुत फूंक-फूंककर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिंदुस्तानी नेताओं से कहीं ज्यादा उनका मुकाबला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पड़ी उससे तो हम यही समझ सकते हैं कि उस समय हमारी राजनीति व हमारे नेताओं की गति कितनी धीमी थी और उनका क्या असर एक समर्थ और अनुभवी विदेशी सज्जन पर पड़ा। लेकिन पिछले बीस बरसों में उस गति में बड़ा फर्क पड़ गया है।

इस विरोध में लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बड़े-बड़े और प्रभावशाली लोग भी थे। कांग्रेस के करीब-करीब सभी पुराने महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धुदास उस विरोध के अगुवा थे, इसलिए नहीं कि वह उसके मूलभाव को नापसन्द करते थे—वह तो उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि खासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार पर उन्हें एतराज था।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे, जिन्होंने उस समय गांधीजी का साथ दिया। उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उन

पुराने साथियों ने जो-जो एतराज किये थे उनमें से बहुतों को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वे भी एक अज्ञात दिशा में एक अजीब नये तरीके से आगे बढ़ने में हिचकिचाते थे, जहां जाकर किसीके लिए अपने पुराने तौर-तरीके कायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनका दिल एक कारगर उपाय करने की ओर आकर्षित होता था और असहयोग के प्रस्ताव में ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्ता वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने में उन्हें बहुत वक्त लगा था। बड़ी देर-देर तक उन्होंने गांधीजी और देशबन्धु से बातें की थीं। उन्हीं दिनों संयोग से वह और दासबाबू दोनों बहुत-कुछ एक साथ पड़ गये थे, क्योंकि एक बड़े मुकदमे में वे दोनों एक दूसरे के खिलाफ पैरवी के लिए खड़े हुए थे। वे दोनों इस मसले को बहुत-कुछ एक ही दृष्टिकोण से देखते थे और उसके अंत के बारे म भी उनका बहुत कम मत-भेद था। फिर भी, वह थोड़ा-सा ही मतभेद उन्हें विशेष कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव पर परस्पर-विरोधी पक्ष में रखवाने के लिए काफी था। तीन महीने बाद वे फिर नागपुर कांग्रेस में मिले, और आगे चलकर दोनों एकसाथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिकाधिक नजदीक आते गये।

उन दिनों, कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के पहले, मैं पिताजी से बहुत कम मिल पाता था। परन्तु जब कभी मैं उनसे मिलता, मैं देखता कि वह बराबर इस समस्या पर विचार करने में लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा इसका जाती पहलू भी था। असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपने को ढालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, खासकर उस समय जब कि कोई अपनी साठवीं वर्षगांठ मनाने की तैयारी कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब तक आदी थे; सबसे ताल्लुक तोड़ना था और कितनी ही खर्चीली आदतों को छोड़ देना था, जो अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्त्व का न था, और यह जाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गई तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हें एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ ही बढ़ाते गये, यहांतक

कि अन्त में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े। उन कई घटनाओं से, जिनका अन्त पंजाब-काण्ड में हुआ, और उसके बाद जो कुछ हुआ उससे उनके दिल में जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय या अत्याचार वहां हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज उत्साह की लहर में बह जानवाले न थे। उन्होंने अखीरी फैसला तभी किया और गांधीजी के आन्दोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गांधीजी के व्यक्तित्व की तरफ वह खिंचे थे और इसमें कोई शक नहीं कि इस बात ने भी उनके निर्णय पर असर डाला था। जिस शख्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी शक्ति नहीं करा सकती थी, क्योंकि रुचि और अरुचि दोनों बड़ी तेज होती थीं। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, संयमी, धर्मात्मा, जीवन के आनन्द-विलास और शारीरिक सुखों को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय जिसने जीवन के कितने ही आनन्दों का स्वागत और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि परलोक में क्या होगा! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा में कहें तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनों में एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था जिसने दोनों को एक-दूसरे की तरफ खींचा और बांध रखा—यहां तक कि जब आगे चलकर दोनों की राजनीति में अन्तर पड़ गया तब भी दोनों में गाढ़ी मित्रता रही।

वाल्टर पेटर ने अपनी एक किताब में बताया है कि कैसे एक साधु और एक भोगी, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, परस्पर विरोधी स्थानों से शुरू करके, भिन्न-भिन्न रास्तों से सफर करते हुए, और ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियों में औरोंसे उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते हैं—बनिस्बत इसके कि उनमें से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझे और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते हैं।

कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गांधीयुग शुरू किया, जो तब से अबतक कायम है—हां, बीच में थोड़ा-सा समय (१९२२

से १९२९ तक) जरूर ऐसा गया जिसमें गांधीजी ने अपने आपको पीछे रख लिया था और स्वराज्य-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धुदास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तब से कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई; विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी; कांग्रेस में नये किस्म के प्रतिनिधि दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिंदुस्तानी, और कभी-कभी तो उस प्रांत की भाषा जहां अधिवेशन होता था, अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही प्रतिनिधि अंग्रेजी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के खिलाफ भी लोगों के भाव तेजी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ तौर पर एक नई जिन्दगी, नया जोश, और सचाई दिखाई देती थी।

अधिवेशन खत्म होने के बाद गांधीजी 'अमृतबाजार पत्रिका' के महान् सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जो कि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोतीबाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और कहा—'मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूं। वह दुनिया कहीं भी हो, मुझे एक बात का बहुत संतोष है कि वहां ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुंच के पार हो जाऊंगा!'

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके अति प्रिय बड़े भाई 'बड़ो दादा' से मिलने शान्तिनिकेतन गया। वहां हम कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि चार्ली एण्डरूज ने कुछ किताबें मुझे दी थीं, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थीं और जिनका मुझ पर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य से हुई आर्थिक हानि। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—'ब्लैकमेन्स बर्डन' की मेरे दिलपर बहुत गहरी छाप पड़ी थी।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्डरूज साहब ने एक पुस्तिका लिखी, जिसमें हिंदुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गई थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम 'इण्डिपेण्डेंस दि इमीजिएट नीड' था। यह एक बहुत ऊँचे दर्जे का निबन्ध था, जो कि सिली के हिंदुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि उसमें स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह मेरे हार्दिक भावों का चित्र खींचता हुआ मालूम हुआ।

उसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सचाई लिये हुए थी। उसमें मानो हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणाएं और अधखिली अभिलाषाएं साफ तौर पर मूर्त्त बनती दिखाई दीं। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गई थी और न उसमें साम्यवाद ही था; उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिंदुस्तान की जिल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की और बरसों के हमारे इस अध:पतन का खात्मा कर देने की जबरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अंतस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने में सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है कि अपने अन्दर से कोई जबरदस्त हलचल—क्रांति—पैदा हो। ऐसी क्रांति के लिए जिस बारूद की जरूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की आत्मा में से ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसी के देने, माँगने, मिलने, ऐलान करने और रिआयतें देने से नहीं आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।......इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसी ही आंतरिक शक्ति, वह बारूद, दरअसल भक् से धड़ाका कर चुकी है—जब महात्मा गांधी ने भारत के हृदय में मंत्र फूँका—'आजाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो' और हिंदुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर में झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा उस असह्य बोझसे छुटकारा पानेकी खुशी से नाच उठे। एक आकस्मिक हलचल के साथ उनकी बेड़ियां ढीली हुईं और आजादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास में देश भर में असहयोग की लहर बढ़ती चली गई। नई कौंसिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटें खाली रखी जा सकती थीं। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन हाँ, यह सच है कि अधिकांश वोटर (मतदाता) वोट देने नहीं गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हें देश की पुकार का खयाल था, कौंसिलों के लिए खड़े नहीं हुए। चुनाव के दिन सर वेलेण्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद में थे और चुनाव के स्थानों को स्वयं देखने गये थे। वह बायकाट की सफलता देखकर दंग रह गये

क देहाती चुनाव-केन्द्र पर, जो इलाहाबाद शहर से पन्द्रह मील दूर था, उन्होंने खा कि एक भी वोटर वोट देने नहीं गया था। हिंदुस्तान पर लिखी अपनी क पुस्तक में उन्होंने अपने इस अनुभव का वर्णन किया है।

यद्यपि देशबन्धुदास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार ी उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी अखीर को उन्होंने कांग्रेस के ैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर ांग्रेस (१९२०) में फिर बहुत-से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मंच पर ाकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डाँवाडोल और सन्देह खनेवालों को कायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गये, जिनमें क मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिंदू-मुस्लिम एकता का राजदूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हींकी बदौलत मुस्लिम-लीग का कांग्रेस के नजदीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर कांग्रेस ने बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज्यादातर जनता का संगठन बन गई, वह उन्हें कतई नापसंद था। उनके मतभेद का कारण यों तो राजनैतिक बताया गया था, परन्तु वह मुख्यतः राजनैतिक न था। उस समय की कांग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारों में जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि कांग्रेस के इस नये रंग-रूप से उनके स्वभाव का मेल नहीं खाता था। उस खादीधारी भब्भड़ में, जो हिंदुस्तानी में व्याख्यान देने की माँग करता था, वह अपने को बिलकुल बेमेल पाते थे। बाहर लोगों में जो जोश था वह उन्हें पागलों की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमें और भारतीय जनता में उतना ही फर्क था जितना कि सेवाइल रो, बॉण्ड स्ट्रीट में और झोंपड़ोंवाले हिंदुस्तानी गाँवों में है। एक बार उन्होंने खानगी में सुझाया था कि सिर्फ मैट्रिक पास ही कांग्रेस में लिये जायँ। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने दरअसल संजीदगी के साथ ही यह बात सुझाई थी। परन्तु यह सच है कि वह उनके साधारण दृष्टिकोण के मुआफिक ही थी। इस तरह वह कांग्रेस से दूर चले गये और हिंदुस्तान की राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दुःख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना दूत उन प्रतिगामी लोगों में मिल गया, जो मुसलमानों में बहुत ही सम्प्रदायवादी थे।

माडरेटों या यों कहें कि लिबरलों को तो कांग्रेस से कोई ताल्लुक ही न रहा था। वे उससे सिर्फ दूर ही नहीं हट गये, बल्कि सरकार में घुल-मिल गये। नई योजना के अन्दर मिनिस्टर और बड़े-बड़े अफसर बने और असहयोग तथा कांग्रेस का मुकाबला करने में सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे, करीब-करीब सब उन्हें मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हें किसी आन्दोलन की जरूरत न थी। सो,एक ओर देश जहाँ जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रांतिकारी बनता जा रहा था, तहाँ वे खुले-आम क्रांति-विरोधी, खुद सरकार के एक अंग बन गये। वे लोगों से कटकर बिलकुल अलग जा पड़े और तबसे हर मसले को हाकिमों के दृष्टि-बिंदु से देखने की उनको आदत पड़ गई, जो अबतक कायम है। सच्चे अर्थ में उनकी अब कोई पार्टी नहीं रह गई है—सिर्फ चन्द लोग रह गये हैं सो भी कुछ बड़े-बड़े शहरों में।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग निश्चिन्त थे। खुद अपने ही लोगों से कटकर अलहदा पड़ जाना, जहां दुश्मनी नहीं दिखाई या सुनाई देती हो वहां भी दुश्मनी समझना, कोई आनंददाई अनुभव नहीं कहा जा सकता। जब सारी जनता उभड़ उठती है तो वह अपनेसे अलहदा रहनेवालों के प्रति मेहरबान नहीं रह सकती। हालांकि गांधीजी की बार-बार की चेतावनियों ने असहयोग को विरोधियों के लिए उससे कहीं अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत में वह हो सकता था। फिर भी महज उस वायुमण्डल ने ही आन्दोलन के विरोधियों का दम घुटा दिया था,जिस प्रकार वह उसके समर्थकों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का संचार करता था। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रांतिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं,वे उन लोगों को जो जनता में से होते हैं या जो उनकी तरफ हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते हैं, और साथ ही उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और पीछे हटा देते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहनशीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एक-सी राय देने और एक-से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक आंदोलन था और उसका अगुवा था ऐसा जबर्दस्त शख्स जिसे हिंदुस्तान के करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते

थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानो किसी कैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गई हो और आजादी का एक नया भाव आ गया हो! जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊंचा हो गया था। यहां तक कि दूर-दूर के बाजारों में भी राह चलते लोग कांग्रेस और स्वराज की (क्योंकि नागपुर-कांग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था), पंजाब की घटनाओं की तथा खिलाफत की बातें करते थे। लेकिन 'खिलाफत' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह 'खिलाफ' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के खिलाफ'! हाँ, वे अपने खास-खास आर्थिक कष्टों पर भी बात-चीत करते थे। बेशुमार सभाएं और सम्मेलन हुए और उनसे उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानो एक किस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं के लिए जगह थी, न हिचक के लिए। हमें अपना रास्ता अपने सामने बिलकुल साफ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से उत्साहित होते तथा औरों को आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी; क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुकाबला शीघ्र ही होने वाला है, और सरकार हमें उठाकर अलग कर दे, इससे पहले हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातों से बढ़कर हमारे अंदर आजादी का और आजादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम दबे हुए हैं और हमें कामयाबी नहीं हो सकती, बिलकुल चला गया था। अब न तो डर से काना-फूसी होती थी और न गोल-मोल कानूनी भाषा इस्तेमाल की जाती थी, कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही करते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी? जेल? उसकी तो हम राह ही देख रहे

थे। उससे तो उद्देश्य-सिद्धि में मदद ही पहुँचानेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफिया पुलिस के लोग हमें घेरे रहते थे और हम जहां जाते वहां साथ रहते थे। उनकी हालत दयाजनक हो गई थी; क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाजी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ संतोष न था कि हम एक सफल राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आँखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जैसा कि हमारा विश्वास था, हिंदुस्तान की आजादी बहुत नजदीक आ रही है; बल्कि हमारे अंदर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था कि हमारे साध्य और साधन दोनों हमारे विरोधियों के मुकाबले में अच्छे और ऊंचे हैं। हमें अपने नेता पर और उसके बताये अप्रतिम उपाय पर गर्व था और कभी-कभी हम अपने को सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के बीच और स्वयं उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढ़ावा देते हुए, एक आंतरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्य, बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का तेज घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता था कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पड़ता था कि हिंदुस्तान में उसकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढही जा रही है। दूर-दूर तक एक नया आक्रामक-भाव, आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे हैं और भारत में ब्रिटिश हुकूमत का बहुत बड़ा सहारा—रौब—स्पष्टतया दूर होता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा! हिंदुस्तानी फौज पर भरोसा रखा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कह ही दिया था कि हम 'हरान और परेशान हो रहे हैं।'

१९२१ की गर्मियों में युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफसरों के नाम एक मजेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गई थी। वह बाद को एक अखबार में भी छप गई थी। उसमें दुःख के साथ कहा गया था कि इस आंदोलन में हमला करने की शक्ति हमेशा दुश्मन यानी कांग्रेस के हाथों में रहती है। इसके बाद हमला करने की शक्ति किस प्रकार सरकार के हाथों में आ जाय, इसके लिए उसमें

तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिसमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को कायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लड़ने का यह तरीका लिबरल मिनिस्टरों का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफसरों के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमागी परेशानी कम न थी। दिन-दिन विरोध और हुकूमत का मुकाबला करने की भावना प्रबल होती जा रही थी, जिससे हाकिमों के हृदयाकाश पर चिंता के घने बादल मंडरा रहे थे। फिर भी, चूंकि कांग्रेस के साधन शांतिमय थे, उन्हें उसका मुकाबला करने, उसपर हावी होने या जोर के साथ धर दबाने का कोई मौका नहीं मिलता था। औसत दर्जे के अंग्रेज इस बात को नहीं मानते थे कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धड़ी है—किसी गहरी साजिश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप में फूट पड़नेवाली है। अंग्रेजों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूरब एक रहस्मय देश है, और वहां के बाजारों और तंग गलियों में दिन-रात छिपी साजिशें होती रहती हैं। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशों के मामलों को सीधा नहीं देख सकते। वे एक पूरब के पुरुष को जो सीधा-सादा और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नहीं करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हैं, उसके बारे में जो-कुछ खयाल बनाते हैं वे भेदिया और खुफिया पुलिस के द्वारा मिली भली-बुरी खबरों के आधार पर बनाते हैं, और फिर उसके संबंध में अपनी कल्पना की उड़ान को खुला छोड़ देते हैं। अप्रैल १९१९ के शुरू में पंजाब में ऐसा ही हुआ। अधिकारियों में और आमतौर पर अंग्रेज लोगों में एकाएक दहशत फैल गई। उन्हें हर जगह खतरा-ही-खतरा, एक बगावत, एक दूसरा गदर जिसमें भयानक मारकाट होगी, दिखाई देने लगा और हर सूरत में आंखें मूंद कर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे ऐसे-ऐसे भयंकर कांड करा डाले, जिनके अमृतसर का 'जलियांवाला-बाग' और 'रेंगनेवाली गली', ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने या डर जाने की गुंजाइश थी। दरअसल जो कुछ हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ खयाल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना

की घुड़दौड़ का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन स्वरूप की शादी इलाहाबाद में दस मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पंचांग में शुभ-दिन देख कर यह तारीख मुकर्रर की गई थी। गांधीजी तथा दूसरे कांग्रेसियों को, जिनमें अली-बन्धु भी थे, निमन्त्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का खयाल करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की भी बैठक इलाहाबाद में रख ली गई थी। स्थानिक कांग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-नामी नेताओं की मौजूदगी से फायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होंने बड़े पैमाने पर एक जिला-कान्फ्रेंस का आयोजन किया। उन्हें उम्मीद थी कि आस-पास के देहात के किसान लोग बहुत बड़ी तादाद में आजांयगे।

इन राजनैतिक सभाओं की बदौलत इलाहाबाद में खूब चहल-पहल और जोश हुआ हुआ था। इससे कुछ लोगों के दिलों में अजीब घबराहट छा गई। एक रोज एक बैरिस्टर दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अंग्रेजों के होश ठिकाने न रहे और उन्हें डर हो गया कि शहर में एकाएक कोई बवंडर खड़ा हो जानेवाला है। हिंदुस्तानी नौकरों पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब में पिस्तौल रखने लगे। खानगी में यहांतक कहा गया कि इलाहाबाद का किला इस बात के लिए तैयार रखा गया था कि जरूरत पड़ने पर तमाम अंग्रेजों को पनाह के लिए वहाँ भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यों इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्तिमय शहर में ऐसे किसी बवंडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उस समय जब कि खुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आ रहा हो। अरे! यहाँ तक कहा गया कि दस मई, (और इत्तिफाक से यही तारीख मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी) १८५७ को मेरठ में जो गदर शुरू हुआ था उसी का सालाना जलसा करने की ये तैयारियां हो रही हैं।

१९२१ में खिलाफत-आंदोलन को बहुत प्रधानता दी गई थी, इससे कितने ही मौलवी और मुसलमानों के मजहबी नेताओं ने इस राजनैतिक लड़ाई में बड़ा हाथ बंटाया था। उन्होंने इस हलचल पर एक निश्चित मजहबी रंग चढ़ा दिया था और मुसलमान लोग आमतौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रंग में रंगे हुए मुसलमान भी, जिनका कोई खास झुकाव मजहब की तरफ नहीं था, दाढ़ी रखने तथा शरीयत के दूसरे फरमानों की पाबन्दी करने लगे थे।

बढ़ते हुए पश्चिमी असर के और नये खयालात के सबब से मौलवियों का जो असर और रोब घटता जा रहा था वह फिर बढ़ने और मुसलमानों पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयों ने भी, जो खुद भी मजहबी तबीयत के आदमी थे, और इसी तरह गांधीजी ने भी, इस सिलसिले को और ताकत दी, जो मौलवी और मौलानाओं की बहुत ही इज्जत किया करते थे।

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर जोर दिया करते थे। उनका धर्म रूढ़ियों से जकड़ा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मंशा जरूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। और इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा था तथा, जहांतक जनता से ताल्लुक है, वह उसे एक पुनरुद्धार का आंदोलन मालूम होता था। कांग्रेस के बहुसंख्यक कार्यकर्त्ता स्वभावतः अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी शब्दावली भी दुहराने लगे। फिर भी कार्य-समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष न थे, और राजनैतिक मसलों को राजनैतिक कक्षा में ही रखकर विचार करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का अधिक प्रभाव पड़ता था—क्योंकि उन्होंने वह सब बहुत-कुछ छोड़ दिया, जिसको दुनिया मूल्यवान समझती है, और पहले से अधिक सादी रहन-सहन ग्रहण कर ली। त्याग स्वयं ही धर्म का एक चिह्न समझा जाता है और इसने भी पुनरुद्धार के वायु-मण्डल को फैलाने में मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों तरफ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे यह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणों में कहते उसका अधिकांश मुझे बहुत बुराई पैदा करनेवाला मालूम होता था। उनका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र मुझे गलत दिखाई देता था और हर चीज को जो मजहबी झुकाव दिया जाता था, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों को खटकते थे—जैसे 'रामराज्य' जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझ में दखल देने की शक्ति न थी; और मैं इसी खयाल से

तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब लोग जानते हैं और जनता उन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदय तक पहुंच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध कला है।

लेकिन मैं इन बातों की झंझट में ज्यादा नहीं पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज्यादा था और हमारे आंदोलन की प्रगति इस तेजी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातों की परवा करने की जरूरत न थी, क्योंकि उस समय मैं उन्हें वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बड़े आंदोलन में हर किस्म के लोग रहते हैं, और जब तक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भँवरों और चक्करों से कुछ बिगड़ नहीं सकता। और खुद गांधीजी को लें, तो वह ऐसे शख्स थे जिन्हें समझना बहुत मुश्किल था। कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ में प्रायः नहीं आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हें इतना जरूर अच्छी तरह समझ गये हैं कि वह एक महान् और अद्वितीय पुरुष और तेजस्वी नेता हैं और इसलिए हमारी उनपर श्रद्धा थी, और हमने उन्हें अपनी ओर से सब-कुछ करने का अधिकार दे दिया था। अक्सर हम आपस में उनकी खब्तों और विचित्रताओं की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी में कहा करते थे कि जब स्वराज्य आ जायगा, तब इन खब्तों को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममें से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलों में उनके इतने प्रभाव में थे कि धर्म-क्षेत्र में भी बिलकुल आजाद बने रहना असम्भव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी, वहाँ जरा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। धर्म के बाहरी-आचार कभी मेरे दिल में जगह न कर पाये, और सबसे बड़ी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगों के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था, मगर फिर भी मैंने धर्म के प्रति नरमी अख्त्यार कर ली था। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ में मेरा मानसिक झुकाव धर्म की तरफ ज्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मैं उसके बहुत नजदीक नहीं पहुँचा था।

मैं जिस बात का आदर करता था वह था उस आन्दोलन का नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी पहलू तथा सत्याग्रह। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त को सोलहों आने नहीं मान लिया था, या हमेशा के लिए नहीं अपना लिया था, लेकिन हाँ,

वह मुझे अपनी तरफ अधिकाधिक खींचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे दिल में पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गई है, हमारी जैसी परम्परा और संस्कार हैं उन्हें देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—संकीर्ण धार्मिक मानी में नहीं—सांचे में ढालना मुझे एक उम्दा खयाल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिएं—यह एक अच्छा नीति-सिद्धाँत ही नहीं, बल्कि निर्भ्रान्त व्यावहारिक राजनीति भी थी; क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते हैं और नई समस्याएं और नई दिक्कतें पैदा कर देते हैं। और ऐसी दशा में, एक व्यक्ति या एक कौम के लिए, ऐसे साधनों के सामने सिर झुकाना—दलदल में से गुजरना कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था! उससे अपने को कलुषित किये बिना कोई कैसे बच सकता था? अगर हम सिर झुकाते हैं, या पेट के बल रेंगते हैं, तो कैसे हम अपने गौरव को कायम रखते हुए तेजी के साथ आगे बढ़ सकते हैं?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज दी कि जो मैं चाहता था—कौमी आजादी का ध्येय और (जैसा मैंने समझा) निचले दर्जे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के अनुकूल थे और जिन्होंने मुझे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का भान कराया। यह व्यक्तिगत सन्तोष मुझे इतना ज्यादा मिला कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मैं ज्यादा परवा न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोड़े समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्गीता के आध्यात्मिक भाग को मैंने न तो समझा था और न उसकी तरफ़ मेरा खिचाव ही हुआ था, लेकिन हां, उन श्लोकों को पढ़ना पसन्द करता था, जो शाम को गांधीजी के आश्रम में प्रार्थना के समय पढ़े जाते थे, और जिनमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए; शान्त, स्थिर, गम्भीर, अचल, निष्काम-भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय में अनासक्त। मैं खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अनासक्त नहीं हूं, इसीलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

११

पहली जेल-यात्रा

१९२१ का साल हमारे लिए एक असाधारण वर्ष था। राष्ट्रीयता और राजनीति और धर्म, भावुकता और धर्मान्धता का एक अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह में किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढ़ता हुआ मजदूर-वर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी जबर्दस्त आदर्शवाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमें बड़ी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियों से बल मिला था। उसकी तह में थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता, जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिंदुस्तान की सीमा के बाहर भी खिंचा हुआ था, और हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता, जो युग की भावना के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक दूसरे में मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थीं। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक बात थी कि किस तरह गांधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोह के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक दिशा में चलनेवाला एक पचरंगी दल बना लिया था। वास्तव में वह 'लोगों की धुंधली अभिलाषाओं के एक मूर्त्त रूप' (जो वाक्य एक दूसरे ही नेता के विषय में कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषाएं और उमंगें उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कहीं मुक्त थीं, जिनके खिलाफ वे इस्तेमाल हो रही थीं। राष्ट्रीयता मूल में ही एक विरोधरूपी भाव है, और यह दूसरे राष्ट्रीय समुदायों के, खासकर किसी शासित देश के विरोधी शासकों के खिलाफ घृणा और क्रोध के भावों पर जीता और पनपता है। १९२१ में हिंदुस्तान में ब्रिटिश लोगों के खिलाफ घृणा और क्रोध जरूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्कों के मुकाबले यह बहुत ही कम था। इसमें शक नहीं कि यह बात गांधीजी के अहिंसा के रहस्य पर जोर देते रहने के कारण ही हुई है।

इसका यह भी कारण था कि सारे देश में आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गई थी कि हमारे बन्धन टूट रहे हैं, हमारा बल बढ़ रहा है, और निकट-भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हों तो नाराज होने और नफरत करने से फायदा ही क्या है? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नहीं।

मगर हमारे अपने ही कुछ देशवासियों के प्रति, जो हमारे खिलाफ हो गये थे और राष्ट्रीय-आन्दोलन का विरोध करते थे, हम अपने दिलों में इतने उदार नहीं थे, हालांकि जो-जो काम हम करते थे और खूब आगा-पीछा सोचकर करते थे, उनके प्रति घृणा या क्रोध का तो कोई सवाल ही न था, क्योंकि उनकी कोई वुकत नहीं थी, और हम उनकी उपेक्षा कर सकते थे। मगर हमारे दिल की गहराई में उनकी कमजोरी, अवसरवादिता तथा उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्मान और स्वाभिमान के गिरा दिये जाने के कारण घृणा भरी हुई थी।

इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से, किन्तु उत्कटता के साथ, और हम अपने कार्य में सुध-बुध भूले हुए थे। मगर लक्ष्य के बारे में स्पष्ट विचार का बिलकुल अभाव था। अब तो इस बात पर ताज्जुब ही होता है कि हमने सैद्धांतिक पहलुओं को, अपने आंदोलन के बुनियादी उसूलों को, और जिस निश्चित चीज को हमें प्राप्त करना है उसे, किस बुरी तरह से भुला दिया था। बेशक, हम स्वराज्य के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बातें करते थे, मगर शायद हर व्यक्ति जैसा चाहता वैसा ही उसका मतलब निकाला करता था। ज्यादातर नवयुवकों के लिए तो इसका मतलब था राजनैतिक आजादी या ऐसी ही कोई चीज और लोकतन्त्र-ढंग की शासन-प्रणाली, और यही बात हम अपने सार्वजनिक भाषणों में कहा करते थे। बहुत लोगों ने यह भी सोचा था कि इससे लाजमी तौर पर मजदूरों और किसानों के बोझे, जिनके तले वे कुचले जा रहे हैं, हलके हो जायंगे। मगर यह जाहिर था कि हमारे ज्यादातर नेताओं के दिमाग में स्वराज्य का मतलब आजादी से बहुत छोटी चीज थी। गांधीजी इस विषय पर एक अजीब तौर पर अस्पष्ट रहते थे और इस बारे में साफ विचार कर लेने वालों को वह बढ़ावा नहीं देते थे। मगर हां, हमेशा अस्पष्टता से ही किन्तु निश्चित रूप से, पददलित लोगों को लक्ष्य करके बोला करते थे, और इससे हम कइयों

को बड़ी तसल्ली होती थी, हालांकि उसी के साथ वह ऊंची श्रेणीवालों को भी कई प्रकार के आश्वासन दे डालते थे। गांधीजी का जोर किसी सवाल को बुद्धि से समझने पर कभी नहीं होता था, बल्कि चरित्रबल और पवित्रता पर रहता था; और उन्हें हिन्दुस्तान के लोगों को दृढ़ता और चरित्रबल देने में आश्चर्यजनक सफलता मिली भी। फिर भी ऐसे बहुत-से लोग थे, जिनमें न अधिक दृढ़ता बढ़ी, न चरित्रबल बढ़ा, मगर जो समझ बैठे थे कि ढीला-ढाला शरीर और कुम्हलाया हुआ चेहरा ही पवित्रता की प्रतिमूर्ति हैं।

जनता की यह असाधारण चुस्ती और मजबूती ही हममें विश्वास भर देती थी। हिम्मत हारे, पिछड़े और दबे हुए लोग अचानक अपनी कमर सीधी और सिर ऊंचा करके चलने लगे और एक देशव्यापी, सुनियन्त्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पड़े! हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य-शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का खयाल हमने छोड़ दिया। हमने भुला दिया कि एक निश्चित विचार-प्रणाली उद्देश्य के बिना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुंधुआकर रह जायगा। किसी हदतक हमारे आंदोलन में धर्म-जाग्रति के बल ने हमें आगे बढ़ाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनों के लिए या अन्यायों को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही सन्देश है, जो हमारा राष्ट्र संसार को देगा। सभी जातियां और सभी राष्ट्रों में जो यह विचित्र मिथ्याविश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से संसार में सबसे ऊंची है, उसी में हम फंस गये थे। अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लड़ाइयों में, शस्त्रास्त्रों के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह एक कोरा नैतिक उपाय ही नहीं, बल्कि रामबाण भी है। मेरे खयाल से, शायद ही कोई गांधीजी के मशीन और वर्तमान सभ्यता-विषयक पुराने विचारों से सहमत था। हम समझते थे कि खुद वह भी अपने विचारों को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियों में ज्यादातर अव्यवहार्य समझते होंगे। निश्चय ही, हममें से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतों को त्यागने को तैयार न थे, हालांकि हमें चाहे यह महसूस हो कि हिंदुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक उनमें कुछ परिवर्तन कर देना ठीक होगा। खुद मैं तो बड़ी मशीनरी और तेज सफर को हमेशा पसन्द करता रहा हूं। फिर

भी इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि गांधीजी के आदर्श का बहुत लोगों पर असर पड़ा और वह मशीनों और उनके सब परिणामों को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ देखने और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनों ही तरह के लोगों ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय में लगे हुए हैं वह मिलकर करने योग्य है, और इसी भावना की बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्म-त्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया।

मैं आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा किया। मैंने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अखबार तक, सिवा उस हद तक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड़ दिये। उस समय तक मेरा प्रचलित किताबोंका कुछ-कुछ पढ़ना जारी था और संसार में क्या घटनाएं घटती जाती हैं इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब तो इसके लिए वक्त ही नहीं था। हालाँकि पारिवारिक मोह जबरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी बेटी, सबको करीब-करीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनों मैं उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टों का कारण बन गया था, और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धीरज और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमिटी की मीटिंगें और लोगों की भीड़ ही मानों मेरा घर बन गया था। "गाँवों में जाओ" यही सबकी आवाज थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते थे, दूर-दूर के गांवों में पहुँचते थे, और किसानों की सभाओं में भाषण देते थे। मैं रोम-रोम में जनता की सामूहिक-भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मैं कुछ-कुछ भीड़ की मनोभावना, व शहर की जनता और किसानों के फर्क को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफों और बड़े-बड़े मजमों के धक्कम-धक्का में मजा आने लगा, हालांकि उनमें अनुशासन के न होने से मैं अक्सर चिढ़ जाता था। उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रुद्ध जन-समूहों के सामने भी जाना पड़ा है, जिनकी उग्रता इतनी बढ़ी हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हें भड़का सकती थी, पर शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बड़ी मदद मिली। मैं हमेशा विश्वास के साथ सीधा भीड़ में घुस जाता। अभी तक तो उसने मेरेप्रति

सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया है, चाहे इसमें मतभेद ही रहा हो। मगर भीड़ की गति के सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकते, सम्भव है भविष्य में मुझे कुछ और ही अनुभव मिले।

मैं भीड़ को अपना समझता था और भीड़ मुझे अपना लेती थी, मगर उनमें भी अपने-आपको भुला नहीं देता था। मैं अपने को उससे हमेशा अलग ही समझता रहा। मैं अपनी अलग मानसिक-स्थिति से उन्हें समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मैं अपने आसपास जमा होनेवाले इन हजारों आदमियों से हर बात में, अपना आदतों में, इच्छाओं में, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बहुत भिन्न होते हुए भी, इन लोगों की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह तो नहीं था कि इन लोगों ने मुझे मेरे मूल-स्वरूप से कुछ जुदा समझ लिया? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेंगे तब भी क्या वे मुझे चाहेंगे? क्या मैं लम्बी-चौड़ी बातें बना-बना कर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ? मैंने उनके सामने सच्ची और खरी बातें कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैंने उनसे सख्ती से बातचीत की और उनके कई प्रिय विश्वासों और रीतियों की नुकताचीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार न हटा कि उनका मुझ पर प्रेम, मैं जैसा कुछ हूँ उसके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूठी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाय? जब उनकी यह कल्पना झूठी निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा?

मुझ में तो कई तरह का अभिमान है, मगर भीड़ के इन भोले-भाले लोगों में तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नहीं हो सकता। उनमें कोई दिखावा न था, और न कोई आडम्बर ही था, जैसा कि मध्यम-वर्ग के कई लोगों में, जो अपने को उन से अच्छा समझते हैं, होता है। हाँ वे जड़ बेशक थे और व्यक्तिगत-रूप से ऐसे न थे कि उनमें कोई दिलचस्पी ले? मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो असीम करुणा और दुःख का भाव पैदा होता था।

मगर हमारी कान्फ्रेंसों में, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता, (जिनमें मैं भी शामिल था) मंच पर व्याख्यानबाजी करते थे, कुछ दूसरा दृश्य था। वहाँ काफी दिखावा होता था, और हमारे धुँआधार भाषणों में आडम्बर की कोई कमी न

थी। हममें से सभी थोड़े-बहुत इस मामले में कुसूरवार रहे होंगे, मगर खिलाफत के कई छोटे नेता तो इसमें सबसे ज्यादा बढ़े हुए थे। बहुत लोगों की भीड़ के सामने मंच पर खड़े होकर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नहीं है; और इस तरह लोगों में प्रसिद्धि का हममें से बहुत थोड़े लोगों को तजुर्बा था। इसलिए हम लोग अपने खयाल के मुताबिक नेताओं को जैसा होना चाहिए उसी तरह अपने-आपको विचार-पूर्ण, गम्भीर और स्थिर दिखाने की कोशिश करते थे। जब हम चलते, या बात करते या हँसते, तो हमें यह खयाल रहता था कि हजारों आंखें हमें घूर रही हैं और यह ध्यान में रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बड़े ओजस्वी होते थे, मगर अक्सर वे निरुद्देश्य भी होते थे। दूसरे लोग हमको जैसा देखते हैं उसी तरह अपने-आपको देखना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं स्वयं अपनी टीका-टिप्पणी न कर सका, तो मैंने दूसरों के आचार-व्यवहार पर गौर करना शुरू किया, और इस काम में मुझे खूब मजा आया। और फिर यह विचार भी आता था कि शायद मैं भी दूसरों को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊँगा।

१९२१ भर कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं की व्यक्तिगत गिरफ्तारियां और सजाएं होती रहीं, मगर सामूहिक गिरफ्तारियां नहीं हुईं। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फौज में असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सजाएं दी गई थीं। जिन शब्दों के लिए उन्हें सजा मिली थी, उनको सैकड़ों मंचों से हजारों आदमियों ने दोहराया। अपने कुछ भाषणों के कारण राजद्रोह का मुकदमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियों में दी गई थी। मगर उस वक्त ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गई। साल के अखीर में मामला बहुत अधिक बढ़ गया। शाहजादे हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुतल्लिक की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा कांग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अखीर तक बंगाल में कांग्रेस के स्वयंसेवक गैरकानूनी करार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धुदास ने बंगाल को एक बड़ा जोशीला सन्देश दिया—"मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे हाथों में हथकड़ियां पड़ी हुई हैं और मेरा सारा शरीर लोहे की वजनी जंजीरों से जकड़ा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना और यन्त्रणा। सारा हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलखाना हो गया है! कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसकी परवा

नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊँ या न पकड़ा जाऊँ; इसकी परवा नहीं कि मैं मर जाऊँ या जिन्दा रहूँ।" यू० पी० में भी हमने सरकार की चुनौती स्वीकार कर ली। हमने न सिर्फ यही एलान किया कि हमारा स्वयंसेवक-संगठन कायम रहेगा, बल्कि दैनिक पत्रों में अपने स्वयंसेवकों की नामावलियां भी छपवा दीं। पहली फेहरिस्त में सबसे ऊपर मेरे पिता जी का नाम था। वह स्वयंसेवक तो नहीं थे, मगर सिर्फ सरकारी आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू में ही, हमारे प्रान्त में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ्तारियां शुरू हुईं।

हमने जान लिया कि आखिर अब पासा पड़ चुका है और कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य-संघर्ष होने ही वाला है। अभी तक जेल एक अपरिचित जगह थी और वहां जाना एक नई बात थी। एक दिन मैं इलाहबाद के कांग्रेस-दफ्तर में जरा देर तक बकाया काम निबटा रहा था। इतने ही में एक क्लर्क जरा उत्तेजित होता हुआ आया और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आई है, और दफ्तर की इमारत को घेर रही है। निःसन्देह मैं भी थोड़ा उत्तेजित तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़, शान्त और निश्चित प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इसलिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफसर दफ्तर के कमरों में तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाकी कर्मचारियों से अपना-अपना काम सदा की तरह करने और पुलिस की तरफ ध्यान न देने के लिए कहा। कुछ देर के बाद एक मित्र व साथी कार्यकर्त्ता जो दफ्तर के बाहर ही गिरफ्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे विदा लेने आये। मुझे इन नई घटनाओं को मामूली घटनाएं समझना चाहिए, यह अभिमान मुझ में इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मैं जबतक अपनी चिट्ठी पूरी न कर लूं, तबतक जरा ठहरे रहें। जल्दी ही शहर में और भी लोगों के गिरफ्तार होने की खबर आई। आखिरकार मैंने यह तय किया कि मैं घर जाऊं और देखूं कि वहां क्या हो रहा है। वहां भी पुलिस के दर्शन हुए। वह हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही थी और मालूम हुआ कि पिताजी और मुझे दोनों को गिरफ्तार करने आई है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ उन्हें हड़तालें और सूनी सड़कें ही मिलीं। जब वह इलाहाबाद आये, तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई कसूर न था, और न उनके खिलाफ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ता उनके व्यक्तित्व का बेजा फायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो खासकर युक्तप्रान्त और बंगाल में गिरफ्तारियों और सजाओं की धूम मच गई। इन प्रान्तों में सभी खास-खास कांग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड़ लिये गये, और मामूली स्वयंसेवक तो हजारों की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू में ज्यादातर शहर के ही लोग थे, और जेल जाने के लिए स्वयं-सेवकों की तादाद मानो खत्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-सब (५५ व्यक्ति), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एक साथ गिरफ्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभी तक कांग्रेस या राजनैतिक हलचल में कोई हिस्सा नहीं लिया था, जोश चढ़ आया, और वे गिरफ्तार होने की जिद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुईं कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, हर शाम को अपने परिचित नारे और आवाजें सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि पुलिस की लारियों-पर-लारियाँ चली आ रहीं हैं। जेलें भर गई थीं, और जेल-अफसर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ लाये जाने वालों की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नहीं लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे, और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी में से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नहीं समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति में क्या करना चाहिए। जेल-मैन्युअल में इसकी बाबत कोई हिदायत नहीं थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसी को गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड़ दी; सिर्फ खास-खास कार्यकर्त्ता चुनकर पकड़े जाने लगे। धीरे-धीरे लोगों के उत्साह की पहली बाढ़ भी उतर गई, और सभी विश्वस्त कार्यकर्त्ताओं के जेल चले जाने से अनिश्चय और असहायता की भावना फैल गई। परन्तु यह सब क्षणिक ही था। वातावरण में तो बिजली भरी हुई थी और चारों ओर गड़गड़ाहट हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ में, यह अनुमान किया जाता है कि, कोई ३० हजार आदमियों को असहयोग के सम्बन्ध में सजाएं मिलीं। हालाँकि ज्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, मगर इस सारी लड़ाई के नेता महात्मा गांधी फिर भी बाहर थे, जो रोजाना लोगों को अपने सन्देश देते और हिदायतें जारी करते रहते थे, जिनसे लोगों को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय बातें होने से बच जाती थीं। सरकार ने उनपर अभी तक हाथ नहीं डाला था, क्योंकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा खराब हो और कहीं हिंदुस्तानी फौज और पुलिस बिगड़ न उठे।

अचानक १९२२ की फरवरी के शुरू में ही सारा दृश्य बदल गया, और जल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गांधीजी ने सविनय-भंग की लड़ाई रोक दी और सत्याग्रह स्थगित कर दिया है। हमने पढ़ा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गाँव के पास लोगों की एक भीड़ ने बदले में पुलिस-स्टेशन में आग लगा दी थी और उसमें करीब आधे दर्जन पुलिसवालों को जला डाला था।

जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक्त में, जब कि हम अपनी स्थिति मजबूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द कर दी गई है, तो हम बहुत बिगड़े। मगर हम जेलवालों की मायूसी और नाराजगी से हो ही क्या सकता था? सत्याग्रह बन्द हो गया, और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनों की दिक्कत और परेशानी के बाद सरकार को आराम की साँस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ से हमला शुरू करने का मौका मिला। कुछ हफ्तों बाद उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें लम्बी कैद की सजा दे दी।

१२

अहिंसा और तलवार का न्याय

चौरीचौरा-कांड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक स्थगित कर दिये जाने से, मेरा खयाल है, कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं में (अवश्य ही गांधीजी को छोड़कर) बहुत ही नाराजगी फैली थी। मेरे पिताजी, जो उस वक्त जेल में थे, उसपर बहुत ही बिगड़े थे। स्वभावतया नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गईं। इसलिए उसके खिलाफ इतनी नाराजगी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के स्थगित किये जाने से जो तकलीफ हुई उससे भी ज्यादा तकलीफ स्थगित करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेदजनक और अहिंसात्मक-आन्दोलन के भाव के बिलकुल खिलाफ। लेकिन क्या हमारी आजादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक्त के लिए महज इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं बहुत दूर के किसी कोने में पड़े गाँव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला? अगर इस तरह अचानक खून-खराबी का यही जरूरी नतीजा होना है, तब तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई के शास्त्र और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है; क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारण्टी करना गैरमुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाजिमी है कि आजादी की लड़ाई में आगे कदम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी ज्यादा लोगों को अहिंसात्मक-लड़ाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें, और यही क्यों, हममें ऐसे कितने हैं जो यह कह सकते हैं कि पुलिस से बहुत ज्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जाय, तो जो बहुत-से भड़कानेवाले एजेण्ट और चुगलखौर वगैरा हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और या तो खुद ही

कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरों से करा देते हैं, उनका क्या होगा ? अगर अहिंसात्मक लड़ाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कहीं कोई जरा भी खून-खराबी न करे, तब तो अहिंसात्मक-लड़ाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिंसा के तरीके को इसलिए मंजूर किया था, और कांग्रेस ने भी इसलिए उसे अपनाया था कि हमें यह विश्वास था कि वह तरीका कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज इसलिए नहीं रखा था कि वह सही तरीका है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सबसे ज्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीका, और ऐसा तरीका जो जालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल खिलाफ था। वह तरीका कायरों का तरीका नहीं था जिसमें लड़ाई से मुंह छिपाया जाय, बल्कि बुराई और कौमी गुलामी की मुखालिफत करने के लिए बहादुरों का तरीका था। लेकिन अगर किन्हीं भी थोड़े से शख्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढ़ें हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताकत हो कि ऊटपटांग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या खत्म कर सकते हैं, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मजबूत-से-मजबूत तरीके से भी आखिर क्या फायदा ?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझाने की ताकत गांधीजी में कस-रत से मौजूद है। अहिंसा का और शान्तिमय असहयोग का रास्ता अख्त्यार कराने के लिए उन्होंने अपनी ताकत से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज और मुख-मुद्रा शान्त और साफ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बर्फ की उस ऊपरी चादर के नीचे एक ठोस जोश और उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गए, और उन्होंने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आजादी के लक्ष्य पर हमें जरूर पहुँच देगा। १९२० में 'तलवार का न्याय' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था—

"मैं यह विश्वास जरूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ बुजदिली और हिंसा में ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मैं यह पसन्द

करूँगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज्जत बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि कायरों की तरह खुद अपनी बेइज्जती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा, हिंसा से कहीं ऊँची है, सजा की बनिस्बत माफी देना काफी ज्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमावीरस्य भूषणम्'। क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सजा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सजा देने की ताकत हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता।...लेकिन मैं यह नहीं समझता कि हिन्दुस्तान कायर है। न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ....।

"कोई मुझे समझने में गलती न करे। ताकत शारीरिक-बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और खयाली आदमी हूँ। मैं तो व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा-धर्म महज ऋषियों और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है। जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का कानून। पशुओं की आत्मा सोती पड़ी ही रहती है और वह शारीरिक-बल के अलावा और किसी कानून को जानती ही नहीं। मनुष्य के गौरव के लिए आवश्यक है कि वह अधिक ऊँचे कानून की शक्ति, आत्मा की शक्ति के सामने सिर झुकावे।

"इसलिए मैंने हिंदुस्तान के सामने आत्म-बलिदान का प्राचीन नियम उपस्थित करने का सांहस किया है, क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखाएं, सहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नहीं है। जिन ऋषियों ने हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूंढ़ निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे। वे खुद वेलिंगटन से ज्यादा योद्धा थे। वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हें बेकार पाया और भयभीत दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के जरिये नहीं होगा बल्कि अहिंसा के जरिये होगा।

"अपनी सक्रिय-दशा में अहिंसा के मानी हैं जानबूझकर कष्ट सहन करना। उसके मानी यह नहीं हैं कि आप बुरा करने वाले की इच्छा के सामने चुपचाप

अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह हैं कि हम जालिम की इच्छा के खिलाफ अपनी पूरी आत्मा को भिड़ा दें। अपनी हस्ती के इस कानून के मुताबिक काम करते हुए, महज एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्जत, अपने धर्म और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताक़त को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नींव डाल दे।

"और मैं हिंदुस्तान को अहिंसा का रास्ता अख्त्यार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमजोर है। मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताकत और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे·· मैं चाहता हूँ कि हिंदुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो सारी शारीरिक कमजोरियों पर विजय पा सकती है और सारी दुनिया के शारीरिक बलों का मुकाबला कर सकती है।....

"इस असहयोग को मैं 'सिनफिन'-आंदोलन से अलग समझता हूँ; क्योंकि इसका जिस तरह से खयाल किया गया है उस तरह वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी न्यौता देता हूँ कि वे इस शांतिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। वह अपनी अंदरूनी कमज़ोरी की वजह से असफल न होगा। हाँ, अगर ज्यादा तादाद में लोग उसे अख्त्यार न करें, तो वह असफल हो सकता है। वही वक्त असली खतरे का वक्त होगा? क्योंकि उस वक्त वे उच्चात्मा जो अधिक काल तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख्त्यार करेंगे। जहांतक मैं जानता हूँ, वे गुलामी से अपना या देश का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायंगे। अगर हिंदुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण कर ले तो मुमकिन है कि वह थोड़ी देर की विजय पा ले। परंतु उस वक्त हिदुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिंदुस्तान से इसलिए बंधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने उसी से पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिंदुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलों का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा, लेकिन हम लोगों की राय में और कुल मिला कर कांग्रेस की राय में अहिंसा का तरीका न तो धर्म का अकाट्य सिद्धांत था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा-से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीका ही हो सकता था जिससे हम खास

नतीजों की उम्मीद करते थे, और उन्हीं नतीजों से अखीर में हम उसकी बाबत फ़ैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही धर्म बना लें या निर्विवाद सिद्धान्त मान लें, परन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगों को, एक साधन के रूप में, अहिंसा के इन पहलुओं की जाँच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगों ने महसूस किया कि अगर आन्दोलन स्थगित करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये हैं वे सही हैं तो हमारे विरोधियों के पास हमेशा वह ताकत रहेगी, जिससे वे ऐसी हालतें पैदा कर दें जिससे लाजिमी तौर पर हमें अपनी लड़ाई छोड़ देनी पड़े! तो, यह कसूर खुद अहिंसा के तरीके का था या उसकी उस व्याख्या का जो गांधीजी ने की? लेकिन आखिर वही तो उस तरीके के जन्मदाता थे? उनसे ज्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीका क्या है और क्या नहीं है? और बिना उसके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

लेकिन बहुत बरसों के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लड़ाई शुरू होने से ठीक पहले, हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने इस बात को साफ कर दिया। उन्होंने कहा कि कहीं इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड हो जांय, तो उसकी वजह से हमें अपनी लड़ाई छोड़ने की जरूरत नहीं है। अगर ऐसी घटनाओं की वजह से, जो कहीं-न-कहीं हुए बिना नहीं रह सकतीं, अहिंसा का तरीका काम नहीं कर सकता, तो जाहिर था कि वह हर मौके के लिए सबसे अच्छा तरीका नहीं है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी राय में तो जब वह तरीका सही है तो वह सब मौकों के लिए मौजूं होना चाहिए, और कम-से-कम संकुचित दायरे में ही सही, विरोधी वातावरण में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक-लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के विचारों के विकास की गवाही देती है या क्या, यह मैं नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फरवरी १९२२ में सत्याग्रह का स्थगित किया जाना महज चौरीचौरा की वजह से नहीं हुआ, हालांकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक अखीरी निमित्त हो गया था। ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नजदीक रहकर एक नई चेतना पैदा

कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती और वह अक्सर अपनी अन्त:प्रेरणा या सहज बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं, जैसा कि महान लोकप्रिय नेता अक्सर किया करते हैं। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते हैं और तुरन्त उसी के अनुकूल-रूप अपने कार्य को दे देते हैं और उसके बाद अपने चकित और नाराज साथियों के लिए अपने फैसलों को कारण का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफी होता है, जैसा कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौड़े जोश के अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। करीब-करीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस-कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दर-असल बहुत से अवांछित लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़कानेवाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे, और कुछ स्थानीय कांग्रेस और खिलाफत-कमिटियों को चलाने तक लगे थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हदतक इस तरह की बात इस किस्म की लड़ाई में लाजिमी है। नेताओं के लिए यह लाजिमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखा दें और दूसरों पर यह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उससे भी ज्यादा कुछ किस्म के कामों से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसी से उस वक्त और १९३२ में सविनय-भंग-आन्दोलन बहुत ही ताकत के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के उत्साह के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर आन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयंकर हत्याकाण्ड हो जाते। इन हत्याकाण्डों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज कायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग में जिन असरों और वजहों ने काम किया वे सम्भवतः यही थे। उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वांछनीय था, इस बात को मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फैसला सही ही था। उनको ये सब खराबियां रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फैसला गलत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीके से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दायें और बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आंदोलन को उस अवस्था में और इस खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमंत्रण देने से भी राष्ट्रीय आंदोलन खत्म नहीं हो सकता था, क्योंकि ऐसे आंदोलनों का यह तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़ी अल्प-कालिक हार से भी समस्याओं को भली-भांति समझने और लोगों को पक्का तथा मजबूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार होना नहीं है, बल्कि सिद्धांत और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताकत हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे सिद्धांत और हमारा लक्ष्य क्या था? एक धुंधला स्वराज, जिसकी कोई स्पष्ट व्याख्या न थी, और अहिंसात्मक-लड़ाई का एक खास शास्त्र। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने-आप पिछली बात यानी अहिंसा का तरीका खत्म हो जाता, और जहांतक पहली बात, यानी स्वराज से ताल्लुक है उसमें ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अड़ते। आमतौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि वे ज्यादा अरसे तक लड़ाई चलाये जाते और विदेशी शासन के खिलाफ करीब-करीब सर्वव्यापी असंतोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफी बल या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हजारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ ही दिनों में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ म सत्याग्रह को स्थगित करने का जो फैसला किया गया वह ठीक ही था, हालांकि उसके स्थगित करने का तरीका और भी बेहतर हो सकता था। यों आंदोलन स्थगित करने से लोगों का विश्वास ढीला हो गया और एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गई।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आंदोलन को इस तरह एकाएक बोतल में बंद करने से उन दु:खांत-काण्डों के होने में मदद मिली जो देश में बाद को जाकर हुए। राजनैतिक संग्राम में छुट-पुट और बेकार हिंसा-काण्डों की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबाई गई हिंसावृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूंढ़ती ही; और शायद बाद के बरसों में इसी बात ने हिंदू-मुस्लिम झगड़ों को बढ़ाया। असहयोग और सविनय-भंग-आंदोलनों को आम लोगों से जो भारी समर्थन मिला था उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति में प्रतिक्रियावादी थे, लोगों की निगाह से गिरकर दबे पड़े थे। लेकिन अब वे उभरने लगे। बहुत-से दूसरे लोगों ने भी—जैसे खुफिया के एजेंटों तथा उन लोगों ने जो हिंदू-मुसलमानों में फिसाद कराके हाकिमों को खुश करना चाहते थे—हिंदू-मुस्लिम वैर बढ़ाने में मदद की। मोपलाओं के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो साम्प्रदायिक झगड़े पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बंद डिब्बों में मोपला कैदियों का भुरता कर देना एक बहुत ही वीभत्स दृश्य था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बंद न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो उस हालत में कौमी जहर इतना न बढ़ता और बाद को जो साम्प्रदायिक दंगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताकत बाकी रहती।

सत्याग्रह बंद करने के पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिलकुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गई और डर गई। इसी वक्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच में यह कहा कि मैं हैरान व परेशान हूं। उन दिनों युवराज हिंदुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धड़ाधड़ गिरफ्तारियां हुई थीं उनके बाद ही फौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी किस्म का समझौता कर लिया जाय। यह बात खासतौर पर कलकत्ते में युवराज के आगमन को दृष्टि में रखकर की गई थी। बंगाल-सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबंधुदास में, जो उन दिनों जेल में थे, कुछ आपसी बातचीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज की गई कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी-सी गोलमेज-कान्फ्रेंस की जाय। यह तजवीज इसलिए गिर गई कि गांधीजी ने इस बात पर ज़ोर दिया

कि मौलाना मुहम्मदअली का भी, जो उस वक्त कराची की जेल में थे, इस कान्फ्रेंस में मौजूद रहना जरूरी है और सरकार इस बात के लिए राजी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख दास बाबू को पसन्द नहीं आया और कुछ वक्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होंने सार्वजनिक रूपमें गांधीजी की आलोचना की और कहा कि, उन्होंने सख्त गलती की है। हम लोग उन दिनों जेलमें थे, इसलिए हममें से ज्यादातर वे सब बातें नहीं जान सकते थे जो इस मामले में हुईं, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता कि उस हालत में कान्फ्रेंस से कोई फायदा नहीं हो सकता था। असल में सरकार महज यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में युवराज के आगमन का समय बिना किसी संघर्ष के बीत जाय। इससे हमारे सामने जो बुनियादी मसले थे वे ज्यों-के-त्यों बने रहते। नौ बरस बाद जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कहीं ज्यादा ताकतवर थे, तब गोलमेज कान्फ्रेंस हुई और उससे भी कोई नतीजा नहीं निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर जोर देकर बिलकुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नहीं, बल्कि खिलाफत की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनों कांग्रेस के प्रोग्राम में खिलाफत का प्रश्न महत्वपूर्ण था, उनकी मौजूदगी लाजिमी थी। जिस नीति या कार्रवाई में अपने साथी को छोड़ना पड़े वह कभी सही नहीं हो सकती। सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कान्फ्रेंस से किसी किस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सजाएं दी थीं। मुकदमे महज तमाशे थे और अपने रिवाज के मुताबिक हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सजा दिलाने के लिए काफी मसाला ढूंढ़ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सजा दिलाने के लिए जो मसाला दर-असल पसन्द किया गया वह मजेदार था। पिताजी पर एक गैर-कानूनी जमात का मेम्बर—कांग्रेस-स्वयंसेवक—होने के जुर्म में मुकदमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया, जिसमें हिंदी में उनके दस्तखत दिखाये गए थे। बेशक दस्तखत उन्हीं के थे, लेकिन असल में

हुआ यह कि इससे पहले उन्होंने प्रायः कभी हिंदी में दस्तखत नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिंदी के दस्तखत पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफिया बयान दिया कि वे दस्तखत मोतीलालजी के ही हैं। यह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तखतों को देखा तब वह फार्म को उल्टा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इससे उनके मुकदमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिसें बांटी थीं। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा खयाल है कि इस वक्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेजी के साथ डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य) की तरफ बड़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सजा दे दी गई। तीन महीने बाद जब मैं पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ जेल में था तब मुझे इत्तिला मिली कि कोई मुकदमों पर पुनर्विचार करनेवाले अफसर इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि मुझे जो सजा दी गई वह गलत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योंकि मेरे मुकदमे पर पुनर्विचार कराने के लिए मेरी तरफ से किसी ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह स्थगित हो जाने पर जजों में मुकदमों पर पुनर्विचार करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल में छोड़कर बाहर जाने में बहुत दुःख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि अब फौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूंगा। लेकिन मेरे वहां पहुंचनेसे पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुकदमे के वक्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक हमेशा याद रखने लायक प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक्त मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज था। उसने अपने व्यवहार में काफी शराफत और सद्भावना दिखाई। अदालत में गांधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहां से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरें ले रहे थे और उनके ज्वलंत वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की गहरी छाप हमारे मन पर पड़ी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक्त पर जेल से बाहर रहना बहुत ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल

के सीखचों के अंदर बंद थे। बाहर आकर मैंने देखा कि कांग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। खासतौर पर मैंने विलायती कपड़े के बहिष्कार में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के करीब-करीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिंदुस्तान में ही किसी से खरीदेंगे न विलायत से ही मंगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी कायम कर लिया था। मण्डल के कायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मंगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी बेइंसाफी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारों का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़नेवाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होंने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर जबरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर राजद्रोह सहित, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ एक लंबा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सजा दी गई, जिनमें जबरदस्ती रुपया ऐंठने, लोगों को दबाने के जुर्म भी शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नहीं चलाया गया क्योंकि सम्भवतः यह सोचा गया कि मुझे जितनी सजा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहांतक मुझे याद है, मुझे तीन सजाएं दी गईं, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक-साथ चलने को थीं। मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सजा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सजा थी। मैं छः हफ्ते के करीब जेल से बाहर रह कर फिर वहीं चला गया।

१३

लखनऊ-जेल

१९२१ में हिंदुस्तान में राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नई बात नहीं थी। खासकर वंग-भंग-आंदोलन के वक्त से बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा जो जेल जाते थे और उनको अक्सर बड़ी लम्बी-लम्बी सजाएं होती थीं। बगैर मुकदमे चलाये नजरबंदियां भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिंदुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छः साल कैद की सजा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नजरबंदियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ़ गया, और षड़्यंत्रों के मामले बहुत होने लगे जिनमें आमतौर पर मौत की या आजीवन कैद की सजाएं दी जाती थीं। अली-बंधु और मौ० अबुलकलाम आजाद भी लड़ाई के जमाने में नजरबंद हुए थे। लड़ाई के बाद ही फौरन पंजाब में फौजी कानून जारी हुआ, जिसमें लोग बड़ी तादादमें जेल गये और बहुत लोगों को षड़्यंत्र के या मुख्तसर मुकदमों में सजाएं दी गईं। इस तरह हिंदुस्तान में राजनैतिक सजा होना एक काफी आम बात हो गई थी, मगर अभी तक खुद-जानबूझकर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले में उन्हें राजनैतिक सजा अपने-आप मिल जाती थी; या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया पुलिस उनको नापसंद करती थी, लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हां, दक्षिण-अफ्रीका में अलबत्ता सत्याग्रह की लड़ाई में गांधीजी और उनके हजारों अनुयायियों ने एक नई ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलखाना करीब-करीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नये सजायाफ्ता आदमियों को अपने अंदर निगल जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है? अंदाज से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अंदर बड़े-बड़े खतरनाक जीव होंगे, जिनके

लिए कुछ भी कर गुजरना बायें हाथ का खेल होगा। हमारे खयाल से जेल एकांत, बेइज्जती और कष्टों की जगह थी, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार जिक्र सुनते रहने और उसमें अपने कई साथियों के चले जाने से, हम इस खयाल के आदी हो गये, और उसके बारे में आशंका और अरुचि की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी उसकी तेजी कम हो गई। परंतु दिमागी तैयारी पहले से चाहे कितनी भी रही हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाखिल हुए तो क्षोभ और उद्वेग पैदा हुए बिना नहीं रह सका। उस जमाने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज से हिंदुस्तान से कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाखिल हो चुके हैं, हालांकि बहुत करके इलजाम फौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफा की रू से लगाया गया है। इसमें से हजारों तो कई बार अंदर गये और बाहर आये हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अंदर वे किन बातों की उम्मीद रखें; और जहांतक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण, नीरस, उदासी के साथ कष्ट-सहन और एक ढर्रे की भयंकर जिंदगी के लायक अपने-आप को बना सकता है, वहांतक उन्होंने वहां की अजीब जिंदगी के मुआफिक अपने को बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते हैं, क्योंकि इंसान करीब-करीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नई बार हम उस फाटक के अंदर दाखिल होते हैं तो फिर वही पुराने क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और दिल उछलने लगता है और आंखें बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचान वालों के चेहरों की तरफ, जिन्हें अब बहुत अर्से तक देखने का मौका नहीं मिलेगा, अखीरी नजर डालने लगती हैं।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक खत्म हो गई, मेरे और जेल-कर्मचारियों दोनों ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफसर इन नई तरह के अपराधियों की आमद से घबरा-से गये थे। इन नये आनेवालों की महज तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढ़ती ही जाती थी, गैर-मामूली थी, और उन्हें एक ऐसी बाढ़ मालूम होती थी, जो कहीं पुरानी कायम हदों को बहा न ले जाय। इससे भी ज्यादा चिंता की बात यह थी कि नये

आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढंग के थे। यों आदमी तो सभी वर्ग के थे मगर मध्यम-वर्ग के बहुत ज्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गों में एक बात सामान्य थी। वे मामूली सजायाफ्ता लोगों से बिलकुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीके से बर्ताव नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा कायदों की जगह दूसरे कायदे न थे; और न पहले की कोई मिसालें थीं, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली कांग्रेसी कैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज्यादा होने से उसमें यह खयाल भी आ गया था कि हममें कुछ ताकत है। बाहर के आंदोलन से और जेलखानों के अन्दर के मामलों में जनता की नई दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण वह और भी मजबूत हो गया था। इस प्रकार कुछ-कुछ तेज रुख होते हुए भी, हमारी सामान्य नीति जेल-अधिकारियों से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफसरों की तकलीफें बहुत ज्यादा बढ़ गई होतीं। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था,और कुछ बैरकोंमें,जिनमें हमारे स्वयंसेवक थे, चलकर उन्हें शान्त करने या किसी बात के लिए राजी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आये थे, और कई स्वयंसेवक तो प्रायः बिना बुलाये खुद जबरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नहीं कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिये अफसोस जाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम में न पड़ने का इकरार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हदतक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह-जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जो कि खानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयंसेवकों को भाग जाने देने में कामयाब हो सकें तो मैं आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफारिश कर दूंगा।

हमारे साथ के ज्यादातर कैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों में रक्खे जाते थे। हममें से अठारह को, जिन्हें मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मेरे लिए एक

अलग सायबान था, जो करीब-करीब २०×१६ फुट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में आने-जाने की काफी आजादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से काफी मुलाकातें करने की इजाजत थी। अखबार आते थे. और नई गिरफ्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताजी घटनाओं की रोजाना खबरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बात-चीत और बहस में बहुत वक्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मैं सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्खा कातने में गुजारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जोकि उत्तर-हिंदुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें जो अपढ़ थे उनके लिए, हिंदी, उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाजत मिल गई थी। तीसरे पहर हम वाली-बॉल खेला करते थे।[1]

धीरे-धीरे बंधन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में, जहां हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुंचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बंद हो गये। करीब-करीब उसी वक्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं शुरू में बाहर निकला, और छः या सात हफ्ते बाद, अप्रैल में फिर लौट आया। तब क्या देखता हूं कि हालत बदल गई है। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फौरन ही नये कायदे लागू कर दिये गये थे। बड़े वीविंग-शेड के, जहां पहले मैं रक्खा गया था, सारे

---

[1] अखबारों में एक बे-सिर-पैर की खबर निकली है, और हालांकि उसका खंडन किया जा चुका है, फिर भी वह समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। वह यह कि उस वक्त के यू० पी० गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा, और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज भेजी। वास्तव में कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० से, उन्होंने शराब वगैरा पीना सब छोड़ दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

कैदी भीतरी जेल में बदल दिये गये और वहां बैरकों में रख दिये गये थे। हरेक बैरक करीब-करीब जेल के अंदर दूसरी जेल ही थी। दूसरी बैरकवालों से मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाजत न थी। मुलाकात और खत अब कम किये जाकर महीने भर में एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालांकि हमें बाहर से खाने की चीजें मंगाने की इजाजत थी।

जिस बैरक में मैं रखा गया था उसमें करीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एकसाथ ठूंस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फुट के फासले पर थे। खुशकिस्मती से उस बैरक का करीब-करीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था, और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकांत का बिलकुल न मिलना नागवार होता गया। हमेशा उसी झुंड को देखना, वही छोटे-छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शांति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना! हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बातचीत इस हद तक करते कि दिमाग थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनंद, उसकी शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत कम था; और फिर ऐसे लोगों का साथ जो भिन्न-भिन्न तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे खूब एकांत और अकेलापन मिल गया—ऐसा कि महीनों तक लगातार मुझे किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसी की सूरत भी न दिखाई देती। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियों की जरूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १९२२ में लखनऊ जिला-जेल में इकट्ठा रहने के दिनों की रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेलापन ही ज्यादा पसन्द आया है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने और लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे और खुश-मिजाज थे, और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तंग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकांत में

रहना चाहते थे । ज्यादा-से-ज्यादा एकान्त जो मैं पा सकता था वह यही था कि बैरक छोड़कर अहाते के खुले हिस्से में आ बैठता था। उन दिनों बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था । मैं गरमी, और कभी-कभी बूंदा-बाँदी सहन कर लेता था, और ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बैरक के बाहर बिताया करता था ।

खुले हिस्से में लेटकर मैं आकाश तथा बादलों को निहारा करता था, और अनुभव करता था कि बादलों के नित नये रंग कितने सुन्दर होते हैं ! यह सौन्दर्य मैंने पहले नहीं देखा था ।

"अहो ! मेघमालाओं का यह
पल-पल रूप पलटना;
कितना मधुर स्वप्न है लेटे-
लेटे इन्हें निरखना !"[1]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनंद का न था, वह तो मेरे लिए भार-स्वरूप था। मगर जो वक्त मैं इन सतत् नये रूप धारण करनेवाले बरसाती बादलों को देखने में बिताता था वह आनंद से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी । मुझ ऐसा आनंद होता मानो मैंने कोई आविष्कार किया हो, और एसी भावना पैदा होती मानो मैं कैद से छुटकारा पा गया हूं । मैं नहीं जानता कि खास उसी वर्षा-ऋतु ने मुझपर इतना असर क्यों डाला; इससे पहले या बाद के किसी साल की भी वर्षा-ऋतु ने इस तरह प्रभावित क्यों नहीं किया। मैंने कई बार पहाड़ों पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के मनोरम दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की सराहना की थी, उस समय का आनंद लूटा था तथा उनकी महान् भव्यता और सुंदरता से अभिभूत हो उठा था। मगर मैं उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोज की बातें हैं, और दूसरी बातों की तरफ ध्यान देने लगता। मगर जेल में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई नहीं देते थे । क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और प्रांतःकाल तप्त सूर्य हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर देर से निकलता था । कहीं चित्र-विचित्र रंग का नामो-निशान नहीं था, और हमारी आंखें सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का

---

[1] अंग्रेजी कविता का भावानुवाद ।

दृश्य देखते-देखते पथरा गईं थीं। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी हो रही थीं, और जब बरसाती बादल अठखेलियां करते हुए तरह-तरह की शक्लें बनाते हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग धारण करते हुए हवा में थिरकने लगे तो मैं पागलों की तरह आश्चर्य और आह्लाद से उन्हें निहारा करता। कभी-कभी बादलों का तांता टूट जाता और इस प्रकार जो छिद्र हो जाता उसके भीतर से वर्षा-ऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उस छिद्र में से अत्यन्त गहरा नीला आसमान नजर आता था जो अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर सख्तियां धीरे-धीरे बढ़ने लगीं, और ज्यादा-ज्यादा सख्त कायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आंदोलन की नाप-जोख कर ली थी, और वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि हमारे मुकाबला करने की हिम्मत करने के सबब से वह हमपर किस कदर नाराज है। नये कायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीकों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक कैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक करीब-करीब हम सबने—हम लोगों की संख्या उसी जेल में कई सौ थी—विरोध के तौर पर मुलाकातें करना छोड़ दिया था। जाहिर है कि यह खयाल किया गया कि हममें से कुछ झगड़ा करानेवाले हैं, इसलिए सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया, जो खास बैरकों से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया उनमें मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहां रहन में कुछ तकलीफें भी थीं। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तब्दीली से खुशी ही हुई। यहां भीड़-भाड़ नहीं थी, हम ज्यादा शांति और ज्यादा एकांत से रह सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी कैदियों से अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये; क्योंकि अब सब राजनैतिक कैदियों के लिए अखबार भी बंद कर दिये गये थे।

हमारे पास अखबार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अंदर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में अक्सर टपका करती है। हमारी माहवारी मुला-

कातों और खतों से भी हमें बाज-बाज ऐसी-वैसी खबरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आंदोलन बाहर कमजोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुजर गया था और कामयाबी धुंधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबंधुदास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रांतीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर कब्जा कर ले; दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे। आंदोलन के जिन सुन्दर आदर्शों ने हमें, ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह, आगे बढ़ाया था, वे छोटे-छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साजिशों के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि उत्साह और जोश के वक्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना जोश गुजर जाने के बाद रोजाना का काम चलाने की बनिस्बत कितना आसान है। बाहर की खबरोंसे हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहां रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी हमारे अंदर यह एक संतोष की भावना रही कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने सत्य का ही मार्ग ग्रहण किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा, यह तो साफ दिखाई नहीं देता था; मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कइयों की किस्मतों में तो जिंदगी का ज्यादा हिस्सा जेलों में गुजारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे खास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इस नतीजे पर पहुंचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ हम से दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहांतक कि हमारे कामों के एक जबरदस्त आलोचक भी बन गये हैं। क्या पता लखनऊ-जिला-जेल के सिविल वार्ड में शरद्-ऋतु की एक शाम को हुई उस बातचीत की याद उनको कभी आती है या नहीं?

हम रोजाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़ते। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ दौड़ कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएं से एक बड़ा चमड़े

का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से साग-सब्जी के खेत में पानी देते थे। हममें से ज्यादातर लोग रोजाना थोड़ा-थोड़ा सूत भी कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लंबी रातों में पढ़ना ही मेरा खास काम था। करीब-करीब हमेशा जब-जब सुपरिण्टेण्डेण्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही खत्म कर दिया था। बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर,अंग्रेज करनल को यह फायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करने-वाले विचार आये ही नहीं, और शायद इसी के बाद उसे युक्तप्रांत की जेलों के इंस्पेक्टर-जनरल की जगह पर तरक्की पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की रातों और हिंदुस्तान के साफ आसमान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ खींचा, और कुछ नकशों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इंतजार करते थे और मानो अपने पुराने परिचितों के दर्शन करते हों, इस आनंद से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुजरते-गुजरते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहनों पर पड़ा। वे इंतजार करते-करते थक गईं और जब उनके प्रिय-जन जेल के सीखचों में बंद थे, उन्हें अपनेको आजाद रखना बहुत खटकता था।

दिसम्बर १९२१ में हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनंद-भवन में पुलिसवालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इंदिरा इस बार-बार की लगातार लूट से बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की। मुझे आशंका है कि पुलिस-दल के बारे में उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारों पर असर डाले बिना न रहेंगे।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली गैर-राजनैतिक कैदियों से अलग रक्खा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक कैदियों के लिए अलग जेलें मुकर्रर कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन कैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया कि उन दिनों वास्तव में जेल की जिंदगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट, जोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिये। खाना अजीब तौर पर खराब था; मैंने कई मर्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर बिलकुल न खाये जाने लायक पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए कैदियों या कैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौके पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टों और वार्डरों के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व, जेल-मैन्युअल में लिखे मुताबिक, इतने ज्यादा और इतने किस्म के थे कि किसी भी आदमी के लिए उनका ईमानदारी या योग्यता के साथ पालन करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त में (और सम्भवतः दूसरे प्रान्तों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का कैदी को सुधारने या उसे अच्छी आदतें या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई सम्बन्ध न था। जेल की मशक्कत का मकसद सजायाफ्ता आदमी को तंग करना था[1] और यह कि उसको इतना

---

[1] युक्तप्रांत के जेल-मैन्युअल की धारा ९८७ में, जो अब नये संस्करण से हटा दी गई है, लिखा था—

"जेल में मशक्कत करना, सिर्फ काम देने के लिए ही नहीं बल्कि खासकर सजा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा खयाल न किया जाय कि उससे खूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को खौफ पैदा होना चाहिये।"

इसके मुकाबले रूस के एस० एफ० एस० आर० की ताजीरात फौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है—

धारा ९—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह उद्देश्य नहीं है कि शारीरिक यातनाएं दी जांय, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह

भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह आज्ञानुवर्त्ती कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और खौफ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज आवे।

पिछले कुछ बरसों में कुछ सुधार जरूर हुए हैं। खाना थोड़ा सुधरा है, और कपड़े वगैरा भी सुधरे हैं। यह भी ज्यादातर राजनैतिक कैदियों के छूटने के बाद उनके बाहर आंदोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरों की तनख्वाहों में भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहें। लड़कों और छोटी उम्र के कैदियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारों से असली सवाल कुछ भी हल नहीं होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी भावना चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक कैदियों को मामूली कैदियों के साथ किये जानेवाले इस नियमित व्यवहार का ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज्यादा तेज-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सकता था। इस सबब से आप ही कर्मचारी उन्हें पसंद नहीं करते थे, और जब मौका आता तो उनमें से किसीको भी जेल के कायदे टूटने पर सख्त सजा दी जाती। ऐसे ही कायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपनेको 'आजाद' कहता था, बेंत की सजा दी गई। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बांध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी उधेड़ डालते थे, वह 'महात्मा-गांधी की जय' चिल्लाता था। हर बेंत के साथ वह लड़का तबतक यही नारा लगाता रहा, जबतक बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर-भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सजाएं देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को अनावश्यक अथवा व्यर्थ तकलीफें न पहुंचनी चाहिए।"

१४

फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर सबसे अधिक अभाव तो शायद स्त्रियों के मधुर वचनों का और बच्चों की हंसी का ही अनुभव होता है। जो आवाजें वहां आमतौर से सुनाई देती हैं वे कोई बहुत प्रिय नहीं होतीं। वे अधिकतर कठोर और डरावनी होती हैं। भाषा जंगली होती है और उसमें गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एक बार एक नई चीज का अभाव मालूम हुआ। मैं लखनऊ-जेल में था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैंने कुत्ते का भोंकना नहीं सुना है।

जनवरी १९२३ के अखीरी दिन लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक कैदी छोड़ दिये गये। उस समय लखनऊ में एक सौ और दो सौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के कैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सजा मिली थी, वे सब तो अपनी सजा पूरी करके चले गये थे; सिर्फ वे जिनकी लम्बी सजाएं थीं, या दोबारा आ गये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि आम रिहाई की पहले से कोई खबर न थी। प्रांतीय कौंसिल ने राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई कर देने के पक्ष में एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार का शासन-विभाग ऐसी मांगों की सुनवाई बहुत कम करता है। लेकिन घटनावश सरकार की दृष्टि में यह समय उपयुक्त था। कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर रही थी, और कांग्रेसवाले आपसी झगड़ों में ही फंसे हुए थे। जेल में भी प्रसिद्ध कांग्रेसी व्यक्ति ज्यादा नहीं थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गई।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा एक संतोष का भाव और आनंदोल्लास रहता है। ताजी हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग में एक खुमारी लाते हैं और कुछ-कुछ दीवाना-सा बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहले-पहल

जो असर होता है उसमें कुछ पागलों का-सा एक आनंद छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव थोड़ी देर के लिए ही रहा, क्योंकि कांग्रेस-राजनीति की दशा काफी निराशाजनक थी। ऊंचे आदर्शों की जगह षड्यंत्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीकोंसे कांग्रेस-तंत्र पर कब्जा करने की कोशिश करने लगे थे जिनसे कुछ कोमल भावना रखनेवाले लोगों की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिलकुल खिलाफ था, क्योंकि इसका जरूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें करनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम भी नहीं था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर जोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्त्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-सम्बंधी कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबंधु दास और मेरे पिताजी ने, जोकि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं बल्कि बाधा डालने और मुकाबला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबंधु दास कौंसिल में भी राष्ट्रीय संग्राम को जारी रखने के उद्देश्य से वहां जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिल का बहिष्कार मंजूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आना आजमाया जाय। कई नौजवानों के दिमाग में यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफीन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर कब्जा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा में दाखिल नहीं हुए, उसी तरह यहां भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस तरीके को अख्तियार करने के लिए जोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झुकनेवाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों खिलाफत-सम्बंधी

एक डेपुटेशन के साथ यूरप में थे। लौटने पर उन्होंने बहिष्कार के इस तरीके पर अफसोस जाहिर किया था। उन्हें सिनफीन-मार्ग ज्यादा पसंद था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वुकत न थी; क्योंकि आखिरकार गांधीजी का दृष्टिकोण ही कायम रहने को था। वही आंदोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह खयाल किया गया कि व्यूह-रचना के बारे में उन्हींको पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिए। सिनफीन तरीके के बारे में उनके खास ऐतराज (हिंसा से उनका संबंध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के स्थलों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफीन तरीके को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के दिमाग में उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौंसिलों की तरफ ही खिचेंगे और उन्हें उसके बाहर रखना मुश्किल होगा। हमारे आंदोलनों में इतना अनुशासन और शक्ति नहीं है कि देर तक उन्हें बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियों से गिरकर लोग कौंसिलों के जरिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फायदा उठाने लगेंगे।

इन दलीलों में सचाई काफी थी और सचमुच १९२४-२६ में जब स्वराज-पार्टी कौंसिल में गई तब बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ भी। फिरभी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर कांग्रेस १९२० में कौंसिलों पर कब्जा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमें शक नहीं हो सकता कि चूंकि उस समय खिलाफत-कमेटी भी साथ थी, वह प्रांतीय तथा केन्द्रीय दोनों ही कौंसिलों की करीब-करीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३४ में) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में कई बड़ी-बड़ी दरारें पड़ चुकी हैं, अतः अगले चुनाव में कांग्रेस को कितनी भी कामयाबी क्यों न मिले वह इतनी नहीं हो सकती जितनी १९२० में हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि परिवर्तन-वादी और अपरिवर्तनवादी दलों में कुछ समझौता हो जाय। किंतु हमें कुछ भी सफलता न मिली, और मैं इन झगड़ों से ऊब उठा। तब मैं तो संयुक्त प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी के मंत्री की हैसियत से कांग्रेस को संगठित करने के काम में लग

गया। पिछले साल के धक्कों से बहुत छिन्न-भिन्नता आ गई थी। और उसे दूर करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसका कोई नतीजा न निकला। असल में मेरे दिमाग के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नई तरह का काम आ खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तों के अंदर ही मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के प्रधान-पद पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का जिक्र नहीं किया था, बल्कि मेरा खयाल तक नहीं किया था। मगर अंतिम घड़ी में कांग्रेस पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूं जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर में बड़े-बड़े कांग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियों के प्रेसिडेण्ट बन गये। देशबंधुदास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई कार्पोरेशन के प्रेसीडेण्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रांत में ज्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के विविध कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मैं उसमें ज्यादा-से-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बांधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिंदुस्तानी म्युनिसिपैलिटियोंकी रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल तंत्र को साफ-सूफ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इस बात के लिए काफी मेहनत की। उन्हीं दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था, और प्रांतीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारयीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन विविध कामों की वजह से अक्सर मुझे रोजाना पंद्रह-पंद्रह घंटे तक काम करना पड़ता था और दिन खत्म होने पर मैं अपने को बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आंखों के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाईकोर्ट के तत्कालीन चीफ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर जाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होनेवाली है। उसकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर

मिलते रहने के उनके निमंत्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब हुआ। मैं उन्हें नहीं जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा खयाल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ एक ही मुकदमे में बहस की थी, और हाईकोर्ट में मेरा वह अखीरी ही मुकदमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना ही मेरी तरफ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनकी यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं खूब आगे बढ़ूंगा, और इसलिए मुझे अंग्रेजों के दृष्टिकोण समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज ऐसा ही समझते हैं, कि हिंदुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिक ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गए हैं कि सामाजिक क्षेत्र में अंग्रेजों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीसे रोष, तीव्र-दुःख और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई जिम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेजी क्लब में नहीं चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात बिलकुल निराधार है, और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है।[1] मगर कई अंग्रेजों को ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या गलत, राष्ट्रीय आंदोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफी कारण मालूम होती हैं। वस्तुतः, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई खास शिकायत थी ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे, और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालांकि सभी हिंदुस्तानियों की तरह बेशक हमें अपनी जाति की गुलामी का भान रहा और वह हमें बहुत ज्यादा खटकती रही। मैं मानता हूं कि आज भी मेरी अंग्रेजों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझपर मेहरबानी न जताता हो। और इतने में भी हमारे सम्बंधों में विनोद-प्रियता की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिंदुस्तान में अंग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेजों से ज्यादा मेल खाता है।

---

[1] इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फुटनोट देखिए। —अनु०

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, सरल और शिष्टतापूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डालें। मेरी उनसे कई बार मुलाकात हुई। किसी-न-किसी म्युनिसिपल टैक्स पर एतराज करने के बहाने वह मुझसे मिलने के लिए आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिंदुस्तान के लिबरलों पर खूब हमला किया। वह उन्हें डरपोक, ढीले, अवसरवादी, चरित्र-बल व साहस से रहित कहने लगे, और उनकी भाषा में कठोरता और घृणा आ गई। उन्होंने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हमारे दिल में उनके लिए कोई इज्जत है ?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बातें क्यों कर रहे हैं; शायद उनका खयाल था कि ऐसी बातों से मैं खुश होऊंगा। इसके बाद बातचीत फेरकर वह नई कौंसिलों, उनके मन्त्रियों और उनको देश-सेवा करने का कितना बड़ा मौका मिला है इन बातों की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे जरूरी सवाल शिक्षा का है। क्या किसी शिक्षा-मंत्री को, जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आजादी हो, लाखों आदमियों की किस्मत सुधारने का मौका नहीं है ? क्या यह जिन्दगी का सबसे बड़ा मौका नहीं है ? उन्होंने कहा, फर्ज कीजिए कि आप-जैसा कोई आदमी जिसमें समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शों को व्यवहार में लाने की शक्ति हो, प्रांत की शिक्षा का जिम्मेदार हो, तो क्या वह अद्भुत काम करके नहीं दिखा सकता ? और उन्होंने कहा कि मैं हाल में ही गवर्नर से मिला हूं, और विश्वास रखिये कि आपको अपनी नीति चलाने की पूरी आजादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये हैं, उन्होंने कहा कि सरकारी तौर पर किसीकी तरफ से कोई वादा तो वह नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज उन्होंने रक्खी है वह उनकी खुद की ही है।

सर ग्रिमवुड ने बड़ी सफाई और टेढ़े तरीके से जो प्रस्ताव रखा उसकी तरफ मेरा ध्यान तो गया, मगर सरकार का मंत्री बनकर उसका साथ देने का विचार मैं कर ही नहीं सकता था। वास्तव में इस खयाल से ही मैं नफरत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौका पाने की अक्सर कामना की है। विनाश, आंदोलन, और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियां नहीं हो सकतीं;

फिर भी हमारी किस्मत में यही लिखा है कि संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान में से गुजरने के बाद ही उस देश में पहुंच सकते हैं जहां हम रचना कर सकते हैं, और सम्भव है कि हममें से ज्यादातर लोग अपनी शक्तियां और जीवन उन रेगिस्तानों को परिश्रम व प्रयत्न से पार करने में ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारी सन्तानों या उनकी सन्तानों के हाथ से होगा।

उन दिनों, कम-से-कम युक्तप्रांत में तो, मंत्रि-पद बहुत सस्ते हो गये थे। दो नरम-दली मंत्री, जो असहयोग के जमाने में काम कर रहे थे, हट गये थे। जब कांग्रेस के आंदोलन ने मौजूदा तंत्र को तोड़ना चाहा, तब सरकार ने कांग्रेस से लड़ने के लिए नरम-दली मंत्रियों से फायदा उठाने की कोशिश की। सरकारी लोग उन दिनों उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योंकि उस मुश्किल वक्त में उन्हें सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह जरूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और प्रतिष्ठा उन्हें बतौर हक के दी जा रही है, मगर वे नहीं जानते थे कि यह तो कांग्रेस के सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चाल मात्र थी। जब आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह में नरमदली मंत्रियों की कीमत बहुत गिर गई और साथ ही वह मान और प्रतिष्ठा भी जाती रही। मंत्रियों को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला और जल्दी ही उन्हें इस्तीफा दे देना पड़ा। तब नये मंत्रियों के लिए तलाश होने लगी, और इसमें जल्दी कामयाबी नहीं हुई। कौंसिल में जो मुट्ठीभर नरम-दली लोग थे, वे अपने साथियों की, जो बगैर किसी लिहाज के निकाल बाहर किये थे, हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगों में, जो ज्यादा-तर जमींदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हों जो मामूली तौर पर भी शिक्षित कहे जा सकें। कांग्रेस द्वारा कौंसिल का बहिष्कार होने से उनमें एक अजीब पचरंगी गिरोह दाखिल हो गया था।

यह एक प्रसिद्ध बात है कि इसी समय, या कुछ समय बाद, एक शख्स को मंत्री बनाने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मैं बहुत होशियार आदमी होने का फख्र तो नहीं करता, मगर मैं अपने को मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे के लोगों से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूं, और मैं समझता हूं कि मेरी ऐसी प्रसिद्धि भी है; क्या सरकार चाहती है कि मैं मंत्री-पद मंजूर कर लूं और दुनिया में अपने-आपको सख्त बेवकूफ जाहिर करूं?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मंत्री कुछ संकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलों में उनकी दृष्टि दूर तक नहीं जाती थी। मगर यह तो उनके निकम्मे लिबरल सिद्धांतों का कसूर था। परंतु उनमें काम की योग्यता अच्छी थी, और अपने दफ्तर का रोजमर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मंत्री बने उनमें से कुछ जमींदार-वर्ग में से आये, और उनकी शिक्षा, प्रचलित मानों में भी, बहुत ही सीमित थी। मैं समझता हूं कि उन्हें ठीक तौर पर सिर्फ साक्षर कह सकते थे इससे ज्यादा नहीं। कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियों को हिंदुस्तानियों को बिलकुल अयोग्य साबित करने के लिए ही चुना और ऊंची जगह पर नियुक्त कर दिया था। उनके बारे में यह कहना बिलकुल उचित होगा कि—

दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊंचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नहीं असम्भव है।[1]

चाहे शिक्षित हों या नहीं, मगर इन मंत्रियों की तरफ जमींदारों के वोट तो थे ही, और वे बड़े अफसरों को बढ़िया गार्डन-पार्टियां भी दे सकते थे। भूख से तड़पते हुए किसानों से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा उपयोग और क्या हो सकता था!

---

[1] रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का भावानुवाद।

१५

सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों में लग गया, और इस तरह मैंने उन मामलों से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना संभव न था। जो प्रश्न बार-बार मेरे मन में उठते थे, और जिनका कोई संतोषजनक उत्तर मुझे नहीं मिलता था, उनसे मैं कहां भाग सकता था? इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिंब नहीं था। उस वक्त जो आवरण मुझपर पड़ा हुआ था अब उससे मैं निकल आया था, और अपने चारों तरफ हिंदुस्तान में और हिंदुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्तन देखे जिनकी तरफ अभी तक मेरा खयाल ही नहीं गया था। मैंने नये-नये विचार देखे, और नये-नये संघर्ष; और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढ़ती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गांधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सों की मैं बारीकी से छान-बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल में। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नहीं सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनों जो दो पार्टियां—कौंसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थीं उनमें से कोई भी मुझे आकर्षित नहीं कर रही थी। कौंसिल-पार्टी जाहिर तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमें एक अंधी गली में ले जाकर डाल देगा। अपरिवर्तनवादी महात्माजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उनके उपदेशों के सार को न ग्रहण कर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और संचालन-शक्ति नहीं थी, और व्यवहार में उनमें से ज्यादातर लोग लड़ाकू नहीं थे और सीधे-सादे-समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमें एक गुण था। आम जनता से उन्होंने अपना

संबंध बनाये रखा था, जबकि कौंसिलों में जानेवाले स्वराजी सोलहों आने पार्लमेंटों की पैंतरेबाजियों में ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबंधुदास ने मुझे स्वराजियों के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नहीं देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होंने अपनी सारी वकालत खर्च कर दी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किंतु ध्यान देने योग्य थी। इससे मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी नहीं लगता था, कि उन्होंने मुझपर कभी इस बात के लिए जोर या असर डालने की कोशिश नहीं की कि मैं स्वराजी हो जाऊं, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनों बहुत उत्सुक थे। साफ जाहिर है कि अगर मैं उनके आंदोलन में उनके साथ हो जाता तो उन्हें बड़ी खुशी होती, लेकिन मेरे भावों के लिए उनके दिल में इतना ज्यादा खयाल था कि जहांतक इस मामले से ताल्लुक था उन्होंने सब कुछ मेरी मर्जी पर ही छोड़ दिया; मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।

इन्हीं दिनों मेरे पिताजी और देशबंधुदास में बहुत गहरी मित्रता पैदा हो गई। यह मित्रता राजनैतिक मित्रता से कहीं ज्यादा गहरी थी। इस मित्रता में मैंने जो प्रेम की गहराई और अपनापन देखा, उस पर कम अचरज न हुआ, क्योंकि बड़ी उम्र में तो गहरी मित्रता शायद ही कभी पैदा होती हो। पिताजी के मेल-मुलाकातियों की तादाद बहुत बड़ी थी। उनके साथ हंस-बोलकर घुल-मिल जाने का उनमें विशेष गुण था। लेकिन वह मित्रता बहुत सोच-विचार कर ही करते थे, और जिन्दगी के पिछले सालों में तो वह ऐसी बातों में आस्थाहीन हो गये थे। लेकिन उनके और देशबंधु के बीच में तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनों एक-दूसरे को हृदय से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबंधु से नौ बरस बड़े थे, फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज्यादा ताकतवर और तन्दुरुस्त थे। हालांकि दोनों की कानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनों में कई बातों में बड़ा अंतर था। देशबंधुदास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकतामय—कवियों का-सा था। मेरा खयाल है कि उन्होंने बंगाली में बहुत अच्छी कविताएं भी लिखी हैं। वह बड़े अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक व्यावहारिक और रूखे-से थे, उनमें संगठन करने की बहुत बड़ी शक्ति

थी, और धर्मनिष्ठा का उनमें नामो-निशान न था। वह हमेशा लड़ाके रहे थे—हर वक्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगों को वह बेवकूफ समझते थे, उनको कतई बरदाश्त नहीं कर सकते थे, अपनी खुशी से तो नहीं ही करते थे। और वह अपना विरोध भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता, तो उन्हें वह ऐसी चुनौती मालूम पड़ती कि जिसका पूरी तरह मुकाबला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबंधु यद्यपि कई बातों में एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनों का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमें हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। यहां तक कि दोनों ने एक-दूसरे को यह अधिकार दे दिया था कि किसी भी किस्म का बयान या ऐलान निकालते वक्त एक-दूसरे के नाम का इस्तेमाल कर सकता है। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई जरूरत नहीं।

स्वराज-पार्टी को मजबूती के साथ कायम करने में और देश में उसकी ताकत और धाक जमाने में इस व्यक्तिगत मित्रता का बहुत-कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में फूट फैलानेवाली प्रवृत्तियां थीं, क्योंकि कौंसिलों के जरिये अपनी जाती तरक्की की गुंजाइश होने की वजह से बहुत-से अवसरवादी और ओहदों के भूखे लोग उसमें आ घुसे थे। उनमें कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ सहयोग करने की तरफ ज्यादा था। चुनाव के बाद ज्यों ही ये प्रवृत्तियां सामने आने लगीं, त्यों ही पार्टी के नेताओं ने उनकी निंदा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अंग को काटने में न हिचकूंगा, और उन्होंने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम भी किया।

१९२३ से आग अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व संतोष मिलने लगा, हालांकि मैं पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक संबंधों में मैं बड़ा भाग्यशाली रहा हूं। जबरदस्त कशमकश और मुसीबतों के वक्तमें मुझे अपने परिवार में शांति—सांत्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस दिशा में मैं स्वयं कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूं। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ मेरी सनकों ही को बरदाश्त

किया, बल्कि जब-जब मुझे शांति और संतोष की सबसे ज्यादा जरूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढंग में कुछ फर्क पड़ गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरों की संख्या भी बहुत कम कर दी गई थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम में कोई कमी नहीं हुई थी। किसी हद तक तो आवश्यक चीजों को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू खर्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीजें, घोड़े-गाड़ियां और घर-गृहस्थी की वे सब चीजें जो हमारे रहन-सहन के नये ढंग के लिए उपयुक्त नहीं थीं, बेच दी गईं थीं। हमारे फर्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फर्नीचर की और मालियों की कमी से घर की सफाई और खूबसूरती कम हो गई, और बाग जंगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग की तरफ नहीं-के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातों की किफायतशारी पसंद नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे लोगों को कानूनी सलाह देकर कुछ पैसे पैदा किया करें।

जो वक्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता उसमें वह यह काम करते थे। उनके पास वक्त बहुत कम बचता था, फिर भी वह इस हालत में भी कफी कमा लेते थे।

खर्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि अनुभव करता था। जबसे मैंने वकालत छोड़ी थी, तबसे असल में मेरी कोई निजी आमदनी नहीं रही—सिर्फ उस न-कुछ आमदनी को छोड़कर जो शेअरों के मुनाफ़े (डिवीडेण्ड) के रूप में मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का खर्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम खर्च में अपना काम चला लेते हैं। इसका पता मुझे १९२१ में लगा, और उससे मुझे बड़ा संतोष हुआ। खादी के कपड़ों और रेल के तीसरे दर्जे के सफर में ज्यादा खर्च नहीं पड़ता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह अनुभव नहीं कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बेशुमार खर्च हैं जिनका जोड़ बहुत ज्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नहीं सताया। मेरा खयाल है कि जरूरत

पड़ने पर मैं काफी कमा सकता हूं, और हम लोग अपना काम बहुत-कम खर्च में चला सकते हैं।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बड़ा बोझ नहीं था। इतना ही नहीं, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उनपर एक बोझ समझते हैं तो उन्हें बड़ा दुःख होता। फिर भी मैं जिस हालत में था उसको पसंद नहीं करता था, और तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नहीं मिला। मुझे ऐसा काम ढूंढ़ लेने में कोई मुश्किल न थी जिससे मैं कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मैं कर रहा था उसे या तो बंद कर दूं या कम कर दूं। इस वक्त तक मैं जितना समय दे सकता था वह सब मैंने कांग्रेस और म्युनिसिपैलिटी के काम में लगाया। मुझे यह बात पसंद नहीं आई कि मैं रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड़ दूं। बड़े-बड़े औद्योगिक फर्मों ने मुझे रुपये की दृष्टि से बड़े-बड़े लाभदायक काम सुझाये, मगर उनको मैंने नामंजूर कर दिया। शायद वे इतना ज्यादा रुपया महज मेरी योग्यता के खयाल से उतना नहीं देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धंधेवालों के साथ इस तरह का संबंध करने की बात अच्छी नहीं लगी। मेरे लिए यह बात बिलकुल असंभव थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा अख्तियार करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गई थी, और वह बढ़ती ही चली गई।

१९२४ की कांग्रेस में एक बात उठी थी कि प्रधान-मंत्रियों को वेतन दिया जाना चाहिए। मैं उस समय भी कांग्रेस का प्रधान-मंत्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल गलत मालूम होती थी, कि किसीसे एक तरफ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक्त देकर काम करे और दूसरी तरफ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़गा, जिनके पास खर्च का निजी इन्तजाम हो। लेकिन इस तरह के फुरसतवाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वांछनीय नहीं होते, और न आप उनको उनके काम के लिए जिम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। कांग्रेस ज्यादा नहीं दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिंदुस्तान में सार्वजनिक

फंडों से वेतन लेने के खिलाफ एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालांकि सरकारी नौकरी की बाबत यह बात नहीं है। पिताजी ने इस बात पर बहुत एतराज किया कि मैं कांग्रेस से वेतन लूं। मेरे सहकारी मंत्री को भी रुपयों की सख्त जरूरत थी, लेकिन वह भी कांग्रेस से वेतन लेना शान के खिलाफ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालांकि मैं उसमें कोई बेइज्जती की बात नहीं समझता था और वेतन लेने को तैयार था।

सिर्फ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बातें छेड़ीं, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसंद है। मैंने यह बात जहां तक हो सकता था, बड़े संकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हें बुरा न लगे। उन्होंने मुझसे कहा कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या अधिकतर समय पब्लिक के काम के बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने में लगाना बड़ी बेवकूफी होगी, जबकि मैं (पिताजी) थोड़े दिनों की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूं जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफी होगा।" दलील जोरदार थी, लेकिन उससे मुझे संतोष नहीं हुआ। फिर भी मैं उसके मुताबिक ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलों में और रुपये-पैसे की परेशानियों में १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच राजनैतिक हालत बदल रही थी, और करीब-करीब अपनी मर्जी के खिलाफ मुझे भिन्न-भिन्न समूहों में अपने को शामिल करना पड़ा, और कांग्रेस में भी मुझे जिम्मेदारी का पद लेना पड़ा। १९२३ में एक अजीब हालत थी। देशबंधु दास पिछले साल गया-कांग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमेटी में बहुमत उनके व स्वराजी नीति के खिलाफ था, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोड़ा-सा था और दोनों दल करीब-करीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियों में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में मामला यहां तक बढ़ गया कि देशबंधु दास ने कमेटी की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नई कार्य-समिति बनाई। अ० भा० कांग्रेस कमेटी में इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियों में से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी

भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोड़े-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अंसारी इसके नये अध्यक्ष बने और मैं एक मंत्री।

फौरन ही हमें दोनों तरफ से मुसीबतों का सामना करना पड़ा। गुजरात ने, जो उन दिनों अपरिवर्तनवादियों का एक मजबूत किला था, केंद्रीय कार्यालय की कुछ आज्ञाओं को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियों के अखीर में उसी साल नागपुर में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक की गई। नागपुर में इन दिनों झंडा-सत्याग्रह चल रहा था। यहीं हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक्त तक बदनाम जिंदगी बिताने के बाद खात्मा हो गया। इस समिति को इसलिए हटाना पड़ा कि असल में खासतौर पर वह किसी की भी प्रतिनिधि नहीं थी; और वह उन्हीं लोगों पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में कांग्रेस संगठन की असली ताकत थी। कार्य-समिति के इस्तीफा देने का कारण यह हुआ कि उसने केंद्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात-कमेटी पर निंदा का जो प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफा देते हुए मुझे कितनी खुशी हुई और मैंने कितने संतोष की सांस ली! पार्टी की पैंतरेबाजियों के इस थोड़े-से अनुभव से ही मैं बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि कुछ प्रसिद्ध कांग्रेसी भी इस तरह साजिश कर सकते हैं।

इस मीटिंग में देशबंधुदास ने मुझपर यह इलजाम लगाया कि तुम भावना-हीन हो। मैं समझता हूं कि उनका खयाल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने बहुत-से मित्रों और साथियों के मुकाबले मैं भावना-हीन हूं। फिर भी मुझे अपनी बाबत हर वक्त यह डर रहता है कि कहीं मैं भावुकता या आवेश की लहर में डूब या बह न जाऊं। बरसों मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं भावना-हीन हो जाऊं। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले में मुझे जो सफलता मिली वह सिर्फ ऊपरी ही है।

१६

नाभा का नाटक

स्वराजियों और अपरिवर्तनवादियों की कशमकश चलती रही और स्वराजियों की ताकत धीरे-धीरे बढ़ती गई। १९२३ के सितम्बर में दिल्ली में कांग्रेस का जो खास अधिवेशन हुआ, उसमें स्वराजियों का जोर और बढ़ गया। इस कांग्रेस के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बड़ी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नहीं थी।

सिक्ख, और उनमें से खासकर अकाली, पंजाब में बार-बार सरकार के संघर्ष में आ रहे थे। उनमें एक सुधार-आंदोलन उठ खड़ा हुआ था, और यह काम हाथ में लिया गया था कि बदचलन महंतों को निकालकर उपासना के स्थानों पर और उनकी सम्पत्ति पर कब्जा करके गुरुद्वारों को इस खराबी से छुड़ाया जाय। सरकार ने इसमें दखल दिया और संघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियों के तरीके अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढंग पर बनाये गये थे। यों संघर्ष कई जगहों पर हुए, मगर सबसे बड़ी लड़ाई गुरु-का-बाग की थी जहां बीसियों सिक्खों ने, जिनमें कई पहले फौज में काम किये हुए सिपाही भी थे, जरा भी हाथ उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस की बर्बरतापूर्ण मार का सामना किया। इस दृढ़ता और साहस के अद्भुत दृश्य से सारा हिंदुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमेटी को गैरकानूनी करार दे दिया। यह लड़ाई कुछ बरस तक जारी रही, और अंत में सिक्ख सफल हुए। स्वभावतः कांग्रेस की इसमें हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक्त तक अमृतसर में अकाली-आंदोलन से निकट-सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर मध्यस्थ के एक अधिकारी नियुक्त किया था।

जिस घटना का मैं जिक्र करनेवाला हूं उसका इस आम सिक्ख-आंदोलन से कोई सम्बंध नहीं था। मगर इसमें शक नहीं कि वह घटना इस सिक्ख-हलचल के सबब से ही हुई। पंजाब की दो सिक्ख रियासतों—पटियाला और नाभा के

नरेशों में बड़ा गहरा जाती झगड़ा था जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरक
ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत क
को एक अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर (राज्य-व्यवस्थापक) नियुक्त कर दिया गय
सिक्खों ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया, और उस
विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनों जगह आंदोलन उठाया। इस आंदोलन
बीच में, जैतो नामक स्थान पर, अखण्ड-पाठ नये एडमिनिस्ट्रेटर-द्वारा रोक दि
गया। इसका विरोध करने के लिए, और रोके हुए पाठ को जारी रखने
स्पष्ट उद्देश्य से, सिक्खों ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू कर दिये। पुलिस इन जत्थों
रोकती, मारती, गिरफ्तार करती और आमतौर पर जंगल में एक बीहड़ ज
में ले जाकर, छोड़ देती थी। मैं समय-समय पर इस मार-पीट का हाल पढ़ा कर
था। जब मुझे दिल्ली में विशेष कांग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत
जा रहा है, और मुझे वहां चलने और वहां क्या होता है यह देखने का निमंत्र
मिला, तो मैंने खुशी से उसको मंजूर कर लिया। इसमें मेरा सिर्फ एक ही दि
खर्च होता था, क्योंकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कांग्रेस के दो मेरे साथी भी-
आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। जत्थे ने ज्याद
तर फासला पैदल चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मैं नजदीक
रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊं और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद
जिस वक्त वहां जत्था पहुंचनेवाला हो, सड़क के रास्ते से पहुंच जाऊं। हम ए
बैलगाड़ी से आये और ठीक वक्त पर पहुंचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अल
रहते हुए चले। जैतो पहुंचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक
मुझे भी एक हुक्म मिला, जिस पर अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तखत थे कि
नाभा के इलाके में दाखिल न होऊं, और अगर मैं दाखिल हो गया होऊं त
फौरन वापस चला जाऊं। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दि
गये, मगर उनमें उनके नाम नहीं लिखे हुए थे, क्योंकि नाभा के अधिका
को उनके नाम नहीं मालूम थे। मेरे साथियों और मैंने पुलिस-अफसर से क
कि हम जत्थे में शामिल नहीं हैं, सिर्फ दर्शक की तरह हैं, और नाभा के कि
भी कानून को तोड़ने का हमारा इरादा नहीं है। इसके सिवा जब हम नाभा
इलाके में ही थे तो उसमें दाखिल न होने का सवाल ही नहीं हो सकता थ
और स्पष्टतः हम एकदम अदृश्य होकर तो कहीं चले नहीं जा सकते थे। जैतो

दूसरी गाड़ी शायद कई घंटे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यहीं रहना चाहते हैं। बस, हम फौरन ही गिरफ्तार कर लिये गये और हवालात में ले जाकर बंद कर दिये गये। हमको इस तरह हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थों का होता था।

सारे दिन हम हवालात में बंद रखे गये और शाम को हमें कायदे से स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकड़ी डाली गई—उनकी बाईं कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फांद दी गई थी, और हथकड़ी की जंजीर हमें ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकड़ी डाली गई और वह हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाजारों से इस प्रकार जाते हुए मुझे बार-बार कुत्तों के जंजीर पकड़कर ले जाने की याद आती थी। आरंभ में तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमने सोचा कि यह घटना बड़ी मजेदार है, और हम इसका मजा लेने लगे। उसके बाद की हमारी रात अच्छी नहीं गुजरी। रात को हमारा कुछ वक्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था—आधी रात को रास्ते में शायद गाड़ी भी बदलनी पड़ी थी। और रात का बाकी हिस्सा नाभा की एक हवालात में गुजरा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जब कि हम अंत में नाभा-जेल में रख दिये गये, वह हथकड़ी और भारी जंजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनों में से कोई भी एक-दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नहीं सकता था। एक दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफी देर तक हथकड़ी से जुड़ा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मजा लेना मैं पसंद न करूंगा।

नाभा-जेल में हम तीनों एक बहुत ही रद्दी और गंदी कोठरी में रखे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ करीब-करीब पहुंच जाता था। हम जमीन पर ही सोये और मैं बीच-बीच में एकाएक जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुंह पर से कोई चूहा या चुहिया निकल गई है।

दो-तीन दिन बाद पेशी के लिए हमें अदालत ले गये, और बहुत ही ऊटपटांग जाब्ते से वहां रोज-रोज कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ़ मालूम पड़ता था। निःसंदेह अंग्रेजी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की जबान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो।

हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा देखते रहे, और इस अर्से में उसने एक भी लाइन नहीं लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-मोटी अर्जियां पेश कीं। वह उस वक्त उन पर कोई हुक्म नहीं लिखता था। वह उन्हें रख लेता था और दूसरे दिन उन्हें निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाकायदा अपनी सफाई नहीं दी। असहयोग-आंदोलन में हमें अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहां पैरवी करने की छुट्टी थी वहां भी हमें सफाई देने का खयाल तक प्रायः बुरा लगता था। मैंने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमें मैंने सारे हाल लिखे, और नाभा रियासत के तरीके कैसे हैं, और विशेषतया एक अंग्रेज के शासन में, इस पर अपनी राय भी जाहिर की।

हमारा मुकदमा दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया, हालांकि वह एक काफी सीधा-सा मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज की अदालत उठ जाने के बाद भी, हमें उसी इमारत में बिठा रक्खा। और बहुत देर में, करीब ७ बजे, हमें एक दूसरे कमरे में ले गये, जहां एक शख्स मेज के सामने बैठा था। और वहां और भी कई लोग थे। एक आदमी—वह वही पुलिस-अफसर था जिसने हमें जैतो में गिरफ्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहां क्या हो रहा है? मुझे इत्तिला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यंत्र करने का मुकदमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा में न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। जाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सजा तो सिर्फ ६ माह ही है इसलिए यह हमारे लिए काफी न होगी, लिहाजा और कुछ ज्यादा संगीन इलजाम लगाना जरूरी है। साफ है कि सिर्फ तीन आदमी षड्यंत्र के लिए काफी नहीं थे, इसलिए एक चौथे शख्स को, जिसका हमसे कोई ताल्लुक न था, गिरफ्तार किया गया और उस पर भी हमारे साथ ही मुकदमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिक्ख था, हम नहीं जानते थे। हां, हमने उसे जैतो जाते वक्त सिर्फ खेत में देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि किस अचानक ढंग से एक षड्यंत्र का मुकदमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिलकुल झूठा

हीं, मगर शिष्टता के खातिर भी तो कुछ जाब्ते की पाबंदी होनी चाहिए
जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तिला नहीं दी गई और
अपनी सफाई का इंतजाम भी करना चाहेंगे। मगर इसकी उसने कुछ भी
ता न की। यह नाभा का निराला तरीका था। अगर हमें सफाई के लिए
ई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मैं
हर का कोई वकील करना चाहूंगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के
यदों में इसकी इजाजत नहीं है। इससे नाभा के जाब्ते की विचित्रताओं का
और भी ज्ञान हुआ। हमें एक तरह की नफरत हो गई, और हमने जज से
ह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा
लेंगे। किंतु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह कायम न रह सका। अपने बारे में
यंत आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए
भी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख्तसर तौर पर मौके-मौके से अपनी राय
हिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाकयात के बारे में एक तह-
री बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यंत्र का मुकदमा चला रहा था,
ले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुकदमे चलते रहे और हम दोनों अदालतों में जाने का रोज इंत-
र किया करते थे, क्योंकि इससे जेल की गंदी कोठरी से तब तक के लिए
टकारा तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एडमिनिस्ट्रेटर की तरफ से जेल
सुपरिंटेंडेंट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफसोस
हिर कर दें और नाभा से चले जाने का वचन दे दें, तो हमपर से मुकदमा
ठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफसोस जाहिर
रें? हमने कोई ऐसी बात नहीं की है, बल्कि रियासत को हमसे माफी मांगनी
हिए। हम किसी किस्म का वचन देने को भी तैयार नहीं हैं।

गिरफ्तारी के करीब दो हफ्ते बाद आखिर हमारे मुकदमे खत्म हुए। यह
रा वक्त इस्तगासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे
। ज्यादा वक्त तो देर-देर तक इंतजार करने में गया, क्योंकि जहां-कहीं
रा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वहीं कार्रवाई मुल्तवी कर दी जाती थी या
सकी बाबत किसी अंदरूनी अफसर से, जो शायद अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर ही था,
रने की जरूरत होती थी। अखीरी दिन, जबकि इस्तगासे की तरफ से मामला

खत्म किया गया, हमनें भी अपने तहरीरी बयान दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई खत्म कर दी, और यह जानकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ कि वह थोड़ी ही देर में फिर वापस आगया और उसके साथ उर्दू में लिखा हुआ एक बड़ा भारी फैसला था। यह जाहिर है कि यह भारी फैसला इतने थोड़े अरसे में नहीं लिखा जा सकता था। यह फैसला हमारे बयान देने के पहले ही तैयार हो गया था। फैसला पढ़कर सुनाया नहीं गया। हमें सिर्फ इतना कह दिया गया कि हमें नाभा इलाके में से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छः माह की सजा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सजा थी, दी गई है।

उसी रोज षड्यन्त्र के मुकदमे में भी हमें, ठीक-ठीक में भूल गया हूं, या तो अठारह माह की या दो साल की सजा मिली। यह सजा छः माह की सजा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढाई साल की सजा दे दी गई।

हमारे मुकदमे के दौरान में बहुत बातें ध्यान देने लायक हुईं, जिनसे हमें देशी-रियासतों की शासन-रीति या देशी-रियासतों में अंग्रेजों की शासन-रीति का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वांग-जैसी थी। इसी से शायद किसी अखबारवाले या बाहरवाले को अदालत में आने नहीं दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी परवा नहीं करती थी, और उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यों करते? कई मौकों पर मुझे खड़ा होना पड़ा और जोर देना पड़ा कि पुलिस को मजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से कागजों को छीन लेती थी, और चूंकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत में उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था कायम रखने में असमर्थ था, इसलिए हमें थोड़ा-थोड़ा उसका काम करना पड़ता था! बेचारा मजिस्ट्रेट बड़े पसोपेश में था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखाई देता था; क्योंकि अखबारों में हमारी गिरफ्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हम-जैसे थोड़े-बहुत प्रसिद्ध राजनैतिक लोगों के साथ यह अन्धेर हो सकता था तो जो लोग कम प्रसिद्ध हैं उनका क्या हाल होता होगा?

मेरे पिताजी को देशी-रियासतों का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा में मेरी यकायक गिरफ्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हें सिर्फ गिरफ्तारी

का वाकया मालूम हुआ; मगर इसके अलावा और कोई खबर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा में मुझसे मिलने के बारे में उनके रास्ते में बहुत मुश्किलें खड़ी कर दी गईं। मगर आखिर उन्हें जेल में मुझसे मुलाकात करने की इजाजत मिल गई। परंतु वह मेरी कोई मदद नहीं कर सकते थे, क्योंकि मैं अपनी सफाई भी पेश नहीं कर रहा था। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापस चले जांय और कोई चिंता न करें। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी-वकील हैं, नाभा में मुकदमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड़ गये। नाभा की अदालतों को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की कानून और जाब्ते-सम्बंधी जानकारी में काफी वृद्धि हुई होगी। पुलिस ने खुली अदालत में उनके कुछ कागजात जबरदस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज्यादातर देशी-रियासतें पिछड़ी हुई हैं और उनकी हालत जागीरदारी-पद्धति की याद दिलाती है, यह सब जानते हैं। वहां अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमें न तो योग्यता ही है और न लोक-हित का भाव। वहां बड़ी-बड़ी अजीब बातें हुआ करती हैं, जो कभी प्रकाश में नहीं आतीं। मगर उनकी अयोग्यता से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदकिस्मती प्रजा का बोझ कुछ हलका हो जाता है। क्योंकि इसी कारण वहां की कार्यकारिणी सत्ता में भी कमजोरी रहती है, जिससे जुल्म और बेइंसाफी करने में भी अयोग्यता से काम लिया जाता है। इससे जुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक नहीं हो जाता, बल्कि हां, इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत में जब अंग्रेजी सरकार खुद हुकूमत अपने हाथ में ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नहीं रहती। जागीरदार-पद्धति कायम रक्खी जाती है, एकतंत्र भा ज्यों-का-त्यों रहता है, पुराने सब कानून और जाब्ते ही जायज माने जाते हैं, व्यक्तिगत-स्वतंत्रता, संगठन और मत-प्रकाशन (और इनमें सब कुछ शामिल है) आदि पर सारे बंधन कायम रहते हैं, मगर एक तब्दीली ऐसी हो जाती है जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मजबूत हो जाती है, और कायदे और उनकी पाबंदी बढ़ जाती है। इससे जागीरदारी-प्रथा में और एकतंत्र शासन में रहनेवाले सब बंधन सख्त हो जाते हैं। धीरे-धीरे अंग्रेजी हुकूमत पुराने रिवाजों और

तरीकों में बेशक कुछ परिवर्तन करती है, क्योंकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने में रुकावटें आती हैं। मगर शुरू-शुरू में तो वह लोगों पर अपना प्रभुत्व मजबूत करने के लिए उन पुराने रिवाजों और तरीकों से पूरा फायदा उठाती है। इधर लोगों को अब जागीरदारी तंत्र और एकतंत्र-सत्ता ही नहीं, बल्कि एक मजबूत कार्यकारिणी-द्वारा उनकी सख्त पाबंदी भी बरदाश्त करनी पड़ती है।

मैंने नाभा में कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इंतजाम एक अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ में था, जो इंडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतंत्र शासक के पूरे अख्तियार थे। वह सिर्फ भारत-सरकार के मातहत था और फिर भी हर मर्त्तबा हमें, अपने अत्यंत सामान्य अधिकारों के छीन लिये जाने की पुष्टि में, नाभा के कायदे-कानूनों का हवाला दिया जाता था। हमें जागीरदारीतंत्र और आधुनिक नौकरशाहीतंत्र की खिचड़ी का मुकाबला करना पड़ा, जिसमें बुराइयां दोनों की शामिल थीं, लेकिन अच्छाइयां एक भी न थी।

इस तरह हमारा मुकदमा खत्म हुआ और हमें सजा हो गई। फैसलों में क्या लिखा था यह हमें मालूम नहीं, मगर इस असल बात से कि हमें लंबी सजा मिली है, हमारा झुंझलाहट कुछ कम हुई। हमने फैसलों की नकलें मांगीं, मगर हमें जवाब मिला कि इसके लिए बाकायदा अर्जी दो।

उसी शाम को जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमें बुलाया, और उसने हमें जाब्ता फौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आदेश दिखाया जिसमें हमारी सजाएं स्थगित कर दी गई थीं। उसमें कोई शर्त नहीं रक्खी गई थी, और इसका कानूनी नतीजा यह था कि जहांतक हमारा ताल्लुक था हमारी सजाएं खत्म हो गईं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्जीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमें यह आदेश था कि हम नाभा छोड़कर चले जांय, और खास इजाजत लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने दोनों हुक्मों की नकलें मांगी, मगर वे हमें नहीं दी गईं। तब हमें रेलवे स्टेशन भेज दिया गया, और हम वहां रिहा कर दिये गये। नाभा में हम किसी को भी नहीं जानते थे, और रात को शहर के दरवाजे भी बंद हो गये थे। हमें पता लगा कि अभी अम्बाला को गाड़ी जानेवाली है और हम उसी में बैठ गये। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहां से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनों हुक्मों की नकलें भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म हैं, और साथ ही दोनों फैसलों की नकलें भी। उसने किसी चीज की भी नकल देने से इंकार कर दिया। मैंने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पड़े। मगर वह इंकार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियों को दो या ढाई साल की सजा मिली, पढ़ने का मौका नहीं मिला। मुझे पता होना चाहिए कि ये सजाएं अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होंगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहें उसी वक्त मुझपर लागू की जा सकेगी।

हम तीन तो इस तरह "मौकूफी" की हालत में छोड़ दिये गये, मगर मैं इस बात का पता नहीं लगा सका कि षड्यंत्र के चौथे आदमी, उस सिक्ख, का क्या हुआ, जो दूसरे मुकदमे के लिए हमारे साथ जोड़ दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोड़ा न गया हो। उसकी मदद में किसी शक्तिशाली मित्र या पब्लिक की आवाज न थी, और कई दूसरे आदमियों की तरह रियासती जेल में जाकर वह अंधकार में पड़ा होगा। मगर हम उसे नहीं भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किंतु उससे कुछ हुआ नहीं। मेरा खयाल है कि गुरुद्वारा-कमिटी ने भी इस मामले में दिलचस्पी ली थी। हमें पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारू' दल का एक आदमी था, और लंबे अर्से तक जेल में रहकर हाल में ही छूटकर आया था। पुलिसवाले ऐसे आदमियों को बाहर रहने देने का सिद्धांत नहीं मानते, और इसलिए उन्होंने बनावटी इलजाम में हमारे साथ उसे भी फांस लिया।

हम तीनों—गिडवानी, सन्तानम्, और मैं—नाभा-जेल की कोठरी से एक दुःखदायी साथी अपने साथ ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योंकि हम तीनों पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी जोर की थी और शायद खतरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनों से कम थी, और मैं सिर्फ तीन या चार हफ्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाकी दोनों तो लंबे अरसे तक बहुत बुरी हालत में बीमार पड़े रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छः या ज्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिख-गुरुद्वारा-कमिटी से सम्पर्क रखने के लिए

कांग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमेटी ने जैतो को पांच सौ आदमियों का एक खास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की हदतक उसके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद में दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलाई, और मेरे खयाल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलों की मदद करने गये तो पुलिसवाले उनपर टूट पड़े और उनको पकड़ कर ले गये। उनके खिलाफ अदालत में कोई कार्रवाई नहीं की गई। उन्हें करीब-करीब एक साल तक जेल में यों ही पटक रक्खा, और बाद में बहुत खराब तंदुरुस्ती की हालत में वह छोड़े गये।

गिडवानी की गिरफ्तारी और उनका जेल में रक्खा जाना मुझे कार्यकारिणी सत्ता का एक भयंकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अंग्रेज आई० सी० एस० था) खत लिखा और उससे पूछा कि गिडवानी के साथ ऐसा क्यों किया गया? उसने जवाब में लिखा कि उन्हें इसलिए गिरफ्तार किया गया था कि उन्होंने नाभा के इलाके में बिला इजाजत न आने की आज्ञा का उल्लंघन किया था। मैंने चुनौती दी कि कानून के मुताबिक भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलों को मदद देते हुए उनको गिरफ्तार करना मुनासिब न था। मैंने उस आर्डर की नकल मुझे भेजने या प्रकाशित करने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मैं खुद भी नाभा जाऊं और एडमिनिस्ट्रेटर को अपने साथ भी वही वर्ताव करने दूं जैसा कि गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफादारी का तो यही तकाजा था। मगर मेरे कई दोस्तों ने ऐसा करने की राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तों की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमें अपनी कमजोरी छिपा ली। क्योंकि, आखिरकार यह मेरी अपनी कमजोरी और नाभा-जेल में दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहां जाने से रोका। मैं अपने साथी को इस तरह छोड़ देने पर कुछ-कुछ शर्मिंदा हमेशा रहा हूं। इस तरह, जैसा कि हम सब अक्सर करते हैं, बहादुरी के स्थानपर अक्लमंदी को प्रधानता मिली।

१७

कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ में कांग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके अध्यक्ष थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौड़ी स्पीच पढ़ी। लेकिन वह था दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनीतिक व साम्प्रदायिक भावना बढ़ती गई। उन्होंने बताया कि १९०८ में आगाखां के नेतृत्व में जो डेपुटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिश से ही सरकार ने पहली बार पृथक् निर्वाचन के पक्ष में घोषणा की थी वह एक कैसी जबर्दस्त चाल थी, जिसके मूल में खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ अपने सभापति-काल में अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राजी किया। कांग्रेस की भावी नीति के संबंध में मुझे साफ-साफ पता न था, ऐसी हालत में मैं नहीं चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बंधी जिम्मेदारी अपने ऊपर लूं।

लेकिन मैं मुहम्मदअली को इन्कार नहीं कर सकता था; क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये अध्यक्ष के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। रुचि और अरुचि दोनों में वे सख्त आदमी थे। और सौभाग्य से मैं उन लोगों में से था जो उनकी 'रुचि' में आते थे। हम दोनों प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बंधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध धार्मिक—थे, और मैं वैसा नहीं था। मगर मैं उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बड़े चपल वाक्पटु थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयंकर व्यंग्य दिल को चोट पहुंचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढ़िया टिप्पणी मन में आई तो उसे मन में रख लेना उनके लिए असम्भव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल में हम दोनों की गाड़ी ठीक-ठीक चली—हालांकि कई छोटी-छोटी बातों में हमारा मतभेद रहता था। अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी के दफ्तर में मैंने एक नया रिवाज चलाया था—किसी के भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वगैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख, सैयद, मुन्शी, मौलवी और आजकल के श्रीयुत् और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वगैरा जो बहुत-से ऐसे मानवाचक शब्द हैं और इनका प्रयोग इतनी बहुतायत से और अक्सर अनावश्यक होता है कि मैं इस बारे में एक अच्छा उदाहरण पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नहीं पाया। मुहम्मदअली ने बहुत बिगड़कर मुझे एक तार भेजा, जिसमें प्रधान की हैसियत से मुझे आज्ञा दी थी कि मैं पुराने तरीके से ही काम लूं, और खासतौर पर गांधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमें अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीके से अल्लाह का जिक्र कांग्रेस के प्रस्तावों में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी किस्म की दुआ की शक्ल में। मैं इसका विरोध किया करता था। वह जोर से बिगड़ते और कहते, तुम बड़े नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोड़ी देर बाद मुझसे कहते कि एक मजहबी आदमी के जरूरी गुण तुममें हैं, हालांकि तुम्हारा जाहिरा बर्ताव और दावा इसके खिलाफ है। और मैंने कई बार मन में सोचा है कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई मजहब या मजहबी के क्या मानी करता है।

मैं उनके साथ हमेशा मजहब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मैं जानता था, इसका नतीजा यही होता कि हम दोनों एक-दूसरे पर चिढ़ उठते, और मुमकिन था कि उनका जी दुख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस किस्म की चर्चा करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुत-से मुसलमानों के लिए तो शायद और भी मुश्किल हो; क्योंकि उनके यहां विचारों की आजादी मजहबी तौर पर नहीं दी गई है। विचारों की दृष्टि से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तंग रास्ता है और उसका अनुयायी जरा भी दाहिने-बायें नहीं जा सकता। हिन्दुओं की हालत इससे कुछ भिन्न है, सो भी हमेशा नहीं। व्यवहार में चाहे वे कट्टर हों, उनके यहां बहुत पुराने, बुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज

माने जाते हैं, फिर भी वे धर्म के विषय में अत्यंत क्रांतिकारी और मौलिक विचारों की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते हैं। मेरा खयाल है कि आधुनिक आर्यसमाजियों की दृष्टि आमतौर पर इतनी विशाल नहीं होती। मुसलमानों की तरह वे अपने सीधे और तंग रास्ते पर ही चलते हैं। विद्या-बुद्धि में बढ़े-चढ़े हिंदुओं के यहां ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आ रही है, जो धार्मिक प्रश्नों में भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियों को स्थान देती है, हालांकि व्यवहार पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। मैं समझता हूं कि इसका आंशिक कारण यह है कि हिंदू-जाति में तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-विरोधी प्रमाण और रिवाज पाये जाते हैं। इस सम्बंध में यहां तक कहा जाता है कि हिंदू-धर्म को साधारण अर्थ में मजहब नहीं कह सकते। और फिर भी कितनी गजब की दृढ़ता उसमें है! अपने-आपको जिंदा रखने की कितनी जबरदस्त ताकत! भले ही कोई अपनेको नास्तिक कहता हो, जैसा कि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि वह हिंदू नहीं रहा। हिंदू-धर्म अपनी सतांनों को उनके न चाहते हुए भी पकड़ रखता है। मैं एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मणही रहूंगा। फिर मैं धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे में कुछ भी कहता और करता रहूं। हिंदुस्तानी दुनिया के लिए मैं पण्डित ही हूं, चाहे मैं इस उपाधि को नापसंद ही करूं। मुझे याद है कि एक बार मैं एक तुर्की विद्वान से स्वीजरलैण्ट में मिला था। उन्हें मैंने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमें मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ निराश भी। क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मैंने समझा था कि आप कोई बड़े विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध शास्त्री होंगे।

हां, तो, मुहम्मदअली और मैं मजहब पर बहस नहीं करते थे लेकिन उनमें मौन रहने का गुण न था। और कुछ साल बाद (मैं समझता हूं, १९२५ में या १९२६ के शुरू में) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके। एक रोज जब मैं उनके घर, दिल्ली में, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मैं तुमसे मजहब पर जरूर बहस करना चाहता हूं। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की। कहा—आपके और मेरे दृष्टिकोण एक-दूसरे से बहुत जुदा हैं और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेंगे। लेकिन वह कब सुनते? उन्होंने कहा—"नहीं, हम दो-दो बातें कर ही लें। मैं समझता हूं, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो। मगर

मैं तुम्हें बताना चाहता हूं कि मैं ऐसा नहीं हूं। उन्होंने कहा कि मैंने मजहब पर बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं और गहराई से सोचा है। उन्होंने अपनी अल्मारियां बताईं, जो अलग-अलग धर्मों पर लिखी किताबों से और खासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-संबंधी किताबों से भरी हुई थीं और जिनमें कुछ आधुनिक किताबें—जैसे एच० जी० वेल्स की 'गॉड, दि इनविजीबुल किंग'—भी थीं। महायुद्ध के दिनों में जब वह लंबे अर्से तक नजरबंद रहे थे, उन्होंने कुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यों को पढ़ा। उन्होंने कहा कि इस सारे अध्ययन के फलस्वरूप मैंने देखा कि कुरान में जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फीसदी युक्तिसंगत है, और कुरान को छोड़ कर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है। ३ फीसदी यों प्रत्यक्षतः तो युक्तिसंगत नहीं दिखाई देता है, मगर यह ज्यादा मुमकिन है कि जो कुरान ९७ फीसदी बातों पर साफ तौर सही है वह बाकी ३ फीसदी में भी सही होगा। बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और कुरान गलत, वह इस नतीजे पर पहुंचे कि कुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होंने कुरान को १०० फीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मैं बहस करना नहीं चाहता था। किंतु इसके बाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मैं दंग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी कुरान को अपने दिमाग का दर्वाजा खोल कर और एक जिज्ञासु की भावना से पढ़ेगा तो जरूर ही वह उसकी सचाई का कायल हो जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि बापू (गांधीजी) ने उसे बड़े गौर से पढ़ा है और वह जरूर इस्लाम की सचाई के कायल हो गए होंगे। लेकिन उनके दिल में जो घमंड है, वह उन्हें इसको जाहिर करने से मना करता है।

मुहम्मदअली अपने इस साल के सभापति-काल के बाद से धीरे-धीरे कांग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, कांग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ बहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यों वह कांग्रेस में और अ० भा० कांग्रेस-कमेटी में आते रहे और उनमें जोर-शोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौड़ी होती ही गई और अनबन बढ़ती ही गई। शायद किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियों पर इसका दोष नहीं लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी बन गई थी उसमें ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता था। लेकिन यह हुआ बहुत ही बुरा। और इससे हम बहुतों के जी को बड़ा दुःख हुआ। क्योंकि जाति-

गत मामले में कैसा ही भेद रहा हो, राजनैतिक मामले में हमारा उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हें भी बहुत भाता था। और चूंकि उनकी हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस बात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत, या यों कहें कि साम्प्रदायिक, प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज हो सकती थी जा कि दोनों के लिए संतोषजनक हो। राजनैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगों से जो अपने को जातिगत स्वार्थों के रक्षक बताते हैं, उनकी कोई बात मेल नहीं खाती थी।

हिंदुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात हुई कि १६२८ की गर्मियों में वह यहां से यूरप चले गये। उस वक्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए बड़े जोर की कोशिश की गई थी और वह करीब-करीब कामयाबी की हद तक जा पहुंची थी। अगर मुहम्मदअली यहां होते तो अनुमान होता है कि मामला और ही शक्ल अख्तियार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहाँ सब टूट-टाट चुका था। और स्वाभाविक तौर पर विरोधी पक्ष में मिल गये।

दो साल बाद, १६३० में, जब सत्याग्रह-आंदोलन जोर पर था और हमारे भाई-बहन धड़ाधड़ जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कांग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज-परिषद् में जाना पसंद किया। इससे मेरे जी को बड़ा दुःख हुआ। मैं मानता हूं कि वह भी अपने दिल में दुखी हुए होंगे। और लंदन में उन्होंने जो कुछ किया उससे इसका काफी प्रमाण मिलता है। उन्होंने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिंदुस्तान में और लड़ाई के मैदान में है, न कि लंदन के कान्फ्रेंस-भवन में। और अगर यह हिंदुस्तान वापस आये होते तो मुझे यकीन है कि वह सत्याग्रह में शरीक हो गये होते। उनका स्वास्थ्य बहुत ही बिगड़ गया था और बरसों से बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लंदन में जाकर उन्होंने बड़ी चिंता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज पाने की जो कोशिश की, और खासकर ऐसे समय जबकि उन्हें आराम और इलाज की जरूरत थी, उससे उनके अखीरी दिन और नजदीक आ गये। नैनी जेल में मुझे उनके मरने की खबर से बड़ा धक्का लगा।

दिसम्बर १६२६ में लाहौर-कांग्रेस के वक्त अखीरी दफा मैं उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये गये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज थे और उन्होंने बड़े जोर से उसकी आलोचना भी की। उन्होंने देखा कि कांग्रेस सरपट दौड़ी

जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज होती जा रही है। वह खुद भी कम तेज न थे, और इसलिए खुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान में आगे बढ़ जाना उन्हें पसंद न था। उन्होंने मुझे गम्भीर चेतावनी दी—"जवाहर! मैं तुम्हें चेताये देता हूं कि तुम्हारे आज के ये संगी-साथी सब तुमको अकेला छोड़ देंगे। जब कोई मुसीबत का और आनबान का मौका आयेगा उसी वक्त ये तुम्हारा साथ छोड़ देंगे। याद रखना, खुद तुम्हारे कांग्रेसी ही तुम्हें फांसी के तख्ते पर भेज देंगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी!

कोकनाडा-कांग्रेस (१९२३) में मेरे लिए एक खास दिलचस्पी की बात थी; क्योंकि वहीं हिंदुस्तानी-सेवा-दल की नींव रक्खी गई। स्वयंसेवक-दल इससे पहले नहीं थे सो बात नहीं। वे इंतजाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमें अनुशासन और आंतरिक एकता का भाव बहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यों के लिए क्यों न एक अच्छा अनुशासनबद्ध स्वयंसेवक-दल बना लिया जाय, जो कांग्रेस के पथप्रदर्शन में राष्ट्रीय काम करे? उन्होंने इसमें सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैंने बड़ी खुशी से उसे मंजूर किया; क्योंकि यह विचार मुझे पसंद आया था। इसकी शुरुआत कोकनाडा में हुई। बाद को हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े कांग्रेसियों की तरफ से भी सेवा-दल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था। कुछ लोगों ने कहा कि कांग्रेस के लिए ऐसा करना खतरनाक होगा। यह तो कांग्रेस में फौजी तत्त्व को लाने जैसा है। और यह फौजी तत्त्व उन्हें भय था कि कहीं कांग्रेस की मुल्की सत्ता को ही धर दबाये! दूसरे कुछ लोगों का यह खयाल दिखाई दिया कि स्वयंसेवकों के दल के लिए तो सिर्फ इतना ही अनुशासन काफी है कि वे ऊपर से मिले आदेशों का पालन करते रहें। कुछ के खयाल में उन्हें कदम मिलाकर चलने की भी ऐसी जरूरत नहीं। कुछ लोगों के दिल में भीतर-भीतर यह खयाल था कि तालीम और कवायद-याफ्ता स्वयंसेवकों का रखना एक तरह से कांग्रेस के अहिंसा-सिद्धांत से मेल नहीं खाता। लेकिन हार्डीकर इस काम में भिड़ ही गये और बरसों की मेहनत के बाद उन्होंने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीम-याफ्ता स्वयंसेवक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिंसात्मक भी हो सकते हैं।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ में मुझे इलाहाबाद म एक

नये ढंग का तजरुबा हुआ। मैं अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूं और मुमकिन है कि तारीखों के सम्बंध में कुछ भूल और गड़बड़ हो। मैं समझता हूं, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखों यात्री संगम यानी त्रिवेणी नहाने आते हैं। गंगा-घाट यों कोई एक मील चौड़ा है, मगर जाड़े में धारा सिकुड़ जाती है, और दोनों तरफ बालू का बड़ा मैदान छोड़ देती है जोकि यात्रियों के ठहरने के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। अपने इस पाट गंगा अक्सर अपना बहाव बदलती रहती है। १९२४ में गंगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियों के लिए नहाना अवश्य ही खतरनाक था। कुछ पाबंदियां और अहतियात लगाकर और एक वक्त में नहानेवालों की तादाद मुकर्रर करके यह खतरा कम किया जा सकता था।

मुझे इस मामले में किसी किस्म की दिलचस्पी न थी; क्योंकि ऐसे पर्वों के अवसर पर गंगा नहाकर पुण्य कमाने की मुझे तो चाह न थी। लेकिन मैंने अखबारों में पढ़ा कि इस मामले में पं० मदनमोहन मालवीय और प्रांतीय सरकार के बीच एक चर्चा छिड़ गई है, क्योंकि प्रांतीय सरकार ने एक ऐसा फरमान निकाल दिया था कि कोई संगम पर न नहाने पाये। मालवीयजी ने इसपर एतराज किया; क्योंकि धार्मिक दृष्टि से तो संगम पर नहाने का ही महत्त्व था। इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का खतरा न रहे। लेकिन सदा की तरह उसने निहायत ही बेवकूफी और चिढ़ा देनेवाले ढंग से इस सम्बंध में कार्रवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मैं मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गंगा किनारे पहुंचने पर मैंने सुना कि मालवीयजी ने जिला-मजिस्ट्रेट को एक सौम्य चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाजत मांगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण में क्षोभ फैला हुआ था। जिला-मजिस्ट्रेट ने इजाजत नहीं दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, और कोई दो सौ लोगों को साथ लेकर वह संगम की तरफ बढ़े। इन घटनाओं से मेरी दिलचस्पी थी, और मैं उसी वक्त जोश में आकर सत्याग्रह-दल में शामिल हो गया। मैदान के उसपार लकड़ियों का एक जबर्दस्त घेरा बना दिया गया था कि लोग संगम तक पहुंचने से बचें। जब हम इस ऊंचे घेरे तक पहुंचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक सीढ़ी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे

अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू में शांति के साथ बैठ गये। सुबह भर और दोपहर के भी कुछ घंटे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घंटा बीतने लगा। धूप की तेजी बढ़ती जा रही थी। पैदल और घुड़सवार पुलिस हमारे दोनों तरफ खड़ी थी। मैं समझता हूं कि सरकारी घुड़-सेना भी वहां मौजूद थी। हम बहुतेरों का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ फैसला करना ही चाहिए। मैं मानता हूं कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होंने कदम आगे बढ़ाने का निश्चय किया। घुड़-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मैं नहीं कह सकता कि वह सही था) कि वे हमपर घोड़े फेंकेंगे, और यों हमको बुरी तरह खदेड़ेंगे। घुड़सवारों से इस तरह पीटे जाने का खयाल मुझे अच्छा न लगा और वहां बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैंने झट से अपने नजदीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यों न फांद जांय? और मैं उसपर चढ़ गया। तुरंत ही बीसों आदमी उसपर चढ़ गये और कुछ लोगों ने तो उसकी बल्लियां भी निकाल डालीं, जिससे एक खासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झंडा दे दिया, जिसे मैंने उस घेरे के सिरे पर खोंस दिया जहां कि मैं बैठा हुआ था। मैं अपने पूरे रंग में था और खूब मगन होरहा था और लोगों को उसपर चढ़ते और उसके बीच में घुसते हुए और घुड़सवारों को उन्हें हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहां मुझे यह जरूर कहना चाहिए कि घुड़सवारों ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट न पहुंचे। वे अपने लकड़ी के डंडों को हिलाते थे और लोगों को उससे धक्का देते थे। मगर किसीको चोट नहीं पहुंचाते थे। उस समय मुझे बलवे के समय के घेरे के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आखिर मैं दूसरी तरफ उतर पड़ा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ़ गई थी, सो मैंने गंगा में गोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज हुआ कि मालवीयजी और दूसरे अबतक जहां-के-तहीं बैठे हुए हैं और घुड़सवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियों और घेरे के बीच कंधे-से-कंधा भिड़ाकर खड़ी हुई थी। सो मैं (जरा टेढ़े-मेढ़े रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे। मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मनका आवेश बहुत रोक रहे थे। एकाएक बिना किसी को कुछ पता दिये उन पुलिसवालों और

घोड़ों के बीच अद्‌भुत रीति से निकलकर उन्होंने गोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही चकित कर देनेवाला था। खैर, हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को रुक गई। थोड़ी देर बाद वह वहां से हटा ली गई।

हमने सोचा था कि सरकार हमारे खिलाफ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के खिलाफ कुछ करना नहीं चाहती थी, और इसलिए बड़े के पीछे हम छुटभैये भी अपने-आप बच गये।

१८

पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू में यकायक खबर आई कि गांधीजी जेल में बहुत ज्यादा बीमार हो गये हैं जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुंचा दिये गये हैं और वहां उनका ऑपरेशन हुआ है। इस खबर को सुनकर चिंता के मारे हिंदुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम साधकर खबरों का इंतजार करते थे। अखीर में संकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सों से लोगों की टोलियां उन्हें देखने के लिए पूना पहुंचने लगीं। इस वक्त तक वह अस्पताल में ही थे। कैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन कुछ दोस्तों को उनसे मिलने की इजाजत थी। मैं और पिताजी उनसे अस्पताल में ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नहीं ले जाये गये। जब उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाकी सजा रद करके उन्हें छोड़ दिया। उस वक्त जो छः साल की सजा उन्हें मिली थी उसमें से करीब-करीब दो साल की वह काट चुके थे। अपनी तंदुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नजदीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुंचा और वहीं समुद्र के किनारे एक छोटे-से बंगले में रहने लगा। हम लोगों ने कुछ हफ्ते वहीं गुजारे और अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक छुट्टी मिली, क्योंकि मैं वहां मजे से तैर सकता था, दौड़ सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुड़दौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहां रहने का असली मतलब छुट्टियां मनाना नहीं था, बल्कि गांधीजी के साथ देश की समस्याओं पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गांधीजी को यह बता दें कि स्वराजी क्या चाहते हैं और इस तरह वह गांधीजी की सक्रिय सहानुभूति नहीं,तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग जरूर हासिल करलें। मैं भी इस बात से चिंतित था कि जो मसले मुझे परेशान कर रहे हैं उनपर कुछ रोशनी पड़ जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा?

जहांतक स्वराजियों से ताल्लुक है वहांतक उनको जुहू की बातचीत से गांधीजी को अपनी तरफ कर लेने में या या किसी हदतक भी उनपर असर डालने में कोई कामयाबी नहीं मिली। यद्यपि बातचीत बड़े दोस्ताना ढंग से और बहुत ही शराफ़त के साथ होती थी, लेकिन यह वात तो रही ही कि आपस में कोई समझौता नहीं हो सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नहीं मिलती और इसी मतलब के बयान अखबारों में छपा दिये गए।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक निराश होकर लौटा; क्योंकि गांधीजी से मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं हुआ। अपने मामूली तरीके के मुताबिक उन्होंने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए, कांग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधारक कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के वक्त रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक्त आनेपर कहीं चौरीचौरा-जैसा काण्ड तो नहीं हो जायगा, जो सारा तख्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को रोक दे। इस वक्त गांधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नहीं दिया। न हमारे ध्येय के बारे में ही उनके विचार स्पष्ट थे। हममें से बहुत-से अपने मन में यह बात साफ-साफ जान लेना चाहते थे कि आखिर हम जा कहां रहे हैं। फिर चाहे कांग्रेस इस मामले पर कोई बाजाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि या हम लोग आजादी के लिए और कुछ हद तक समाज-रचना में हेर-फेर के लिए अड़ेंगे, या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राजीनामा कर लेंगे। कुछही महीने पहले संयुक्तप्रांत की प्रांतीय-कान्फ्रेंस में मैंने प्रधान की हैसियत से अपने भाषण में आजादी पर जोर दिया था। वह कान्फ्रेंस १९२६ के बसंत में मेरे नाभा से लौटने के कुछदिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मुझे भेंट की थी, इसलिए मैं कान्फ्रेंस में शामिल नहीं हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैंने चारपाई पर बुखार में पड़े-पड़े लिखा था, वहां पहुंच गया था।

जबकि हम कुछ लोग कांग्रेस में आजादी के मसले को साफकरा लेना चाहते थे, तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमीं लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताकत और उसकी

शान-शौकत पर नाज करते थे, फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देश-भाइयों के साथ पावदान का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना गुलाम बनाकर रक्खें या उनको अपने देश में घुसने ही न दें। श्री शास्त्री राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लंदन में होनेवाली इम्पीरियल कान्फ्रेंस में बड़े गर्व के साथ कहा था कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूं कि वह मेरा ही देश है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बड़ा समुद्र हमें इन लिबरल लीडरों से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया में रहते थे, अलग-अलग भाषाओं में बात करते थे और हमारे सपनों में, अगर लिबरल कभी सपने देखते हों तो, कोई चीज ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह जरूरी न था कि हम अपने मकसद की बाबत साफ और सही फैसला कर लें ?

लेकिन उस वक्त ऐसे खयालात थोड़े ही लोगों को आते थे। ज्यादातर आदमी बहुत साफ और ठीक-ठीक सोचना पसंद नहीं करते थे—खासतौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल में जोकि स्वाभावतः ही कुछ हद तक अस्पष्ट और धार्मिक रंग की होती है। १९२४ के शुरू के महीनों में जनता का खयाल ज्यादातर उन स्वराजियों की तरफ था जो प्रांत की कौंसिलों और असेम्बली में गये थे। भीतर से विरोध करने और कौंसिलों को तोड़ने की लंबी-चौड़ी बातें मारने के बाद यह दल क्या करेगा ? हां, कुछ मजेदार बातें तो हुईं। असेम्बली ने उस साल बजट ठुकरा दिया, हिंदुस्तान की आजादी की शर्तें तय करने के लिए गोलमेज में बहस की मांग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबंधु के नेतृत्व में बंगाल कौंसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी खर्चों की मांगों को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौंसिलों में, दोनों में ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही कर दी, जिससे वे कानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौंसिलों में कुछ खलबली मची, स्वराजियों में थोड़ी देर के लिए अपनी विजय पर खुशी छा गई, अखबारों में अच्छे-अच्छे शीर्षक आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नहीं हुआ। इससे ज्यादा वे कर ही क्या सकते थे ? ज्यादा-से-ज्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश खत्म हो गया या और लोग बजटों और कानूनों को वाइसराय या गवर्नरों द्वारा सही होते देखने के आदी हो गये थे। इसके बाद का कदम अवश्य ही कौंसिल में जो स्वराजी मेम्बर थे

उनकी पहुंच के बाहर था। वह तो कौंसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के बीच में किसी महीने में अहमदाबाद में अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी की बैठक हुई। इस बैठक में, आशा से बाहर, स्वराजियों और गांधीजी में बहुत गहरी तनातनी हो गई और अचानक कुछ विलक्षण स्थिति पैदा हो गई। शुरुआत गांधीजी की तरफ से हुई। उन्होंने कांग्रेस के विधान में एक खास परिवर्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक को और मेम्बरी से ताल्लुक रखनेवाले नियम को बदल देना चाहते थे। इस वक्त तक जो कोई कांग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमें यह लिखा हुआ था कि 'कांग्रेस का उद्देश्य शांतिमय उपायों से स्वराज लेना है', मंजूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अब गांधीजी चाहते थे कि सिर्फ वही लोग मेम्बर हो सकें जो चार आने के बजाय निश्चित परिमाण में अपने हाथ का कता हुआ सूत दें। इससे वोट देने का हक बहुत कम हो जाता था और इसमें कोई शक नहीं कि अ० भा० कांग्रेस कमेटी को कोई अधिकार न था कि वह इस हक को इस हद तक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गांधीजी की मर्जी के खिलाफ पड़ते हैं तब वह उनकी शायद ही कभी परवा करते हैं। मैं इसे विधान के साथ इतनी जबरदस्त ज्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मंत्री-पद से मेरा इस्तीफा ले लीजिए। लेकिन इसी बीच में कुछ नई बातें और हो गईं जिनकी वजह से मैंने इसपर जोर नहीं दिया। अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में देशबंधु दास और पिताजी ने जोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अखीर में वे उसके खिलाफ अपनी पूरी नाराजगी जाहिर करने की गरज से वोट लिये जाने से कुछ पहले अपने अनुयायियों की काफी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमेटी में कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज के खिलाफ थे। प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया, लेकिन बाद में वह वापस ले लिया गया, क्योंकि मेरे पिताजी और देशबंधु के अटल विरोध से और स्वराजियों के उठकर चले जाने से गांधीजी पर बड़ा भारी असर पड़ा, उनकी भावना को गहरी ठेस लगी और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलित हो गये कि अपने को सम्हाल न सके। यह जाहिर था कि उनको बहुत गहरी तकलीफ हुई थी। उन्होंने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में कमेटी के सामने अपने विचार प्रकट किये, जिन्हें सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह

एक असाधारण और दिल हिला देनेवाला दृश्य था।[1]

मैं यह कभी नहीं समझ सका कि गांधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक देनेवाली उस अनोखी बात के बारे में इतना आग्रह क्यों करते थे ? क्योंकि वह यह तो जरूर ही जानते होंगे कि उसका भारा विरोध किया जायगा। शायद वह यह चाहते थे कि कांग्रेस में सिर्फ ऐसे शख्स रहें जो उनके खादी वगैरा के रचनात्मक-कार्यक्रम में श्रद्धा रखते हों और दूसरों के लिए वह या तो यह चाहते

[1] इस वर्णन में कई स्मृति-दोष हैं। एक तो पं० जवाहरलालजी ने खुद ही सुधार लिया है, जो इस टिप्पणी में इस प्रकार है——

"यह सब हाल जेल में याददाश्त के भरोसे लिखना पड़ा था। अब मुझे मालूम हुआ है कि मेरी याददाश्त गलत निकली और अ० भा० कांग्रेस-कमेटी में जिन बातों पर बहस हुई उनमें से एक खास बात को मैं भूल गया और इस तरह वहां जो कुछ हुआ उसकी बाबत मैंने गलत खयाल पैदा कर दिया। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए थे वह तो एक नौजवान बंगाली (आतंकवादी) गोपीनाथ साहा से संबंध रखनेवाला प्रस्ताव था, जो मीटिंग में पेश हुआ और अखीर में गिर गया। जहां तक मुझे याद है, उस प्रस्ताव में उसके हिंसात्मक काम (श्री डे के खून) की तो निंदा की गई थी लेकिन उसके उद्देश्य के साथ सहानुभूति प्रकट की गई थी। प्रस्ताव से भी अधिक दुःख गांधीजी को उन व्याख्यानों से हुआ जो उस प्रस्ताव के सिलसिले में दिये गये। उनसे गांधीजी को यह खयाल हो गया कि कांग्रेस में भी बहुत-से लोग अहिंसा के विषय में गम्भीर नहीं हैं और इसी खयाल से वह दुखी हुए। इसके बाद फौरन ही 'यंग इंडिया' में इस मीटिंग की बाबत लिखते हुए उन्होंने कहा——"चारों प्रस्तावों पर मेरे साथ बहुमत जरूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस बहुमत को भी अल्पमत मानना चाहिए। असल में दोनों दल करीब-करीब बराबर थे। गोपीनाथ साहावाले प्रस्ताव से मामला गंभीर हो गया। उसपर जो व्याख्यान हुए, उनका जो नतीजा हुआ और उसके बाद मैंने जो बातें देखीं, उन सबसे मेरी आंखें खुल गई।...गोपीनाथ साहा-वाले प्रस्ताव के बाद गंभीरता विदा हो गई। ऐसे मौके पर मुझे अपना अखीरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यों-ज्यों कारवाई होती गई त्यों-त्यों मैं और भी गम्भीर होता गया। मेरे जी में ऐसा आया कि इस दुःखमय दृश्य से भाग जाऊं।

थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान लें, नहीं तो कांग्रेस से निकाल दिये जांय। लेकिन, हालांकि बहुमत उनके साथ था फिर भी उन्होंने अपना इरादा ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता कर लिया। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनों में इस मामले में उन्होंने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पड़ता था कि खुद उनकी समझ में कुछ नहीं आता था कि वह कहां हैं और किधर जाना चाहते हैं? उनके बारे में मैं ऐसा खयाल कभी न करता था कि उनकी भी ऐसी हालत हो सकती है। इसलिए मुझे अचंभा हुआ। मेरी राय में वह मामला खुद कोई ऐसा बहुत जरूरी नहीं था। वोट देने का अख्तियार हासिल करने के लिए कुछ श्रम कराने का खयाल बहुत अच्छा था, लेकिन जबरदस्ती लादने से उसका मतलब खब्त हो जाता था।

मुझे अपने सुपुर्द प्रस्ताव पेश करते हुए डर लगता था।.. मैं नहीं जानता था कि मैंने यह बात साफ कर दी थी या नहीं कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल में मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रंज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिंसा की नीति के प्रति लोगों की उपेक्षा और उनकी वह अनजाने गैरजिम्मेदारी थी। .. ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करन को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी जिसे देखकर मैं दंग रह गया।" गांधीजी के भाष्य के साथ यह घटना अत्यंत उल्लेखनीय है। इससे पता चलता है कि गांधीजी अहिंसा को कितना अधिक महत्त्व देते हैं और इस बात का भी पता चलता है कि अहिंसा को अनजान में व अप्रत्यक्ष रूप से चुनौती देने की कोशिश का उनपर कैसा असर होता है। उसके बाद उन्होंने जो बहुत-सी बातें कीं वे भी गालिबन तह में इसी तरह के विचारों की वजह से कीं। उनके तमाम कामों और उनकी तमाम कार्यनीति की जड़ असल में अहिंसा ही थी और अहिंसा ही है।"

पंडितजी के इतना सुधार कर देने पर भी, अभी इस प्रसंग के वर्णन में भूलें रह गई हैं जिन्हें यहां सुधार देना ठीक होगा--

(१) स्वराजी गांधीजी के मताधिकार में सूचित परिवर्तन से बिगड़कर सभा छोड़कर नहीं चले गये थे, और न गांधीजी ने मताधिकार-संबंधी यह प्रस्ताव ही वापस लिया था। इस प्रस्ताव में एक भाग सजा संबंधी--कोई मेम्बर इतना सूत न काते तो वह सदस्य न रह सकेगा--था। यह भाग

मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि गांधीजी को इन मुश्किलों का सामना इसलिए करना पड़ा कि वह अपरिचित वातावरण में रह रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लड़ाई के खास मैदान में उनका मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। उस मैदान में उनकी सहज बुद्धि उन्हें अचूक सही कदम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता में सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप खुद काम करने और दूसरों से काम कराने में भी वह बहुत होशियार थे। या तो दिल खोलकर लड़ाई, या सच्ची शांति को वे समझ सकते थे। इन दोनों के बीच की हालत उनके काम की नहीं थी।

कौंसिलों के भीतर विरोध करने और लड़ाई लड़ने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई साहब कौंसिलों में जाना चाहते हैं तो वे वहां सरकार की मुखालफत करने न जांय, बल्कि बेहतर

उन सबको बहुत अखरता था। इसके प्रति विरोध दरसाने के लिए वे उठकर चले गये थे। उनके चले जाने के बाद इस भाग पर राय ली गई—पक्ष में ६७ और विपक्ष में ३७ मत आये। इसपर गांधीजी ने दूसरा प्रस्ताव पेश किया—इस आशय का कि यदि स्वराजी न चले गये होते तो उनकी रायें खिलाफ ही पड़तीं, और प्रस्ताव का यह भाग उड़ ही जाता, इसलिए यह भाग प्रस्ताव म से निकाल दिया जाय। इस तरह परिवर्तन-संबंधी मूल प्रस्ताव तो कायम रहा, गांधीजी ने उसे वापस नहीं लिया, सिर्फ सजावाला अंश वापस लिया गया था।

(२) गोपीनाथ साहा-विषयक मूल प्रस्ताव गांधीजी ने पेश किया था, जिसमें गोपीनाथ द्वारा किये गये खून की निंदा की गई थी। इसपर देशबंधु ने एक संशोधन सूचित किया था। उसमें भी निंदा तो थी ही, परंतु साथ ही स्तुति भी थी कि फांसी पर चढ़कर गोपीनाथ न अपनी देशभक्ति का परिचय दिया। इससे वह निंदा मिट जाती थी। गांधीजी ने इस संशोधन का विरोध किया। कहा—यह संशोधन अहिंसा-सिद्धांत को मटियामेट कर देता है। गांधीजी के मूल प्रस्ताव पर ७८ और देशबंधु के सुधार पर ७० मत मिले थे। १४८ मतदाताओं में ७० सदस्य अहिंसा के नाममात्र के हामी थे, इस खयाल से गांधीजी को जबरदस्त आघात पहुंचा था। —अनु०

कानून बनवाने वगैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जांय। अगर वे ऐसा नहीं करना चाहते तो बाहर ही रहें। स्वराजियों ने इनमें से एक भी सूरत अख्तियार नहीं की, और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करनेमें उन्हें मुश्किल पड़ती थी।

लेकिन अखीर में गांधीजी ने स्वराजियों से अपनी पटरी बैठा ली। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ वोट का हक हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होंने कौंसिल में स्वराजियों के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह खुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह राजनीति से अलग हो गये हैं, और ब्रिटिश-सरकार और उसके अफसर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनमें कुछ दम नहीं रहा। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गांधीजी को रंगभूमि से पीछे हटा दिया है, और खुद नायक बन बैठे हैं। पिछले पंद्रह बरसों में इस तरह की बातें समय के अनुसार उचित हेर-फेर के साथ बार-बार दुहराई गई हैं और उन्होंने हर मर्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिंदुस्तानी लोगों के विचारों के बारे में कितनी कम जानकारी रखते हैं। जब से गांधीजी हिंदुस्तान के राजनैतिक मैदान में आये तब से उनकी लोकप्रियता में कभी कमी नहीं आई—कम-से-कम जहांतक साधारण लोगों का संबंध है। उनकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती चली गई है, और यह सिलसिला अभी तक ज्यों-का-त्यों जारी है। लोग गांधीजी की इच्छाएं पूरी भले ही न कर सकें, क्योंकि आदमी में कमजोरियां होती हैं, लेकिन उनके दिलों में गांधीजी के लिए आदर बराबर बना हुआ है। जब देश की अवस्था अनुकूल होती है तब वे जन-आंदोलनों के रूप में उठ खड़े होते हैं, नहीं तो चुपचाप मुंह छिपाये पड़े रहते हैं। कोई नेता शून्य में जादू की लकड़ी फेरकर जन-आंदोलन नहीं खड़ा कर सकता। हां, एक विशेष अवस्था पैदा होने पर उससे लाभ उठा सकता है, उन अवस्थाओं से लाभ उठाने की तैयारी कर सकता है, लेकिन स्वयं उन अवस्थाओं को पैदा नहीं कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगों में गांधीजी की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। जब आगे बढ़ने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते हैं, और जब उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गांधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते हैं। लेकिन इस हालत में भी उनकी बहुत बड़ी तादाद गांधीजी

के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिए है कि गांधीजी के प्रोग्राम के सिवा दूसरा और कोई कारगर प्रोग्राम ही नहीं है। लिबरलों या उन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वगैरा को कोई पूछता नहीं, और जो लोग आतंककारी हिंसा में विश्वास रखते हैं उनका आजकल की दुनिया में कोई स्थान नहीं रहा। उन्हें लोग बेकार तथा पुराने और पिछड़े हुए समझते हैं। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते हैं, और कांग्रेस में ऊंची श्रेणियों के जो लोग हैं वे उससे भड़कते हैं।

१९२४ के बीच में थोड़े वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी, उसके बाद मेरे पिताजी और गांधीजी में पुरानी दोस्ती फिर कायम हो गई और वह और भी ज्यादा बढ़ गई। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे कितनी ही खिलाफ होती, लेकिन दोनों के दिलों में एक-दूसरे के लिए सद्भाव और आदर था। दोनों में आखिर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनों इज्जत करते थे? 'विचार-प्रवाह' (Thought Currents) नाम की एक पुस्तिका में गांधीजी के लेखों का संग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका में हमें उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होंने लिखा है—

"मैंने महात्माओं और महान् पुरुषों की बाबत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनंद मुझे कभी नहीं मिला। और मैं यह स्वीकार करता हूं कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे में भी कुछ शक है। मैं तो मर्दों में और मर्दानगी में विश्वास करता हूं। इस पुस्तिका में जो विचार इकट्ठा किये गये हैं, वे एक ऐसे ही मर्द के दिमाग से निकले हैं और उनमें मर्दानगी है। वे मानव-प्रकृति के दो बड़े गुणों के नमूने हैं—यानी श्रद्धा और पुरुषार्थ के ......

"जिस आदमी में न श्रद्धा है न पुरुषार्थ, वह पूछता है, इस सबका नतीजा क्या होगा?' यह जवाब कि जीत होगी या मौत, उसे अपील नहीं करता। इस बीच में वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के साथ सीधा खड़ा हुआ अपने देश के लोगों को मातृभूमि के लिए अपनी कुर्बानी करने और कष्ट सहने का अपना संदेश देता चला जा रहा है। लाखों लोगों के हृदयों में इस संदेश की प्रतिध्वनि उठती है। ......"

उन्होंने स्विनबर्न की पंक्तियां देकर अपनी भूमिका खत्म की है—

नहीं हमारे पास रहे क्या पुरुषसिंह वे नामी,
जो कि परिस्थितियों के होवें शासक एवं स्वामी ![1]

जाहिर है कि वह इस बात पर जोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी की तारीफ इसलिए नहीं करते कि वह कोई साधु या महात्मा हैं, बल्कि इसलिए कि वह मर्द हैं। वह खुद मजबूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गांधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ करते थे। क्योंकि यह साफ मालूम होता था कि इस दुबले-पतले शरीरवाले छोटे-से आदमी में इस्पात की-सी मजबूती है, कुछ चट्टान जैसी दृढ़ता है जो शारीरिक ताकतों के सामने नहीं झुकती, फिर चाहे ये ताकतें कितनी ही बढ़ी क्यों न हो। यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नंगा शरीर, उनकी छोटी धोती ऐसी न थी कि किसी पर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमें कुछ पुरुषसिंहता और ऐसी बादशाहियत जरूर है जो दूसरों को खुशी-खुशी उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि उन्होंने जान-बूझकर नम्रता और निरभिमानता ग्रहण की थी, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह बादशाह की तरह हुक्म देते थे जिसे पूरा करना ही पड़ता। उनकी शांत लेकिन गहरी आंखें आदमी को जकड़ लेतीं और उसके दिल के भीतर तक की बातें खोज लेतीं। उनकी साफ-सुथरी आवाज मीठी गूंज के साथ दिल के अंदर घुसकर हमारे भावों को जगाकर अपनी तरफ खींच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हजार हों, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हें अपनी तरफ खींचे बिना नहीं रहता और हरेक सुननेवाला मंत्र-मुग्ध हो जाता था। इस भाव का दिमाग से बहुत कम ताल्लुक होता था। गांधीजी दिमाग को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हों सो बात नहीं। फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग या तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मंत्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न मधुर वाक्यावलि के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल और अर्थवती होती थी, अनावश्यक शब्दों का व्यवहार शायद ही कभी होता हो। एकमात्र उनकी पारदर्शक सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरों को जकड़ लेता है। उनसे मिलने पर यह खयाल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड

---

[1] अंग्रेजी कविता का भावानुवाद। —अनु०

आत्मशक्ति का भंडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारों तरफ ऐसी परम्परा बन गई है जो उचित वातावरण पैदा करने में मदद देती है। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन परम्पराओं का पता न हो और गांधीजी के आसपास की हालतों से जिसका मेल न खाता हो, उनके जादू के असर में न आवे या इस हद तक न आवे; लेकिन फिर भी गांधीजी के बारे में सब से ज्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वे अपने विरोधियों को या तो सोलहों आने जीत लेते हैं या कम-से-कम उनको निःशस्त्र जरूर कर देते हैं।

यद्यपि गांधीजी प्राकृतिक सौंदर्य की बहुत तारीफ करते हैं, लेकिन मनुष्य की बनाई चीजों में वह कला या खूबसूरती नहीं देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबरदस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्ति के सिवा और कुछ नहीं। उनमें सूंघने की शक्ति की भी बहुत कमी है। फिर भी उन्होंने अपने तरीके से जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी जिंदगी को कलामय बना लिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और खूबी लिये हुए होता है, और खूबी यह है कि बनावट का नामोनिशान नहीं। उनमें न कहीं नुकीलापन है, न कटीलापन। उनमें उस अशिष्टता या हलकेपन का निशान तक नहीं जिसमें, दुर्भाग्य से, हमारे मध्यम वर्ग के लोग डूबे रहते हैं। भीतरी शांति पाकर वह दूसरों को भी शांति देते हैं और जिन्दगी के कंटीले रास्ते पर मजबूत और निडर कदम रखते हुए चले जाते हैं।

मगर मेरे पिताजी गांधीजी से कितने भिन्न थे। उनमें भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पंक्तियां उनके लिए भी लागू होती हैं। जिस किसी समाज में वह जा बैठते उसके केन्द्र वहीं बन जाते। जैसा कि अंग्रेज जज ने पीछे कहा था, वह जहां-कहीं भी जाकर बैठते वहीं मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गांधीजी के उलटे वह उन लोगों की खबर लिये बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके खिलाफ होती थी। उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिजाज शाही है। उनके प्रति या तो आकर्षण होता था या तिरस्कार। उनसे कोई शख्स उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। हरेक को या तो उन्हें पसंद करना पड़ता या नापसंद। चौड़ा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोड़ी। इटली के अजायबघरों में रोमन सम्राटों की जो अर्द्ध-मूर्त्तियां हैं उनसे उनकी शक्ल बहुत काफी मिलती थी। इटली में बहुत-से मित्रों ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होंने भी इस साम्य का

जिक्र किया था। खास तौर पर उनकी जिंदगी के पिछले सालों में जबकि उनका सिर सफेद बालों से भर गया था, उनमें एक खास किस्म की शालीनता और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया में आजकल बहुत कम दिखाई देती है। मेरे सिर पर तो बाल नहीं रहे पर उनके सिर के बाल अखीर तक बने रहे। मैं समझता हूं कि शायद मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूं, लेकिन इस संकीर्णता और कमजोरी से भरी हुई दुनिया में उनकी शरीफाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारों तरफ उनकी-सी अजीब ताकत और उनकी-सी शान-शौकत को खोजता हूं, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ में मैंने गांधीजी को पिताजी का एक फोटो दिया था। इन दिनों गांधीजी की और स्वराजियों की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो में पिताजी के मूंछ न थीं और उस वक्त तक गांधीजी ने उन्हें हमेशा सुंदर मूंछों-सहित देखा था। इस फोटो को देखकर गांधीजी चौंक गये और बहुत देर तक उसे निहारते रहे, क्योंकि मूंछ न रहने से मुंह व ठोड़ी की कठोरता और भी प्रकट हो गई थी, और कुछ सूखी-सी हंसी हंसते हुए उन्होंने कहा कि अब मैंने यह जान लिया कि मुझे किसका मुकाबला करना है। उनकी आंखों ने और निरंतर हंसी ने चेहरे पर जो रेखाएं बना दी थीं उन्होंने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था, फिर भी कभी-कभी आंखें चमक उठती थीं।

असेम्बली का काम पिताजी के स्वभाव के उसी तरह अनुकूल था जिस तरह बतख का पानी में तैरना। वह काम उनकी कानूनी और विधान-संबंधी तालीम के लिए मौजूं था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओं के खेल के नियम तो वह नहीं जानते थे, लेकिन इस खेल के नियम-उपनियमों से पूरी तरह वाकिफ थे। उन्होंने अपनी पार्टी में कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलों और व्यक्तियों को भी इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करें। लेकिन जल्दी ही उन्हें अपने ही लोगों से मुसीबत का सामना करना पड़ा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनों में कांग्रेस में ही अपरिवर्तनवादियों से लड़ना पड़ता था, और इसलिए कांग्रेस के भीतर पार्टी की ताकत बढ़ाने के लिए बहुत से ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गये थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की जरूरत थी। रुपये पैसेवालों से ही आ सकते थे, इसलिए इन पैसे वालों को खुश रखना पड़ता था। उनमें से कुछ को स्वराजी उम्मीदवार होने के लिए

भी कहा गया था । एक अमेरिकन साम्यवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाजुक कला है जिसके जरिये गरीबों से वोट और अमीरों से चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते हैं कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेंगे !

इन सब बातों से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गई थी । कौंसिल और असेम्बली के काम में इस बात की रोज ही जरूरत पड़ती थी कि दूसरों से, और ज्यादा माडरेट दलों के साथ समझौते किये जांय, और इसके फलस्वरूप कोई भी जिहादी भावना या सिद्धांत कायम नहीं रह सकते थे । धीरे-धीरे पार्टी का अनुशासन और रवैया बिगड़ने लगा और उसके कमजोर तथा अवसरवादी मेम्बर मुश्किलें पैदा करने लगे । स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौंसिलों में गई थी कि "हम भीतर जाकर मुखालिफत करेंगे।" लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी-मेम्बरों में फूट व विरोध पैदा करके इस खेल में अपना हाथ डालने की ठान ली । पार्टी के कमजोर भाइयों के रास्ते में तरह-तरह के तरीकों से खास रिआयतों और ऊंचे ओहदों के लालच दिये जाने लगे । उन्हें सिर्फ इन चीजों में से जिसे वे चाहें चुन लेना था । उनकी लियाकत, उनकी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणों की तारीफ होने लगी । उनके चारों तरफ एक आनन्दमय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतों व बाजार की धूल और शोरगुल से बिलकुल जुदा था ।

स्वराजियों का स्वर धीमा पड़ गया । कोई किसी सूबे में से तो कोई असेम्बली में से विरोधी पक्ष की तरफ खिसकने लगे । पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे । उन्होंने कहा, मैं सड़े हुए अंग को काट फेंकूंगा । लेकिन जब सड़ा हुआ अंग खुद ही शरीर छोड़कर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बड़ा असर नहीं हो सकता था । कुछ स्वराजी मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबों में कार्यकारिणी के मेम्बर । उनमें से कुछ ने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम 'प्रति-सहयोगी' रख लिया । इस नाम को शुरू में लोकमान्य तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी में इस्तेमाल किया था । इन दिनों तो इसके मानी यही थे कि मौका मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हड़प लो और उससे जितना फायदा उठा सकते हो उठाओ । इन लोगों के धोखा दे जाने पर भी स्वराज पार्टी का काम चलता रहा । लेकिन घटना-चक्र ने जो शक्ल अख्तियार की उससे पिताजी व

देशबन्धुदास को कुछ हद तक नफरत हो गई। कौंसिलों और असेम्बली के अन्दर उन्हें अपना काम व्यर्थ-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानो उनकी इस ऊब को बढ़ाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम तनातनी बढ़ने लगी, जिसकी वजह से कभी-कभी दंगे भी हो जाते थे।

कुछ कांग्रेसी, जो हमारे साथ १९२१ और २२ में जेल गये थे, अब सूबे की सरकारों में मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊंचे ओहदों पर पहुंच गये थे। १९२१ में हमें इस बात का फख्र था कि हमें एक ऐसी सरकार ने गैरकानूनी करार दिया है और वही हमें जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल (पुराने कांग्रेसी) भी थे। भविष्य में हमें यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबों में हमारे अपने पुराने साथी ही हमें गैर-कानूनी करार देकर जेल में भेजेंगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलों से कहीं ज्यादा कुशल थे। वे हमें जानते थे, हमारी कमजोरियों को जानते थे, और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फायदा उठाया जाय? वे हमारे तरीकों से भली-भांति वाकिफ थे तथा जन-समूहों और उनके मनोभावों का भी उन्हें कुछ अनुभव जरूर था। दूसरी तरफ जाने से पहले उन्होंने नात्सियों की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोड़ा था। और कांग्रेस के अपने पुराने साथियों का दमन करने में वे इन तरीकों से अनभिज्ञ पुराने हाकिमों या लिबरल मिनिस्टरों से कहीं ज्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ में कांग्रेस का जलसा बेलगांव में हुआ और गांधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना तो एक भोंडी-सी बात थी, क्योंकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढ़कर थे। उनका प्रधान की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नहीं आया। उसमें जरा भी स्फूर्ति नहीं मिली। जलसा खत्म होते ही, गांधीजी के कहने पर, मैं फिर अगले साल के लिए अ० भा० कांग्रेस-कमेटी का कार्यकारी मन्त्री चुन लिया गया। अपनी इच्छाओं के विरुद्ध धीरे-धीरे मैं कांग्रेस का लगभग स्थायी मन्त्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियों में पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज्यादा तकलीफ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय में डलहौजी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मैं भी उन्हीं के पास जा पहुंचा। हम लोगों ने हिमालय के

भीतर डलहौजी से चम्बा तक का सफर किया। जब हम लोग चम्बा पहुंचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाड़ी रास्तों पर सफर करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबन्धु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुके बैठे रहे, उनके मुंह से एक शब्द तक नहीं निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयता-पूर्ण था। मैंने उन्हें इतना दुखी होते हुए कभी नहीं देखा था। वह व्यक्ति जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था यकायक उन्हें छोड़कर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धों पर छोड़ गया। वह बोझा वैसे ही बढ़ रहा था, वह तथा देशबन्धु दोनों ही उससे तथा लोगों की कमजोरियों से ऊब रहे थे। फरीदपुर-कान्फ्रेंस में देशबन्धु ने जो अखीरी भाषण दिया वह कुछ थके हुए-से व्यक्ति का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाड़ों पर चलते-चलाते डलहौजी पहुंचे, वहां से कार-द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहां से कलकत्ता।

१६

साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १६२३ के जाड़े में मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुखार से यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजरुबा था। मुझे शारीरिक कमजोरी से या बुखारे से चारपाई पर पड़ा रहने या बीमार पड़ने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ नाज था और हिन्दुस्तान में आमतौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पड़ा हुआ था उसके मैं खिलाफ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन संकट के टल जाने पर मुझे कमजोरी की हालत में चारपाई पर पड़े रहना पड़ा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पड़ी। इन दिनों मैं अपने आसपास की चीजों और अपने रोजमर्रा के कामों से अजीब तरह का विराग-सा अनुभव करता था और उन्हें तटस्थता से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में मैं पेड़ों की आड़ में से बाहर निकल आया हूं और अब तमाम जंगल को अच्छी तरह देख सकता हूं। मेरा दिमाग़ जितना साफ और ताकतवर इन दिनों था उतना पहले कभी न था। मैं समझता हूं कि यह तजरुबा या इस तरह का कोई दूसरा तजरुबा उन सब लोगों को हुआ होगा जिन्हें सख्त बीमारी में से होकर गुजरना पड़ा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तेमाल उसके संकीर्ण धर्म के मानी में नहीं करता। इस तजरुबे का मुझपर बहुत काफी असर पड़ा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूं, और जिन ध्येयों तथा शक्तियों ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हें ज्यादा तटस्थता के साथ देख सकता हूं। इस स्पष्टता के फल-स्वरूप मेरे दिल में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई ठीक जवाब नहीं मिलता था। लेकिन मैं जीवन और राजनीति को धार्मिक दृष्टि से देखने के दिन-पर-दिन अधिक विरुद्ध होता गया। मैं अपने उस तजरुबे की बाबत ज्यादा नहीं लिख सकता। वह एक ऐसा खयाल था जिसे मैं

श्रीमती कमला नेहरू

आसानी से जाहिर नहीं कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत हलकी छाप रह गई है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीके पर उसका टिकाऊ असर पड़ा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक तटस्थता से किया।

हाँ, बेशक कुछ हदतक तो यह बात उन घटनाओं की वजह से हुई जो बिलकुल मेरी ताक़त के बाहर थी और जिनमें मैं फिट नहीं होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्तनों का जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात थी हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों का दिन-पर-दिन खराब होना, जो खासतौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान में अपना असर दिखा रहा था। बड़े-बड़े शहरों में कई दंगे हुए, जिनमें हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी। शक और गुस्से की आबोहवा ने नये-नये झगड़े पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममें से ज्यादातर लोगों ने पहले कभी नहीं सुने थे। इससे पहले झगड़ा पैदा करनेवाली वजह थी गो-वध और वह भी खासकर बकरीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानों के त्यौहारों के एक साथ आ जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन्, जब मुहर्रम उन्हीं दिनों आ पड़ता जब रामलीला होती थी तो झगड़े का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछली दुःखद घटनाओं की याद दिलाता था जिससे दुःख और आँसू पैदा होते थे। रामलीला खुशी का त्यौहार था जिसमें पाप के ऊपर पुण्य की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनों एक-दूसरे से चस्पाँ नहीं हो सकते थे, लेकिन सौभाग्य से ये त्यौहार तीन साल में सिर्फ एक दफा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो हिन्दू तिथि के अनुसार नियत आश्विन सुदी दशमी को मनाई जाती है जब कि मुहर्रम मुस्लिम तारीख के मुताबिक कभी इस महीने में और कभी उस महीने में मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगड़े का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खड़ा हो सकता था। यह था मसजिदों के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज के वक्त बाजा बजाने या जरा भी आवाज आने पर मुसलमान एतराज करने लगे—कहते, इससे नमाज में खलल पड़ता है। हर शहर में बहुत-सी मसजिदें हैं और उनमें हर रोज पाँच मर्तबा नमाज पढ़ी जाती है और शहरों में जलूसों की, जिनमें शादी वगैरा के जलूस भी शामिल हैं, तथा दूसरे

शोरोगुल की कमी नहीं। इसलिए झगड़ा होने का अन्देशा हर वक्त मौजूद रहता था। खासतौर पर जब मसजिद में शाम को होनेवाली नमाज के वक्त जलूस निकलते और बाजों का शोरोगुल होता तब एतराज किया जाता था। इत्तिफाक से यही वक्त है जबकि हिन्दुओं के मन्दिर में शाम की पूजा यानी आरती होती है और शंख बजाये जाते हैं तथा मन्दिरों के घंटे बजते हैं। इसी आरती-नमाज के झगड़े ने बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया।

यह बात अचम्भे की-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के भावों का आपस में थोड़ा-सा खयाल करके और उसके मुताबिक थोड़ा-सा इधर-उधर कर देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतनी कटुता पैदा हो और दंगे हों; लेकिन मजहबी जोश, तर्क, विचार या आपसी खयाल से कोई ताल्लुक नहीं रखता, और जब दोनों को काबू करनेवाली एक तीसरी पार्टी एक को दूसरे के खिलाफ भिड़ा सकती है तब उस जोश को भड़काना बहुत आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोड़े-से शहरों में होनेवाले इन दंगों को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया जाता है; क्योंकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरों और सूबों में और तमाम गांवों में हिन्दू-मुसलमान शान्ति के साथ रहते रहे थे; उनके ऊपर इन दंगों का कोई कहने लायक असर नहीं पड़ा। लेकिन अखबारों ने स्वभावतः ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगड़े को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिलकुल सच है कि शहरों के आम लोगों में भी यह साम्प्रदायिक तनातनी और कटता बढ़ती गई। चोटी के साम्प्रदायिक लीडरों ने उसे और भी बढ़ाया और वह साम्प्रदायिक,राजनैतिक माँगों की कड़ाई के रूप में जाहिर हुई। हिन्दू-मुस्लिम झगड़े से मुसलमानों के दकियानूसी लीडर, जो राजनीति में प्रतिगामी दल के हैं और जो असहयोग के इतने बरसों में कोनों में पीछे पड़े हुए थे,बाहर निकले और इस प्रतिक्रिया में सरकार ने उनकी मदद की। उनकी तरफ से रोज-रोज, नई-नई, पहले से ज्यादा उग्र साम्प्रदायिक माँगें पेश होतीं, जो हिन्दुस्तान की आजादी और कौमी एकता की जड़ काटतीं थीं। हिन्दुओं की तरफ भी जो लोग राजनीति में प्रगति-विरोधी थे,वे ही हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओं के हकों की रखवाली करने के बहाने वे नियमित-रूप से सरकार के हाथों की कठपुतली बन गए। उन्होंने जिन बातों पर जोर दिया उन्हें हासिल करने में कोई कामयाबी नहीं मिली। जिन तरीकों से वे काम ले

रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी कामयाब नहीं हो सकते थे। हां उन्होंने देश में जातिगत विद्वेष फैलाने में जरूर कामयाबी हासिल की।

कांग्रेस बड़े असमंजस में पड़ गई। वह तो राष्ट्रीय भावनाओं की प्रतिनिधि-स्वरूप थी। उन्हीं का उसे खयाल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पड़ना लाजिमी था। कई कांग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन कांग्रेस के नेता मजबूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होंने किसी की तरफदारी करने से इन्कार कर दिया—हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में ही नहीं, बल्कि और फिरकों के मामलों में भी, क्योंकि अब तो सिख वगैरा अलपसंख्यक जातियां भी जोर-जोर से अपनी मांगें पेश कर रही थीं। लाजिमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ के अतिवादी लोग कांग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल करने की तदबीर बताई थी। उनका कहना था कि यह समस्या तो तभी हल हो सकती हैं जब बड़ी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानों की हरेक मांग को पूरा करने को राजी थे। वह उनसे सौदा नहीं करना चाहते बल्कि उन्हें अपनी तरफ पूरी तरह मिला लेना चाहते हैं। चीजों की कीमतों को ठीक-ठीक कूतकर उन्होंने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी वह ग्रहण कर ली। लेकिन दूसरे लोग, जो समझते थे कि हम हरेक चीज का बाजार-भाव जानते हैं लेकिन असल में किसी भी चीज की सही कीमत से वाकिफ न थे, वे बाजार के सौदा करने के तरीके से चिपके रहे। उन्हें वह खर्च तो साफ-साफ दिखाई दिया जो असली चीजको खरीदने में देना पड़ रहा था, और उससे उन्हें दर्द भी होता था, लेकिन जिस चीज को वे शायद खरीद लेते उसकी असली कीमत की वे कुछ भी कद्र नहीं कर सकते थे।

दूसरों की आलोचना करना और उनपर दोष मढ़ देना आसान है और अपनी तदबीरों की नाकामयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूंढ़ने के लिए तो दूसरों के सिर कसूर थोपने के लालच को रोकना अक्सर दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते हैं कसूर हमारे खयाल का या काम में किसी किस्म की गलती का थोड़े ही था, वह तो दूसरे लोगों ने जान-बूझकर जो रोड़े अटकाये, उनका था। हमने सरकार को और साम्प्रदायिक नेताओं को दोष दिया। साम्प्रदायिक नेताओं ने हमार

कसूर बताया। इसमें कोई शक नहीं कि हम लोगों के रास्ते में सरकार तथा उसके साथियों ने अड़चनें डालीं, और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमें कोई शक नहीं कि ब्रिटिश-सरकार ने क्या पहले से और क्या अब अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगों में फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। फूट डालकर राज्य करो, यह हमेशा साम्राज्यों का तरीका रहा है, और इस नीति में जितनी मात्रा में सफलता मिलती है उतनी मात्रा में शोषितों के ऊपर शासकों की उच्चता साबित होती है। हमें इस बात की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम हमें उस पर कोई अचम्भा नहीं होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करना या पहले से ही उसका इन्तजाम न कर लेना, खुद हमारे विचारों की ही गलती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तजाम करें ? यह तो तय है कि दूकानदारों की तरह सौदा करने और आमतौर पर उन्हींकी चालों से काम लेने से कुछ फायदा नहीं हो सकता; क्योंकि हम कितना भी क्यों न दें, हमारी बोली कितनी भी ज्यादा क्यों न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज्यादा बोली बोल सकता है और इससे भी ज्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगों में कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नहीं है तो हम अपने समान बैरी पर सब मिलकर एक साथ चढ़ाई नहीं कर सकते। अगर हम मौज़ूदा राजनैतिक और आर्थिक ढांचे के भीतर ही सोचते हैं कि उसी में सिर्फ इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेंगे, उसका सुधार या 'भारतीयकरण' कर लेंगे, तो फिर संयुक्त-प्रहार के लिए वास्तविक उत्तेजना नहीं मिलती। क्योंकि उस हालत में हमारा मकसद जो कुछ पल्ले पड़े उसके बटवारेका रह जाता है, जिसमें तीसरी और हमपर काबू रखनेवाली पार्टी का लाजिमी तौर पर बोलबाला रहता है और वही, जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको, जो इनाम चाहती है देती है। हां, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढंग के राजनैतिक ढांचे की बात सोचने पर और इससे भी ज्यादा बिलकुल दूसरे सामाजिक ढांचे की बात सोचकर ही हम संयुक्त उपाय की मजबूत नींव डाल सकते हैं। हमारी आजादी की मांग की तह में जो खयाल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगों को यह महसूस करा दें कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी संस्करण नहीं चाहते, जिसमें परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे; और यही 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज्य) के तो मानी हैं। लेकिन हम लोग तो बिलकुल ही दूसरी

किस्म के राजनैतिक ढाँचे के लिए लड़ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी केवल राजनैतिक आजादी ही के थे, उसमें सर्वसाधारण के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक परिवर्तन शामिल नहीं था। लेकिन उसके यह मानी जरूर थे कि आर्थिक-नीति और मुद्रा-नीति जो बैंक आफ इंग्लैंड के द्वारा ठहराई जाती है वह बन्द हो जायगी और उसके बन्द हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढाँचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनों में ऐसा सोचता था। अब मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूँ कि मेरे खयाल में राजनैतिक आजादी भी हमें अकेली नहीं मिलेगी, जब वह हमें हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आजादी को भी लेती आवेगी।

लेकिन हमारे करीब-करीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिला शक, सामाजिक ढाँचे के फौलादी चौखटे के तंग दायरों में ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज-सम्बन्धी हरेक समस्या पर विचार करते समय उनकी दृष्टि मौजूदा राजनैतिक व सामाजिक ढांचे पर रहती थी। इसीसे वे ब्रिटिश-सरकार से मात खाते रहे। क्योंकि उस ढांचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा काबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नहीं सकते थे। क्योंकि सीधी लड़ाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यतः सुधारवादी था, और वह समय बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान में कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या जातिगत समस्या सुधारवादी तरीकों से सन्तोष-जनक रूप से हल हो सकती थी। परिस्थितियों की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से योजना निर्माण करके क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओं में ऐसा कोई न था जो इन मांगों को पूरा करता।

इसमें कोई शक नहीं कि हमारी आजादी की लड़ाई में स्पष्ट आदर्शों और ध्येयों की कमी ने साम्प्रदायिक जहर फैलाने में मदद दी। जनता को स्वराज्य की लड़ाई का अपने प्रतिदिन के कष्टों से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं दिया। वे जब-तब अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लड़े। लेकिन वह हथियार इतना कमजोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ दूसरे कामों के लिए भी उसका इस्तेमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क और विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय जातीय नेताओं को इस काम में कोई मुश्किल नहीं पड़ती थी कि वे इन्हीं भावनाओं को धर्म के नाम पर उभाड़

कर उसका इस्तेमाल करें। फिर भी यह बात बड़े अचम्भे की है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में बूर्जुआ (मध्यम) श्रेणी के लोगों को धर्म के नाम पर उन प्रोग्रामों और मांगों के लिए भी जनता की सहानुभूति काफी हद तक मिल गई जिनका जनता से ही नहीं, निचली मध्यम श्रेणी के लोगों से भी कोई सम्बन्ध न था। हरेक जाति जो भी अपनी जातीय मांग पेश करती है उसकी जांच करने पर अखीर में यही मालूम होता है कि वह मांग नौकरियों की मांग है और ये नौकरियां तो मध्यम श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगों को ही मिल सकती हैं। बेशक, यह मांग भी की जाती है कि कौंसिलों म, राजनीतिक शक्ति के चिह्न-स्वरूप विशेष और अतिरिक्त जगहें दी जांय, मगर इस मांग का भी यही मतलब है कि इससे खासकर दूसरों को कृपापात्र बनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी राजनीतिक मांगों से ज्यादा-से-ज्यादा मध्यम श्रेणी की ऊपरी तह के थोड़े-से लोगों को कुछ-कुछ फायदा पहुंचता था, लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते में नई अड़चनें पैदा होती थीं। फिर भी बड़ी चालाकी के साथ इन मांगों को अपने धर्म-सम्प्रदाय के आम लोगों की मांग के रूप में दिखाया जाता था। असल में उनका नंगापन छिपाने के लिए उनपर मजहबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही साम्प्रदायिक या जातीय नेताओं का रूप धरकर राजनैतिक मैदान में आये और उन्होंने जो बहुत-सी कारंवाइयां कीं वे असल में जातिगत पक्षपात से प्रेरित होकर उतनी नहीं कीं जितनी राजनैतिक उन्नति को रोकने के लिए कीं। राजनैतिक मामलों में उनसे हमें हमेशा मुखालफत की ही उम्मीद थी, लेकिन फिर भी उस बुरी हालत का यह खासतौर पर दर्दनाक पहलू था कि लोग स्वराज्य के विरोध में इस हद तक जा सकते हैं। मुस्लिम जातीय नेताओं ने तो सबसे ज्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक बातें कहीं और कीं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आजादी की, उन्हें जरा भी परवा नहीं है। हिन्दुओं के जातीय नेता यद्यपि जाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल में उनका उससे कोई ताल्लुक नहीं था। चूंकि वे कोई वास्तविक कार्य नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सरकार की खुशामद करके उसे राजी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गई। हिन्दू-मुसलमान दोनों के नेता साम्यवाद या ऐसी ही 'सत्यानासी' हलचलों की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थों में खलल डालनेवाले हर प्रस्ताव

के सम्बन्ध में इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानों के जातीय नेताओं ने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं और बहुत-सी हरकतें कीं जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुकसान पहुंचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूप में उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोड़ा-बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू-साम्प्रदायिक नेताओं की बाबत यह बात नहीं कही जा सकती।

कांग्रेस म बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बड़ी थी, जिनमें बहुत-से योग्य व्यक्ति भी थे। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कांग्रेस में शामिल थे। उनमें से बहुत-से कांग्रेसी मुसलमानों ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होंने जातीय मुसलमान नेताओं का मुकाबला किया। शुरू में तो उन्हें इस काम में कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पड़ता था कि पढ़े-लिखे मुसलमानों का बहुत बड़ा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लागों में से थे और उनमें कोई ऐसा समर्थ नेता न था। वे अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये और सर्वसाधारण से उनका सम्बन्ध हट गया। बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी कौम के सर्वसाधारण के पास कभी आये ही नहीं। उनका तरीका अच्छे-अच्छे कमरों में बैठकर मीटिंग करके आपस में राजीनामा कर लेने और पैक्ट करने का था और इस खेल में उनके प्रतिपक्षी यानी जातीय नेता उनसे कहीं ज्यादा होशियार थे। इन जातीय नेताओं ने नैशनलिस्ट मुसलमानों को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से वे उन्हें हटाते गये और जिन सिद्धान्तों के लिए वे शुरू में अड़े थे, उनको वे इनसे एक-एक करके छुड़वाते गये। नैशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे ज्यादा न हटना पड़े इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की रीति को अख्तियार करके अपनी हालत मजबूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हें हमेशा पीछे हटना पड़ा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मंजूर करनी पड़ी। फलस्वरूप ऐसा वक्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज नहीं रह गई जिसे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तों में भी एक के सिवा और कोई बाकी नहीं रहा। यह एक सिद्धान्त हमेशा

से उनकी जमात का लंगर रहा है और वह है सम्मिलित चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और वे उस अग्नि-परीक्षा से तो बच आये लेकिन अपना लंगर वहीं छोड़ गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलों या अमल की बुनियाद पर उन्होंने अपनी जमात बनाई थी उन सब को वे खो बैठे। इन्हीं उसूलों और अमल को उन्होंने पहले बड़े फख्र के साथ अपने जहाज के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अब उनमें से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नहीं रहा।

जाती हैसियत से तो ये लोग, बिला शक, अब भी कांग्रेस के खास नेताओं में से हैं, लेकिन जमात की हैसियत से नैशनलिस्ट मुसलमानों के गिरने और मिटने की कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमें बहुत बरस लगे और उस कहानी का आखीरी अध्याय पिछले साल १९३४ में ही लिखा गया है। १९२३ में और उसके बाद उनकी जमात बहुत मजबूत थी और वे साम्प्रदायिक लोगों के मुकाबले लड़ाकू ढंग भी अख्तियार करते थे, और सच बात तो यह है कि कई मौकों पर गांधीजी तो सम्प्रदायवादी मुसलमानों की कुछ मांगों को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे; लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गांधीजी को ऐसा करने से रोकते और उन मांगों की मुखालफत बड़ी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालों में आपस में बातचीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसलों को हल करने की कई कोशिशें की गईं। ये कोशिशें एकता-सम्मेलनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सम्मेलनों में सबसे ज्यादा प्रसिद्ध वह था जो १९२४ में मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन के अवसर पर दिल्ली में हुआ। इन सम्मेलनों में बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होंने समझौता करने की बहुत सख्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये, लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। ये सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नहीं सकते थे। क्योंकि समझौता बहुमत से नहीं हो सकता था, वह तो एकस्वर से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल के ऐसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहों आने हमारी बात मान लें। सचमुच कभी-कभी

तो यह शक होने लगता था कि कुछ नामी-नामी साम्प्रदायिक नेता वाकई निपटारा चाहते भी हैं या नहीं? उनमें से बहुत-से राजनैतिक मामलों में प्रगति-विरोधी थे और उनमें तथा उन लोगों में जो राजनीति में काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किलें तो ज्यादा गहरी थीं और वे महज कुछ लोगों की खराबी की वजह से ही नहीं थीं। अब तो सिक्ख भी अपनी जाति की माँगें जोर के साथ पेश करने लगे थे, जिसकी वजह से पंजाब में भी एक गैरमामूली और विकट तिकोना खिंचाव पैदा हो गया था। सचमुच पंजाब ही तमाम मामले की जड़ बन गया और हरेक जाति में दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायुमण्डल बन गया। कुछ सूबों में किसान और ज़मींदारों के व बंगाल में हिन्दू ज़मींदार और मुसलमान-किसानों के क़िस्से साम्प्रदायिक रूप में सामने आये। पंजाब और सिन्ध में साहूकार और रुपयेवाले लोग आमतौर पर हिन्दू हैं और कर्ज से दबे हुए लोग मुसलमान खेतिहर। वहाँ कर्ज से दबे हुए लोगों में उनकी जान के गाहक बोहरों के खिलाफ जो भाव होते हैं उन तमाम भावों ने साम्प्रदायिक लहर को बढ़ाया। आमतौर पर मुसलमान गरीब थे और मुसलमानों के साम्प्रदायिक लीडरों ने गरीबों में अमीरों के खिलाफ जो बुरे भाव होते हैं उनका इस्तेमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओं के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओं से गरीबों की भलाई का कतई कोई ताल्लुक न था, लेकिन इनकी वजह से साम्प्रदायिक मुसलमान लीडर कुछ हद तक जरूर सर्वसाधारण के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हें ताकत भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारों और पेशेवर लोगों के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण में उनकी पीठ पर कोई न था, यद्यपि कुछ मौकों पर जनसाधारण की सहानुभूति उन्हें मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक दलबन्दियों में हिलता-मिलता जा रहा है, हालाँकि रंज की बात तो यह है कि लोगों ने अभी इस बात को महसूस नहीं किया। हो सकता है कि यह बात बढ़कर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गों के झगड़ों की शक्ल अख्तियार कर ले, लेकिन अगर वह वक्त आया तो आजकल के साम्प्रदायिक लीडर—जो अपने-अपने दलों में अमीरों के प्रतिनिधि हैं—दौड़कर अपने भेद-भाव को मिटा देंगे जिससे वे मिलकर अपने वर्ग के वैरी का मुकाबला

कर सकें। यों तो जुदा हालतों में भी इन जातिगत झगड़ों को निपटाकर राज-नैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल न होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बड़ी शर्त है—कि तीसरी पार्टी मौजूद न हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से खत्म हुआ ही था कि इलाहाबाद में हिन्दू-मुसलमानों में दंगा हो गया। यों और दंगों को देखते हुए यह दंगा कोई बड़ा दंगा न था, क्योंकि उसमें हताहतों की संख्या बहुत न थी, लेकिन अपने ही शहर में इस तरह के दंगे के होने से मुझे रंज जरूर होता था। मैं दूसरे लोगों के साथ इलाहाबाद दौड़ पड़ा। लेकिन यहाँ पहुँचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दंगा खतम हो गया। हाँ, उसके फल-स्वरूप जो आपसी बैर-भाव बढ़ा और मुक़दमेबाजी चली वह बहुत दिनों तक बनी रही। मैं यह भूल गया हूँ कि यह झगड़ा क्यों हुआ। उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद में रामलीला के उत्सव के सिलसिले में भी कुछ टंटा हो गया था। रामलीला के उत्सव में बड़े भारी-भारी जलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि मसजिदों के सामने बाजा बजाने में कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप, लोगों ने रामलीला मनाना ही छोड़ दिया। क़रीब-क़रीब आठ वर्ष से इलाहाबाद में रामलीला नहीं हुई। यह त्यौहार इलाहाबाद के जिले के लाखों लोंगों के लिए सालभर में सबसे बड़ा त्यौहार था। लेकिन अब वहाँ उनकी दुःखद याद-भर है। बचपन में जब मैं रामलीला देखने जाया करता था तब की याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको देखकर हम लोगों को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और जिले-भर से तथा दूसरे कस्बों से लोगों की भारी भीड़ उसे देखने को आती थी। त्यौहार हिन्दुओं का था, लेकिन वह खुले आम मनाया जाता था इसलिए मुसलमानभी उसे देखनेको भीड़में शामिल हो जाते थे और चारों तरफ सब लोग खूब खुशियाँ मनाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनों बाद बड़ा हो जाने पर जब मैं राम-लीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया और जलूस और स्वाँगों से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे में मेरी रुचि का माप-दण्ड ऊँचा हो गया था। लेकिन उस वक्त भी मैंने यह देखा कि आदमियों की भारी भीड़ उसको देख-देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो यह मनोरंजन का समय था, और अब आठ या नौ बरसों से इलाहाबाद के बच्चों को—बच्चों को ही क्यों, बड़े लोगों को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौका नहीं

मिलता। उनकी जिन्दगी में रोजमर्रा के नीरस काम से खुशी के ओश का जो एक उज्ज्वल दिन हर साल उन्हें मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह सब बिलकुल नाचीज बेकार के झगड़े-टण्टों की वजह से। बेशक धर्म और धार्मिक भावना को ऐसी बहुत-सी बातों के लिए जवाबदेह होना पड़ेगा। ओफ, वे कितने आनंद-नाशक साबित हुए हैं!

२०

म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन दिन-पर-दिन इस काम से मेरी तबियत उचटती जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद कायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैंने उस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश शुरू कर दी। मैं उस काम को पसन्द करता था और उसमें मैंने अपना काफी वक्त और ध्यान लगाया था। कुछ हद तक उसमें मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियों का सद्भाव भी मैंने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामों को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामों की वजह से अपनी नाराजगी को भुलाकर उनकी तारीफ की। लेकिन फिर भी मैं यह पाता था कि मैं चारों तरफ से जकड़ा हुआ हूं और वस्तुतः कोई उल्लेखनीय कार्य करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते में अड़चनें डाली जाती हैं।

इसके मानी यह नहीं है कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम में अड़ंगे लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगों ने राजी-खुशीसे मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ सरकारी मशीन थी और दूसरा तरफ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे में जैसा ढांचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारों को रोकनेवाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पड़ता था। मौजूदा म्युनिसिपल कानूनों के मुताबिक सामाजिक विकास की और टैक्स लगाने-सम्बन्धी कायापलट करनेवाली योजनाओं की इजाजत न थी। जो योजनाएं कानून के मुताबिक की जा सकती थीं उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग मांग सकते थे तथा वही उसकी राह देख

सकते थे जो बड़े आशावादी हों और जिनके सामने बहुत बड़ी जिन्दगी पड़ी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनस्संगठन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पड़ता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-ढाल के साथ चलती है; लेकिन जब किसी राजनैतिक मुखालिफ को दबाना हो तब जरा भी ढील और गलती नहीं रहती। यह अन्तर उल्लेखनीय था।

स्थानीय स्वराज्य से सम्बन्ध रखनेवाले प्रान्तीय-सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते थे, लेकिन आमतौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलों में ही नहीं बल्कि पब्लिक मामलों में भी बिलकुल कोरे होते थे। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। खुद उनके महकमे के अफसर ही उनका कुछ खयाल नहीं करते थे। उसे तो इंडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और हाकिमों पर हिन्दुस्तान के ऊंचे हाकिमों की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो खासतौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारीपन और मां-बापपन के थोड़े-से खयाल ने भी इस धारणा पर कुछ हदतक असर डाला था। लेकिन बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यों की जरूरत को कोई भी महसूस नहीं करता था।

म्युनिसिपैलिटियां हमेशा ही सरकार के कर्ज से दबी रहती हैं और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती है वह है कर्ज देनेवाले साहूकार की निगाह। आया कर्ज की किश्तें वायदे पर अदा हो रही हैं? आया म्युनिसिपैलिटी कर्ज अदा करने की ताकत भी रखती है? उसके पास काफी रोकड़-बाकी है या नहीं? ये सब सवाल जरूरी और माकूल हैं, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ खास काम भी करने हैं—जैसे शिक्षा, सफाई वगैरा, और वह महज एक ऐसा संगठन नहीं है जिसका काम रुपये कर्ज लेकर उन्हें निश्चित मियाद पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसिपैलिटियां शहर की भलाई के लिए जो काम करती हैं वे वैसे ही बहुत कम हैं, लेकिन वे थोड़े-से-थोड़े काम भी रुपये की तंगी होते ही फौरन कम कर दिये जाते हैं और आमतौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पड़ती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में हाकिम लोगों की कोई जाती दिलचस्पी नहीं, उनके बाल-बच्चे तो उन बिलकुल अप-टू-डेट और खर्चीले प्राइवेट स्कूलों में पढ़ते हैं जिन्हें अक्सर सरकार से ग्राण्ट मिलती है।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरों को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। एक तो घना बसा हुआ खास शहर, दूसरा लम्बा-चौड़ा फैला हुआ बंगले-कोठियों का रकबा। इन हरेक बंगलों में काफी बड़ा अहाता या बाग भी होता है। इस रकबे को अंग्रेज आमतौर पर 'सिविल-लाइन' कहकर पुकारते हैं। अंग्रेज अफसर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमों के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्हीं सिविल-लाइनों में रहते हैं। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज्यादातर शहर खास से होती है न कि सिविल-लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियां खर्च जितना शहर खास पर करती हैं उससे कहीं ज्यादा सिविल-लाइनों पर करती हैं, क्योंकि सिविल-लाइनों के बड़े रकबे में ज्यादा सड़कों की जरूरत होती है। इन सड़कों की सफाई और उनपर छिड़काव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तजाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पड़ती है। इसी तरह उनमें नालियों का, पानी पहुंचाने का और सफाई का इन्तजाम भी ज्यादा जगह में करना होता है। मगर शहर खास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और बिला शक शहर के गरीबों की गलियों की तो अक्सर कोई परवा ही नहीं की जाती। शहर खास में अच्छी सड़कें तो बहुत ही कम होती हैं। उसकी तंग गलियों में रोशनी का इन्तजाम ज्यादातर बहुत नाकाफी होता है। उसमें नालियों और सफाई का भी माकूल इन्तजाम नहीं होता। शहर खास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते हैं। कभी कोई शिकायत नहीं करते, और जब वे शिकायत करते हैं तब भी ऐसा कोई नतीजा नहीं निकलता, क्योंकि करीब-करीब सभी बड़े-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल-लाइनों में ही रहते हैं।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक गरीबों और अमीरों पर बराबर-बराबर डालने के लिए और सुधारों के कुछ काम करने के लिए मैं जमीन की कीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योंही मैंने यह तजवीज पेश की त्योंही एक सरकारी-अफसर ने उसकी मुखालफत की। मैं समझता हूं कि वह अफसर जिला-मैजिस्ट्रेट था, जिसने यह कहा कि ऐसा करना जमीन के कब्जे के बारे में जो बहुत-सी शर्तें व कानून हैं उनके खिलाफ पड़ेगा। जाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल-लाइन के बंगलों में रहने वालों को ज्यादा देना पड़ता। लेकिन सरकार उस चुंगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है।

तमाम चीजों की—जिनमें खाने की चीजें भी शामिल हैं—कीमतें बढ़ जाती हैं और इसका बहुत ज्यादा बोझ गरीबों पर आकर पड़ता है। और समाज-विरुद्ध तथा हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज्यादातर म्युनिसिपैलिटियों की आमदनी की खास बुनियाद है—यद्यपि मैं समझता हूं, वह धीरे-धीरे बड़े-बड़े शहरों से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पड़ता था, जो बड़ी मशक्कत के साथ पुरानी लीक पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अड़ियल टट्टू की तरह ज्यादा तेजी से या दूसरी तरफ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमें से ज्यादातर लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमें से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगों ने अपने काम में उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरों में न तो दूरदृष्टि ही थी, न परिवर्तन या सुधार करने की धुन। पुराने तरीके काफी अच्छे हैं, फिर क्या जरूरत है कि ऐसे प्रयोगों से काम लिया जाय जो मुमकिन है पूरे न पड़ें? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन रोजमर्रा की जड़ बातों के नशीले असर के शिकार हो गए। लेकिन हां, एक बात ऐसी जरूर थी जिसपर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरों में नया जोश पैदा कर देगी; और वह थी अपने नाते-रिश्तेदारों को नौकरियों तथा ठेके वगैरा देने के मामले। लेकिन इसमें दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम में अच्छाई नहीं बढ़ती थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अखबार म्युनिसिपैलिटियों और जिला-बोर्डों की नुक्ताचीनी करते हैं और उनकी बहुत-सी कमियों की तरफ इशारा करते हैं, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोकतन्त्री संस्थाएं हिन्दुस्तान के लिए मौजूं नहीं हैं। उनकी कमियां तो जाहिर हैं, लेकिन उस ढांचे की तरफ कतई ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हें अपना काम करना पड़ता है। यह ढांचा न तो लोक-तन्त्री है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनों की दोगली सन्तान है और उसमें दोनों की ही खराबियां मौजूद हैं। यह बात तो मंजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को स्थानिक-संस्थाओं पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख्तियार जरूर होने चाहिए, लेकिन स्थानीय लोक-संस्थाओं के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय-सरकार

खुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की जरूरतों का खयाल रखनेवाली हो। जहां ऐसा न होगा वहां या तो केन्द्रीय-सरकार और स्थानीय शासन-संस्था में रस्साकशी होगी या स्थानीय-संस्था चुपचाप केन्द्रीय-सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय-सरकार ही असल में स्थानिक-संस्थाओं से जो चाहेगी सो करायेगी। लेकिन तारीफ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए जिम्मेदार नहीं होगी! अख्तियार तो उसी को होंगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी! जाहिर है कि यह हालत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती; क्योंकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर केन्द्रीय-सरकार को खुश रखने की जितनी कोशिश करते हैं उतनी पब्लिक के अपने चुनने वालों को खुश रखने की नहीं; और जहां तक पब्लिक से ताल्लुक है, वह अक्सर बोर्ड के कामों की तरफ से बिलकुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक रखनेवाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी जाते हैं—खासतौर पर, इसलिए, कि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर हैं, और बोर्ड का सबसे ज्यादा जाहिरा काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज्यादा लोकप्रिय नहीं बना सकता।

स्थानिक-संस्थाओं के लिए वोट देने का हक भी थोड़े ही लोगों तक सीमित है। वोट देने का अख्तियार और भी ज्यादा बढ़ाया जाना चाहिए, जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कार्पोरेशन जैसे बड़े-बड़े शहरों के कार्पोरेशन तक के मेम्बरों का चुनाव भी बहुत सीमित वोटरों द्वारा होता है। कुछ समय पहले खुद कार्पोरेशन में वोट देने का अधिक लोगों को अधिकार देने का प्रस्ताव गिर गया था। जाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से खुश थे और वे उसमें हेर-फेर करने या उसे खतरे में डालने की कोई जरूरत नहीं समझते थे।

वजह कुछ भी हो, मगर यह बात जरूर है कि हमारी स्थानिक-संस्थाएं आमतौर पर कामयाबी और कार्यसाधकता के चमकते हुए नमूने नहीं हैं, यद्यपि वे जैसी हैं वैसी हालत में भी बहुत आगे बढ़े हुए लोकतन्त्री देशों की कुछ म्युनिसिपैलिटियों से टक्कर ले सकती हैं। आमतौर पर उनमें रिश्वत की बुराई नहीं है, महज सुव्यवस्था की कमी है। उनकी खास कमजोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब गलत हैं। यह सब स्वाभाविक है, क्योंकि लोकतन्त्र तो तभी

कामयाब हो सकता है जब उसके पीछे लोकमत की जानकार और उसके प्रति ज़िम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह हमें हुकूमत का सर्वव्यापी वायुमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातों की जरूरत है वे नहीं पाई जातीं। जन-साधारण को शिक्षा देने का कोई इन्तजाम नहीं है; न इस बात की कभी कोशिश की गई है कि जानकारी के आधार पर लोकमत तैयार किया जाय। लाजिमी तौर पर ऐसी हालत में पब्लिक का खयाल व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक या दूसरे टुच्चे-टुच्चे मामलों की तरफ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इन्तजाम में सरकार की दिलचस्पी इस बात में रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से सहानुभूति रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं। जिन पाठ्च-पुस्तकों में राष्ट्रीयता की बू हो उन्हें म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में नहीं पढ़ाने दिया जाता। इतना ही नहीं, उनमें राष्ट्रीय नेताओं की तसवीरें भी नहीं लगाने दी जातीं। म्युनिसिपैलिटियों से राष्ट्रीय झंडा उतारना पड़ता है, न उतारें तो म्युनिसिपैलिटी तोड़ दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही में कई सूबों की सरकारों ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशन और म्युनिसिपैलिटियों में जितने कांग्रेसी नौकर हों उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन संस्थाओं पर सरकारी दबाव काफी होता है; क्योंकि उसके साथ-साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हें न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियों को शिक्षा वगैरा के लिए जो सहायता देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन कहीं-कहीं तो— खासतौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—कानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगों को, जो असहयोग या सरकार के खिलाफ किसी और राजनैतिक हलचल में जेल गये हो, नौकरी न मिलने पावे। इस मामले में सरकार का मतलब महज राजनैतिक होता है। काम के लिए उस आदमी की लायकी या नालायकी का कोई सवाल नहीं।

इन थोड़ी-सी मिसालों से यह जाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों और हमारे जिला-बोर्डों को कितनी आजादी मिली हुई है और उनमें लोकतन्त्रता की कितनी कमी है? यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नहीं चाहते। ऐसी हालत में अपने इन राजनैतिक मुखालिफों को तमाम

म्युनिसिपिल और जिला बोर्डों की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उस पर कुछ गौर करने की जरूरत है। यह कूता गया है कि पिछले चौदह वर्षों में करीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौकों पर जेल हो आये हैं और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखें तो इसमें किसी को शक नहीं हो सकता कि इन तीन लाख लोगों में हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा सज्जन और आदर्शवादी,सबसे ज्यादा सेवा-व्रती और स्वार्थ-हीन लोग शामिल हैं। इन लोगों में जोश है,आगे बढ़ने की ताकत है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की संस्था के काम के लिए आदमी ढूँढने का सबसे अच्छा सामान इन्हीं में मिल सकता था। फिर भी सरकार ने कानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावें, जिससे न सिर्फ उन्हीं को सजा मिले बल्कि उन लोगों को भी जो उनसे हमदर्दी रखते हैं। सरकार खुद ऐसे लोगों को पसन्द करती है और आगे बढ़ाती है जो बिलकुल ही जी-हुजूर हों, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक-संस्थाएँ ठीक तरह से काम नहीं करतीं; और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक-संस्थाओं के काम की हद से बाहर है,फिर भी सरकार को इस बात में कोई एतराज नहीं कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति में हिस्सा लें। स्थानीय बोर्डों के स्कूलों के मास्टरों को यह डर दिखाकर, कि उन्हें नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गाँवों में जाकर सरकार के पक्ष में प्रचार करें।

पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। उन्हें बड़ी भारी-भारी जिम्मेदारियां झेलनी पड़ी हैं और आखिर उन्होंने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बड़ी ताकतवर और सुरक्षित है। और यह नहीं कि उसमें उन्हें कामयाबी भी न मिली हो। बल्कि शिक्षा के इस कड़े क्रम ने उन्हें आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताकत दी है। जिन गुणों को एक हुकूमत की भावना से भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द करनेवाली शिक्षा ने छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलों ने हिन्दुस्तानियों में फिर से डाल दिया है। हां, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक-आन्दोलनों की तरह कांग्रेस की हलचलों में भी बहुत-से नामाकूल, बेवकूफ, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आए,और हैं। लेकिन इस बात में भी मुझे कोई शक नहीं है कि औसत-

तन कांग्रेस-कार्यकर्त्ता अपनी बराबर योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख्स के मुकाबले ज्यादा होशियार और कार्यकुशल साबित होगा।

इस मामले का एक और पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारों ने नहीं समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस बात का खुशी से स्वागत करते हैं कि सरकार कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कोई नौकरी नहीं मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्ते रोक देती है। औसत कांग्रेसी इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे क्रान्तिकारी नहीं होते और कुछ वक्त अर्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की जिन्दगी और हालतों को शुरू कर देते हैं। वे फिर अपने धन्धे या पेशे या स्थानीय राजनैतिक मामलों में फंस जाते हैं। बड़े-बड़े मामले उनके दिमाग से ओझल होने लगते हैं और उनमें जो थोड़ा-बहुत क्रान्तिकारी जोश रहता है वह ठंडा पड़ जाता है। उनके पुट्ठों पर चरबी चढ़ने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षा चाहती है। मध्यम श्रेणी के कार्यकर्त्ताओं के इस लाजिमी झुकाव की वजह से ही आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी विचारों के कांग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानिक बोर्डों और कौंसिलों के विधानों के जंजाल में पूरे समय के कामों में न फंसने पावें जो उन्हें कांग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हों।

मगर अब खुद सरकार ही कुछ हदतक मदद कर रही है; क्योंकि वह कांग्रेसियों के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाए दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा जरूर कायम रहेगा या हो सकता है कि बढ़ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज्यादा दिनों तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मैं यह महसूस करने लगा कि मैं यहां अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नहीं कर रहा हूं। मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मैं कोई कहने लायक तब्दीली तो करा नहीं सकता था। इसलिए मैं चेयरमैनी से इस्तीफा देना चाहता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरों ने मुझपर जोर दिया कि मैं चेयरमैन बना रहूं। मेरे इन साथियों ने मेरे साथ हमेशा शराफत व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल

हो गया। लेकिन अपनी चेयरमैनी के दूसरे साल के अखीर में मैंने इस्तीफा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल बसन्त ऋतु में मेरी पत्नी बहुत बीमार पड़ गई। कई महीनों तक वह लखनऊ के अस्पताल में पड़ी रही। उसी साल कानपुर में कांग्रेस हुई थी। मुद्दत तक दु:खी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहां से वापस चक्कर लगाने पड़े थे। (मैं इन दिनों भी कांग्रेस का प्रधान-मन्त्री था।)

डाक्टरों ने सिफारिश की कि कमला का इलाज स्वीजरलैण्ड में कराया जाय। मुझे यह बात पसन्द आई; क्योंकि मैं खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चाहता था। मेरा दिमाग साफ नहीं था। कोई साफ रास्ता नहीं दिखाई देता था। मैंने सोचा कि अगर मैं हिन्दुस्तान से दूर पहुंच जाऊं तो चीजों को और अच्छी नजर से देख सकूंगा और अपने दिमाग के अंधेरे कोनों में रोशनी पहुंचा सकूंगा।

मार्च १९२६ के शुरू में हम लोग जहाज में बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मैं, मेरी पत्नी और लड़की। उसी जहाज में हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजित पण्डित भी गये। उन लोगों ने अपनी योरप-यात्रा का इन्तजाम हम लोगों के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

२१

यूरप में

मुझे यूरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल लड़ाई और क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को मैं जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी बीभत्सता में डूब चुकी थी और एक नई दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि यूरप में छः या सात महीने या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊंगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहां ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक्त मेरे शरीर और दिमाग दोनों के लिए चैन व आराम का वक्त था। ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीजरलैण्ड के जिनेवा में और मोण्टाना के पहाड़ी सेनिटोरियम में बिताया था। मेरी छोटी बहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियों के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जब तक हम लोग यूरप में रहे तब तक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज्यादा अर्सेके लिए अकेली नहीं छोड़ सकता था, इसलिए दूसरी जगहों में मैं बहुत थोड़े वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनों बाद जब मेरी पत्नी की तबियत कुछ ठीक हो गई तब हम लोगों ने कुछ दिनों तक फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाड़ी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके चारों ओर बर्फ थी। वहां मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोपियन संसार से बिलकुल अलहदा हो गया हूं। हिन्दुस्तान में होनेवाली बातें खासतौर पर बहुत दूर मालूम होती थीं। मैं महज दूर से देखनेवाला एक तमाशबीन बन गया था, जो अखबार पढ़ता था, जो बातें होती थीं उन्हें समझकर उनपर गौर करता था, नये यूरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं ज्यादा आजादाना मानव-सम्बन्धों को देखा करता था। जब मैं जिनेवा में था तब स्वभावतः मुझे राष्ट्र-संघ के कामों में और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-दफ्तर में भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाड़ा आते ही, जाड़े के खेलों में मेरा मन लग गया। कुछ महीनों

तक खेलों में ही मेरी खास दिलचस्पी रही और इन्हीं में मैं लगा रहा। बरफ पर एक किस्म के फिसल-खड़ाऊं पहनकर तो मैं पहले भी चलता था, खिसकता था, लेकिन लकड़ी के आठ फीट लम्बे और चार इंच चौड़े फिसल-जोड़े को पैरों से बांधकर बरफ पर चलने का तजरुबा मेरे लिए बिलकुल नया था और मैं उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनों तक तो मुझे इस खेल में काफी तकलीफ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अखीर में मुझे खूब मज़ा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनों हमारी जिन्दगी में कोई खास घटना नहीं हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताकत व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहां हम लोगों को बहुत कम हिन्दुस्तानियों से मिलने का मौका मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाड़ी बस्ती में रहनेवाले थोड़े-से लोगों को छोड़कर और किसीसे हमें मिलने का मौका ही नहीं मिला। लेकिन हम लोगों ने यूरप में जो पौने दो साल बिताय उसमें हमें बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामों से मैं वाकिफ था।

उनमें से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा में एक मकान की सबसे ऊंची मंजिल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनों बूढ़े पति-पत्नी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पड़े रहते थे, जिनमें दम-सा घुटता था। हर चीज के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने में विश्वास नहीं रखते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इससे उलटी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश-सरकार के एजेण्ट हैं या उनके धन के गाहक हैं। उनकी जेबें उनके 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' नाम के अखबारों की पुरानी कापियों से भरी रहती थीं। वह उन्हें खींचकर निकालते और कुछ जोश के साथ उन लेखों को दिखाते जो उन्होंने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने जमाने की बातें किया करते थे। हैम्स्टीड में इण्डिया-हाउस में क्या हुआ, ब्रिटिश-सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होंने किस तरह उन्हें पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि।

उनके कमरों की दीवारें पुरानी किताबों से भरी अलमारियों से सटी हुई थीं। उन किताबों को पढ़ता-पढ़ाता कोई नहीं था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी। और वे, जो कोई वहाँ जा पहुंचता उसकी तरफ दुख:भरी निगाहों से देखती-सी मालूम होती थीं। किताबें और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पड़े रहते थे। ऐसा मालूम पड़ता था मानो वे कई दिनों और हफ्तों से, मुमकिन है महीनों से, इसी तरह पड़े हुए हैं। उस तमाम जगह में शोक की छाप, मनहूसियत की हवा छाई हुई थी। जिन्दगी वहां ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अंधेरे और सुनसान बरामदों में चलते हुए ऐसा डर मालूम पड़ता था कि किसी कोने में कहीं मौत की छाया तो नहीं छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान में से निकलकर आराम की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा पाकर खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तजाम, पब्लिक के कामों के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशों में शिक्षा पानेवाले हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ इन्तजाम करना पसन्द करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी हो जाऊं। लेकिन मैंने उस जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश जाहिर नहीं की। मैं नहीं चाहता था कि मैं उनके आर्थिक मामलों के चक्कर में फसूँ। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कहीं जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी जाहिर की तो उन्हें फौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दांत है। यह तो किसी को नहीं मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। अफवाह भी उड़ी थी कि जर्मनी में सिक्के की कीमत गिरने से उनको बहुत नुकसान हुआ था।

कभी-कभी कोई नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा में होकर गुजरते थे। जो लोग राष्ट्र-संघ में शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाकिमी किस्म के लोग होते थे और यह जाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगोंके पास तक नहीं फटक सकते थे। लेकिन मजदूर दफ्तर में कभी-कभी नामी गैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर कांग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगों से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिलकर उन लोगों पर जो असर होता वह बड़ा ही दिलचस्प होता था। पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ पब्लिक में ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी में

भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफी मांग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक रखने या उनके साथ देखे जाने में खैर नहीं है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी जिन्दगी बितानी पड़ती थी। उनके न तो कोई बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही; उनका कोई साथी भी नहीं था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नहीं था। वह ता पुराने जमाने की यादगार थे। सचमुच उनका जमाना गुजर चुका था। मौजूदा जमाना उनके लिए मौजूं नहीं था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ से मुंह फेरकर मजे से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आंखों में पुराना तेज था, और यद्यपि उनमें और मुझमें एक-सी कोई चीज नहीं थी फिर भी उनके प्रति मैं अपनी हमदर्दी व इज्जत को नहीं रोक सकता था।

हाल ही में अखबारों में खबर छपी कि वह मर गए और उनके कुछ दिन बाद ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश-निकाले में भी जिन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गई। अखबारों की खबरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की शिक्षा के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।

एक और मशहूर शख्स, जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे पहले-पहल स्वीजरलैण्ड में मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता जबरदस्त थी। मेरा खयाल है कि अब भी वह आशावादी हैं। वह बिलकुल हवा में रहते हैं और असली हालत से कतई कोई ताल्लुक रखने से इन्कार करते हैं। मैंने जब उन्हें पहले-पहल देखा तो थोड़ा-सा चौंक पड़ा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊंचे मैदानों के लिए भले ही मौजूं हो या साइबेरिया के मैदानों में भी, लेकिन वह उन दिनों की गर्मियों में वहां बिलकुल बेमौजूं थी। वह पोशाक एक किस्म की आधी फौजी पोशाक-सी थी। वह ऊंचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट में बहुत-सी बड़ी-बड़ी जेबें थीं जो फोटो तथा अखबार इत्यादि से भरी हुई थीं। इन चीजों में जर्मनी के चान्सलर बैथमैन हॉलवेग का एक खत था। कैसर की एक तस्वीर थी, जिस पर उसके अपने दस्तखत थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक खूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत कागजात और तस्वीरें थीं। उन जेबों में कितनी चीजें भरी हुई थीं, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होंने हमसे कहा कि एक दफा ची

में उनका एक डिस्पैच बक्स खो गया, जिसमें उनके कीमती कागजात भरे हुए थे, तब से उन्होंने इसी में ज्यादा सुरक्षा समझी है कि वह हमेशा अपने कागजात अपनी जेबों में ही रक्खें। इसी से उन्होंने इतनी ज्यादा जेबें बनवाई थीं।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफगानिस्तान की और उन यात्राओं मे जो घटनाएं हुई उनकी कहानियों की भरमार थी। उनको अपनी जिन्दगी तरह-तरह की हालतों में बितानी पड़ी, जिनका हाल बड़ा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश 'आनन्द-समाज' (A Happiness Society) के लिए था, जो खुद उन्होंने कायम किया था और जिसका मूल-मन्त्र था—"आनन्द रहो।" मालूम पड़ता था कि इस संस्था को लटाविया (या लिथुवानिया) में बहुत कामयाबी मिली।

उनके प्रचार का तरीका यह था कि वह वक्तन-फवक्तन जिनेवा या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेंसों के मेम्बरों के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डों पर उनके दस्तखत रहते थे, लेकिन जो नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होंने म० प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिय गये थे, जो जाहिरा तौर पर जिन देशों की उन्होने सैर की थी उनमें से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर जोर देते थे कि वह अपने को जाति, मजहब और कौम के बन्धनों से ऊपर समझते हैं। इस विचित्र नाम के नीचे आखिरी विशेषण "मनुष्य-जाति का सेवक" बिलकुल मौजूं था। महेन्द्र-प्रतापजी की बातों को ज्यादा महत्त्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासों के एक पात्र-से—डॉन क्विक्जोट-से,[1] मालूम होते थे, जो गलती से बीसवीं सदी में आ भटके थे। लेकिन वह थे सोलहों आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बूढ़ी मैडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर उन्होंने हमारे चेहरे की तरफ गौर से देखा, और हमारी तरफ अँगुली उठाकर एकाएक हमसे यह पूछा कि आप कौन हैं, तब वह कुछ-कुछ खूंख्वार और डरावनी-सी मालूम हुई। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता; शायद

---

[1] थोड़ी शक्ति पर हवाई किले बांधनेवाला एक पात्र जिसका अनुपम चित्र इसी नाम के प्रसिद्ध स्पेनिश उपन्यास में चित्रित किया गया है— अनु०

उनको इतना ऊंचा सुनाई देता था कि वह आपकी बात सुन ही नहीं पातीं। वह अपनी इच्छाओं के अनुसार धारणाएं बना लेती हैं, और फिर उन्हीं पर अड़ी रहती हैं, चाहे वाकयात उन धारणाओं के खिलाफ ही हों।

इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझसे कुछ वक्त के लिए इटली में मिले। वह मुझे चालाक जंचे, लेकिन उनकी लियाकत पुराने जमाने की राजनैतिक चालबाजियों में जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान के 'संयुक्त राज्यों' या 'हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातंत्र' की उन्होंने एक स्कीम बनाई थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफी अच्छी कोशिश थी। उन्होंने इस्ताम्बूल में, जो उन दिनों तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझ से कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्त्व नहीं दिया, इसलिए मैं जल्दी ही उन सब बातों को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें भी उन्होंने वही बातें कह सुनाईं। लालाजी पर उनका बहुत असर पड़ा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गए थे। यहांतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलों के चुनाव में उन बातों का बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित और विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गए। इसके बाद मौलवी उबेदुल्ला हेजाज चले गये और पिछले कई सालों से मुझे उनकी बाबत कोई खबर नहीं मिली।

उनसे बिलकुल दूसरी किस्म के मौलवी बरकतउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन में मिला। वह बड़े मजेदार बूढ़े आदमी थे। बड़े उत्साही और बहुत ही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये खयालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ में सेन फ़्रांसिस्को में उनकी मौत हुई, जबकि हम लोग स्वीजरलैण्ड म थे। उनकी मौत की खबर सुनकर मुझे बहुत रंज हुआ।

बर्लिन में ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होंने लड़ाई के वक्त हिन्दुस्तानियों का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकड़े-टुकड़े हो गया। उन लोगों की आपस में नहीं बनी और एक-दूसरे से लड़ पड़े, क्योंकि हर शख्स दूसरे पर विश्वासघात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश-निकाले राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यही हाल होता है। बर्लिन के

इन हिन्दुस्तानियों में से बहुत-से तो मध्यश्रेणी के लोगों के उन बैठे-बिठाये पेशों में लग गए। महायुद्ध के बाद जर्मनी में इस तरह के पेशे अक्सर नहीं मिल सकते थे। अब जो उनमें लग गए उनमें क्रान्तिकारीपन का कोई चिह्न नहीं रहा। यहांतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लड़ाई के जमाने के इस पुराने दल की कहानी मनोरंजक है। इनमें ज्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की गर्मियों में जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियों के साथ उन्ही की-सी जिन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर (शराब) पीते थे और उनकी (जर्मनी की) संस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लड़ाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफान आया उससे विच-लित हुए बिना नहीं रह सके। उनकी भावना तो वास्तव में ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनों की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हें ब्रिटेन के दुश्मनों की ओर झुका दिया। लड़ाई शुरू होने के बाद फौरन ही कुछ और थोड़े-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीजरलैण्ड से जर्मनी जा पहुंचे। इन लोगों ने अपनी एक कमेटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आये, लेकिन इस वक्त तक यह कमेटी काफी महत्त्वपूर्ण हो गई थी। कमेटी पर यह महत्त्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार कुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी भावों को अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने कौमी मक-सदों को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थति का फायदा उठावें। वे यह नहीं चाहते थे कि महज जर्मनी के ही फायदे के लिए अपने को इस्तेमाल होने दें। इस मामले में उनकी बहुत चल नहीं सकती थी, लेकिन ये सब महसूस करते थे कि उनके पास कोई चीज जरूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हें जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आजादी की प्रतिज्ञा करे और इत्मीनान दिलाए कि वह उसपर कायम रहेगी। ऐसा मालूम होता था कि जर्मनी के वैदेशिक-दफ्तर ने इन लोगों से बाकायदा सुलहनामा किया, जिसमें उन्होंने यह वायदा किया कि अगर जर्मन लोगोंकी जीत हुई तो जर्मन-सरकार

हिन्दुस्तान की आजादी को मंजूर कर लेगी। इसी प्रतिज्ञा और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वायदा किया कि हम लड़ाई में जर्मनी की मदद करेंगें। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमेटी की इज्जत करती थी, और उसके प्रतिनिधियों के साथ करीब-करीब विदेशी-राजदूतों की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

खासतौर पर नातजुर्बेकार नौजवानों के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्त्व मिल गया, उससे उनमें से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं, बहुत ही बड़ी और युगान्तरकारी कार्रवाइयों में लगे हुए हैं। उसमें से बहुतों को बड़ी रोमांचक घटनाओं का सामना करना पड़ा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लड़ाई के पिछले हिस्से में उनकी महत्ता खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गई। हरदयाल को, जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर दिया गया था। कमेटी से उनकी बिलकुल नहीं बनी, और कमेटी तथा जर्मन-सरकार दोनों ही उनको विश्वास-पात्र नहीं मानते थे। उन्होंने उन्हें चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ में मैं यूरप में था, तब मुझे अचम्भा हुआ कि यूरप में रहनेवाले ज्यादातर हिन्दुस्तानियों के दिलों में हरदयाल के खिलाफ कितनी कटुता और कितनी नाराजगी है। उन दिनों वह स्वीडन में रहते थे। मैं उनसे नहीं मिला।

लड़ाई खत्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमेटी का बुरी तरह खात्मा हो गया। उन लोगों की तमाम उम्मीदों पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए जिन्दगी बिलकुल नीरस हो गई थी। उन्होंने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और वे उसमें हार गये थे। लड़ाई के सालों में उन्हें जो महत्त्व मिला, और जैसे बड़े-बड़े वाकयात हुए, उनके बाद तो हर हालत में जिन्दगी बोझा मालूम होती। लेकिन उन बेचारों को मुंह-मांगे इस तरह की बेफिक्री की जिन्दगी भी नहीं नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान लौट नहीं सकते थे और लड़ाई के बाद के हारे हुए जर्मनी में रहने के लिए कोई आराम की जगह थी नहीं। उन बेचारों को बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। उनमें से कुछेक को ब्रिटिश-सरकार ने बाद में हिन्दुस्तान आने की इजाजत दे दी, लेकिन बहुतों को तो जर्मनी में ही रहना पड़ा। उनकी हालत बड़ी नाजुक थी। जाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नाग-

रिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नहीं थे। जर्मनी के बाहर तो सफ़र करना मुमकिन था ही नहीं, जर्मनी में रहने में भी बहुत-सी मुश्किलें थीं। वे वहां की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी जिन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। दिन-पर-दिन उन्हें कोई-न-कोई फिक्र सवार रहती थी। हर वक्त उन्हें इसी बात के लिए परेशान रहना पड़ता था, कि क्या खायें और कैसे जियें ?

१६३३ के शुरू से नाजियों के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढ़ा दिया। अगर वे सोलहों आने नाजियों के मत को मान लें तो दूसरी बात है। अनार्यों और खासतौर पर एशियाई विदेशियों का आजकल जर्मनी में स्वागत नहीं होता। उन लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा उस वक्त तक वहां ठहरने भर दिया जाता है जबतक कि वे ठीक तरह से रहें। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफदार है। इसमें शक नहीं कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है। इसलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नहीं देना चाहता जिसने ब्रिटिश-सरकार को नाराज कर दिया हो।

बर्लिन में हमें जो देश निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमें से एक चम्पक रमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे और कुछ धूम-धाम पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियों ने उन्हें एक बुरा-सा खिताब दे रखा था। वह सिर्फ राष्ट्रीयता की भाषा में ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेल्मेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी में उन थोड़े-से हिन्दुस्तानियों में से थे, जिनकी नाजियों से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल में मैंने खबर पढ़ी कि बर्लिन में उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी किस्म के आदमी थे। आमतौर पर लोग उन्हें चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही काबिल और बड़े मजे के आदमी थे। हमेशा मुसीबतों में रहते। उनके कपड़े बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हें अपने खाने का इन्तजाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मजाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा। जब मैं इंग्लैण्ड में पढ़ रहा था, तब वह मुझसे

कुछ साल आगे थे । जब मैं हैरो में दाखिल हुआ, तब वह ऑक्सफोर्ड में थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान को नहीं लौटे । कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते । उनके तामोम पारिवारिक बन्धन खत्म हो चुके थे। और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फौरन ही वह दुःखी होने लगेंगे, और यह पावेंगे कि यहां उनका मेल नहीं मिलता । लेकिन इतने बरसों के बीत जाने और लम्बे-लम्बे सफर करने के बावजूद घर का खिचाव तो रहता ही है । देश से निकाला हुआ कोई भी शख्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैजिनी 'आत्मा का तपेदिक' कहता था, नहीं बच सकता ।

मैं यह जरूर कहूंगा कि मुझे दूसरे मुल्कों में जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमें ज्यादातर लोगों का मुझपर अच्छा असर नहीं पड़ा, यद्यपि मैं उनकी कुरबानियों की तारीफ करता था और जिन वाकई और असली मौजूदा मुसीबतों में वे फंसे हुए थे और उन्होंने जो तकलीफें सही थीं और जो सहनी पड़ रही थीं, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी । मैं उनमें से ज्यादा लोगों से नहीं मिला, क्योंकि उनकी तादाद बहुत काफी है और वे दुनिया-भर में फैले हुए हैं । उनमें से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने हैं; बाकी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये हैं और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयों की खिदमत करने की उन्होंने कोशिश की उन्हें वे भूल गये हैं । उनमें से जिन थोड़े-से लोगों से मैं मिला उनमें वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय[1] के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा

---

[1] मानवेन्द्रनाथ राय बंगाली हैं और पहले क्रान्तिकारी थे । यहां से भागकर वह रूस में बस गये । वहां इन्हें कोमिण्टर्न में अग्रगण्य स्थान मिला। कामिण्टर्न---कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल---साम्यवादियों की मुख्य संख्या है । बाद को वह उससे हट गये । इसका कारण यह बताया जाता है कि यह मुख्य संस्था बाहर के देशों की संस्थाओं से स्थानिक परिस्थितियों का विचार किये बिना अपनी नीति का कठोरता से पालन चाहती थी । चीन में ये इसी संस्था की तरफ से गये थे । उसके बाद ये हिन्दुस्तान में आये और पकड़े गये । बाद में छूट गये । इन्होंने अपनी एक अलग पार्टी बना ली है ।

—अनु०

असर पड़ा । राय से मैं कोई आध घंटे तक मास्को में मिला था। उन दिनों वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल के कट्टर कम्यूनिज्म से बाद को उनके कम्यूनिज्म में फर्क हो गया था। मैं समझता हूं कि चट्टो बाकायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ उनका झुकाव कम्यूनिज्म की तरफ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलों में पड़े हुए तीन साल से भी ज्यादा हो गए हैं।

इनके अलावा और भी बहुत-से हिन्दुस्तानी थे जो यूरप के देशों में घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियों की जबान में बातचीत करते, बड़े-बड़े जीवट की और अजीब बातें सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पड़ता था कि इन लोगों पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस (खुफिया महकमे) की छाप लगी हुई थी।

हां, हम बहुत-से यूरोपियनों और अमेरिकनों से भी मिले। जिनेवा से हम कई बार वीलनव में रोम्यां रोलां[1] से मिलने के लिए विला ओल्गा गये। उनके पास पहली मर्तबा जाते वक्त हम गांधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि और नाटककार की याद भी मैं बहुत बहुमूल्य समझता हूं। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। अब नाजियों के शासन में वह जर्मन नहीं रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक-स्वाधीनता-संघ के रोजर बाल्डविन के लिए है। जिनेवा में नामी लेखक श्री धनगोपाल मुकर्जी[2] से भी हमारी दोस्ती हो गई थी। वह अमेरिका में बस गये हैं।

यूरप जाने से पहले मैं हिन्दुस्तान में फ़्रैंक बुकमैन से मिला था। यह ऑक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेण्ट के हैं इन्होंने अपनी हलचल के सम्बन्ध में कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। यकायक धर्म-परिवर्तन करना या गुनाहों का इकबाल करते फिरना और आमतौर पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह में ऐसी बातें हैं जिनका बुद्धिवाद के साथ मेल नहीं खाता। मैं यह नहीं समझ सका

---

[1] सुप्रसिद्ध साम्राज्य-विरोधी फ्रेंच विद्वान्। इस समय वे फ्रांस में नजर-बंद हैं।—अनु०

[2] मई १९३६ में अमेरिका में इनकी बड़ी करुण परिस्थिति में मृत्यु हो गई। अपनी अनेक पुस्तकों में इन्होंने भारतीय सभ्यता के उज्ज्वल चित्र खींचे हैं। अंग्रेजी भाषा पर इनका आश्चर्यजनक प्रभुत्व था।—अनु०

कि जो शख्स जाहिरा तौर पर साफ-साफ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीब मनोभावों के शिकार कैसे हो जाते हैं और उनपर इन मनोविकारों का इस हद तक असर कैसे पड़ जाता है ? मेरा कौतूहल बढ़ा। जिनेवा में फ्रैंक बुकमैन मुझे फिर मिले और उन्होंने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया म उनका जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-सम्मेलन होनेवाला है उसमें मैं शामिल होऊं। मुझे अफसोस है कि मैं वहां नहीं जा सका और नजदीक से इस नई भावप्रवणता को नहीं देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभी तक अतृप्त ही है और मैं इस आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेण्ट की बढ़ती की जितनी खबरें पढ़ता हूं उतना ही आश्चर्य करता हूं।

२२

आपसी मतभेद

हमारे स्वीजरलैण्ड में पहुंचने के बाद फौरन ही इंग्लैण्ड में आम हड़ताल हो गई थी, जिससे मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हड़तालियों के साथ थी। कुछ दिनों के बाद जब हड़ताल बुरी तरह खत्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानो खुद मुझपर चोट पड़ी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनों के लिए इंग्लैण्ड जाने का मौका मिला। वहां कोयले की खानों के मजदूरों की लड़ाई अभी तक चल रही थी और रात में लन्दन आधे अंधेरे में रहता था। एक खान में भी कुछ समय के लिए गया। मेरा खयाल है कि वह जगह डरबीशायर में होगी। मर्दों, औरतों और बच्चों के पीले और पिचके हुए चेहरे मैंने अपनी आंखों से देखे। इससे भी ज्यादा आंखें खोलनेवाली बात यह हुई कि मैंने हड़ताल करनेवाले मजदूरों और उनकी औरतों पर स्थानीय या देहाती अदालतों में मुकदमे चलते हुए देखे। इन अदालतों के मजिस्ट्रेट खुद उन कोयले की खानों के डाइरेक्टर या मैनेजर थे। उन्हीं की अदालतों में मजदूरों का मुकदमा हुआ और उन्हें जरा-जरा से जुर्मों के लिए कुछ खासतौर पर बनाये गये कानूनों के मुताबिक सजा दे दी जाती थी। एक मुकदमे से मुझे खासतौर पर गुस्सा आया। अदालत के कठघरे में तीन या चार औरतें ऐसी लाई गईं जिनकी गोद में बच्चे थे। उनका जुर्म था कि उन्होंने हड़ताल करनेवालों की जगह पर काम करने जानेवाले मजदूर-द्रोहियों को धिक्कारा था। ये नौजवान माताएं और उनके नन्हें-नन्हें बच्चे दुःखी हैं और उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता, यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी। लम्बी लड़ाई से वे बहुत ही कमजोर हो गई थीं। उनकी हालत बहुत बिगड़ गई थी। उनमें उन मजदूर-द्रोहियों के प्रति कटुता आ गई थी जो उनके मुंह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

वर्ग-न्याय अर्थात् अमीर श्रेणी के लोग गरीब दर्जे के लोगों के साथ कैसा इन्साफ करते हैं, इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बातें पढ़ा करते हैं;

और हिन्दुस्तान में तो इस तरह के इन्साफों के किस्से रोजमर्रा की बातें हैं। लेकिन, किसी भी वजह से हो, मैं यह उम्मीद नहीं करता था कि इंग्लैण्ड में 'इन्साफ' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे दिल को भारी धक्का लगा। एक और बात, जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ, यह थी कि हड़ताल करनेवालों में डर की आबहवा फैली हुई थी। निश्चित-रूप से पुलिस और हाकिमों ने उन्हें बुरी तरह डरा दिया था जिससे वे बेचारे सब बातों को, मैं समझता हूं कि उनके साथ जो बेइज्जती का बर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही है कि एक लम्बी लड़ाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोड़ने को हां थी। दूसरे मजदूर-संघों के उनके साथी-मजदूरों ने उनका साथ छोड़ ही दिया था। लेकिन गरीब हिन्दुस्तानी के मुकाबले फिर भी दुनिया-भर का फर्क था। ब्रिटिश खानों के मजदूरों का संगठन तो अभी तक बहुत मजबूत था। सचमुच मुल्क-भर के मजदूरों की ही नहीं दुनिया-भर के मजदूर संघों की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय में काफी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मजदूरों को इनमें से एक भी बात नसीब नहीं। लेकिन फिर भी दोनों देशों के मजदूरों की भयभीत आंखों में एक अजीब साम्य दिखाई देता था।

उस साल हिन्दुस्तान में असेम्बली और प्रान्तीय-कौंसिल का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावों में कोई दिलचस्पी न थी, लेकिन वहां जो घमासान शब्द-युद्ध हुआ उसकी कुछ आवाजें स्वीजरलैण्ड में भी पहुंच गईं। स्वराज-पार्टी इन दिनों तक कौंसिल में बाकायदा कांग्रेस-पार्टी हो गई थी। इसकी मुखालिफत करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, प० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नई पार्टी बनाई थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नेशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ में यह नहीं आया और अभी तक मैं नहीं समझ सका कि नई पार्टी और पुरानी पार्टी में किन बुनियादी उसूलों का फर्क था। सच बात तो यह है कि आजकल कौंसिल की ज्यादातर पार्टियों में कोई कहने लायक फर्क नहीं है—उतना ही फर्क है जितना ईसरी और ईसरिया के नामों में। कोई असली उसूल उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं करता था। स्वराज-पार्टी ने पहले-पहल कौंसिलों में एक नया और लड़ाकू रुख अख्तियार किया और दूसरों के मुका-

बले वह ज्यादा गरम नीति से काम लेनें के पक्ष में थी। लेकिन यह तो मात्रा का फर्क था, तत्त्व का नहीं।

नई नेशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित-रूप से स्वराज-पार्टी से ज्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी। इसके अलावा वह सोलहों आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू-सभा के घनिष्ट सहयोग के साथ काम करती थी। मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ में आ सकता था क्योंकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक जाहिर करती थी। पुराने सम्बन्धों की वजह से वह कांग्रेस में जरूर बने हुए थे, लेकिन उनकी विचार-दृष्टि लिबरलों या माडरेटों के दृष्टि-कोण से ज्यादा भिन्न न थी। कांग्रेस नें सहयोग और सीधी लड़ाई के जो नये ढंग अख्तियार किये थे, वे उन्हें पसन्द न थे। कांग्रेस की नीति को तय करने में भी उनका कोई खास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बड़ी इज्जत करते थे और कांग्रेस में हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल मालवीयजी की कांग्रेस के प्रति आत्मीयता नहीं रही थी। वह उसकी कार्य-कारिणी-समिति के मेम्बर नहीं थे और वह कांग्रेस के आदेशों पर भी अमल नहीं करते थे, खासकर उन आदेशों पर जो कौंसिलों के बारे में दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोक-प्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानों के मामले में उनकी नीति कांग्रेस की नीति से जुदा थी। कांग्रेस के प्रति उनकी वैसी ही भावुकता-पूर्ण ममता थी, जैसी किसी एक संस्था से किसी का करीब-करीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हदतक इसलिए भी उन्हें कांग्रेस से प्रेम था क्योंकि आजादी की लड़ाई की दिशा में भी उनकी भावुकता उन्हें खींच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन कारणों से उनका दिल अक्सर कांग्रेस के साथ रहता था, खासतौर पर लड़ाई के वक्त में; लेकिन उनका दिमाग दूसरे कैम्पों में था। लाजिमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि खुद उनके भीतर भी लगातार एक खींचातानी होती रहती थी। कभी-कभी वह एक-दूसरे के खिलाफ दिशाओं में, पूर्व-पश्चिम दोनों तरफ, एक साथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगों की बुद्धि गड़बड़ी में पड़ जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालों की खिचड़ियों से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नेशनलिस्ट हैं, सामाजिक और आर्थिक

परिवर्तनों से उनका कोई वास्ता नहीं। वह पुराने कट्टर पंथ के समर्थक थे और हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह सनातन-धर्म को माननेवाले हैं। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुकेदार तथा बड़े-बड़े जमींदार ठीक ही उन्हें अपना हितचिन्तक मित्र समझते हैं। वह सिर्फ एक ही परिवर्तन चाहते हैं, पर उसे जरूर अन्तस्तल से चाहते हैं और वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का कतई हट जाना। उन्होंने अपनी जवानी में जो कुछ पढ़ा और जो राजनैतिक तालीम पाई थी उसका अब भी उनके दिमाग पर बहुत असर है और वह लड़ाई के बाद की, बीसवीं सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध-स्थिर उन्नीसवीं सदी के चश्मे से, टी० एच० ग्रीन, जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-संस्कृति और समाज-विज्ञान की तीन-चार वर्ष पुरानी भूमिका से, देखते हैं। यह एक विचित्र मेल है, जिसमें परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई हैं। लेकिन परस्पर-विरोधी बातों को हल करने की अपनी खुद की शक्ति में उनका विश्वास आश्चर्यजनक है। उठती जवानी से ही विविध क्षेत्रों में उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवाएं होती आई हैं। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय-जैसी विशाल संस्था कायम करने में उन्होंने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन बिलकुल पारदर्शक है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही प्रभावशाली है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व मोहक है। इन सब बातों से हिन्दुस्तान के लोगों के, खासतौर पर हिन्दुओं के, वह बहुत प्यारे हैं, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति में उनसे सहमत नहीं हैं, न उनके पीछे-पीछे ही चलते हैं, लेकिन वे उनसे प्रेम तथा उनकी इज्जत जरूर करते हैं। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के वृद्ध वशिष्ठ हैं, लेकिन ऐसे, जो समय से पीछे मालूम देते हैं और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से हैं। उनकी आवाज की तरफ लोगों का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते हैं उसे अब बहुत-से लोग न तो समझते ही हैं न उसकी परवाह ही करते हैं।

इन बातों से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी में शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज्यादा आगे बढ़ी हुई थी, और उसमें कांग्रेस की नीति पर डटे रहने का बड़ा अनुशासन जरूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज्यादा उग्र

न हो और जिसमें राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों मामलों में मन-मुताबिक काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनों बातें उन्हें उस नई पार्टी में मिल गईं, जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि लाला लाजपतराय क्यों नई पार्टी में शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ दक्षिण पक्ष और ज्यादा साम्प्रदायिक नीति की तरफ था। उस साल गर्मियों में जिनेवा में लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बातें वहां हुईं उनसे तो यह नहीं मालूम पड़ता था कि वह कांग्रेस-पार्टी के खिलाफ लड़ाकू रुख अख्तियार करेंगे। यह क्यों हुआ इस बात का अभीतक मुझे कुछ पता नहीं। लेकिन चुनाव की लड़ाई के दौरान में उन्होंने कुछ स्पष्ट आक्षेप किये थे जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन में क्या-क्या चल रहा था। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर यह इल्जाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान के बाहर के लोगों के साथ साजिश कर रहे हैं। उन्होंने एक यह भी इल्जाम लगाया कि काबुल में कांग्रेस की शाखा खोलकर इन्होंने कुछ साजिश की है। मेरा खयाल है कि उन्होंने अपने इन आक्षेपों की बाबत कोई खास बात कभी नहीं बताई। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफसील में कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैंने स्वीजरलैण्ड में हिन्दुस्तानी अखबारों में लालाजी के इलजामों को पढ़ा तो मैं दंग रह गया। कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मैं कांग्रेस की बाबत सब बातें जानता था। काबुल की कांग्रेस कमेटी का कांग्रेस से सम्बन्ध कराने में मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरुआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक्त यह नहीं मालूम था, अब भी नहीं मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलजामों की क्या तफसील थी, फिर भी मैं उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूं कि जहांतक कांग्रेस का ताल्लुक है इन इल्जामों की कोई बुनियाद नहीं हो सकती। मैं नहीं जानता कि इस मामले में लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफवाहों का उन्होंने एतबार कर लिया हो, और मेरा खयाल है कि उन दिनों मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उसका उनके ऊपर ज़रूर असर पड़ा होगा। हालांकि उस बात-चीत में मुझे कोई बात ऐसी गैर-मामूली नहीं मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक्त में तो गैर-मामूली हालत पैदा हो ही जाती है। उनमें एक ऐसी अजीब बात होती है

कि लोगों का मिजाज बिगड़ जाता है और वे सारासार का विचार भूल जाते हैं। इन चुनावों को मैं जितना ही ज्यादा देखता हूं उतनी ही ज्यादा मेरी हैरत बढ़ती है, और मेरे मन में उनके खिलाफ ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतन्त्री भाव के कतई खिलाफ है।

लेकिन शिकायतों की बात जाने दीजिए, देश के बढ़ते हुए साम्प्रदायिक वातावरण को देखकर, नैशनलिस्ट पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खड़ा होना लाजिमी था। एक तरफ मुसलमानों के दिलों में हिन्दुओं की ज्यादा तादाद का डर था, दूसरी तरफ हिन्दुओं के दिलों में इस बात पर बहुत नाराजगी थी कि मुसलमान उनपर धौंस जमाते हैं। बहुत से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानों का रुख बहुत-कुछ 'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दो नहीं तो ठीक कर दूंगा' जैसा है। वे दूसरी तरफ सरकार की तरफ मिलने की धमकी देकर जबरदस्ती खास रिआयतें ले लेने की भी बहुत ज्यादा कोशिश करते थे इसी वजह से हिन्दू महासभा को कुछ महत्त्व मिल गया, क्योंकि वह हिन्दू राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओं की हिन्दू साम्प्रदायिकता मुसलमानों की साम्प्रदायिकता के मुकाबले पर आ डटी थी। महासभा की लड़ाकू हरकतों का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानों की यह साम्प्रदायिकता और जोर पकड़ गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया में देश का साम्प्रदायिक पारा बहुत चढ़ गया। खासतौर पर यह सवाल देश के अल्पसंख्यक दलों और बहुसंख्यक दल के झगड़े का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि देश के कुछ हिस्सों में बात बिलकुल उलटी थी। पंजाब और सिन्ध में हिन्दू और सिक्ख दोनों की तादाद मिलकर भी मुसलमानों से कम थी। और इन सूबों के अल्पसंख्यक हिन्दू और सिक्खों को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसंख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानों को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में। या अगर बिलकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यों कहिए कि दोनों दलों के मध्यमश्रेणीवाले, नौकरी की फिराक में लगे हुए, लोगों को यह डर था कि कहीं ऐसा न हो जाय कि नौकरियां मिलने ही न पावें; और कुछ हदतक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले जमींदारों और साहूकारों वगैरा को यह डर था कि कहीं ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जांय जिनसे हमारे स्वार्थों का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढ़ती से स्वराज-पार्टी को बहुत नुकसान पहुंचा

उसके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोड़कर चले गये और मुसलमानों की साम्प्रदायिक जमातों में जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नेशनलिस्ट पार्टी में जा मिले। जहांतक हिन्दू लीडरों से ताल्लुक था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताकतवर मुकाबला था और साम्प्रदायिकता के तूफान के केन्द्र पंजाब में उसका बहुत असर था। स्वराज-पार्टी या कांग्रेस की तरफ चुनाव लड़ने का खास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबन्धुदास भी अब नहीं रहे थे। उन्हें लड़ाई में मजा आता था। किसी हालत में वह लड़ाई से जी नहीं चुराते थे, और प्रतिपक्षी की ताकत बढ़ती हुई देखकर उन्होंने चुनाव की लड़ाई में अपनी तमाम ताकत लगा दी। उन्होंने गहरी चोटें खाईं और दीं। दोनों पार्टियों में से किसी ने भी किसी का कुछ लिहाज नहीं किया। शिष्टता भी छोड़ दी। इस चुनाव के बाद भी उसकी याद बड़ी कड़वी बनी रही।

नेशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफी मात्रा में कामयाबी मिली। लेकिन इस कामयाबी ने निश्चित रूप से असेम्बली की राजनैतिक आब कम कर दी। आकर्षण-केन्द्र और भी ज्यादा नरम नीति की ओर चला गया। स्वराज-पार्टी खुद कांग्रेस का दक्षिण पक्ष था। अपनी ताकत बढ़ाने के लिए उसने बहुत-से संदिग्ध लोगों को पार्टी में घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता में कमी हो गई। नेशनलिस्ट पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। उपाधिधारी लोगों, बड़े जमींदारों, मिल-मालिकों तथा दूसरे लोगों का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमें आ इकट्ठा हुआ। इन लोगों का भला राजनीति से क्या ताल्लुक ?

उस साल १९२६ के अखीर में हिन्दुस्तान में एक भारी दुःखद घटना से अंधेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान-भर घृणा व रोष से कांप उठा। उससे पता चलता था कि जातीय वैमनस्य हमारे लोगों को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी में चारपाई पर पड़े हुए थे, एक धर्मान्ध मुसलमान ने कत्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियों का सामना किया था उसकी ऐसी मौत! करीब-करीब आठ बरस पहले इसी आर्य समाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओं और मुसलमानों की

एक बहुत बड़ी सभा में एकता का और हिन्दुस्तान की आजादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड़ ने 'हिन्दू-मुसलमानों की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियों में उन्होंने उस ध्वनि पर अपने खून की एक संयुक्त मुहर लगा दी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण-पखेरू उड़ गए! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा!

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम में शारीरिक तकलीफ सहने और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का मैं हमेशा से प्रशंसक रहा हूं। मेरा खयाल है कि हममें से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा कद, भव्यमूर्ति, संन्यासी के वेश में बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आंखें और चेहरे पर कभी-कभी दूसरों की कमजोरियों पर आनेवाली चिड़चिड़ाहट या गुस्से की छाया का गुजरना, मैं इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूं? अक्सर वह मेरी आंखों के सामने आ जाती है।

२३

ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर में मैं इत्तफाक से बर्लिन में था और वहीं मुझे यह मालूम हुआ कि जल्दी ही ब्रसेल्स शहर में पद-दलित कौमों की एक कान्फ्रेंस होनेवाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने हिन्दुस्तान को लिखा कि अपनी कांग्रेस को ब्रसेल्स-कांग्रेस में हिस्सा लेना चाहिए। मेरी यह बात पसन्द की गई और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए भारत की कांग्रेस का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह कांग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू में हुई। मुझे पता नहीं कि यह खयाल पहले-पहल किसको सूझा? उन दिनों बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देशनिकाला पाये हुए राजनैतिक लोगों और दूसरे देशों के उग्र विचार के लोगों को अपनी तरफ खींचता था। इस मामले में बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुंच रहा था। वहां कम्यूनिस्ट दल भी काफी मजबूत था। पद-दलित कौमों में आपस में तथा इन कौमों में और मजदूर उग्रदलों में एक-दूसरे के साथ मिलकर संयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनों लोगों में फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्यवाद नाम की चीज के खिलाफ आजादी की लड़ाई सब के लिए एक-सी है; इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लड़ाई की बाबत मिलकर गौर किया जाय और जहां हो सके वहां मिलकर काम करने की कोशिश भी की जाय। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली वगैरा जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के खिलाफ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लड़ाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नहीं थे, इसलिए जर्मन सरकार दूसरी ताकतों के उपनिवेशों और अधीन देशों में आन्दोलन की इस बढ़ती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणों में से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों में सबसे ज्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहां की क्योमिनतांग-पार्टी के गरमदल के थे। यह पार्टी उन दिनों चीन में तूफान की तरह जीतती जा रही थी और

उसकी अप्रतिरोध गति के आगे पुराने जमाने के जागीरदारी तत्त्व जमीन में लुढ़कते नजर आ रहे थे। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताकतों ने भी अपनी तानाशाही आदतों और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब चीन के एके और उसकी आजादी के मसले के हल हो जाने में ज्यादा देर नहीं लगेगी। क्योमिनतांग खुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किलें आने को थीं उन्हें भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार-द्वारा अपनी ताकत बढ़ाना चाहती थी। गालिबन इस पार्टी के वाम पक्ष के लोगों ने ही--जो दूसरे देशों के कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों से मिलकर काम करते थे—इस तरह के प्रचार पर जोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्कों में चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मजबूत कर सकें। उस वक्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर-प्रतिस्पर्धी और कट्टर-शत्रु-दलों में नहीं बंट गई थी। उस वक्त वह बाहर से देखनेवाले सब लोगों को संयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्योमिनतांग के यूरोपियन प्रतिनिधियों ने पद-दलित कौमों की कान्फ्रेंस करने के विचार का स्वागत किया, शायद उन्होंने ही कुछ और लोगों से मिलकर इस विचार को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोग भी शुरू से इस विचार के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्यूनिस्ट लोग कान्फ्रेंस के मामले में अलग, पीछे ही, रहे। लेटिन अमेरिका[1] से भी क्रियात्मक सहायता और मदद आई, क्योंकि उन दिनों वह संयुक्त-राज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद के मारे कुड़मुड़ा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी। उसका सभापति भी उग्र दल का था। मैक्सिको इस बात के लिए उत्सुक था कि वह संयुक्तराज्य के खिलाफ लेटिन अमेरिका के गुट्ट का नेतृत्व करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स कांग्रेस में बड़ी दिलचस्पी ली। वहां की सरकार एक सरकार की हैसियत से तो कांग्रेस में हिस्सा नहीं ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहां वह एक तटस्थ दर्शक की हैसियत से मौजूद रहे।

---

[1] लेटिन अमेरिका अर्थात् मैक्सिको, ब्राजील, बोलिविया इत्यादि अमेरिकन प्रदेश---जहां लैटिन भाषा से निकली भाषाएं बोलनेवाले लोग यूरप से जाकर बसे हैं, जैसे—फ्रेंच, इटेलियन, स्पेनिश, पोर्च्युगीज आदि। —अनु०

ब्रसेल्स में जावा, हिन्दी-चीन, फिलस्तीन, सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका के अरब और अफ्रीका के हब्शी लोगों की कौमी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इनके अलावा बहुत-से मजदूरों के उग्रदलों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत-से ऐसे लोग भी, जिन्होंने एक युग से मजदूरों की लड़ाइयों में खास हिस्सा लिया था, वहां मौजूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहां थे। उन्होंने कांग्रेस की कार्रवाई में काफी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहां कम्यूनिस्टों की हैसियत से न आकर कई मजदूर-संघ या वैसी ही संस्थाओं के प्रतिनिधि होकर आये थे।

जार्ज लेन्सबरी उस कांग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होंने बहुत ही जोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि कांग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टों के साथ जोड़ दिया था। लेकिन इस बात में कोई शक नहीं कि वहां एकत्र लोग कम्यूनिस्टों के प्रति मित्रभाव रखते थे और यद्यपि उनमें और कम्यूनिस्टों में कई बातों में समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई बातें एसी भी थीं जिनमें मिलकर काम किया जा सकता था।

वहां जो स्थायी संस्था, साम्राज्यवाद-विरोधी लीग, कायम की गई उसका भी सभापतित्व मि० लेन्सबरी ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फौरन ही उन्हें अपनी इस जल्दबाजी पर पछताना पड़ा, या शायद ब्रिटिश मजदूर-दल के उनके साथियों ने उनकी इस बात को पसन्द नहीं किया। उन दिनों यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही बढ़कर 'सम्राट-सरकार' बनने को था। तब भला मन्त्रि-मण्डल के भावी सदस्य खतरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति में कैसे पैर फंसा सकते थे? मि० लेन्सबरी ने पहले तो काम में बहुत व्यस्त रहने का बहाना करके लीग के सभापतित्व से इस्तीफा दे दिया, बाद को उन्होंने उसकी मेम्बरी भी छोड़ दी। मुझे इस बात से बहुत अफसोस हुआ कि जिस व्यक्ति के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ की थी उसमें यकायक ऐसी तब्दीली होगई।

कुछ भी हो, काफी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं। उसमें एक तो मि० आइंस्टीन[१] हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन,[२] और

---

[१] **सुप्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक, जो यहूदी होने के कारण जर्मनी से निर्वासित कर दिये गये थे। इनका देहांत हो चुका है।**

[२] **स्वतन्त्र चीन के प्रथम प्रमुख सनयात सेन की विधवा पत्नी। —अनु०**

मेरा खयाल है कि रोम्यां रोलां भी। कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफा दे दिया, क्योंकि फिलस्तीन में अरबों और यहूदियों के जो झगड़े हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी।

ब्रसेल्स-कांग्रेस के बाद लीग की कमेटियों की कई मीटिंगें समय-समय पर भिन्न-भिन्न जगहों में हुईं। इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली। उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मजदूरों के जो भीतरी संघर्ष चल रहे हैं उनकी तह तक पहुंचने में भी मुझे आसानी हुई। उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढ़ा था, और कुछ तो मैं पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी, क्योंकि उनसे मेरा कोई जाती ताल्लुक नहीं पड़ा था। लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा जो इन भीतरी संघर्षों में प्रकट होते हैं। दूसरी इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल[1] नाम की मजदूरों की जो दो दुनिया हैं उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी से थी। लड़ाई से लेकर अबतक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान में इस इंटरनेशनल के सबसे जबर्दस्त हिमायती ब्रिटिश मजदूर दल के तरीकों का खुद तजरबा हो चुका था। इसलिए लाजिमी तौर पर कम्यूनिज्म की बाबत मेरा खयाल अच्छा हो गया; क्योंकि उसमें कितने भी ऐब क्यों न हों, कम्यूनिस्ट साम्राज्यवादी और पाखण्डी तो कम-से-कम न थे। कम्यूनिज्म से

---

[1] अखिल यूरप के श्रमजीवियों के संघ के ये नाम हैं। पहला संघ, जिसे मार्क्स ने स्थापित किया था, नाममात्र का था। दूसरा संघ १८८९ में स्थापित हुआ। उसमें जोरदार प्रस्ताव होते, लेकिन उनपर अमल शायद ही होता। उसने इस आशय के प्रस्ताव किये थे कि पूंजीपति राज्यतन्त्र में अथवा युद्ध में कभी भाग न लिया जाय। ये १९१४-१८ के महायुद्ध में यों ही धरे रह गये। तब १९१९ में बोल्शेविक लोगों ने तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ स्थापित किया। इस संघ की कार्यप्रणाली क्रान्तिकारी है। इसका प्रधान उद्देश्य है— संसार से पूंजीवाद का नाश और श्रमजीवियों की डिक्टेटरशिप की स्थापना करना। दूसरा संघ सुधारक और यह तीसरा क्रान्तिकारी माना जाता है। —अनु०

मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तों की वजह से नहीं था, क्योंकि मैं कम्यूनिज्म की कई सूक्ष्म बातों की बाबत ज्यादा नहीं जानता था। उस वक्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातों तक ही सीमित थी। ये बातें और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टों से मैं, उनके डिक्टेटराना ढंग तथा उनके नये लड़ाकू और कुछ हदतक अशिष्ट तरीके से और जो लोग उनसे सहमत न हों उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतों की वजह से चिढ़ जाता था। उनके कहने के मुताबिक तो मेरा यह मनोभाव मेरी बुर्जुआओं की-सी अमीराना तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह भी थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमेटियों की बैठकों में बहस के छोटे-छोटे मामलों में मैं मामूली तौर पर एंग्लो-अमेरिकन मेम्बरों की तरफ रहता था। किस तरीके से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले में तो हम लोगों के दृष्टि-कोण एक-से ही थे। मैं और वे लोग ऐसे सब प्रस्तावों के खिलाफ थे जो लम्बे-चौड़े और अलंकारिक हों और जो घोषणापत्रों-जैसे मालूम पड़ते हों। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी चीज चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशों की परम्परा इसके खिलाफ थी। अक्सर कम्यूनिस्टों और गैरकम्यूनिस्टों में भी मत-भेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राजी हो जाते थे। इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमेटियों की बैठकों में शामिल नहीं हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियों के वैदेशिक औपनिवेशिक दफ्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ खौफ खाते थे। ब्रिटिश-वैदेशिक विभाग के नामी लेखक 'अंगूर' ने अपनी एक किताब में इस कान्फ्रेंस का कुछ सनसनीदार और कहीं-कहीं हास्यास्पद हाल दिया है। गालिबन खुद कांग्रेस में खुफियाओं की भरमार थी। बहुत-से प्रतिनिधि भी कई खुफियादलों के प्रतिनिधि थे। इसकी हमें एक मजेदार मिसाल मिली। मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनों पेरिस में रहते थे। उनसे एक दिन फ्रांस की खुफिया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज कुछ मामलों की बाबत दोस्ताना तरीके से कुछ बातें पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बातें पूछ चुके तब उन अमेरिकन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नहीं, मैं तो आपसे

पहले भी मिल चुका हूं। अमेरिकन ने उन्हें बड़े गौर से देखा; लेकिन उन्हें यह मंजूर करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहां देखा। तब खुफिया पुलिस के उन साहब ने उन्हें बताया, कि मैं आपसे ब्रसेल्स-कांग्रेस में नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक्त मैंने अपना चेहरा और अपने हाथ वगैरा सब बिलकुल काले कर लिये थे !

साम्राज्य-विरोधी-संघ की एक बैठक कोलोनमें हुई और मैं भी उसमें शामिल हुआ। जब कमेटी की बैठक खत्म हो गई तब हमसे यह कहा गया कि, चलो, नजदीक ही डुसेल्डॉर्फ में सेक्को-वेन्जेटी[1] के सिलसिले में जो जलसा हो रहा है उसमें चलें। जब हम उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पासपोर्ट दिखलाइए। हममें से ज्यादातर लोगों के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मैं अपना पासपोर्ट कोलोनके होटल में छोड़ आया था। क्योंकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ तो सिर्फ कुछ घंटों के लिए ही आए थे। इसपर मुझे पुलिस-थाने में ले जाया गया। मेरी खुशकिस्मती से इस मुसीबत में मुझे दो साथी भी मिल गए। वे थे एक अंग्रेज और उनकी बीवी। ये दोनों भी अपने पासपोर्ट कोलोन में छोड़ आए थे। हमें वहां कोई एक घंटा ठहरना पड़ा होगा, इस बीच में शायद फोन से सब बातें दर्याप्त करली गईं। इसके बाद पुलिसवालों ने हमें जाने देने की मेहरबानी की।

पिछले सालों में यह साम्राज्य-विरोधी-लीग कम्यूनिज्म की तरफ ज्यादा झुक गई। लेकिन जहांतक मझे मालूम है, उसने किसी वक्त अपनी अलग हस्ती को नहीं खोया। मैं तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रों द्वारा ही रख सकता था। १९३१ में कांग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें मैंने जो हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज्यादा नाराज हो गई और उसने मुझे बिलकुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यों कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मैं यह मंजूर करता हूं कि मैंने उसे नाराज होने का काफी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी

---

[1]दो इटालियन मजदूर-कार्यकर्त्ता जिन्हें अमेरिकन सरकार ने झूठे मुकदमे चलाकर फांसी की सजा दी थी। सारे मजदूर-संसार में इस घटना से भारी खलबली मची थी। —अनु०

ह मुझे स्थिति साफ करने का कुछ मौका दे सकती थी।

१६२७ की गर्मियों में मेरे पिताजी यूरप आये। मैं उनसे वेनिस में मिला। और उसके बाद कुछ महीनों तक हम लोग अक्सर साथ-साथ रहे। हम सब लोगों —मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहिन और मैंने— नवम्बर में थोड़े दिनों के लिए मास्को की यात्रा की। हम लोग मास्को में बहुत ही थोड़े दिनों के लिए, सिर्फ तीन-चार दिन के लिए ही गये थे; क्योंकि हमने यकायक वहां जाना तय किया था। लेकिन हमें इस बात की खुशी है कि हम वहां गये; क्योंकि उसकी इतनी-सी झांकी भी काफी थी। इतनी जल्दी में किया गया वह दौरा हमें नये रूस की बाबत न तो ज्यादा बता ही सकता था न उसने बताया ही, लेकिन उसने हमें अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सब सोवियट और समष्टिवादी विचार बिलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम कानूनी और विधान-सम्बन्धी थी और वे उस ढांचे में से आसानी से नहीं निकल सकते थे। लेकिन मास्को में उन्होंने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित-रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अखबार में पढ़ा। इसके कुछ दिनों बाद पिताजी लन्दन में—प्रिवी-कौंसिल में—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील में सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी जमींदारी का मुकदमा था जिसमें शुरू-शुरू में बहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुकदमे में मुझे कुछ दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक मर्त्तबा मैं सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशविरे में शामिल होने के लिए साइमन साहब के दफ्तर में गया था।

१६२७ का साल भी खत्म हो रहा था, और यूरप में हम बहुत ज्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी यूरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गए होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी यूरप, टर्की और मिस्र में भी बितावें। लेकिन उस वक्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि कांग्रेस का जो अगला जलसा मदरास में, बड़े दिन की छुट्टियों में, होने को था उसमें शामिल हो सकूं। इसलिए मैं, मेरी पत्नी, मेरी बहिन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू में मारसेल्स से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और यूरप में ही रहे।

२४

हिन्दुस्तान आने पर फिर राजनीति में

यूरप से मैं बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक अवस्था लेकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चंगी तो नहीं हुई थीं, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थीं। इसलिए मुझे उनकी तरफ से किसी किस्म की फिक्र नहीं रही थी। मैं महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भर गया है; और इससे पहले भीतरी द्वन्द्व और मनसूबों के बिगड़ जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-बिन्दु व्यापक हो गया था और केवल राष्ट्रीयता का लक्ष्य मुझे निश्चित-रूप से तंग और नाकाफी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता लाजिमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में कदमभर है। जबतक सामाजिक आजादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो देश ही अधिक उन्नति कर सकता है, न उसमें रहनेवाले लोग ही। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामले ज्यादा साफ दिखाई दे रहे हैं। आजकल की दुनिया को, जोकि हर वक्त बदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलों और राजनीति के बारे में ही नहीं, लेकिन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों पर जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढ़ा। यूरप और अमेरिका में जो बड़े-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे, उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे जोरों से अपनी ओर खींचता था और ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया को आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास यूरप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक संकट तो उसके बाद ही आने को था। लेकिन मैं वहां से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य में यूरप में और दुनिया में भारी उथल-पुथल होनेवाली है, तथा

बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले हैं।

मुझे फौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखाई देता था कि हम देश को इन विश्वव्यापी घटनाओं के लिए शिक्षित व उद्यत करें, उसे उनके लिए जहां तक हमसे हो सके वहां तक तैयार रखें। यह तैयारी ज्यादातर विचारों की तैयारी थी, जिसमें सबसे पहले यह थी कि हमारी राजनैतिक आजादी के लक्ष्य के बारे में किसी को कुछ शक नहीं होना चाहिए। यह बात तो सबको साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और औपनिवेशिक-पद के बारे में जो अस्पष्ट और गोलमोल बातें की जाती हैं उससे आजादी बिलकुल जुदा चीज है। इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था। मैंने महसूस किया कि कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ वह ज्यादा दूर जा सकेगी बहुत ज्यादा होगा। कांग्रेस तो महज एक राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था है, जिसे दूसरे तरीकों पर सोचने का अभ्यास न था। लेकिन फिर भी, इस दिशा में भी शुरुआत की जा सकती है। कांग्रेस से बाहर मजदूर-मण्डलों में और नौजवानों में खयालात कांग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे इसके लिए मैं अपने को कांग्रेस के दफ्तर के काम से अलग रखना चाहता था। इसके अलावा मेरे मन में कुछ-कुछ यह खयाल भी था कि मैं कुछ महीने सुदूर भीतर के गांवों में रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने में बिताऊं। लेकिन ऐसा होना न था और घटनाओं ने तय कर लिया था कि वे मुझे कांग्रेस की राजनीति में घसीट लेंगी।

हम लोगों के मदरास पहुंचने के बाद फौरन ही मैं कांग्रेस के भंवर में फंस गया। कार्य-समिति के सामने मैंने कई प्रस्ताव पेश किये। आजादी के बारे में, लड़ाई के खतरे के बारे में, साम्राज्य-विरोधी-संघ के बारे में और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव थे। करीब-करीब ये सब प्रस्ताव मंजूर हुए और वे कार्य-समिति के सरकारी प्रस्ताव बना लिये गये। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश करने पड़े और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब करीब-करीब एक स्वर से पास हो गए। आजादी के प्रस्ताव का तो मिसेज एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया। इन चारों ओर के समर्थन से मुझे बड़ी खुशी हुई, लेकिन मेरे दिल में यह खयाल बेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगों ने उन प्रस्तावों को समझा ही नहीं है कि वे क्या हैं या उन्होंने उनके मानी तोड़-मरोड़कर बिलकुल दूसरे लगा लिये हैं। कांग्रेस के बाद फौरन ही आजादी के प्रस्ताव के बारे

में जो बहस उठ खड़ी हुई उससे यह जाहिर हो गया कि असल में यही बात थी।

मेरे ये प्रस्ताव कांग्रेस के हस्बमामूल प्रस्तावों से कुछ भिन्न थे। वे एक नया दृष्टिकोण जाहिर करते थे। इसमें शक नहीं कि बहुत-से कांग्रेसी उन्हें पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हें नापसन्द करते थे, लेकिन इतना नहीं कि उनका विरोध करें। शायद ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव निरे तात्त्विक हैं, उनके मंजूर होने, न होने से कोई खास फर्क नहीं पड़ता, और उनसे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उनको मंजूर कर लिया जाय और ज्यादा महत्त्वपूर्ण काम की तरफ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनों आजादी का प्रस्ताव कांग्रेस में उठनेवाली एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नहीं करता था जैसा कि उसने एक या दो साल बाद किया। उस वक्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढ़ते जानेवाले भाव को ही प्रकट करता था।

गांधीजी उन दिनों मदरास में ही थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे, लेकिन उन्होंने कांग्रेस के निति-निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लिया। वह कार्य-समिति के मेम्बर थे, पर उसकी बैठकों तक में भी शामिल न हुए थे। जबसे कांग्रेस में स्वराज-पार्टी का जोर हुआ, तबसे कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हां, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्त्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नहीं की जाती थी। मुझे नहीं मालूम कि मैंने कांग्रेस में जो प्रस्ताव पेश किये उन्हें वह कहां तक पसन्द करते थे? मेरा खयाल तो ऐसा है कि वह उन्हें नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावों में जो कुछ कहा गया था, उसकी वजह से उतना नहीं, जितना अपनी साधारण प्रवृति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नहीं की। मेरे पिताजी तो उन दिनों यूरप ही में थे।

आजादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो कांग्रेस की उसी बैठक में उसी वक्त जाहिर हो गई थी, जबकि साइमन कमीशन की निन्दा और उसके बहिष्कार के लिए अपील-सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फल-स्वरूप यह तजवीज की गई कि सब दलों की एक कान्फ्रेंस बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनावे। यह जाहिर था कि जिन माडरेट दलों का सहयाग लेने की कोशिश की गई थी, वे आजादी की भाषा में कभी विचार

नहीं कर सकते थे। वे तो ज्यादा-से-ज्यादा उपनिवेशों के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर कांग्रेस का सेक्रेटरी बनना पड़ा। इसके कुछ कारण तो व्यक्तिगत थे। उस साल के प्रेसिडेंट डाक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी इच्छा थी कि मैं ही सेक्रेटरी बनूं और मुझे भी यह खयाल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए हैं तब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं यह देखूं कि उनके मुताबिक काम हो। यह सच है कि सर्वदल-सम्मेलन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावों के असर को मार दिया था, फिर भी कुछ तो रही गया था। इसके अलावा मेरे मन्त्रि-पद मंजूर कर लेने का असली कारण तो यह डर था कि कांग्रेस सब दलों की कान्फ्रेंस के जरिये या दूसरी वजह से कहीं माडरेट स्थिति की तरफ, राजीनामे और समझौते की तरफ, न झुक जाय। उन दिनों ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस दुविधा में पड़ी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ बढ़ती तो कभी नरमी की तरफ हटती थी। मैं चाहता था कि जहांतक मुझसे हो सके वहांतक इस दुविधा में झूलती हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ न झुकने दूं और उसे आजादी के ध्येय पर उठाए रहूं।

कांग्रेस के सालाना जलसों के मौकों पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते हैं। मदरास में इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेंस' नाम का हुआ। इसका पहला (व आखिरी) जलसा उसी साल वहीं हुआ। मुझसे कहा गया कि मैं उसका सभापति बन जाऊं। मुझे यह खयाल पसन्द आया, क्योंकि मैं अपने को रिपब्लिकन (प्रजातन्त्रवादी) समझता हूं। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नहीं मालूम था कि इस कान्फ्रेंस को करानेवाले साहब कौन हैं और मैं यों ही बरसाती मेंढकों की तरह पैदा होनेवाली चीजों से अपना सम्बन्ध नहीं करना चाहता था। आखिर में जाकर मैं उसका सभापति बना। लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पड़ा; क्योंकि ऐसे बहुत-से मामलों की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेंस भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनों तक मैंने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियां मुझे मिल जायं। लेकिन मेरी सब कोशिशें बेकार गईं। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नई-नई चीजें कायम करना पसन्द करते हैं और फिर उनकी तरफ से उदासीन होकर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं।

इस समालोचना में बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नहीं जानते।

कांग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नहीं हो पाए थे कि खबर मिली कि दिल्ली में हकीम अजमलखां की मृत्यु हो गई। कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुजुर्ग राजनीतिज्ञों में से थे। लेकिन उसके अलावा वह कुछ और भी थे। कांग्रेस के नेताओं में उनकी अपनी खास जगह थी। यद्यपि जिस पुराने कट्टर तरीके से उनका लालन-पालन हुआ, उसमें नयेपन का तो कहीं पता तक न था और मुगलों के जमाने की शाही दिल्ली की तहजीब में वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफत को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बातें सुनकर, और उनके मजाकों को सुनकर तबीयत खुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार में वह पुराने जमाने के रईसों के नमूने थे। उनकी नजर और तौर-तरीके शाही थे। उनका चेहरा भी मुगल सम्राटों की मूर्तियों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख्स मामूलीतौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की में शामिल नहीं होते और जबसे आन्दोलनकारियों की नई नस्ल ने उन्हें परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान में रहनेवाले अंग्रेज इस पुराने ढर्रे के लोगों की याद करके लम्बी सांस लेते हैं। अपनी शुरू की जिन्दगी में हकीम अजमलखां का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह हकीमों के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे में बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लड़ाई के पिछले सालों के जमाने की घटनाओं और उनके पुराने दोस्त और साथी डाक्टर अन्सारी का असर उन्हें कांग्रेस की तरफ ढकेल रहा था। इसके बादकी घटनाओं ने, पंजाब के मार्शल-लॉ और खिलाफत के सवाल ने तो उनके दिल पर गहरा असर डाला और वह राजी-खुशी से गांधीजी के असहयोग के नये तरीके के हामी हो गए। कांग्रेस में अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई कीमती खूबियां लाये। वह पुराने और नये ढर्रे के लोगों के बीच दोनों को मिलनेवाली कड़ी बन गये, और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगों की मदद दिला दी। इस तरह उन्होंने नयों और पुरानों में एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढ़नेवाली टुकड़ी को ताकत और मजबूती पहुंचाई। हिन्दू और मुसलमानों को भी उन्होंने एक-दूसरे के बहुत नजदीक ला दिया; क्योंकि दोनों ही उनकी इज्जत करते थे और दोनों पर हा उनकी मिसाल का असर पड़ा था। गांधीजी के लिए

तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गए, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानों के मामले में उनके लिए 'ब्रह्मवाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी कुदरतन् एक-दूसरे के दोस्त हो गए।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओं ने मुझपर यह आरोप लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फारसी संस्कृति के असर के कारण मैं हिन्दुओं के भावों से अनभिज्ञ हूं। मैं किस संस्कृति से सम्पन्न हूं या मेरे पास कोई संस्कृति है भी या नहीं, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। दुर्भाग्य से फारसी जबान तो मैं जानता भी नहीं। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फारसी संस्कृति के वातावरण में बड़े हुए थे। यह संस्कृति उत्तर भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत में मिली थी और आज के इन बिगड़े हुए दिनों में भी दिल्ली और लखनऊ उसके खास केन्द्र हैं। कश्मीरी ब्राह्मणों में समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान में आने पर जब उन्होंने उन दिनों यह देखा कि ऐसी संस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होंने उसे अख्तियार कर लिया और उनमें फारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होंने उतनी ही तेजी के साथ नई व्यवस्था के भी अनुसार अपने को बदल लिया। जब अंग्रेजी भाषा का जानना और यूरोपियन संस्कृति को ग्रहण करना जरूरी हो गया तब उन्होंने उन्हें भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान में कश्मीरियों में फारसी के कई नामी विद्वान् हैं। इनमें दो के नाम लिये जा सकते हैं, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी में ऐसी बहुत-सी बातें थीं जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने पुराने खानदानी रिश्ते भी ढूँढ निकाले। उन दोनों में गहरी दोस्ती हो गई। वे एक-दूसरे को 'भाई-साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनों में से सिर्फ एक और सब-से-कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतों में हकीमजी बहुत ही पुराने विचारों के थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतों को नहीं छोड़ सकते थे। उनके परिवार में जैसा कड़ा परदा किया जाता था वैसा मैंने कहीं नहीं देखा था। फिर भी हकीम साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरतें अपनी आजादी हासिल न कर लें तबतक वह मुल्क हरगिज तरक्की नहीं कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत

जोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आजादी की लड़ाई में वहां की औरतों ने जो हिस्सा लिया है उसे मैं बहुत ही काबिले-तारीफ समझता हूं। उनका कहना था कि खासतौर पर टर्की की औरतों की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलखां की मौत से कांग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि कांग्रेस का एक सबसे ताकतवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अब तक हम सब लोगों को दिल्ली जाने पर वहां किसी चीज की कमी मालूम होती है; क्योंकि हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बल्लीमारान में उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर में तरह-तरह की हलचलों की भरमार थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक नई प्रेरणा, एक नई जिन्दगी जो तरह-तरह के सभी समूहों में एक-सी मौजूद थी, लोगों को आगे की तरफ बढ़ा रही है। जिन दिनों मैं देश से बाहर था शायद उन दिनों धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बड़ी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू में हिन्दुस्तान पहले जैसा सुप्त और निष्कर्म बना हुआ था। शायद उस वक्त तक उसकी १९२१-२२ की मेहनत की थकान दूर नहीं हुई थी। १९२८ में वह तरोताजा क्रियाशील और नई शक्ति से पूर्ण हो गया है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारखानों के मजदूरों में भी और किसानों में भी,मध्यमवर्ग के नौजवानों में भी और आमतौर पर पढ़े-लिखे लोगों में भी।

मजदूर-संघों की हलचल बहुत ज्यादा बढ़ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल इण्डिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस कायम हुई थी वह एक मजबूत और नुमाइन्दा जमात थी। न सिर्फ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफी तरक्की हुई थी, बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गरम हो गए थे। अक्सर हड़तालें होती थीं और मजदूरों में वर्ग-चेतना जोर पकड़ रही थी। कपड़े की मिलों और रेलों में काम करनेवाले मजदूर सबसे ज्यादा संगठित थे और इनमें भी सबसे ज्यादा मजबूत और सबसे ज्यादा संगठित संघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मजदूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाजिमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आए।

हिन्दुस्तान के मजदूर-संघों को कायम होते देर न हुई कि वे आपस में होड़ करने लगे और दुश्मनी रखनेवाले दलों में बँट गए। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे, कुछ तीसरी इंटरनेशनल के कायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ यानी सुधार-वादी था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रान्तिकारी था और आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई किस्म की रायें थीं, जिनमें मात्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के संगठन में होता है इसमें मौका-परस्त लोग भी आ घुसे थे।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जाग्रति संयुक्तप्रान्त में और खासतौर पर अवध में दिखाई देती थी, जहाँ अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों का विरोध करने के लिए किसानों की बड़ी-बड़ी सभाएं आये दिन होने लगी थीं। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस कानून ने किसानों को हीन-हयाती हक दिये थे, और जिससे बहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानों की दु:खी जिन्दगी में कोई फर्क नहीं पड़ा था। गुजरात के किसानों ने तो एक बड़े पैमाने पर संघर्ष शुरू कर दिया, क्योंकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुजारी बढ़ा दी जाय। गुजरात में किसान खुद अपनी जमीन के मालिक हैं, जहां सरकार सीधे किसानों से ताल्लुक रखती है। यह संघर्ष सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ बारडोली का सत्याग्रह था। इस लड़ाई में किसानों की बहादुरी के साथ विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानों को बहुत काफी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात में थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानों पर बड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए बारडोली आशा, शक्ति और विजय का प्रतीक हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और बहुत खास बात थी नौजवानों के आन्दोलन की बढ़ती। हर जगह युवक-संघ कायम हो रहे थे और युवक-कान्फ्रेंसें की जा रही थीं। ये संघ और कान्फ्रेंस तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारों और उनके शास्त्रों पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका नियन्त्रण किसीके हाथ में हो, युवकों की ऐसी सभाएं हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थीं और आमतौर पर उनका झुकाव यही था

कि एकदम काया-पलट कर दी जाय।

महज राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए तथा बायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जानेवाले सर्वदल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस बायकाट में नरम-दलवालों ने कांग्रेस का साथ दिया और उसमें गजब की कामयाबी हुई। जहां-जहां कमीशन गया वहां-वहां विरोधी जन-समूहों ने 'साइमन गो बैक' (साइमन लौट जाओ) के नारे लगाकर उसका 'स्वागत' किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गई बल्कि अंग्रेजी के 'गो बैक' ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये। बस अंग्रेजी के इन्हीं दो शब्दों में उनका ज्ञान खतम हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दों से कमीशन के मेम्बर भड़कते थे और अपनी उसी भड़क की वजह से वे चौंक-चौंक पड़ते थे। कहते हैं कि एक मर्तबा जब वे नई दिल्ली के वेस्टर्न होटल में ठहरे हुए थे तब उन्हें रात के अँधेरे में 'साइमन गो बैक' का नारा सुनाई देने लगा। इस तरह रात में भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े, जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज उन गीदड़ों की थी जो शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेशों में रहते हैं।

विधान के खास-खास उसूलों के तय करने में सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नहीं हुई। ये उसूल लोकतन्त्रीय पार्लमेन्टरी ढंग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था। असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमतवाली कौमों के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेंस में भिन्न-भिन्न जातियों के तमाम कट्टर-से-कट्टर प्रतिनिधि थे, उनमें किसी तरह का राजीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल में वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेंसों की तरह थी। पिताजी जो उस वक्त यूरप से लौटे थे, उन्होंने इस सम्मेलन में बड़ी दिलचस्पी ली। अन्त में अन्तिम उपाय के रूप में एक छोटी-सी कमेटी नियुक्त कर दी गई। पिताजी इस कमेटी के सभापति बनाये गए। इस कमेटी का काम था विधान का मसविदा तैयार करना और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट देना। इस कमेटी को लोग 'नेहरू-कमेटी' कहने लगे और कमेटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमेटी के मेम्बर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए जिम्मेदार भी थे।

मैं इस कमेटी का मेम्बर नहीं था, लेकिन कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मुझे इसके लिए बहुत काम करना पड़ा। मैं बड़े असमंजस में था, क्योंकि मैं समझता था कि जब असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तो तब तफसीलवार कागजी विधान तैयार करना बिलकुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचड़ी कमेटी ने हमारा ध्येय लाजिमी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक ही सीमित कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नजर में तो कमेटी की असली खासियत इस बात में थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन में से निकलने का कोई रास्ता ढूंढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि किसी पैक्ट या समझौते के द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल हल तो तभी हो सकेगा जबकि लोगों का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलों की तरफ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनों तरफ के लोगों की काफी तादाद थोड़े वक्त के लिए भी कोई पैक्ट कर ले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगों का ध्यान दूसरे मसलों की तरफ लग जाता। इसलिए मैंने कमेटी के काम में रोड़े अटकाने के बजाय उसकी जितनी मदद की जा सकती थी की।

एक बार तो मालूम पड़ा था कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ दो-तीन बातें तय करने को रह गई थीं और इनमें असली महत्त्वपूर्ण सवाल पंजाब का था, जहां हिन्दू, मुसलमान और सिक्खों का तिकोना तनाव था। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में पंजाब के सवाल पर बिलकुल नये ढंग से गौर किया और उसने इस मामले में जो सिफारिशें कीं उनकी पुष्टि जन-संख्या के बंटवारे सम्बन्धी कुछ नये अंकों से की। लेकिन यह सब बिलकुल बेकार था। दोनों तरफ डर और शक कायम रहा और जो थोड़ा-सा फर्क रह गया था उसे पूरा करने के लिए जो दो-एक कदम आगे बढ़ना था वह बढ़ा गया।

कमेटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल-सम्मेलन का जलसा लखनऊ में हुआ। इसमें हम लोग फिर एक दुविधा में पड़ गए; क्योंकि इधर तो हम यह चाहते थे कि साम्प्रदायिक सवाल के हल होने में किसी किस्म की अड़चन न पड़े, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो, और उधर हम इसके लिए तैयार न थे कि आजादी के सवाल पर झुक जांय। हमने कहा कि सम्मेलन इस सवाल के बारे में अपने हरेक अंग को पूरी आज़ादी दे दे,

जिससे इस मामले में जिसका जो जी चाहे सो करे। कांग्रेस आजादी पर डटी रहे,और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते हैं वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह जरा भी दबने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियों में वह झुकना चाहते तो भी नहीं झुक सकते थे। सम्मेलन में आजादी चाहनेवालों का एक बड़ा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं दल की तरफ से सम्मेलन में एक बयान दूं जिसमें यह कहूं कि आजादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सबसे हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ़ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते में रोड़े न अटकावेंगे; क्योंकि हम साम्प्रदायिक समझौते के रास्ते में अड़चनें नहीं डालना चाहते थे।

ऐसे बड़े सवाल पर इस तरह का रुख अख्तियार करना बहुत कारगर नहीं साबित हो सकता था। ज्यादा-से-ज्यादा यह रुख नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आजादी-संघ (इण्डिपेण्डेंस फार इण्डिया लीग) कायम करके अपने इस रुख को क्रियात्मक-स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान में जो मौलिक अधिकार कायम किये गए थे, उनमें अवध के ताल्लुकेदारों के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गई कि उनके ताल्लुकों में उनके स्थापित अधिकारों की गारण्टी रहेगी कि ये छीने नहीं जायंगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और बड़ा धक्का लगा। इसमें कोई शक ही नहीं कि तमाम विधान व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बड़ी-बड़ी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतों में उनकी मिलकियत के अधिकार विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे यह बात साफ हो गई कि कांग्रेस के नेता और उनसे भी ज्यादा गैर-कांग्रेसी अपने ही साथियों में सामाजिक दृष्टि से जो ज्यादा आगे बढ़े हुए समूह थे उनके मुकाबले में बड़े-बड़े जमींदारों का साथ पसन्द करते थे। यह साफ था कि हमारे नेताओं के और हमारे बीच में एक बहुत बड़ी खाई है। और ऐसी हालत में मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मैं प्रधान-मन्त्री का काम करता रहूं। मैंने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफा दे देना चाहा कि मैं हिन्दुस्तान की आजादी के लिए जो संघ कायम किया गया है उसके संचालकों में से एक हूं। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझसे और सुभाष बाबू

से, जिन्होंने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफा दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग संघ का काम मजे से कर सकते हैं, उसमें और कांग्रेस की नीति में कोई विरोध नहीं है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस ने तो पहले ही आजादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मैं फिर राजी हो गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनों मुझे अपना इस्तीफा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राजी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्तबा हुई और क्योंकि कोई पार्टी वास्तव में एक-दूसरे से अलग हो जाने के खयाल को पसन्द नहीं करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमें जो बहाना मिलता उसी का हम आश्रय ले लेते।

गांधीजी ने इन तमाम पार्टियों की कान्फ्रेंसों और कमेटियों की मीटिंगों में कोई हिस्सा नहीं लिया। यहांतक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेंस के वक्त वहां मौजूद भी नहीं थे।

इस बीच साइमन कमीशन हिन्दुस्तान में दौरा कर रहा था और काले झंडे लिये 'गो-बैक' के नारे लगानेवाली विरोधी भीड़ हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड़ और पुलिस में मामूली झगड़ा भी हो जाता था। लाहौरमें बात बहुत बढ़ गई और यकायक देशभर में गुस्से की लहर दौड़ गई। लाहौर में साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सड़क के किनारे हजारों प्रदर्शन-कारियों के आगे खड़े हुए थे, तब एक नौजवान अंग्रेज पुलिस अफसर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डंड लगाये। लालाजी का तो कहना ही क्या, भीड़ की तरफ से किसी भी किस्म का झगड़ा करने की कोई कोशिश नहीं हुई थी। फिर भी जब वह एक तरफ शान्ति से खड़े हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियों को बहुत बुरी तरह मारा। गलियों में अथवा सड़कों पर होनेवाले आम प्रदर्शनों में हिस्सा लेने वाले हर शख्स को यह खतरा रहता है कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन करीब-करीब हमेशा ही सोलहों आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस खतरे को जरूर जानते होंगे और उन्होंने जान-बूझकर वह खतरा उठाया होगा। लेकिन फिर भी जिस ढंग से उनपर हमला किया गया उससे और उस हमले के वहशियाने ढंग से हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों को धक्का लगा। उन दिनों हम पुलिस द्वारा, लाठियों की मार खाने के आदी न थे। उस वक्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम

उसे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बड़े नेता, पंजाब के सबसे बड़े और सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिलकुल हैवानियत मालूम पड़ी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर में, खासकर उत्तरी हिन्दुस्तान में, एक जबरदस्त गुस्सा फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने कमजोर हैं कि हम अपने नेताओं के मान की भी रक्षा नहीं कर सकते!

लालाजी को शारीरिक चोट कम नहीं लगी थी, क्योंकि उनकी छाती पर लाठियां मारी गई थीं और वह बहुत दिनों से दिल की बीमारी से पीड़ित थे। अगर ये चोटें किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होतीं, तो इतनी घातक न साबित होतीं। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे, न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्ते बाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटों का क्या असर पड़ा, निश्चित-रूप से यह बताना तो मुमकिन नहीं है, हालांकि उनके डाक्टरों की यह राय थी कि इन चोटों के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मैं समझता हूं कि इस बात में कोई शक नहीं है कि शारीरिक चोटों से लालाजी को जो मानसिक आघात पहुंचा उसका उनके ऊपर बहुत ज्यादा असर पड़ा। वह बहुत ही नाराज और सन्तप्त हो गए—इसलिए नहीं कि उनका जाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गए हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान का खयाल काम कर रहा था और जब उसके कुछ दिनों बाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तब लोगों ने लाजिमी तौर पर उसका ताल्लुक उनपर किये गए हमले से जोड़ा और इस खयाल से लोगों के दिलों में जो गुस्सा और रोष आया वह खुद-ब-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप में बदल गया। इस बात को समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इस बात को समझकर ही हम पीछे होनेवाली बातों को, भगतसिंह की कहानी और उत्तरी भारत में उसको एकाएक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको समझ सकेंगे। उन कामों की तह में जो मूल स्रोत होते हैं, उनको जो बातें प्रेरित करती हैं, उन्हें समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही हलका और वाहियात है। इससे पहले भगतसिंह को लोग नहीं जानते थे। उन्हें जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतंकवाद का काम करने की वजह से नहीं मिली। आतंकवादी तो हिन्दुस्तान में करीब-करीब तीस बरस से रह-रहकर अपना काम कर रहे हैं, और बंगाल में आतंकवाद

के शुरू के दिनों का छोड़कर और कभी किसी भी आतंकवादी को, भगतसिंह को जो लोकप्रियता हासिल हुई उसका सौवां हिस्सा भी नहीं मिली। यह एक ऐसी जाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसे तो मानना ही पड़ेगा। इसी तरह साफ और जाहिर बात है कि यद्यपि आतंकवाद बीच-बीच में कभी-कभी जोर पकड़ जाता है फिर भी हिन्दुस्तान के नौजवानों के लिए अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर जोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फलस्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लड़ाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के खयाल की तरफ पहले से कहीं ज्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गए हैं। जिस दर्जे के लोगों पर, यानी निचली सतह के मध्यम श्रेणी के लोगों पर और पढ़े-लिखों पर भी, हिंसा-साधन के खिलाफ कांग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पडा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली शक्तियां जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें सोचा करती हैं, अब यह पूरी तरह महसूस करने लगी हैं कि क्रान्ति आतंकवाद के जरिये से नहीं हो सकती और आतंकवाद तो एक ऐसा बेकार और जर्जरित तरीका है जो असली क्रान्तिकारी लड़ाई के रास्ते में रोड़े अटकाता है। हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में भी अब तो आतंकवाद मुर्दा-सा हो रहा है। और वह सरकारी दमन की वजह से नहीं, बल्कि आधारभूत कारणों और संसारव्यापी घटनाओं की वजहों से। सरकारी दमन तो सिर्फ दबाना या सीमित कर देना भर जानता है, वह जड़ से उखाड़ कर नहीं फेंक सकता। मामूली तौर पर आतंकवाद से किसी देश में होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा का बचपन जाहिर होता है। वह अवस्था गजर जाती है और उसके साथ-साथ महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में आतंकवाद भी गुजर जाता है, स्थानिक कारणों या व्यक्तिगत दमन के कारण कभी-कभी कुछ आतंकवादी कार्य भले ही होते रहें। बिलाशक हिन्दुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमें कुछ शक नहीं कि उसके फलस्वरूप यहां कभी-कभी हो जानेवाली आतंकवादी घटनाएं भी धीरे-धीरे बन्द हो जायंगी। लेकिन इसके मानी यह नहीं हैं कि हिन्दुस्तान में सब लोगों ने हिंसात्मक साधन में विश्वास करना छोड़ दिया है। यह ठीक हैं कि उनमें से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतंकवाद में विश्वास नहीं करते, लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि बहुत-से अब भी यह सोचते हैं कि एक समय ऐसा आ सकता है जब संगठित हिंसात्मक

साधनों से काम लेना आजादी हासिल करने के लिए जरूरी हो—ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे देशों में जरूरी होगया था। आज तो यह सवाल महज एक तात्त्विक-विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो; आतंकवादी साधनों से इसका कोई सरोकार नहीं।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य से लोकप्रियता प्राप्त नहीं की, बल्कि इससे प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप में राष्ट्र की इज्जत रक्खी है। भगतसिंह एक प्रतीक बन गया। उसके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन में रह गया, जिसके फलस्वरूप पंजाब के हरेक गांव व कस्बे में और उससे कुछ कम बाकी के उत्तरी भारत में उसका नाम घर-घर में गूंजने लगा। उसके बारे में बेशुमार गीत बने और उसने जो लोकप्रियता पाई वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनों बाद लाला लाजपतराय दिल्ली में होनेवाली अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी की एक बैठक में शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटों के निशान बने हुए थे और उससे होनेवाली तकलीफों को वह भुगत रहे थे। वह मीटिंग लखनऊ के सर्व-दल सम्मेलन के बाद हुई थी और किसी-न-किसी रूप में उसमें आजादी के सवाल पर बहस उठ खड़ी हुई थी। मुझे यह तो याद नहीं रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खड़ी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मैं वहां देर तक बोला और मैंने यह कहा कि अब समय आ गया है जब कांग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसंद करती है जिसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में कायापलट करने की जरूरत है, या सुधारवादियों के ध्येय और साधनों को। इस भाषण में ऐसी कोई महत्त्व की बात नहीं थी। मैं उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन उसकी इसलिए याद बनी रही कि लालाजी नें कमेटी में मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसके कुछ हिस्सों की नुक्ताचीनी की। उन्होंने एक चेतावनी इस आशय की दी थी कि हम लोगों को ब्रिटिश मजदूर-दल से कोई उम्मीद न रखनी चाहिए। जहां तक मुझसे ताल्लुक है, इस चेतावनी की कोई जरूरत न थी; क्योंकि मैं ब्रिटिश मजदूरों के जो अधिकारी नेता हैं, उनका प्रशंसक नहीं हूं। अगर मैं उन्हें हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा

कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ ले जानेवाला होता तो मुझे आश्चर्य होता।

कांग्रेस कमेटी की बैठक में मैंने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होंने अपने साप्ताहिक अखबार 'पीपुल' में मेरी स्पीच से उठनेवाली बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ्ते के अंक में छपने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण स्मृति छोड़ गया है।

२५

लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला होने और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने से साइमन-कमीशन आगे जहां-जहां गया वहां-वहां उसके खिलाफ प्रदर्शनों का जोर और भी बढ़ गया। वह लखनऊ में आनेवाला था, और वहां भी कांग्रेस-कमेटी नें उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियां की थीं। कई दिन पहले से ही बड़े-बड़े जलूस, सभाएं और प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मैं भी लखनऊ गया और इसमें से कई कार्यों में मौजूद भी रहा। इन प्रारम्भिक प्रदर्शनों की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियों को झुंझला दिया, और उन्होंने खास-खास जगहों में जलूसों को रोकना और उनके निकाले जाने के खिलाफ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले में मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डों और लाठियों की मार पड़ी।

जलूस, आमद-रफ्त में रुकावट पड़ने का सबब जाहिर करके, बन्द किये गये थे। हमनें फैसला किया कि इस मामले में शिकायत का कोई मौका न दिया जाय, और जहां तक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियों की छोटी-छोटी टुकड़ियां बनाकर उन्हें अलग-अलग रास्तों से सभा की जगह पर भेजने का इन्तजाम किया। कानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोड़ना ही था, क्योंकि झण्डा लेकर सोलह आदमियों का निकलना एक जलूस ही था। सोलह आदमियों के एक झुण्ड के आगे-आगे मैं था, एक बड़े फासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सड़क सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दो सौ गज ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोड़ों की टापों की आहट सुनी। जब हमने पीछे मुंह किया तो देखा कि घुड़सवारों का एक दल, जिसमें शायद दो या तीन दर्जन सिपाही थे, हमारे ऊपर तेजी से चढ़ा चला आ रहा है। वे फौरन ही हमारे पास आ पहुंचे,

और घोड़ों की जुड़ी हुई कतार ने सोलह आदमियों के हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुड़सवारों ने हमारे स्वयंसेवकों को बड़े डण्डों से मारना शुरू किया, इससे स्वयंसेवक सहसा सड़क की बाजू की तरफ हटे और कुछ तो छोटी दूकानों में भी घुस गये। सवारों ने उनका पीछा किया, और उन्हें पीट-पीटकर गिरा दिया। जब मैंने घोड़ों को ऊपर चढ़ते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक-वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मैं बच जाऊं। वह हिम्मत तोड़नेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा खयाल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयंसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सड़क के बीच में अकेला हूं; मुझ से कुछ ही गज दूरी पर सब तरफ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयंसेवकों को पीट गिराते थे। अपने आप ही मैं, जरा आड़ में हो जाने की खातिर सड़क की बाजू की तरफ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल में कुछ विचार किया, और यह फैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ कुछ ही पलों में हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार-संघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय में मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नहीं देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मैं कायरता की तरफ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुड़कर देखा कि एक घुड़सवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना लम्बा डण्डा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—'लगाओ', और अपना सिर जरा हटा लिया। यह भी सिर और मुंह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो वार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खड़ा ही रहा। फौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सड़क रोकने को कहा गया। हमारे स्वयंसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमें से कई के खून निकल रहा था और कई की खोपड़ियां फूट गई थीं। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला। वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घंटे तक बैठे रहे और अंधेरा हो गया। एक तरफ तो कई बड़े-बड़े अफसर इकट्ठे हो गये, और

दूसरी तरफ जैसे-जैसे खबर फैली वैसे-वैसे लोगों की बड़ी भीड़ इकट्ठी होने लगी। आखिरकार अधिकारी हमें अपने रास्ते से जाने देने पर राजी हो गए, और उसी रास्ते से, हम गये । हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस के घुड़सवार भी चले, जिन्होंने हम पर हमला किया था और हमें मारा था ।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ विस्तार से लिखा है, क्योंकि इसका मुझपर खास असर हुआ । मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस खुशी के खयाल के आगे याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारों को बरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक मजबूत हूं । और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी, मेरा दिमाग ठीक-ठीक काम करता रहा, और मैं अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा । इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सबेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख्त इम्तिहान होनेवाला था । क्योंकि दूसरे दिन सबेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था और उसी वक्त हम विरोधी-प्रदर्शन करनेवाले थे ।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे, और मुझे डर था कि जब वह दूसरे दिन सबेरे अखबारों में मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढ़ेंगे तो वह, और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित हो जावेंगे। इसलिए मैंने रात को उन्हें टेलीफोन कर दिया कि सब खैरियत है और आप लोग किसी किस्म की फिक्र न करें। मगर उन्हें फिक्र तो हुई । और जब वह शांति से न रह सके तो, आधी रात के करीब उन्होंने लखनऊ आना तय किया । आखीरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए । रास्ते में मोटर में कुछ गड़बड़ हो गई थी, और वह १४६ मील का सफर पूरा करके सबेरे करीब ९ बजे बिलकुल थके-मांदे लखनऊ पहुंचे।

यह करीब-करीब वह वक्त था जब कि हम जलूस में स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे । हमारे कुछ भी करने से लखनऊ जितना उभड़ न सकता था, उतना कल की घटनाओं से उभड़ गया, और सूरज उगने से भी पहले बड़ी तादाद में लोग स्टेशन पर पहुंच गये । शहर के मुख्तलिफ हिस्सों से बेशुमार छोटे-छोटे जलूस आये, और कांग्रेस-आफिस से बड़ा जलूस चार-चार की कतार में रवाना हुआ, जिसमें कई हजार आदमी थे । हम बड़े जुलूस में थे । ज्योंही हम स्टेशन के पास पहुंचे, हमें पुलिस ने रोक दिया । वहां स्टेशन के सामने करीब आध मील

लम्बा और इतना ही चौड़ा बड़ा भारी खुला मैदान था (यहां अब नया स्टेशन बन गया है) और उस मैदान की एक बाजू पर हमें कतार में खड़ा कर दिया गया। हमारा जुलूस वहीं खड़ा रहा, हमने आगे बढ़ने की बिलकुल कोशिश नहीं की। उस जगह सब तरफ पैदल और घुड़सवार पुलिस और फौज आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनों की भीड़ भी बढ़ गई थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी विशाल मैदान में जा खड़े हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुड़सवारों की दो या तीन लम्बी कतारें थीं, जो सारे मैदान को घेरे हुए थीं और हमारी तरफ दौड़ रही थीं, और मैदान में जो कुछ लोग जा खड़े हुए उन्हें मारती-कुचलती चली आ रही थी। घोड़े को छोड़ते हुए सवारों का हमला करना एक बड़ा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते में खड़े हुए बेचारे बेखबर तमाशबीनों के साथ, जो घोड़ों के पैरों तले रौंदे गये थे, दर्दनाक वाकया न हो जाता। इन हमला करनेवाली लाइनों के पीछे वे लोग जमीन पर पड़े हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नहीं सकते थे और कुछ दर्द से कराह रहे थे। उस मैदान का सारा नजारा लड़ाई के मैदान का-सा हो गया था। मगर उस दृश्य को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज्यादा वक्त नहीं मिला; घुड़सवार फौरन हमारे ऊपर आगये और उनकी आगे की कतार हमारे जलूस के आगे खड़े हुए लोगों से एक ही छलांग में टकरा गई। हम वहीं डटे रहे, और चूंकि हम हटते हुए नहीं दिखाई दिये इसलिए उन्हें उसी दम घोड़ों को रोक देना पड़ा। घोड़े पिछले पैरों पर खड़े रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरों पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुड़सवार पुलिस दोनों की लाठियां पड़ने लगीं। वह बहुत भयंकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग की विचारशक्ति कायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ इतना ही औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर खड़ा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नहीं चाहिए। मार से मुझे अंधेरी आगई और कभी-कभी मन-ही-मन गुस्सा और उलटकर मारने का खयाल भी आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफसर को गिराकर घोड़े पर खुद चढ़ जाऊं। यह कितना आसान है। मगर लम्बे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैंने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा हाथ तक नहीं उठाया। इसके अलावा मैं, अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ से कुछ भी मुकाबला

हुआ तो एक भीषण दुर्घटना हो जायगी, जिसमें हमारे आदमी बड़ी तादाद मे गोलियों से भून दिये जायगे।

हमें वह समय भयंकररूप से लम्बा मालूम पड़ा, मगर शायद वह सिर्फ कुछही मिनटों का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक कदम हमारी लाइन, टूटे बगैर पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनों तरफसे ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझपर और मार पड़ी और फिर मैं अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहां से दूर ले जाया गया। इससे मुझे बड़ी झुंझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियों ने, यह कयास करके कि मुझपर घातक हमला किया जारहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जलूस के लोग अपनी असली लाइन से करीब सौ फीट पीछे फिर एक कतार बनाकर खड़े हो गये। पुलिस भी पीछे हट गई और हमसे पचास फीट के फासले पर एक लाइन में खड़ी हो गई। इस तरह हम खड़े रहे, और साइमन-कमीशन, जो इस सारे झगड़े की जड़ था, हमसे बहुत दूर करीब आध मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडों का प्रदर्शन करने वालों से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही हम पूरा जलूस बनाकर कांग्रेस-दफ्तर आये और वहां से बिखरकर चले गये। मैं अपने पिताजी के पास गया, जो बड़ी चिन्ता से मेरा इंतजार कर रहे थे।

अब जब सामयिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर में दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। शरीर का करीब-करीब हर हिस्सा दर्द करता था, और सब जगह अंधी चोटों और मार के निशान हो गये थे। मगर खैर थी कि मुझे किसी नाजुक जगह पर चोट नहीं आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने खुशकिस्मत न थे। उन्हें बुरी तरह चोट आई थी। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खड़े थे, ज्यादा मार पड़ी, क्योंकि वह छः फीटसे ज्यादा ऊंचे-पूरे थे। उस वक्त जो चोटें उनके आईं उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हें इतना दर्द और तकलीफ रही कि वह कमर भी सीधी नहीं कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी शारीरिक हालत और बरदाश्त करने की ताकत का कुछ ज्यादा घमंड हो गया। मगर मार पड़ने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिसवालों, खासकर अफसरों के चेहरों की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली मार-पीट तो यूरोपियन सारजेण्टों

ने की, हिन्दुस्तानी सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे। उन सार-जेण्टों के चेहरों में हिकारत और खून की प्यास करीब-करीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ के चेहरे भी देखने में उतने ही नफरत भरे होंगे, और हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियों के लिए हमारे दिल और दिमाग में कोई प्रेम-भाव नहीं रह गया होगा, और न हमारे चेहरों पर सद्भाव झलका होगा। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ हमें कोई शिकायत न थी; हमारा कोई जाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और जबरदस्त ताकतों के प्रतिनिधि थे, जो हमें अपने अधीन बनाये हुए थीं और हमें इधर और उधर फेंकती जाती थीं और जिन्होंने हमारे दिलों और दिमागों पर बड़ी खूबी से कब्जा करके हमारी अभिलाषाओं और राग-द्वेषों को उभाड़ दिया था और हमें अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह दौड़-धूप करते थे, और यह नहीं जानते थे कि यह किसलिए करते हैं या कहां चले जा रहे हैं? काम की उत्तेजना ने हमें टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गई तो फौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर यह सब किसलिए किया जा रहा है? किस लक्ष्य के लिए?

२६

ट्रेड यूनियन कांग्रेस

उस साल देश की राजनीति में ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्हीं दिशाओं में किया। कांग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मन्त्री की हैसियत से में उनके संगठन की देखभाल करने और उसे मजबूत बनाने में लगा रहा। खासतौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात में थी कि मैं लोगों का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरफ खींचूं। पूर्ण स्वाधीनता के सिलसिले में मद्रास में हम जिस हदतक पहुंच गये थे उस स्थिति को भी मजबूत रखना था। खासतौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगों को पीछे खींचने की तरफ था। इस उद्देश्य को सामने रखकर मैंने देश में बहुत सफर किया और कई बड़ी-बड़ी आम सभाओंमें व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८में मैं चार सूबों की राजनैतिक कान्फ्रेंसों का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण में मलाबार और उत्तर में पंजाब, दिल्ली और संयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बंगाल में मैं युवक-संघों और विद्यार्थियों की कान्फ्रेंसों का सभापति बना। समय-समय पर मै संयुक्तप्रान्त के देहात में भी गया और कभी-कभी कारखानों के मजदूरों की सभाओं में भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानों में सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार बदल जाता था, और जिन बातों पर मैं जोर देता था वे उसी तरह की होती थीं जिस किस्म के लोग सभाओं में आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आजादी और सामाजिक स्वाधीनता पर जोर दिया। और यह कहा कि राजनैतिक आजादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढ़ी है। यानी, आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि पहले राजनैतिक आजादी हो। खासतौरसे कांग्रेस के कार्य-कर्त्ताओं और पढ़े लिखे लोगों में मैं समाजवाद की विचार-धारा फैलाना चाहता था, क्योंकि ये लोग ही राष्ट्रीय आंदोलन की

असली रीढ़ थे और ये ही ज्यादातर निहायत संकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानों पर प्राचीन-काल के गौरव पर बहुत जोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमें क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियां पहुंचाई हैं। हम लोगों को घोर कष्ट सहने पड़ रहे हैं, हमारे ऊपर दूसरों का राज्य रहना बड़ी बेइज्जती की बात है; इसलिए हमारी कौमी इज्जत का तकादा है कि हम आजाद हों और हमारे लिए आवश्यक है कि हम लोग मातृभूमि की वेदी पर अपनी बलि चढ़ावें। ये बातें सुपरिचित थीं। हर हिन्दुस्तानी के दिल में उनकी आवाज गूंज उठती थी। मेरे मन में भी राष्ट्रीयता का यह भाव भड़क उठता था और मैं उससे गद्गद् हो जाता था—यद्यपि मैं हिंदुस्तान के ही नहीं, कहीं के भी पुराने जमाने का अंध प्रशंसक कभी नहीं रहा; लेकिन यद्यपि उसमें सच्चाई जरूर थी, फिर भी बार-बार इस्तेमाल में आने की वजह से वे बासी और लचर होती जाती थीं और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लड़ाई के सब से ज्यादा जरूरी पहलुओं तथा दूसरे मामलों पर गौर नहीं कर पाते थे। इन बातों से जोश जरूर आता था, लेकिन इनसे विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।

हिंदुस्तान में मैं समाजवाद के मैदान में सबसे पहले नहीं आया, बल्कि सच बात तो यह है कि मैं कुछ पिछड़ा हुआ रहा। जहां बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ़ गये, वहां मैं तो बहुत-कुछ मुश्किलों के साथ कदम-कदम आगे बढ़ा। विचार-धारा की दृष्टि से मजदूरों का ट्रेड यूनियन-आन्दोलन निश्चित-रूप से समाजवादी था और ज्यादातर युवक-संघों की भी यही बात थी। जब मैं दिसम्बर १९२७ में यूरप से लौटा तब एक किस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिंदुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान में बहुत-से थे। ये लोग ज्यादातर सपने देखनेवाले थे। लेकिन धीरे-धीरे उन पर मार्क्स[1] के सिद्धांतों का असर बढ़ता जाता

---

[1] जीव-दया और मानव-दया की दृष्टि से समाज-व्यवस्था को सुधारने की इच्छा रखनेवाले तो प्रत्येक युग में होते हैं। मार्क्स के पहले भी थे। वे यह कहते थे कि गरीबों पर दया करना अमीरों का कर्तव्य है। क्योंकि उन्हें ईश्वर ने धन-दौलत दी है। लेकिन मार्क्स ने बताया कि गरीबों की गरीबी में ही क्रांति

था और उनमें से कुछ तो अपने को सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। यूरोप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान में भी, सोवियट यूनियन में जो कुछ हो रहा था उससे और खासकर पंचवर्षीय योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्ता की हैसियत से मेरा महत्व सिर्फ इस बात में था कि मैं एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस के बड़े ओहदों पर था। मेरे अलावा और भी बहुत से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा युक्तप्रांत की प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी में पाई जाती थी, जिसमें हमने १९२६ में ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे में जमींदारी और ताल्लुकेदारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमें जिस सवाल का सामना करना पड़ा वह था जमीन का सवाल। हम लोगों ने ऐलान किया कि मौजूदा जमींदारी-प्रथा रद होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच में किसी दूसरे की कोई जरूरत नहीं है। हम लोगों को फूंक-फूंक-कर कदम रखना पड़ा; क्योंकि हमें एक ऐसी आबोहवा में काम करना था जो उस वक्त तक इस तरह के खयालात की आदी नहीं थी।

इसके बाद, १९२९ में, युक्तप्रांत की प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी एक कदम और आगे बढ़ गई और उसने निश्चित-रूप से समाजवाद के ढंग पर अ० भा० कांग्रेस-कमेटी से एक सिफारिश की, जिसके फलस्वरूप जब १९२९ की गर्मियों में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस-कमेटी की बैठक हुई तब उसमें युक्तप्रांत के प्रस्ताव की भूमिका स्वीकार कर ली गई और इस तरह उस प्रस्ताव में समाजवाद का जो सिद्धांत मौजूद था वह भी स्वीकार कर लिया गया। युक्तप्रांत के प्रस्ताव में जो विस्तृत-कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की बात अगली बैठक के लिए स्थगित कर दी गई। ऐसा मालूम पड़ता है कि ज्यादातर लोग अ० भा०

के बीज हैं; इनकी गरीबी पूंजीवाद और मुट्ठीभर लोगों के धन को अन्यायी सिद्ध करती है। उनकी गरीबी ईश्वर की दी हुई नहीं है, बल्कि एक निश्चित सामाजिक परिस्थिति का परिणाम है। इस परिस्थिति में क्रांति भी की जा सकती है, जब कि गरीब वर्ग बलवा कर दे। पुराने समाज-सुधारक आदर्शवादी समाज-सुधारक कहे जाते हैं; मार्क्स और उनके अनुयायी वैज्ञानिक समाजवादी कहलाते हैं। —अनुवादक

कांग्रेस-कमेटी और संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के इन प्रस्तावों को बिलकुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे हैं कि पिछले एक-दो सालों से ही साम्यवाद की चर्चा कांग्रेस में एकाएक उठ खड़ी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अ०भा० कांग्रेस-कमेटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्बर शायद यह महसूस नहीं कर पाये कि वे क्या कर रहे हैं।

'इण्डिपेण्डेंस फॉर इण्डिया लीग' (भारत-स्वतंत्रता-संघ) की संयुक्तप्रान्त-वाली शाखा में सूबे के खास-खास कांग्रेसियों के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी, इसलिए वह साम्यवाद की तरफ और कांग्रेस-कमेटी से, जिसमें सब तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गई। बल्कि सच बात तो यह है कि 'स्वाधीनता-संघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर में संघ को मजबूत बनाकर यह चाहते थे कि आजादी और समाजवाद का प्रचार करनेमें उस संगठन से काम लिया जाय। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ हदतक संयुक्तप्रान्त को छोड़कर और कहीं संघ का काम ठीक तौर से नहीं चला और इससे मुझे बहुत निराशा हुई। इसका सबब यह नहीं था कि देश में हमारे मददगारों की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे ज्यादातर कार्यकर्ता कांग्रेस में भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूंकि कांग्रेस ने, कम-से-कम सिद्धान्ततः तो, आजादी को, अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम कांग्रेस के संगठन के जरिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगों ने शुरू-शुरू में 'स्वतन्त्रता-संघ' कायम किया उनमें से कुछ ने गम्भीरतापूर्वक यह नहीं सोचा कि संस्था के रूप में हमें इस संघ को मजबूत बनाना है; वे तो यह समझते थे कि यह संस्था तो महज इसलिए है कि कांग्रेस कार्य-समिति पर इसका दबाव पडता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाय। इसलिए 'स्वतन्त्रता-संघ मुरझा गया और ज्यों-ज्यों कांग्रेस ज्यादा लड़ाकू होती गई त्यों-त्यों उसने तमाम गति-शील तत्वों को अपनी ओर खींच लिया और संघ कमजोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लड़ाई आई तब यह संघ कांग्रेस में मिलकर गायब हो गया।

१९२८ के पिछले छः महीनों में और १९२९ भर मेरी गिरफ्तारी की चर्चा

अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नहीं कि इस सिलसिले में अखबारों में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और जानकार दोस्तों से मुझे जो खानगी चेतावनियां मिला करती थीं उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक किस्म की अनिश्चतता पैदा करदी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी भी वक्त गिरफ्तार किया जा सकता हूं। मुझे खासतौर पर कोई दूसरी चिन्ता न थी; क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए चाहे कुछ हो, लेकिन मेरी जिन्दगी रोजमर्रा के कामों की निश्चित जिन्दगी नहीं हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चतता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरों का तथा जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊं उतना ही अच्छा है। और मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर मैं इस खयाल का आदी होने में सफल हुआ। मेरे घरवालों ने भी इस खयाल का आदी होने में सफलता पाई, हालांकि जितनी सफलता मुझे मिली उन्हें उससे बहुत कम मिली। इसलिए जब-जब मैं गिरफ्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमें कोई खास बात मालूम नहीं हुई। हां, अगर मैं एकाएक गिरफ्तार होने के खयाल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ्तारी की खबरों में नुकसान-ही-नुकसान न था, फायदा भी था। उन्होंने मेरी रोजमर्रा की जिन्दगी में कुछ उल्लास और एक लज्जत पैदा करदी। आजादी का हरेक दिन बेशकीमती मालूम होने लगा, मानो वह एक दिन मुनाफे में मिला हो। सच बात तो यह है कि १९२८ और १९२९ में मैं जी भर कर काम करता रहा और अखीर में मेरी गिरफ्तारी १९३० के अप्रैल में जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैंने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूं, जो थोड़े दिनों के लिए वहां आया हूं। इसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है? यह आशंका तो हर वक्त बनी ही रहती थी कि न जाने जेल में वापस जाने का बुलावा कब आ जाय?

ज्यों-ज्यों १९२८ का अखीर आता गया, त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नजदीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिल और दिमाग उस वक्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर था। वह चाहते थे कि उसे कांग्रेस से पास करा लिया जाय।

वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था; क्योंकि मैं आजादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राजी न था। इस बात से वह नाराज भी थे। इसलिए इसपर हम लोगों ने बहुत बहस नहीं की। लेकिन हम दोनों के मन में मानसिक-संघर्ष का भाव निश्चित-रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के खिलाफ जा रहे हैं। मतभेद तो हम लोगों में इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मतभेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षों में रहते थे, लेकिन मेरा खयाल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौके पर हम लोगों में इतनी तनातनी नहीं हुई जितनी कि इस वक्त थी।

हम दोनों ही इस बात से कुछ हद तक दुःखी थे। कलकत्ता में तो मामला इस हद तक बढ़ गया था कि पिताजी ने यह बात साफ-साफ कह दी कि अगर कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली, यानी अगर कांग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष में जो प्रस्ताव पेश किया जायगा उसे बहुमत से मंजूर नहीं किया, तो वह कांग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिलकुल वाजिब थी और विधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीका अख्तियार करने का पूरा हक था। फिर भी उनके बहुत-से उन विरोधियों के लिए, जो यह नहीं चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ़ जाय, वह बहुत-ही परेशानी की बात थी। मेरा खयाल है कि कांग्रेस में और दूसरी संस्थाओं में भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और बुराई तो करते हैं, लेकिन खुद जिम्मेदारी लेने से जी चुराते हैं। हमें हमेशा यह उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे मुआफिक अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की जिम्मेदारी हमारे सिर नहीं पड़ेगी। जहां जिम्मेदारी हम लोगों को सौंपी ही नहीं जाती और जहां कार्यकारिणी को न तो हम हटा ही सकते हैं न उनसे जवाब ही तलब कर सकते हैं, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले में है, वहां बिलाशक, सीधे हमले को छोड़कर, हमारे पास नुक्ताचीनी करने के सिवा कोई मार्ग नहीं—और वह नुक्ताचीनी जरूर खण्डनात्मक होगी—फिर भी अगर हम इस खण्डनात्मक-आलोचना को कारगर बनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब कभी हमें मौका मिलेगा तब सब इन्तजाम और जिम्मेदारी हम अपने हाथ में ले लेंगे—फिर चाहे वे महकमे मुल्की हों या फौजी, भीतरी हों या बाहरी।

महज थोड़े से अख्तियार मांगना, जैसा कि लिबरल लोग फौज के मामले में करते हैं, इस बात को स्वीकार करना है कि हम सरकार का काम नहीं चला सकते। इस स्वीकृति से हमारी नुक्ताचीनी का वजन घट जाता है।

गांधीजी के आलोचकों में यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, बुराई करते हैं, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए,तब उनके पैर उखड़ जाते हैं। कांग्रेस में ऐसे बहुत-से शख्स रहे हैं जो उनके बहुत-से कामों को नापसन्द करते हैं और इसलिए बड़े जोरों के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते हैं। लेकिन वे इस बात के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें कांग्रेस से निकाल दें। यह रुख समझ में तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इन्साफ नहीं करता।

कलकत्ता-कांग्रेस में भी कुछ-कुछ इसी किस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनों दलों में समझौते की बातचीत चली और यह जाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन अखीर में वह गिर गया। ये सब बातें बड़े गोलमाल में डालनेवाली थीं और इनमें शोभा भी नहीं थी। कांग्रेस के खास प्रस्ताव में, जैसा कि वह अखीर में पास हुआ, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मंजूर किया गया; लेकिन उसमें ब्रिटिश-सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मंजूर नहीं किया तो कांग्रेस फिर अपने आजादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी। असल में इस प्रस्ताव ने सरकार को एक नम्र चुनौती देकर उसे सालभर की मियाद दी थी। इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रस्ताव हमें आजादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन-स्टेटस की भी मांग नहीं की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त में कांग्रेस में फूट नहीं होने दी जबकि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने, १९३० में जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए, सब कांग्रेसियों को एक साथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश-सरकार सालभर के अन्दर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मंजूर नहीं करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाजिमी था, और उस वक्त देश की जैसी हालत थी उसमें सरकार से किसी किस्म की लड़ाई उस वक्त तक कारगर नहीं हो सकती थी, जबतक उसे गांधीजी का नेतृत्व न मिले।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि

यह मुखालफत मैंने कुछ-कुछ बे-मन से की थी; तो भी इस बार भी मुझे प्रधान-मंत्री चुना गया। कुछ भी हो, मैं मन्त्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं वही काम कर रहा हूं जो प्रसिद्ध 'विकार आफ ब्रे'[1] करता था। कांग्रेस की गद्दी पर कोई भी सभापति बैठे, मैं हमेशा उस संगठन को सम्हालने के लिए उसका मन्त्री बनाया जाता था।

झरिया कोयले की खानों के क्षेत्र के बीचों-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यहीं हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैंने उसमें उपस्थित रहकर उसकी कार्रवाई में भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ते चला आना पड़ा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस में शामिल होने का यह पहला ही मौका था और मैं दरअसल एक नया आदमी था, यद्यपि किसानों में मैंने जो काम किया था और हाल ही में मजदूरों में जो काम मैंने किये थे, उनकी वजह से मैं जनता में काफी लोक-प्रिय हो गया था। वहां जाकर मैंने देखा कि सुधारवादियों में और उनसे आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी लोगों में पुरानी कशमकश जारी है। बहस की खास बातें ये थीं कि किसी इन्टरनेशनल से तथा साम्राज्य-विरोधी-संघ से और अखिल-विश्व-शान्ति-संघ से अपना सम्बन्ध जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय और जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर ऑफिस की जो कान्फ्रेंस होने जा रही है उसमें अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नहीं ? इन सवालों से भी कहीं ज्यादा जरूरी यह बात थी कि कांग्रेस के दोनों हिस्सों के दृष्टि-

---

[1]अपनी ही दिल्लगी उड़ाकर आनन्दित होने की पंडितजी की क्षमता का यह नमूना है। 'विकार आफ ब्रे' सोलहवीं सदी का एक ऐतिहासिक पात्र है। ब्रे के 'विकार' का अपना पद कायम रहे, इस शर्त पर चाहे जैसे विचार बनाने और रखनेवाले इस मजेदार 'विकार' के सम्बन्ध में अंग्रेजी भाषा में एक प्रशस्ति लिखी गई है। आठवें हेनरी, छठे एडवर्ड, मेरी और एलिजाबेथ इन चारों के राजत्व-काल में यह 'विकार' रहा था। लेकिन तीन बार इसने अपने विचार बदले, दो बार यह रोमन कैथोलिक बना, दो बार प्रोटेस्टेण्ट हुआ। विकार को तो किसी भी दशा में अपना पद छोड़ना नहीं था; हलुवा खाने के लिए वह श्रावक बनने को सदा तैयार था। पंडितजी को मन्त्री-पद की जरूरत न थी, परन्तु अध्यक्ष, नीति और परिस्थिति के बदलते हुए भी उन्हें नहीं छोड़ता था। — अनु०

कोण में बहुत भारी फर्क था। एक हिस्सा तो मजदूर-संघ के पुराने लोगों का था, जो राजनीति में माडरेट था और जो सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धन्धों के मजदूरों और मिल-मालिकों के झगड़ों में राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मजदूरों को अपनी शिकायतें दूर कराने से आगे नहीं जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हें फूंक-फूंककर कदम रखना चाहिए। इन लोगों का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मजदूरों की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा में अक्सर हिन्दुस्तान के मजदूरों के प्रतिनिधि बनाकर भेजे गये थे। दूसरा दल इनसे कहीं ज्यादा लड़ाकू था। राजनैतिक लड़ाई में उनका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टों का या कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों का इस दल पर असर था। हां,यह दल उनके नियन्त्रण में नहीं था। बम्बई के कपड़ों के कारखानों के मजदूर इस दल के हाथ में थे। और उनके नेतृत्व में बम्बई के कपड़े के कारखानों में मजदूरों की एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई में 'गिरनी कामगार यूनियन' नाम की एक नई और जबरदस्त यूनियन कायम हुई थी जिसका बम्बई के मजदूरों पर असर था। आगे बढ़े हुए दल के प्रभाव में एक और ताकतवर संघ जी० आई० पी० रेलवे के मजदूरों का था।

जब से ट्रेड यूनियन कांग्रेस कायम हुई है तभी से उसकी कार्यकारिणी और उसका दफ्तर एन० एम० जोशी और उनके नजदीकी साथियों के हाथ में रहा है और मजदूर-संघों का आन्दोलन चलाने का श्रेय उन्हीं को है। यद्यपि उग्र दल का मजदूर जनता पर ज्यादा जोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हें कोई मौका नहीं मिला। यह हालत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनमें आपस में बड़ा असन्तोष और झगड़ा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन कांग्रेस को अपने अधिकार में कर लें। इसके साथ ही साथ मामले को बहुत ज्यादा बढ़ाने की अनिच्छा भी थी, क्योंकि लोगों को फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान में अभी अपनी जवानी की तरफ बढ़ रहा था। वह कमजोर था और जो लोग उसे चला रहे थे, उनमें से ज्यादातर खुद मजदूर नहीं थे। ऐसी हालतों में हमेशा बाहरवालों में यह प्रवृत्ति होती है कि मजदूरों को

इस्तेमाल करके अपना मतलब गांठें। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और मजदूर-संघों में यह प्रवृत्ति साफ-साफ दिखाई देती थी। फिर भी, सालों काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मजदूर-संघों के सच्चे और उत्साही हितैषी हैं और जो लोग राजनैतिक-दृष्टि से उन्हें नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मजदूरों के आन्दोलन में उन्होंने जो सेवाएं की हैं वे कद्र के लायक हैं। नरम या आगे बढ़े हुए दोनों दलों में से बहुत ही कम आदमियों के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया में मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढ़े हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहां पहुंचा था, इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इस घरेलू लड़ाई में मेरा दिमाग चकराता था, अतएव मैंने यही तय किया कि मैं इन झगड़ों से अलग रहूं। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पदाधिकारियों का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते में मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मैं उसका सभापति चुना गया हूं। मेरा नाम नरम दलवालों ने पेश किया था, गालिबन इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौका मेरा नाम पेश करने में ही था। इन महाशय ने रेलों के कर्मचारियों में वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मैं चुनाव के दिन झरिया में मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मैं उन कार्यकर्ता उम्मीदवार के मुकाबले में अपना नाम वापस ले लेता। मुझे यह बात खासतौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख्स को जिसने कुछ काम नहीं किया और नया-नया ही आया, एकाएक सभापति की गद्दी पर डाल दिया जाय। यह बात खुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान में मजदूर-संघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन में है और कमजोर है।

१९२८ के साल में मजदूरों के झगड़ों और हड़तालों की भरमार रही। १९२९ में यही हाल रहा। बम्बई के कपड़ों के कारखानों के मजदूर बहुत दुःखी और लड़ाकू थे। उन्होंने इन हड़तालों का नेतृत्व किया। बंगाल के सन के कारखानों में भी एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानों में, और मेरा खयाल है कि रेलों के मजदूरों में भी हड़तालें हुईं। जमशेदपुर की टीन की चद्दरों के कारखानों में तो बहुत दिनों झगड़ा रहा। यह हड़ताल मजदूरों ने बहादुरी के साथ कई महीनों तक चलाई। यद्यपि इन मजदूरों से लोगों की

बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो जबरदस्त कम्पनी इन कारखानों की मालिक थी उसने मजदूरों को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनों साल मजदूरों में बेचैनी के साल थे और मजदूरों की हालत दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान में लड़ाई के बाद के साल यहां के धन्धों के लिए मौज के साल थे। इन दिनों उन्होंने अनाप-शनाप मुनाफा कमाया। सन या रूई के कारखानों ने पांच या छ: साल तक अपने हिस्सेदारों को जो मुनाफा बाँटा वह सौ फीसदी सालाना था—अक्सर वह डेढ़ सौ फीसदी तक पहुंचा। ये अनाप-शनाप मुनाफे सब-के-सब कारखानों के मालिकों और हिस्सेदारों की जेब में गए। मजदूरों की हालत जैसी-की-वैसी बनी रही। उनकी मजदूरी में जो थोड़ी-बहुत तरक्की हुई, वह आमतौर पर चीजों की कीमतें बढ़ जाने से बराबर हो गई। इन दिनों जब लोग धड़ाधड़ कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मजदूर बहुत ही बुरे घरों में रहते थे और उनकी औरतों तक को कपड़ा भी पहनने को नहीं मिलता था। बम्बई के मजदूरों की हालत बहुत बुरी थी; लेकिन सन के कारखानों में काम करनेवाले उन मजदूरों की हालत तो बहुत ही बुरी थी जिनके पास आप मोटर में कलकत्ते के महलों से घंटे-भर के अन्दर पहुंच सकते थे। वहां बाल बिखरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए अधनंगी औरतें महज रोटियों पर काम करती थीं, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौड़ा दरिया लगातार ग्लासगो और डंडी की तरफ बहता रहे और उसमें से कुछ हिस्सा थोड़े-से हिन्दुस्तानियों की जेबों में चला जाय।

तेजी के इन सालों में कारखाने मजे से चलते रहे, यद्यपि मजदूरों की हालत पहले-जैसी बनी रही और उन्हें कुछ भी फायदा नहीं हुआ। लेकिन जब धूम का वक्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफा कमाना उतना आसान नहीं रह गया तब सारा बोझ मजदूरों के सिर पर पटक दिया गया। कारखाने के मालिक पुराने मुनाफे को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हें काफी मुनाफा नहीं होता है तो यह रोजगार किस तरह चले? इसी के फलस्वरूप मजदूरों में बेचैनी फैली, झगड़े खड़े हुए और बम्बई में ऐसी भारी-भारी हड़तालें हुईं कि देखने वाले दंग रह गए और जिनसे कारखानों के मालिक और सरकार दोनों ही डर गये। मजदूरों के आन्दोलन में वर्ग-चेतना आने लगी थी और विचार-धारा तथा संगठन

दोनों ही दृष्टियों से वह लड़ाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेजी के साथ बिगड़ रही थी और यद्यपि मजदूरों का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस में कोई सम्बन्ध न था, फिर भी कुछ हद तक वे एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशंकारहित नहीं समझती थी।

मार्च १९२९ में सरकार ने आगे बढ़े हुए दल में से उनके कई सबसे ज्यादा नामी-नामी कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार करके संगठित मजदूरों पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बंगाल, युक्तप्रान्त और पंजाब के मजदूर-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इसमें से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते और महज मजदूर-संघोंवाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढ़े चार वर्ष के करीब चला।

मेरठके इन मुलजिमों की मदद के लिए सफाई-कमेटी बनी। मेरे पिताजी इस कमेटी के सभापति थे तथा डॉक्टर अन्सारी, मैं तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगों का काम मुश्किल था। मुकदमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगों को कम्यूनिस्ट समाजवादी आन्दोलन करनेवालों से कोई हमदर्दी नहीं थी, और वकील लोग पूरा मेहनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जो कि किसी का खून चूसकर दिया जा सकता। हमारी कमेटी में कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक्त हमें सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमें हमारा कुछ भी खर्च नहीं पड़ता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनों लगातार मेरठ में ही बने रहें। उनके अलावा जिन वकीलों के पास हम गये, मालूम होता है, वे यह समझते थे कि यह मुकदमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपया कमाने का एक जरिया है।

मेरठ के मुकदमे के अलावा कुछ और सफाई-कमेटियों से भी मेरा ताल्लुक रहा है—जैसे ऐम० एन० राय के तथा दूसरे और मुकदमों में। हर मौके पर मुझे अपने पेशे के लोगों के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले में मुझे सबसे पहला बड़ा धक्का उस वक्त लगा जब १९१९ में पंजाब में फौजी कानून की रू से मुकदमे चल रहे थे। उन दिनों वकीलों के एक बहुत बड़े लीडर ने इस बात पर जिद की कि उन्हें पूरी फीस दी जाय। यह रकम बहुत बड़ी

थी। उन्होंने इसबात का कोई खयाल नहीं किया कि उनके मुवक्किल वे लोग हैं जो फौजी कानून के शिकार हुए हैं और उनमें उनका साथी एक वकील भी है। इनमें से बहुत-से लोगों को कर्ज लेकर या अपनी जायदादें बेच-बेचकर इन वकील साहब की फीस देनी पड़ी। इसके बाद मुझे जो तजरबे हुए वे तो और भी दुःखदाई थे। हम लोगों को गरीब-से-गरीब लोगों से तांबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पड़ते थे। और वे बड़े-बड़े चैकों के रूप में वकीलों को दे देने पड़ते थे। यह बात हमें बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिलकुल बेकार मालूम पड़ता था, क्योंकि एक राजनैतिक मामले में या मजदूरों के मामले में हम सफाई दें या न दें, नतीजा गालिबन् वही होता है। लेकिन मेरठ के मुकदमे-जैसे मुकदमे में, बिलाशक, सफाई देना कई दृष्टियों से लाजिमी था।

मेरठ-षड्यन्त्र बचाव-कमेटी की मुलजिमों के साथ आसानी से नहीं पटी। इन मुलजिमों में तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफाई भी अलग-अलग किस्म की थी, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल क़तई गायब रहता था। कुछ महीनों के बाद हमने बाकायदा कमेटी को तोड़ दिया और अपनी जाती हैसियत से मदद करते रहे। राजनैतिक हालात जिस तरह बदलते जा रहे थे, उसकी तरफ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिचने लगा और १९३० में तो हम सब-के-सब जेल में बन्द हो गय।

२७

विक्षोभ का वातावरण

१६२९ की कांग्रेस लाहौर में होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पंजाब में होने जा रही थी, और लोग दस वर्ष पहले की बातें याद करने लगे — १६१९ की घटनाएं, जलियाँवाला बाग, फौजी कानून और उसके साथ होनेवाली बेइज्जतियां, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन और उसके बाद असहयोग की शुरुआत। इन दस वर्षों में बहुत-सी घटनाएं हुई थीं और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई थी, मगर फिर भी उस और इस समय में समानताओं की कमी न थी। राजनैतिक विक्षोभ बढ़ रहा था और संघर्ष का वातावरण तेजी से बनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड़ रही थी।

असेम्बली और प्रान्तीय-कौंसिलों में बहुत समय से, उन मुट्ठीभर लोगों के सिवा जो उनके चौकों में चक्कर काटा करते थे, लोगों की दिलचस्पी नहीं रही थी। ये असेम्बलियां और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थीं, जिनसे सरकार को अपने सत्ताधारी और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा और लोगों को हिन्दुस्तान में पार्लमेण्ट होने और उसके मेम्बरों को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना मिल जाता था। असेम्बली का आखिरी सफल कार्य, जिसकी तरफ लोगों का ध्यान गया, १६२८ में हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेन्ट और सरकार के बीच में एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के स्वराजी प्रेसीडेन्ट थे, अपनी स्वतन्त्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल में कांटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशें की गईं। ऐसी बातों की तरफ ध्यान तो जाता था, मगर आमतौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओं की ही तरफ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलों के बारे में कोई भ्रम नहीं रह गया था और वह अक्सर यह राय जाहिर करते थे कि इस अवस्था में अब कौंसिलों से ज्यादा

फायदा नहीं उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौका आजावे तो वह उसमें से खुद भी बाहर निकल आना चाहते थे। हालांकि उनका दिमाग वैधानिक था और कानूनी तरीकों और जाब्तों का आदी था, मगर मौजूदा हालत से मजबूरन् उन्हें यही नतीजा निकालना पड़ा कि हिन्दुस्तान में तो वैधानिक कहे जाने वाले तरीके बेकार और फिजूल हैं। वह अपने कानूनी दिमाग को यह कहकर सान्त्वना दे देते थे कि हिन्दुस्तान में विधान ही नहीं है, और न वस्तुतः यहां कोई कानून की हुकूमत ही है, क्योंकि यहां किसी एक व्यक्ति या दल की मर्जी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे में से अचानक कबूतर निकल पड़ते हैं उसी तरह, आर्डिनेंस वगैरा निकल पड़ते हैं। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिलकुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज होती तो वह बिलाशक विधान के बड़े भारी स्तम्भ होते। मगर जैसी हालत थी, हिन्दुस्तान में नकली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहां वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह अधिकाधिक चिढ़ने लगे थे।

गांधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-कांग्रेस में उन्होंने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओं की जानकारी रखते थे, और कांग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह मशविरा लिया करते थे। कुछ वर्षों से उनका खास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में लम्बे-चौड़े दौरे किये थे। उन्होंने बारी-बारी से एक-एक प्रान्त को लिया। वह उसके हर जिले और करीब-करीब हर महत्त्वपूर्ण कस्बे में गये, और दूर के और देहाती हिस्सों में भी गये। हर जगह उनके लिए लोगों की भारी भीड़ जमा होती थी और उनका कार्यक्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पड़ती थी। इस तरह से उन्होंने बार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाड़ों से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होंने देख लिया है। मैं नहीं समझता कि और किसी मनुष्य ने कभी हिन्दुस्तान में इतना सफर किया होगा।

प्राचीन-काल में बड़े-बड़े परिव्राजक होते थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे। मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह का जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफर का मुकाबला नहीं कर सकेगा। गांधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ उन्हीं से बंधे हुए नहीं थे,

वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होंने हिन्दुस्तान और यहां के लोगों का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीके से करोड़ों लोगों ने उन्हें देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये।

वह १९२९ में अपने खादी-सम्बन्धी दौरे में युक्तप्रान्त में आये, और उन्होंने निहायत गरम मौसम में इस प्रान्त में कई हफ्ते बिताये। मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनों तक लगातार रहता, और हालांकि उनके आने पर इससे पहले भी बड़ा-बड़ी भीड़ देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए इकट्ठी हुई भीड़ों को देखकर ताज्जुब किये बगैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी जिलों में खासतौर पर देखा जाता था, जहां आदमियों का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी। जब हम देहात में मोटर से गुजरते थे, तो कुछ-कुछ मीलों के फासले पर ही दस हजार से लेकर पचीस हजार तक की भीड़ हमें मिला करती थी, और सभाओं में तो अक्सर लाख-लाख से भी ज्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बड़े शहर के सभाओं में लाउडस्पीकरों का इन्तजाम न था, और जाहिरा सब आदमियों को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था। शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नहीं करते थे; वे तो महात्माजी के दर्शन करके ही सन्तुष्ट हो जाते थे गांधीजी अपने पर अनावश्यक बोझ न पड़ने देते हुए, आमतौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे। नहीं तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज काम चलाना बिलकुल असम्भव हो जाता।

मैं सारे युक्तप्रान्त के दौरे में उनके साथ नहीं रहा, क्योंकि मैं उनके लिए कोई खास उपयोगी नहीं हो सकता था, और यात्री-दल में मेरे एक के और बढ़ जाने से कोई मतलब न था। यों मजमों से मुझे परहेज न था, मगर गांधीजी के साथ चलने-वालों का आमतौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्के खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम भी काफी था, और सिर्फ खादी के प्रचार में ही, जो मुझे बढ़ती हुई राजनैतिक हालत में एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नजर आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मैं गांधीजी के गैर-राजनैतिक कामों में लगे रहने से नाराज भी था, और मैं उनके विचारों की पृष्ठभूमि कभी नहीं समझ सका। उन दिनों वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि मुझे 'दरिद्र-नारायण' अर्थात् दरिद्रों के लिए धन चाहिए। उनका यही मतलब था कि उससे वह

गरीबों की मदद करेंगे, उन्हें घरेलू धन्धों द्वारा काम दिलायेंगे । मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता का गौरव बढ़ता दिखाई देता था, क्योंकि नारायण खासकर गरीबों का नारायण है, गरीब उसके प्यारे हैं । मैं समझता हूं कि सब जगह धार्मिक भावना यही है । मैं इस बात को पसन्द नहीं कर सकता था; क्योंकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज मालूम होती थी, जिससे लड़कर उसे उखाड़ फेंकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढ़ावा देना चाहिए। इसके लिए लाजिमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते हैं उन्हें मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पड़ता था। वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया में सदा चीजों की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नहीं कर सकते थे कि जिसमें सबको जीवन की आवश्यक चीजें भरपूर मिल सकें । शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज में गरीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेंगे ।

जब कभी मुझे इस बारे में गांधीजी से बहस करने का मौका मिला तभी वह इस बात पर जोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए । यह दृष्टिकोण काफी पुराना है और हिन्दुस्तान में, मध्यकालीन यूरप में भी, अक्सर पाया जाता है । किन्तु मैं तो इस बात को बिलकुल नहीं समझ सका हूं कि कोई भी शख्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसी से समाज की समस्या हल हो जायगी ।

असेम्बली, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली संस्था हो गई थी और उसकी उबा देनेवाली कारवाइयों में शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो । जब भगतसिंह और बी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी से उस सभा-भवन के फर्श पर दो बम फेंके, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नींद खुली । किसीको सख्त चोट नहीं आई, और शायद बम इसी इरादे से फेंके गये थे, जैसा कि अभियुक्तों ने बाद में बयान किया था कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसीको चोट पहुंचाई जाय ।

उससे सचमुच असेम्बली में और बाहर खलबली मच गई । आतंकवादियों के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अंग्रेज पुलिस अफसर को, जिसके

बारे में कहा गया था कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर म गोली से मार दिया गया। बंगाल और दूसरी जगहों पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतंककारियों की हलचलें फिर से शुरू हो गईं। षड्यन्त्र के बहुत-से मुकदमे चलने लगे, और नजरबन्दी की—यानी बगैर मुकदमा चलाये और सजा दिये जेल में रक्खे जानेवाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगों की—तादाद जल्दी बढ़गई।

लाहौर षड्यन्त्र के मुकदमे मे अदालत में पुलिस ने कई असाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुकदमे की तरफ लोगों का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल में अभियुक्तों के साथ जो बर्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज्यादातर कैदियोंने भूख-हड़ताल कर दी। यह ठीक किन कारणों से शुरू हुई, यह तो मैं भूल ही गया हूं, मगर अन्त में यह बड़ा सवाल बन गया कि कैदियों, खासकर राजनैतिक, के साथ आमतौर पर कैसा बर्ताव होना चाहिए। यह हड़ताल हफ्तों तक बढ़ती गई, और उससे सारे देश में खलबली मच गई। अभियुक्तों की शारीरिक कमजोरी के सबब से उन्हें अदालत में नहीं ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पड़ती थी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा कानून बनाने की शुरूआत की जिससे अभियुक्तों या उनके पैरोकारों की गैर-मौजूदगी में भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी रख सके। उन्हें जेल के बर्ताव के प्रश्न पर भी गौर करना पड़ा।

जब हड़ताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक्त मैं इत्तफाक से लाहौर पहुंचा। मुझे कुछ कैदियों से जेल में मिलने की इजाजत दे दी गई, और मैंने इसका फायदा उठाया। भगतसिंह से यह मेरी पहली मुलाकात थी। मैं जतीन्द्र नाथ दास वगैरा से भी मिला। भगतसिंह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमें गुस्सा नहीं दिखाई देता था। उसकी दृष्टि और बातचीत में बड़ी सुजनता थी। मगर मेरा खयाल है कि कोई भी शख्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और सौजन्यपूर्ण दिखाई देने लगेगा। जतीन्द्रनाथ दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और सुशील, मालूम पड़ा। जब मैं उससे मिला, उसे काफी दर्द हो रहा था। बाद में वह, उपवास से ही, भूख-हड़ताल के इकसठवें रोज मर गया।

भगतसिंह की विशेष इच्छा अपने चाचा सरदार अजीतसिंह से, जो १९०७ में लाला लाजपतराय के साथ निर्वासित कर दिये गये थे, मिलना या कम-से-कम

उनकी खबर पाना मालूम हुई । वह कई बरसों तक विदेशों में देश-निकाले में रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका में बस गये हैं, मगर मुझे खयाल नहीं है कि उनके बारे में कोई भी निश्चित खबर हो । मुझे यह भी पता नहीं कि वह मर गये हैं या जीते हैं।

जतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से सारे देश में सनसनी पैदा हो गई । इससे राजनैतिक कैदियों के बर्ताव का सवाल आगे आ गया, और इसपर सरकार ने एक कमेटी मुकर्रर कर दी । इस कमेटी के विचारों के फलस्वरूप नये कायदे जारी किये गये, जिनसे कैदियों के तीन दर्जे कर दिये गये। इन कायदों से कुछ सुधार होने की सूरत नजर आई, मगर असल में कुछ भी फर्क नहीं पड़ा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक ही रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्यों ही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियां कांग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम में लग गई। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रहती है। १९२९ में गांधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में करीब-करीब एकमत था। उन्हें दूसरी बार सभापति बनाने से, वास्तव में,कांग्रेस के नेताओं में उनका पद कोई और ऊंचा नहीं हो जाता था, क्योंकि वह तो कई बरसों से एक तरह के सभापतियों के भी दादा बने हुए थे। उस वक्त सब को यही लगा कि चूंकि लड़ाई अत्यन्त निकट है और उसकी सारी बागडोर यों भी उन्हींके हाथों में रहनेवाली है, तो फिर कांग्रेस का 'विधिवत्' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हींको क्यों न बनाया जाय। इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रांतीय-कमेटियों ने सभापति-पद के लिए गांधीजी की सिफारिश की। मगर उन्होंने मंजूर न किया। हालांकि उन्होंने जोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमें दलील करने की गुंजायश मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा गौर कर लेंगे। लखनऊ में इसका आखिरी फैसला करने के लिए अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी की मीटिंग की गई, और आखिरी घड़ी तक करीब-करीब हम सभी का यह खयाल था कि वह राजी हो जायंगे। मगर ऐसा न हुआ और आखिरी घड़ी में उन्होंने मेरा नाम पेश किया और उसपर जोर दिया। उनके आखिरी इन्कार से अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी के लोग तो

कुछ-कुछ भौंचक्के रह गये, और इस विषम-स्थिति में डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज भी हुए। किसी दूसरे शख्स के उपलब्ध न होने की दशा में, लाचारी से उन्होंने आखिर मुझको चुन लिया।

मुझे पहले कभी इतनी झुंझलाहट और जिल्लत महसूस नहीं हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नहीं थी कि मुझे यह सम्मान दिये जाने का—क्योंकि यह एक बड़े भारी सम्मान की बात है—भान न हो, और अगर मैं मामूली तरीके से चुना जाता तो मुझे खुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह सम्मान तो सीधे रास्ते या बगल के रास्ते से भी न मिला, मैं तो गोया किसी छिपे रास्ते से आ खड़ा हुआ और अचानक लोगों को मुझे मंजूर कर लेना पड़ा। उन्होंने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुंची, और मुझे करीब-करीब महसूस हुआ कि मैं इस सम्मान को लौटा दूं। मगर खुश किस्मती से मैंने अपने भावों को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिये हुए वहां से चुपचाप चला आया।

इस फैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नहीं करते थे, मगर वह मुझे तो बहुत ज्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हें खुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उसके सामने मेरे खिलाफ कुछ कह नहीं सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बड़े सम्मान और उत्तरदायित्व की बात थी; और यह चुनाव इसलिए महत्व रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही बेटा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मैं कांग्रेस का सब-से-कम उम्र का सभापति था—उस वक्त मेरी उम्र ठीक चालीस साल की थी। मगर यह गलत है। मेरा खयाल है कि गोखले की भी करीब-करीब यही उम्र थी और मौलाना अबुलकलाम आजाद की (हालांकि वह मुझसे कुछ बड़े हैं) उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जब वह सभापति बने थे। मगर गोखले जब ३५-४० के थे, तभी योग्यता के लिहाज से बड़े राजनीतिज्ञों में माने जाते थे, और अबुलकलाम आजाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गई थी जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी। चूंकि मुझमें राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर

कभी बड़ा विद्वान् होनें का दोषारोपण भी किसी ने नहीं किया, इसलिए मैं बड़ी उम्र का होने के दोषारोपण से बच गया हूं—भले ही मेरे बाल पक गये हैं और मेरा चेहरा भी उसकी चुगली खा लेता है।

लाहौर-कांग्रेस नजदीक आती जाती थी। इस बीच घटनाएं एक-एक करके ऐसी घटती जाती थीं, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताकत से आगे बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यों न थे, मगर उनका बहुत ही थोड़ा हिस्सा था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ एक पुर्जे की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को, शायद रोकने की आशा से ब्रिटिश-सरकार एक कदम आगे बढ़ी, और वाइसराय लार्ड इर्विन ने एक गोल-मेज-कान्फ्रेंस करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बड़ी चालाकी-भरे थे। जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नहीं' भी हो सकता था, और हम कई को तो यह साफ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। और अगर उसमें ज्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके करीब तक भी वह नहीं पहुंच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फौरन, और बड़ी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरों की कान्फ्रेंस' बुलाई गई, और कई दलों के लोग उसमें बुलाये गये। उसमें गांधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वगैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक संयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ—जिनके बारे में कहा गया था कि ये जरूरी हैं और पूरी की जानी चाहिएं—मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेगी तो सहयोग किया जायगा। ये शर्तें[1] काफी वजनदार थीं, और उनसे कुछ तो अन्तर होता ही।

---

[1] शर्तें ये थीं—

१—प्रस्तावित कान्फ्रेंस में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक पद के आधार पर होनी चाहिए।

२—कान्फ्रेंस में कांग्रेस के लोगों का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

३—राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई हो।

नरम और प्रगतिशील सभी दलों के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मंजूर किया जाना एक बड़ी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हां, सबके बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊंची चीज थी, मगर उसमें एक घातक पकड़ भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे। कांग्रेस के लोग तो उन्हें सारभूत-पूर्ण रूप से अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नहीं हो सकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थीं। यह बात कांग्रेस-कार्य-समिति की एक बाद की बैठक में साफ कर दी गई और उसमें यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज सिर्फ अगली कांग्रेस तक के लिए ही है। मगर नरम दलों के लिए ये ज्यादा-से-ज्यादा मांगें थीं, जिनका बयान किया जाना अच्छा था मगर जिन पर इतना जोर नहीं दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि से वे शर्तें महत्त्वपूर्ण कहलाते हुए भी वास्तव में कोई शर्तें नहीं थीं। और बाद में हुआ भी यह कि, जब इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई और हममें से ज्यादातर लोग बीसियों हजार दूसरे आदमियों के साथ जेल में पड़े थे, उस वक्त, हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तखत किये थे, हमें जेल में डालनेवालों को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी——मगर यह उम्मीद नहीं थी कि इस हदतक होगी। लेकिन हमें कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस संयुक्त कार्य से, जिसमें कांग्रेस के लोगों ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश-सरकार को मनमाना और एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज आवेंगे। हम कई लोगों के लिए तो, जो इस समझौते के प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, ज्यादा जबरदस्त कारण यह था कि हमारे कांग्रेस के लोगों की आपस में एकता बनी रहे। एक बड़ी लड़ाई की शुरुआत में हम कांग्रेस में फूट होना बरदाश्त नहीं कर सकते थे। यह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश की हुई शर्तों को सरकार नहीं मान सकेगी, और इस तरह हमारी स्थिति और भी मजबूत हो जायगी, और हम अपने दाहिने

४——अभी से आगे हिन्दुस्तान का शासन, मौजूदा हालात में जहां तक मुमकिन है, उपनिवेशों के ढंग पर चलना चाहिए।

दल को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेंगे। यह सिर्फ कुछ ही हफ्तों का सवाल था। दिसम्बर आया और लाहौर-कांग्रेस नजदीक आई।

फिर भी वह संयुक्त वक्तव्य हममें से कुछ लोगों के लिए एक कड़वी घूंट था। स्वाधीनता की मांग को छोड़ देना, चाहे सिर्फ कल्पना में ही और सिर्फ थोड़ी देर के लिए ही क्यों न हो, एक गलत और खतरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके; वह कोई सारभूत चीज न थी, जिनके बगैर हमें कभी सान्त्वना ही न हो सके। इसलिए मैं दुविधा में पड़ गया और मैंने वक्तव्य पर हस्ताक्षर नहीं किये (सुभाष बोस ने तो निश्चित-रूप से हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया); मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मैं नरम पड़ गया और मैंने हस्ताक्षर कर दिये। मगर फिर भी मैं बड़ी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने कांग्रेस के सभापति पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गांधीजी को लिख भेजा। मैं नहीं समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालांकि मैं क्षुब्ध तो काफी हो गया था। फिर गांधीजी का एक धीरज का पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से आखिर मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कांग्रेस से कुछ ही समय पहले, कांग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूंढ़ने की एक आखिरी कोशिश की गई। वाइसराय लार्ड इर्विन के साथ एक मुलाकात का इन्तजाम किया गया। मुझे नहीं मालूम कि इस मुलाकात के इन्तिजाम में पहला कदम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह खासतौर पर किया होगा। इस मुलाकात में गांधीजी और मेरे पिताजी कांग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे खयाल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेण्ट पटेल भी थे। इस मुलाकात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया, और यह पाया गया कि दो खास पार्टियां, सरकार और कांग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फासले पर थीं। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाकी न रहा कि कांग्रेस अपना कदम आगे बढ़ावे। कलकत्ते में दी हुई एक साल की मियाद खतम हो रही थी; अब कांग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए जरूरी कार्रवाइयां करने को थीं।

लाहौर-कांग्रेस से पहले के इन आखिरी हफ्तों में मुझे एक-दूसरे क्षेत्र में भी

जरूरी काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर में होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेण्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही असाधारण बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कांग्रेस दोनों का ही कुछ हफ्तों के अन्दर सभापतित्व करे। परन्तु मैंने यह उम्मीद की थी कि मैं दोनों कांग्रेसों को जोड़नेवाली कड़ी बन जाऊंगा, और दोनों को ज्यादा नजदीक ले आऊंगा, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज्यादा समाजवादी और ज्यादा श्रमिक-पक्षीय हो जाय और संगठित मजदूर-पक्ष राष्ट्रीय संग्राम में साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता समाजवाद और श्रमिक पक्षीय दिशा में दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालांकि कांग्रेस का दृष्टिकोण मध्यम-वर्गीय है, फिर भी देश में वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताकत है। इस हालत में मजदूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने प्रभाव में लाना चाहिए। मगर साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग कायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद है कि जैसे-जैसे घटनाएं घटती जायंगी और कांग्रेस सीधे संघर्ष में पड़ती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाजिमी तौर पर ज्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी। पिछले बरसों में कांग्रेस का काम किसानों और गांवों की तरफ बढ़ा है। अगर इसी तरफ इसका कदम बढ़ाना रहा तो किसी दिन यह किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी, वरना ऐसा संगठन तो हो ही जायगा जिसमें किसान-वर्ग प्रधान हो। संयुक्त-प्रान्त की कई जिला-कमेटियों में इस वक्त भी किसानों के प्रतिनिध काफी तादाद में थे, हालांकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों ने अपने हाथ में ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरों के निरन्तर संघर्ष का, राष्ट्रीय कांग्रेस के और ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सम्बन्ध पर, असर होने की सम्भावना थी। मगर वह सम्भावना दूर थी; क्योंकि मौजूदा राष्ट्रीय कांग्रेस मध्यमवर्गीय लोगों के हाथ में है और उसपर शहरवालों का कब्जा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता का सवाल हल नहीं हो जाता है तबतक उनकी राष्ट्रीयता ही मैदान में प्रधान रहेगी और वही देश की सबसे जबरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखाई दिया कि कांग्रेस को संगठित मजदूर-वर्ग के नजदीक लाना स्पष्टतौर पर अच्छा है, और युक्तप्रान्त में तो हमने प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी में ट्रे० यू० कां० की

प्रान्तीय शाखा से प्रतिनिधि भी बुलाये थे। कांग्रेस के कई लोगों ने भी मजदूरों की हलचलों में बड़ा हिस्सा लिया था।

मगर मजदूरों के कुछ आगे बढ़े हुए दल राष्ट्रीय कांग्रेस से झिझकते थे। वे इसके नेताओं पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्श को मध्यमवर्गीय और प्रतिगामी समझते थे, और मजदूर दृष्टिकोण से यह सचमुच ऐसा था भी। जैसा कि इसके नाम से ही जाहिर होता है, कांग्रेस तो एक राष्ट्रीय संगठन था।

१६२६ ईस्वी भर हिन्दुस्तान के मजदूर-संघ एक नये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मजदूरों के विषय में नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध होरहे थे। बायां पक्ष (गरम दल) कमीशन का बहिष्कार करने की राय रखता और दाहिना पक्ष (नरम दल) सहयोग देने की तरफ था; और चूंकि दाहिने पक्ष के नेताओं को कमीशन में मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्तिगत मामला भी बन गया था। और कई बातों की तरह इस बात में भी मेरी हमदर्दी उग्र पक्ष की तरफ थी, और खासकर इसलिए कि यही राष्ट्रीय कांग्रेस की भी नीति थी। जबकि हम सीधे हमले की लड़ाई चला रहे हैं या चलानेवाले हैं उस वक्त सरकारी कमीशनों से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रेड यूनियन कांग्रेस में व्हिटले कमीशन के बहिष्कार का यह प्रश्न एक बड़ा प्रश्न बन गया, और दूसरे भी कई विवादग्रस्त प्रश्नों पर बायें पक्ष को सफलता मिली। इस कांग्रेस में मैंने बहुत कम प्रकट भाग लिया। मैं मजदूर-क्षेत्र में बिलकुल नया था : अभी मैं रास्ता ढूंढ रहा था, इसलिए भी मैं थोड़ा झिझकता रहा। आमतौर पर मैं अपनी राय ज्यादा आगे बढ़े हुए दलों की तरफ जाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ होजाने से अपने को बचाया। मैंने संचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज्यादा काम किया। इस तरह ट्रे०यू०कां० के टुकड़े होजाने और एक नये नरम संगठन के कायम हो जाने में मैं प्रायः एक मौन दर्शक बना रहा। जाती तौरपर मुझे यह महसूस हुआ कि दाहिने पक्ष के दलों का अलग होजाना मुनासिब न था, मगर बायें पक्ष के कुछ नेताओं ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हें अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। दाहिने और बायें पक्षों के झगड़ों के बीच के बड़े भारी दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन

ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनों दलों को संयम में रक्खा होता और ट्रे०यू०कां० में फूट पड़ने से बचा ली होती। अगर अलग-अलग टुकड़े भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि बाद में जाकर हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मजदूर-संगठन के आन्दोलन को एक जबरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभी तक सम्हल नहीं सका है। सरकार ने मजदूर-आन्दोलन के आगे बढ़े हुए दलों पर पहले ही से हमला शुरू कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठ वाला मुकदमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिकों ने भी देखा कि अपने लाभ की पूर्ति के लिए यही ठीक मौका है। १९२९-३० के जाड़े में संसार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गई थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरह से हमला किये जाने से, और अपने ट्रेड यूनियन संगठन की हालत उस समय बहुत ही कमजोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग के लिए बड़ी कठिनाई का जमाना आ गया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद भी या दूसरे साल एक और टुकड़ा—कम्यूनिस्ट हिस्सा – ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलहदा हो गया। इस तरह सिद्धान्तः हिन्दुस्तान में मजदूर-संघों के तीन संगठव बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य ट्रे० यू० कांग्रेस दल और एक कम्यूनिस्ट-दल। व्यवहार में ये सभी कमजोर और बेकार हो गये, और उनके आपसी झगड़ों से आम मजदूर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मैं इन सबसे अलग था, क्योंकि मैं तो ज्यादातर जेल में रहा। जब कभी बीच-बीच में मैं जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सब में एकता होने की कोशिशें की जा रही हैं। मगर वे कामयाब न हुईं।[1] नरम दल के यनियनों के साथ रेलवे कारीगरों के रहने से उनकी ताकत बढ़ गई। दूसरे दलों के मुकाबले में उनको एक फायदा यह था कि सरकार उनको स्वीकार करता थी, और जिनेवा की मजदूर-कान्फ्रेंसों के लिए उनकी सिफारिशों को मंजूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मजदूर-नेता उनकी तरफ खिंच गये और वे अपने साथ अपनी यूनियन को भी उधर खींच ले गये।

---

[1]इसके बाद ट्रेड यूनियनों में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामयाब हुई है, और विभिन्न दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

२८

पूर्ण स्वाधीनता और उसके बाद

मेरा स्मृति में लाहौर-कांग्रेस की तस्वीर आज भी साफ खिंची हुई है। यह कुदरती भी है, क्योंकि मैंने उसमें सबसे बड़ा हिस्सा लिया था, और थोड़ी देर के लिए तो मैं रंग-मंच के केन्द्र में ही था और भीड़-भब्भड़ के उन दिनों में मेरे दिल में जो-जो भावनाएं पैदा हुईं उनके खयाल से मुझे आनन्द होता है। लाहौर के लोगों ने भारी तादाद में तथा हृदय के अतिशय गहरे भाव से मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह अपार उत्साह मेरे निजके लिए नहीं, बल्कि एक प्रतीकके लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नहीं है कि वह, थोड़े समय के लिए ही सही, बहुत लोगों की आंखों में और दिलों में वैसा प्रतीक बन जाय। मेरे आनन्द का पार न था और मैं मानो अपने व्यक्तित्व की मर्यादा को पार कर रहा था। मगर मुझ पर क्या असर हुआ, इसका कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वहां तो बड़े-बड़े सवाल सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का खयाल सब ओर छाया हुआ था। हमें सिर्फ नुक्ताचीनी या विरोध या राय के जाहिर करने के ही प्रस्ताव नहीं करने थे, मगर हमें ऐसे लड़ाई को न्योता देना था जिससे सारा देश हिल जाने वाला था और जिसका असर लाखों की जिन्दगी पर पड़ने वाला था।

दूर भविष्य में हमारे और हमारे देश के लिए क्या होने वाला है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता था; मगर निकट भविष्य में क्या होगा, यह तो साफ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियों के लिए लड़ाई और तकलीफ सामने नजर आती थी। इस खयाल ने हमारे उत्साह में गम्भीरता ला दी थी और हमें अपनी जिम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमारा दिया हुआ हरेक वोट अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रों के मिलने-जुलने को बिदाई का पैगाम था, और था एकान्त के दिनों और रातों तथा शारीरिक और मानसिक कष्टों को निमन्त्रण।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लड़ाईको चलाने के लिए की जानेवाली कार्रवाई का खास प्रस्ताव तो करीब-करीब एकमत से पास होगया, कई हजारों में से मुश्किल से बीस आदमियों ने उनके खिलाफ वोट दिया था। मगर असली वोटिंग एक छोटे मामले पर हुआ, जो एक संशोधन की शकल में आया था। वह संशोधन गिर गया और दोनों तरफ की रायों की तादाद जाहिर कर दी गई। खास प्रस्ताव इत्तफाक से इकत्तीस दिसम्बर की आधी रात के घंटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुजरकर उसकी जगह नया साल आ रहा था, मंजूर हुआ। इस तरह ज्योंही कलकत्ता-कांग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत खत्म हुई त्योंही नया फैसला किया गया और लड़ाई की तैयारी शुरू की गई। काल का चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नहीं जानते थे कि हमें कैसे और कब शुरुआत करनी चाहिए। अ० भा० कांग्रेस कमेटी को हमारी लड़ाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अखतियार दिया गया, मगर सब जानते थे कि असली फैसला तो गांधीजी के ही हाथ था।

लाहौर-कांग्रेस में नजदीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो कांग्रेस की बैठक में हमेशा आया ही करते थे। पिछले कुछ बरसों से खान अब्दुलगफ्फारखां कांग्रेस के अधिवेशनों में आकर हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर में पहली बार सीमाप्रान्त से सच्चे नौजवानों का एक बड़ा दल आकर अखिल भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क में आया। उसके ताजा दिमागों पर बड़ा असर पड़ा और वे यह खयाल और जोश लेकर गये कि वे आजादी की लड़ाई में सारे हिन्दुस्तान के साथ हैं। वे सीधे सादे मगर बड़ा काम करनेवाले लोग थे। उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों के लोगों की तरह महज बातचीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होंने अपने लोगों को संगठित करना और उनमें नये-नये खयालात फैलाना शुरू किया। उन्हें कामयाबी भी मिली, और सीमाप्रान्त के स्त्री-पुरुष जोकि हिन्दुस्तानकी लड़ाई में सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से महत्त्वपूर्ण और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कांग्रेस के बाद ही, और उसके आदेशानुसार मेरे पिताजी ने असेम्बली के कांग्रेसी मेम्बरों को अपनी-अपनी जगहों से इस्तीफे दे देने को कहा। करीब-करीब सभी एक साथ बाहर आ गये। कुछ इने-गिने लोगों ने ही बाहर आने से इन्कार किया, हालांकि इससे उनके चुनाव की प्रतिज्ञा भंग होती थी।

फिर भी आगे के बारे में हमें कुछ साफ सूझता न था। हालांकि कांग्रेस-अधिवेशन में बड़ा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहांतक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं जा सकते थे। मगर देश का रुख क्या होगा, इसका करीब-करीब बिलकुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देश-भर में आजादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम की बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओं के इन्तजार में रहे। जनवरी के शुरू में मैं इलाहाबादमें था; मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बड़ेभारी सालाना मेले—माघ मेले का वक्त था। शायद वह खास कुम्भ का साल था, और लाखों स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद में, या यात्रियों की भाषा में प्रयागराज में, आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे, उनमें खासकर किसान थे, और मजदूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊंचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओं में से सभी तरह के लोग आये थे। जब मैं इस बड़ी भीड़ को और संगम पर जाते और आते हुए लोगों की अटूट धारा को देखता तो मैं सोचा करता कि ये लोग सत्याग्रह और शांति-पूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देंगे? इनमें से कितने लोग लाहौर के प्रस्तावों को जानते हैं या उनकी परवा करते हैं? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्यजनक और मजबूत था, जिससे वे और उनके बजुर्ग हजारों बरसों से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गंगा में स्नान करने के लिए चले आते थे। क्या वे इस अदम्य उत्साह को अपनी जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य में नहीं लगा सकते? या क्या उनके दिमागों में धर्म का बाह्याचार और दकियानूसीपन इतना भर चुका है कि उनमें दूसरे खयालात की गुंजाइश ही नहीं रही? मैं तो यह जानता ही था कि ये दूसरे खयालात उनमें पहुंच चुके हैं, जिनसे सदियों की शान्त निश्चिन्तता में खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारों और आकांक्षाओं की हलचल के जनता में फैलने से ही पिछले बारह बरसों में बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारों के अस्तित्व के विषय में और उनकी बड़ी भारी ताकत के बारे में तो कोई शक ही नहीं था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवाल उठते थे,

जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये खयालात कितने फैल चुके हैं? उनके पीछे कितनी ताकत है? सगठिन काम करने की कितनी योग्यता है? लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है?

यात्रियों के झुण्ड-के-झुण्ड हमारे घर आते थे। हमारा घर एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम के पास ही पडता था, जहां पुराने जमाने में एक विद्यापीठ था। मेले के दिनों में सुबह से शाम तक बे-शुमार लोग हमसे मिलने आते रहते थे। मेरे खयाल से ज्यादातर तो लोग कौतूहल से, और जिन बड़े आदमियों का नाम उन्होंने सुन रखा है उन्हें, खासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालों में ऐसे भी बहुत-से लोग थे जिनका झुकाव राज-नीति की तरफ था, और वे कांग्रेस के बारे में, उसमें तब क्या हुआ, और आगे क्या होनेवाला है ये सवाल भी पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयां सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हें क्या करना चाहिए? हमारे राजनीतिक नारे उन्हें खूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हींसे गूंजता रहता था। मैंने पहले तो--जैसे-जैसे बीस पचास या सौ आदमियों का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया और तब मैं उनके आने पर चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फिजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज लगने लगते, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगों से भर जाते और हरेक दरवाजे और खिड़की में से बहुत-से लोग हमें झांकने लगते। कुछ भी काम करना, बातचीत करना या भोजन करना तक मुश्किल हो जाता। इससे सिर्फ परेशानी ही नहीं होती थी बल्कि झुंझलाहट और चिढ़ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आंखों से, जिसमें पीढ़ियों की गरीबी और मुसीबतें झलक रही थीं, देखते हुए हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नहीं मांगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता के प्रभाव से हृदय को अपनी अल्पता का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थी, उस वक्त हमारे यहां ठहरी हुई थीं। उनसे बातचीत करना भी जब-तक कठिन हो जाता था, क्योंकि चार-चार, पांच-पांच मिनट पर आये हुए झुण्ड से कुछ-न-कछ कहने के लिए मुझे बाहर आना

पड़ता था, और बीच-बीच म हमें बाहर के नारे और शोरगुल सुनाई देते थे। मेरी परेशानी में उन्हें कुछ हंसी-सी आई, और साथ ही, मेरा खयाल है यह समझ-कर कि मैं जनता में बहुत लोक-प्रिय हूं, वह प्रभावित भी हुई। (सच बात तो यह थी कि लोग खासतौर से मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे,मगर चूंकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगों के सामने जाना पड़ता था।) उन्होंने अचा-नक मेरी तरफ मुड़कर मूझसे पूछा कि मैं इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूं और क्या इसपर मुझे गर्व नहीं होता? जवाब देने से पहले मैं थोड़ा झिझका और इससे उन्होंने समझा कि शायद इस बिलकुल व्यक्तिगत प्रश्न से उन्होंने मुझे परेशानी में डाल दिया। उन्होंने इसके लिए माफी चाही। उनके सवाल से मुझे परेशानी बिलकुल नहीं हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूंढ़ना बड़ा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग बहुत बातें सोचने लगा और मैं अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि, प्रायः इत्तफाक से ही, मैं जनता में बड़ा लोक-प्रिय हो गया था। पढ़े-लिखे लोगों में मेरी कदर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषों का तो, एक प्रकार से, मैं नायक बन गया था और उनकी निगाह में मेरे आसपास कुछ वीरता की आभा दिखाई पड़ती थी, मेरे बारे में गाने तैयार हो गये थे और ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियां गढ़ ली गई थीं जिन्हें सुनकर हंसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय जाहिर करते थे, और बुजुर्गाना ढंग से कहते थे कि मुझमें योग्यता या ईमानदारी की कमी नहीं है।

शायद किसी बड़े महात्मा या बड़े भारी हैवान पर ही इन सब बातों का असर नहीं होता होगा। मगर मैं तो अपने को दोनों में से एक भी नहीं मानता। बस, ये बातें मेरे दिमाग में बैठ गईं। उन्होंने मुझपर थोड़ा नशा चढ़ा दिया और मुझको हिम्मत और ताकत दी। मेरा यह अन्दाज है, (क्योंकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है) कि मैं अपने काम-काज में थोड़ा स्वेच्छाचारी और कुछ डिक्टेटर-जैसा बन गया। मगर फिर भी मेरा खयाल है कि मेरा अभिमान कुछ ज्यादा नहीं बढ़ा। मुझे इतना-सा ही खयाल हुआ कि मुझमें भी कुछ बातों की लियाकत हैऔर उनके सम्बन्ध में मैं ऐसा नाचीज नहीं हूं। मगर मैं यह भी खूब जानता था कि यह काई विलक्षण बात नहीं है, और मुझे अपनी कमजोरियों का भी बहुत खयाल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने में मदद

दी और इसीसे मैं अपने सम्बन्ध की कई घटनाओं पर अनासक्त दृष्टि से गौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के अनुभव ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवांछनीय व्यक्तियों के पास रहती है; वह यकीनन भलेपन या अक्लमन्दी का ही आवश्यक चिह्न नहीं होती। तो मैं अपनी कमजोरियों के सबब से लोक-प्रिय था, या अपने गुणों के सबब से? सचमुच मैं लोक-प्रिय किस कारण से था?

इसका सबब मुझमें दिमागी काबिलियत का होना नहीं था; क्योंकि मुझमें दिमागी काबिलियत कोई गैरमामूली नहीं थी और कम-से-कम इसीसे लोकप्रियता नहीं मिलती; और 'कुर्बानी' कहे जाने वाले कामों से भी मेरी लोकप्रियता नहीं थी; क्योंकि यह सभी जानते हैं कि हमारे ही समय में हिन्दुस्तान में सैकड़ों-हजारों आदमियों ने मुझसे बेहद ज्यादा तकलीफें उठाई हैं और जान तक की बलि दे दी है। मैं बड़ा वीर हूं, यह शोहरत बिलकुल वाहियात है। मैं अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नहीं समझता और जीवन में वीरों का-सा ढंग या उसकी नकल और दिखावा करना मुझे बेवकूफी की बात मालूम होती है। प्रेमशौर्य की अद्‌भुतता का मुझमें नाम भी नहीं है। यह सही है कि मुझ में कुछ शारीरिक और दिमागी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद अभिमान—अपना, अपने खानदान का और अपने राष्ट्र का अभिमान, और किसीके भी दबाव से कुछ न करने की वृत्ति।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। तब मैं दूसरे ही तरह से उसकी खोज में लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे में एक बहुत प्रचलित कहावत यह है कि हम हर हफ्ते अपने कपड़े पैरिस की किसी लॉण्ड्री में धुलने को भेजते थे। हमने कई बार इसका खण्डन किया है, फिर भी यह बात प्रचलित है ही। इससे ज्यादा अजीब वाहियात बात की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बड़प्पन के लिए इस तरह की फिजूलखर्ची करे, तो समझता हूं कि वह अव्वल दर्जे का मूर्ख ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जोकि इनकार करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मैं प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ स्कूल में पढ़ता था। कहा जाता है कि जब १९२१ में वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होंने मुझे बुलाया था, पर उस वक्त

में जेल में था। सच बात तो यह है कि मैं न तो स्कूल में ही उनके साथ पढ़ा हूं और न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौका हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि मेरी प्रसिद्धि या लोक-प्रियता इन या ऐसी कहानियों की बदौलत ही है। उसकी ज्यादा मजबूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नहीं कि इसमें बड़प्पन की बात बहुत शामिल है, जैसाकि इन कहानियों से जाहिर है। कम-से-कम भावना यह है कि पहले मैं बड़े-बड़े लोगों से मिलता-जुलता था, और बड़े ऐश-आराम की जिन्दगी गुजारता था, और फिर मैंने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी नामवरी हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मुझे निष्क्रिय गुणों की बनिस्बत सक्रिय गुण ज्यादा पसन्द हैं, और केवल त्याग और बलिदान को मैं अच्छा नहीं समझता। मैं उसकी दूसरी ही दृष्टि से कदर करता हूं—यानी मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा के तौर पर, जैसेकि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना जरूरी है। और जो लोग महान् कार्यों में पड़ना चाहते हैं उनमें कठिन आघातों के सहन करने और धैर्य की क्षमता होना जरूरी है। मगर जीवन की त्यागमय दृष्टि, जीवन के निषेध, उसके आनन्दों और अनुभूतियों से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ मुझे रुचि या आकर्षण नहीं है। मैंने किसी भी चीज का, जिसका मैंने वास्तव में महत्त्व समझा, जान-बूझकर त्याग नहीं किया है; मगर हां, चीजों का मूल्य हमेशा समान नहीं रहा करता है।

उन महिला मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नहीं मिला। क्या मैं भीड़ की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नहीं करता? मैं तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मैं इसका आदी हो गया था। और जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी कुछ खटकता था। दोनों ही तरह से मुझे सान्त्वना नहीं थी। मगर कुल मिलाकर भीड़ने मेरी एक अन्दरूनी जरूरत पूरी कर दी। मैं उनपर असर डाल सकता हूं, और उनसे काम करवा सकता हूं, इस खयाल से मुझमें उनके दिल और दिमाग पर अधिकार होने की एक भावना आ गई थी। इससे किसी हद तक सत्ता की मेरी इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ से मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे; क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तस्तल हिल

जाता था, और उसके जवाब में मेरे दिल में भी भावुकता का संचार हो जाता था। हालांकि मैं व्यक्तिवादी हूं, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारें भी टूट-सी जाती थीं, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगों के साथ-साथ मुसीबतों में रहना, अकेले छुटकारा पा जाने की बनिस्बत अच्छा है। मगर वे दीवारें हटनेवाली न थीं, और मैं उन्हींके ऊपर से आश्चर्य-भरी आंखों से इस घटना की तरफ देखा करता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढ़ती रहती है। यह जिस आदमी पर चढ़ती है उसे पता नहीं चलता कि रोजाना वह कितनी चढ़ती जाती है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटों से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान में तो पिछले वर्षों में हमपर इन सख्त चोटों की कोई कमी नहीं रही है। जिन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बड़ा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात में भी मैं खुशकिस्मत रहा हूं। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे हैं, जिन्होंने मुझे ठीक निगाह रखने में और अपना दिमाग बिगड़ने न देने में मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवों, म्युनिसिपैलिटियों, स्थानिक बोर्डों और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं की तरफ से अभिनन्दनों और जलूसों वगैरा से मेरे दिमाग, मेरी विनोद-प्रियता और वास्तविकता की भावना पर बड़ा बोझ पड़ता था। इन अवसरों पर बहुत लम्बी-चौड़ी और शानदार भाषा इस्तेमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गम्भीर और पाक-साफ बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह जबरदस्त इच्छा होती थी कि मैं हंस पड़ूं या अपनी जबान बाहर निकाल दूं या सिर के बल उल्टा खड़ा हो जाऊं; सिर्फ इसलिए कि उस गम्भीर सम्मेलन में लोगों के चेहरों पर इसका कैसा धक्का लगता और क्या असर होता है यह मैं देखूं और इसका मजा लूं। मगर खुशकिस्मती से अपनी प्रसिद्धि के कारण और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गम्भीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मैं अपनी इस अनियन्त्रित इच्छा को रोक लेता था, और आमतौर पर ठीक औचित्य से ही बर्ताव करता था। मगर हमेशा नहीं। किसी-किसी बड़ी सभा में, या ज्यादातर जलूसों में, जिनसे मैं बहुत परेशान हो जाता हूं, मैंने कभी-कभी इसका प्रदर्शन भी किया है। कभी-कभी हमारे

सम्मान में निकाले जानेवाले जलूसों को मैं अचानक छोड़ देता था और भीड़ में अनजाने शामिल हो जाता था। मैं अपनी पत्नी को या और किसी को जलूस की गाड़ी में ही बैठा छोड़ देता था।

अपनी भावनाओं को हमेशा दबाये रखने और लोगों के सामने किसी खास ढंग से बर्ताव करने की इस कोशिश के कारण दिमाग पर बड़ा जोर पड़ता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक अवसरों पर आदमी गम्भीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसीलिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख में एक बार लिखा गया था कि मैं हिन्दू विधवा की तरह हूं। हालांकि मैं पुराने ढंग की हिन्दू विधवा की बड़ी इज्जत करता हूं, फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का जाहिरा उद्देश्य स्पष्टतया मेरे कुछ गुणों की, मेरे नम्रतापूर्वक समर्पण, त्याग, और कभी हंसी-मजाक किये बिना हमेशा काम में लगे रहने की तारीफ करना था। मेरा तो खयाल था कि, मुझमें अधिक क्रियाशीलता और तेजी है, और मजाक करने और हंसने की योग्यता भी है। और निःसन्देह मैं चाहता हूं कि ये गुण हिन्दू-विधवाओं में भी चाहिए। गांधीजी ने एक बार एक मिलने वाले से कहा था कि अगर मुझमें विनोदशीलता न होती तो मैं शायद आत्म-हत्या या ऐसा ही कुछ कर बैठता। मैं इतनी हद तक तो जाना नहीं चाहता, मगर जिन्दा रहना मेरे लिए तो प्राय: असह्य हो जाता, अगर मेरी जिन्दगी में कुछ लोग हंसी-मजाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोक-प्रियता पर और मुझे मिलनेवाले बड़े-बड़े मान-पत्रों पर, जिनमें (जैसाकि वास्तव में हिन्दुस्तान के सभी मानपत्रों में होता है) बड़ी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौड़ी तारीफ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बड़ा मजाक उड़ाया करते थे। अतिशयोक्ति और अलंकार पूर्ण शब्दों और विशेषणों को, जो साधारणतया राष्ट्रीय आन्दोलन के सभी प्रमुख व्यक्तियों के लिए व्यवहृत होते थे, मेरी पत्नी और बहनें और दूसरे लोग पकड़ लेते थे और उनका मौके-बेमौके, मेरा किसी तरह का लिहाज किये बिना, प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण व्यवहार से मुझे भी शांति मिलती थी, और उन गम्भीर सार्व-जनिक सभाओं की थकावट, जहां मुझे बहुत शिष्टता का बर्ताव दिखाना पड़ता था, धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मजाक में मेरी छोटी-सी लड़की भी शामिल हो

जाती थी। सिर्फ मेरी माताजी ही इस बात पर जोर दिया करती थीं कि मुझसे अदब का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे पुत्र के साथ ज्यादा मजाक या दिल्लगी होने का वह कभी समर्थन नहीं करती थीं। इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरंजन हो जाता था। अपने विचारों और भावों को चुपचाप प्रदर्शित करने का उनका एक खास तरीका था।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमों, बेलुत्फ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवों और बेहद बहसों और राजनीति के धूम-धक्कों का मुझपर सिर्फ ऊपरी असर होता था, हालांकि यह असर कभी-कभी तेज और गहरा होता था। मगर मेरा असली संघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारों और इच्छाओं और निष्ठाओं में संघर्ष चल रहा था। मेरे मस्तिष्क की अन्तरभावनाएं बाहरी परिस्थितियों से झगड़ रही थीं। मेरी अन्तर्ज्वाला बुझी न थी। मैं एक लड़ाई का मैदान बन गया था, जहां तरह-तरह की ताकतें एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थीं, मैं इससे छुटकारा चाहता था। मैंने सामंजस्य और चित्त की समता ढूंढने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न में लड़ाई में कूद पड़ा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी संघर्ष ने भीतरी संघर्ष की तेजी को कम कर दिया।

मैं जेल में बैठा यह सब क्यों लिख रहा हूं ? मैं चाहे जेल में होऊं या जेल के बाहर, लेकिन अब भी मैं उसीकी तलाश में हूं, और मैं अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा से लिख रहा हूं कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक सन्तोष मिल सके।

२६

सविनय आज्ञा-भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह उसने हमें बता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बडी-बड़ी सभाएं हुईं जिनमें बगैर भाषणों या विवेचनों के, शान्ति और गम्भीरता से,लोगों ने आजादी की प्रतिज्ञा[1] ली। सभाएं और जलूस बड़े प्रभावशाली थे। गांधीजी को इस दिवस के प्रदर्शन से आवश्यक बल मिल गया और जनता की नब्ज की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होंने समझ लिया कि लड़ाई छेड़ने का यह वक्त ठीक है। इसके बाद तो घटनाएं एक के बाद एक इस तरह घटित होने लगीं, जैसाकि किसी नाटक में रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय-भंग नजदीक आता गया और लोगों में जोश बढ़ता गया, वैसे-वैसे हमारे खयालात इस बात की तरफ गये कि किस तरह १९२१-२२ का आन्दोलन चला था और चौरी-चौरा के बाद वह एकाएक स्थगित कर दिया गया था। तब से अब देश में अनुशासन ज्यादा था और अब लोग ज्यादा साफतौर से समझ गये थे कि यह लड़ाई किस किस्म की है। उसका तरीका तो किसी हदतक समझ ही लिया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह मालूम कर लिया कि गांधीजी अहिंसा पर उत्कट रूप से जोर देते हैं, और यह बात गांधीजी की दृष्टि से ज्यादा जरूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगों के दिमागों में शायद इसकी बाबत शक रहा हो,मगर अब तो वैसा शक नहीं हो सकता था। फिर भी, हमें इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी षड्यन्त्र से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा ? और अगर ऐसी कोई घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भंग-आंदोलन पर क्या असर होगा ?

---

[1]यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट नं० १ में दी हुई है।

क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा ? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गांधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने खास ढंग से विचार किया, हालांकि जिस समस्या की उन्हें चिन्ता मालूम होती थी, जहांतक मैं कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढंग से उनके सामने उपस्थित थी। सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढंग की लड़ाई करना ही उनकी दृष्टि में सच्चा उपाय था, और अगर ठीक तरह से उसपर व्यवहार किया जाय तो वही अचूक भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस उपाय को व्यवहार में लाने और सफल बनाने के लिए खासतौर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए और अगर बाहरी हालतें इसके मुआफिक न हों तो इसको काम में नहीं लाना चाहिए ? इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक उपाय हर हालत के लिए ठीक नहीं है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम उपाय रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गांधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि यह उपाय सार्वभौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के प्रतिकूल होने पर भी, झगड़ों और हिंसा के होते रहते भी, यह उपाय अवश्य काम में आ सकता है। बदलती हुई हालतों में उसके व्यवहार का ढंग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो खुद उस विचार की विफलता को मान लेना होगा।

सम्भव है वह इस प्रकार से सोचते होंगे, मगर मैं उनके विचारों को निश्चय से नहीं कह सकता। उन्होंने हमें यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया है कि अब उनकी विचार-पद्धति में थोड़ा फर्क हो गया है, और जब सविनय भंग आवेगा, तो किसी एकाध हिंसात्मक काण्ड से उनका बन्द किया जाना जरूरी नहीं है। मगर यदि हिंसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय भंग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलों को बन्द करना या बदलना पड़ेगा। इस आश्वासन से हम बहुतेरों को बहुत हद तक सन्तोष हुआ। अब सबके सामने बड़ा सवाल यह था कि यह किया कैसे जाय ? शुरुआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भंग हम चलावें, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता में लोक-प्रिय हो ? इतने ही में गांधीजी ने इसकी तरकीब बताई।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण, बलपूर्ण शब्द बन गया। नमक-कर पर हमला

होना था। नमक-कानून को तोड़ना था। हम हैरत में पड़ गये। नमक का राष्ट्रीय संग्राम से हम कुछ मेल न बिठा सके। दूसरी आश्चर्य में डालनेवाली बात हुई गांधीजी की अपनी ग्यारह बातों[१] का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की, चाहे वे अच्छे ही क्यों न हों, फेहरिस्त उस समय पेश करना जबकि हम आजादी की दृष्टि से बात कर रहे थे, क्या मतलब रखता था? गांधीजी जब 'आजादी' शब्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था, या क्या हम लोग अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग कर रहे थे? मगर हमें बहस करने का मौका न था, क्योंकि घटनाएं तो आगे जा रही थीं। वे हिन्दुस्तान में तो हमारी निगाहों के सामने राजनैतिक रूप में दिन-पर-दिन आगे बढ़ ही रही थीं; मगर, शायद, हम नहीं जानते थे कि वे दुनिया में भी तेजी से बढ़ रही थीं और दुनिया को एक भयंकर मन्दी में जकड़े हुए थीं। चीजों के भाव गिर रहे थे,

---

[१]सविनयभंग के शुरू होने के पहले लार्ड इर्विन ने एक भाषण दिया था, उसके जवाब में गांधीजी ने 'यंग इंडिया' में एक लेख लिखकर बताया था कि यदि सरकार कुछ शर्तों का पालन करे तो देश के लिए सविनयभंग करने का कारण न रह जाय। वे शर्तें ही ये ग्यारह बातें हैं—(१) सम्पूर्ण मद्य-निषेध। (२) रुपये की कीमत डेढ़ शिलिंग के बदले एक शिलिंग चार पेंस की जाय। (३) लगान पचास फीसदी कम किया जाय और उसे सोलहों आना धारा-सभा के अंकुश में रखा जाय। (४) नमक-कर रद्द किया जाय। (५) सैनिक खर्च कम किया जाय, फिलहाल आधा कर दिया जाय। (६) लगान-कमी की पूर्ति बड़े अधिकारियों की तनख्वाह पचास फी सदी कम करके की जाय। (७) विदेशी कपड़े पर बहिष्कार-कर लगाया जाय। (८) समुद्र-तट पर देशी जहाजों के चलने का कायदा बनाया जाय। (९) हिंसा-कांड के अपराध के सिवा शेष सब राजनैतिक कैदियों को छोड़ दिया जाय, तमाम राजनैतिक मुकद्दमे वापस लिये जांय, १२४ धारा, और १८१८ का कानून रद्द किया जाय और जिन्हें देश-निकाला दिया गया गया है उनके लिए दरवाजा खोल दिया जाय। (१०) खुफिया-विभाग बन्द कर दिया जाय या लोक-नियन्त्रण में रखा जाय। (११) आत्म-रक्षा के लिए बन्दूक आदि रखन का परवाना दिया जाय और इस विषय को लोकनियन्त्रण में रक्खा जाय। —अनु०

और शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब खुशहाली का जमाना आ रहा है। मगर किसानों ने तो इसमें खतरा ही देखा ।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे, देश में जोश का पारा बढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अ० भा० कांग्रेस-कमेटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्रायः हमारे सिर पर आ चुकी थी, आखिरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे संग्राम का नेता मौजूद नहीं था, क्योंकि वह तो अपने यात्रा-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहां से लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० कां० कमेटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ्तारियां हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमेटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ से कार्य-समिति के गिरफ्तारशुदा लोगों की जगह खुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अधिकार रखनेवाले अपने अनुगामी को नामजद कर देने के बड़े-बड़े अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस-कमेटियों ने भी अपने-अपने सभापतियों को ऐसे ही अधिकार दे दिये।

इस तरह से वह जमाना शुरू हुआ जबकि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग कायम हो गए और उन्होंने कांग्रेस की तरफ से संग्राम का संचालन किया। इसपर भारत-मन्त्री और वाइसराय और गवर्नरों ने बड़ी नफरत जाहिर की और वे चीख-चीखकर कहने लगे कि कांग्रेस कितनी खराब और पतित हो गई है कि वह डिक्टेटरी को मानने लगी है, जबकि वे खुद तो मानो प्रजातन्त्रवाद के पक्के माननेवाले थे ! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अखबारों ने भी हमें प्रजातन्त्र के लाभों का उपदेश दिया। हम यह सब खामोशी से (क्योंकि हम तो जेल में थे) और हैरत में होकर सुनते थे। बेशरमी और मक्कारी इससे ज्यादा क्या हो सकती थी? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बल-पूर्वक शासन हो रहा था, जिसमें आर्डिनेन्स-कानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी, और उधर हमारे शासक प्रजातन्त्रवाद की भली-भली बातें कर रहे थे। और क्या, सामान्य अवस्था में भी, हिन्दुस्तान में प्रजातंत्र की छाया भी कहीं थी? अंग्रेजी हुकूमत अपनी ताकत और हिन्दुस्तान में स्थापित स्वार्थों की हिफाजत करती और उसकी सत्ता को हटानेवालों का दमन करती,

यह तो बेशक उसके लिए कुदरती बात थी । मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीका है, एक ऐसी बात है जो अगली पीढ़ियों के गौर करने और तारीफ करने के लिए लिख ली जाय।

कांग्रेस ऐसी हालत में जानेवाली थी, जब उसका मामूली ढंग पर काम करना गैर मुमकिन था; वह गैर-कानूनी करार दे दी जानेवाली थी, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढंग से उसकी कमेटियां किसी परामर्श या किसी काम के लिए इकट्ठी नहीं हो सकती थीं। हमने छुपाव को बढ़ावा नहीं दिया, क्योंकि हम अपनी लड़ाई को बिलकुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज ऊंचा रहे और हम जनता पर असर डाल सकें। मगर छुपाव से भी ज्यादा काम नहीं चल सकता। केन्द्र में, प्रांतों में और स्थानीय हल्कों में हमारे सब बड़े-बड़े स्त्री-पुरुष तो गिरफ्तार होने ही वाले थे। फिर कौन आगे काम चलाता? इस सूरत में हमारे सामने एक ही रास्ता था, जिस तरह लड़ाई करती हुई फौज में होता है, कि पुराने सेना-नायकों के हटते ही नये सेना-नायक बनाने की व्यवस्था करना। लड़ाई के मैदान में बैठकर कमेटियों की बैठकें करना हमारे लिए नामुमकिन था । वास्तव में, कभी-कभी ऐसा हमने किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यही होता था कि सारी कमेटी एक-साथ गिरफ्तार हो जाती। हमें यह भी सुभीता नहीं था कि लड़नेवाली लाइनों के पीछे जेनरल स्टाफ सुरक्षित बैठा रहता, या कहीं दूसरी जगह और भी ज्यादा हिफाजत से देश का मन्त्रि-मण्डल बैठा रहता। यह लड़ाई ही इस तरह की थी कि हमारे जेनरल स्टाफ और मन्त्रि-मण्डलों को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहों में रखना पड़ता था, और वे तो सब शुरू में ही गिरफ्तार कर लिये गये थे। फिर हमने अपने 'डिक्टेटरों' को भी क्या सत्ता दे दी थी? लड़ाई चालू रखने के राष्ट्र के दृढ़ निश्चय के प्रतीक-रूप में उन्हें सामने रहने का सम्मान दिया जाता था । मगर असल में तो उन्हें ज्यादातर खुद जेल में चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जब किसी बड़ी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमेटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नहीं कर सकती थी; और जब उस कमेटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर की जो कुछ भी सत्ता थी वह समाप्त हो जाती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या सिद्धान्त के बारे में कुछ फैसला नहीं कर सकता था। वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातों के विषय में ही कुछ कर सकता था । कांग्रेस की

"डिक्टेटरशिप' तो वास्तव में जेल पहुंचने की सीढ़ी थी। और रोज-रोज वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह अपनी आखिरी तैयारियां करके, अहमदाबाद में हमने अ० भा० कांग्रेस-कमेटी के अपने साथियों से विदा मांगी; क्योंकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेंगे, या इकट्ठे हो भी सकेंगे या नहीं ? हम अपनी-अपनी जगहों पर जाकर अ० भा० कांग्रेस-कमेटी के आदेशों के अनुसार अपनी-अपनी जगह के इन्तजाम को आखिरी तौरपर ठीक-ठाक करने और, जैसा कि सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बांधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक्त पिताजी और मैं गांधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहां हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे और फिर वह अपने दल के साथ नमक-यात्रा के दूसरे पड़ाव के लिए पैदल चल पड़े। वह हाथ में डण्डा लिये हुए, अपने अनुयायियों के आगे-आगे, जा रहे थे। उनके कदम मजबूत थे और चेहरे से शान्ति तथा निर्भयता छिटकी पड़ती थी। इस तरह उस समय मैंने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक उत्तेजना देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर में मेरे पिताजी ने गांधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर 'स्वराज-भवन' रख देंगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होंने उसकी घोषणा कर दी, और कांग्रेसवालों को उसका कब्जा भी दे दिया। उस बड़े मकान का हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक्त तो वह उसकी कानूनी कार्रवाई को पूरी न कर सके, पर डेढ़ साल बाद मैंने उनकी इच्छा के अनुसार उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गांधीजी समुद्र-तट पर पहुंच गये और हम नमक-कानून को तोड़कर सविनय-भंग करने की उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। कई महीनों से हम अपने स्वयंसेवकों को कवायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनसे शामिल हो गई थीं और उन्होंने इस काम के लिए मर्दाना लिबास धारण किया था। स्वयंसेवकों के पास कोई भी हथियार या लाठियां तक, न थीं। उनको तालीम देने का मकसद यह था कि वे अपने काम में ज्यादा योग्य और कुशल हो जांय और बड़ी-बड़ी भीड़ों को नियं-

श्रण में रख सकें। राष्ट्रीय सप्ताह १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियांवाला बाग तक की घटनाओं की यादगार में हर साल मनाया जाता है, और छः अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गांधीजी ने दांडी में समुद्र के किनारे नमक-कानून तोड़ा, और तीन-चार दिन बाद सारे कांग्रेस-संगठनों को इजाजत दे दी गई कि वे भी नमक-कानून तोड़ें और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय आज्ञा-भंग शुरू कर दें।

ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई बटन दबा दिया गया, और अचानक सारे देश में, शहरों में और गांवों में, जिधर देखो रोज नमक बनाने की ही धूम फैल गई। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबें निकाली गईं। इस बारे में हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहां इस बारे में कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ़ डाला, और इस बाबत जानकारी देने के लिए कई पर्चियां प्रकाशित कीं, और बर्तन और कढ़ाइयां इकट्ठी कीं, और अन्त में एक भद्दी-सी चीज बना ही डाली, जिसे हम बड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते और अक्सर बहुत ऊंची कीमत पर नीलाम भी करते थे। वह अच्छी चीज है या बुरी, इसका सचमुच कोई महत्त्व न था; क्योंकि खास चीज तो उस बेहूदे नमक-कानून को तोड़ना था। इसमें हम जरूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना ही खराब क्यों न हो। जब हमने देखा कि लोगों में उत्साह उमड़ रहा है, और नमक बनाना दावानल की तरह चारों तरफ फैल रहा है, तो हमें कुछ शर्म मालूम हुई; क्योंकि जब गांधीजी ने इस तरीके की तजवीज पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी में शक किया था। हमें ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति में लोगों पर असर डालने और उनसे संगठित रूप में काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है।

मैं चौदह अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मैं रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ्रेंस में शामिल होने के लिए रेलगाड़ी पर सवार हो रहा था। उसी दिन जेल में मेरा मुकदमा भी हो गया, और मुझे नमक-कानून के मातहत छः महीने की सजा दी गई। अपनी गिरफ्तारी की सम्भावना से मैंने (अ० भा० कांग्रेस-कमेटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार) पहले ही अपनी अनुपस्थिति में कांग्रेस के सभापति-पद के लिए गांधीजी को नामजद कर दिया था, और अगर वह मंजूर न करें तो, मेरी, दूसरी नामजदगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा खयाल था, गांधीजी राजी न हुए, और इसलिए पिताजी ही कांग्रेस के स्थानापन्न

सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी, फिर भी वह बड़े जोर-शोर से लड़ाई में कूद पड़े। उन शुरू के महीनों में उनके जोरदार कार्य-संचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गई।

उन दिनों बड़ी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे—जलूसों का निकलना, लाठी-प्रहारों का होना और गोलियां चलना, नामी-नामी आदमियों की गिरफ्तारियों पर अक्सर हड़तालें होना, पशावर-दिवस, गढ़वाली-दिवस आदि का खासतौर पर मनाया जाना वगैरा। उस वक्त तो विदेशी कपड़े और तमाम अंग्रेजी माल का पूरा-पूरा बहिष्कार किया गया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढ़ी माताजी और बहनें भी गरमी की तेज धूप में विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने धरना देने के लिए खड़ी रहती हैं, तो इसका मेरे दिल पर बड़ा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज्यादा भी किया। मेरा खयाल था कि कितने बरसों से मैं उसे अच्छी तरह जानता हूं, मगर उसने इस आंदोलन के लिए इलाहाबाद शहर और जिले में इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मैं भी दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नहीं की। वह सारे दिन धूप में घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी भी वहां मेरे पास आ गये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी संगठन-शक्ति की, कितनी ज्यादा सराहना करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियों का तेज धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे, मगर सिवा सिर्फ कभी-कभी जबानी मना करने के उन्होंने उन्हें रोका नहीं।

उन शुरू के दिनों में जो खबरें हमारे पास आया करती थीं, उनमें से सबसे बड़ी खबर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमाप्रान्त में होनेवाली घटनाएं थीं। हिन्दुस्तान में कहीं भी मशीनगनों की गोलियों के सामने इस प्रकार अनुशासनपूर्ण और शान्तिपूर्ण हिम्मत दिखाई जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमाप्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्त्व रखती थी, क्योंकि पठान लोग हिम्मतके लिए तो मशहूर थे मगर शान्तिपूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नहीं थे। इन्हीं पठानों ने वह मिसाल कायम कर दी जो हिन्दुस्तान

में अद्वितीय थी। सीमाप्रान्त में ही वह मशहूर घटना हुई जिसमें गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होंने इसलिए इन्कार कर दिया कि सच्चे सिपाहियों को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि भीड़ के लोगों से उन्हें सहानुभूति थी। मगर केवल सहानुभूति ही आमतौर पर सिपाही को अपने अफसर की हुकुम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नहीं कर सकती, क्योंकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढ़वालियों ने यह बात शायद इसलिए की कि उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजीमेन्टों को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल नहीं पाई) यह गलत खयाल हो गया था कि अंग्रेजों की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियों में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते हैं। शायद कुछ दिनों या हफ्तों तक आम हलचल और सविनय-भंग से लोगों में यह खयाल पैदा हो गया था कि अंग्रेजी हुकूमत के आखिरी दिन आ गए हैं, और इसका असर कुछ फौज पर भी पड़ा, मगर जल्दी ही यह भी जाहिर हो गया कि निकट-भविष्य में ऐसा होने की सूरत नहीं है, और फिर फौज में हुकुम-उदूली नहीं हुई। फिर तो इस बात का भी खयाल रखा गया कि सिपाहियों को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।

उन दिनों बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुईं, मगर सब से अधिक आश्चर्य की बात थी स्त्रियों का राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेना। स्त्रियां बड़ी तादाद में अपने घर के घेरों से बाहर निकल आईं, और हालांकि उन्हें सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लड़ाई में पूरी तरह कूद पड़ीं। विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर धरना देने का काम तो उन्होंने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरों में सिर्फ स्त्रियों के ही भारी-भारी जलूस निकाले गये, और आमतौर पर स्त्रियां पुरुषों की बनिस्बत ज्यादा मजबूत साबित हुईं। अक्सर प्रान्तों में या स्थानीय क्षेत्रों में वे 'कांग्रेस-डिक्टेटर' भी बनती थीं।

अकेला नमक-कानून ही नहीं तोड़ा गया बल्कि दूसरी दिशाओं में भी सविनय-भंग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेंस—जिनमें कई कामों पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे—निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और प्रतिबन्ध बढ़ते गए, वैसे-वैसे उन्हे तोड़ने के मौके भी बढ़ते गए। और सविनय-भंग की यह शक्ल हो गई कि आर्डिनेंस से जिस काम की मुमानियत

की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात निश्चित रूप से कांग्रेस और लोगों के हाथ में रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्नमेंट की निगाह में परिस्थिति न संभली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती ही रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुकाबले में कार्य समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए इसके लिए आज्ञाएं जारी करती थी। इन आज्ञाओं का देश में आश्चर्यजनक समानता से पालन होता था। हां, अलबत्ता, पत्र-प्रकाशन-सम्बन्धी आज्ञा का यथारीति पालन नहीं हुआ।

जब प्रेस को ज्यादा नियन्त्रित करने और समाचारपत्रों से जमानत मांगने के बारे में आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय समाचारपत्रों से यह कहा कि वे जमानत देने से इन्कार कर दें और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दें। अखबारवालों के लिए यह एक कड़वी घूंट थी, क्योंकि उसी समय तो लोगों में खबरों की बहुत ज्यादा मांग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अखबारों को छोड़कर ज्यादातर अखबारों ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह-तरह की अफवाहें फैलने लगीं। मगर वे ज्यादा वक्त तक न टिक सके। प्रलोभन बहुत भारी था, और उनका क्षेत्र नरम-दल के अखबार छीन लिये जा रहे थे। यह देखकर उन्हें बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमें से ज्यादातर ने फिर अपना प्रकाशन शुरू कर दिया।

गांधीजी ५ मई को गिरफ्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारखानों और गोदामों पर धावे किये गये। इन धावों में पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनाएं हुईं। उन दिनों भारी-भारी हड़तालों, जलूसों और लाठी-प्रहारों के कारण बम्बई सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हो रहा था। इन लाठी-प्रहारों से घायलों के इलाज के लिए कई आरजी अस्पताल कायम हो गए थे। बम्बई में कई बातें ऐसी हुईं जो मार्के की थीं और बड़ा शहर होने के कारण बम्बई में प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे कस्बों और देहाती हिस्सों में भी ऐसी ही बातें हुईं, मगर वे सब प्रकाश में न आ पाईं।

जून के अन्त में मेरे पिताजी बम्बई गये, और उनके साथ माताजी और कमला भी गईं। उनका बड़ा स्वागत किया गया। जब वह वहां ठहरे हुए थे, तभी कुछ

बहुत जबरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव में यह तो बम्बई में मामूली-सी बात हो गई थी। करीब दो हफ्ते बाद ही वहां सारी रात एक असाधारण अग्नि-परीक्षा हुई, जब कि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बड़ी भारी भीड़ के साथ पुलिस के सामने, जिसने उनका रास्ता रोक रखा था, सारी रात डटे रहे।

बम्बई से लौटने पर ३० जून को पिताजी गिरफ्तार कर लिये गये, और उनके साथ सैयद महमूद भी पकड़े गए। वे कार्य-समिति के, जो गैरकानूनी करार दे दी गई थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मन्त्री की हैसियत से गिरफ्तार हुए। दोनों को छः-छः महीने की सजा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ्तारी शायद एक बयान प्रकाशित करने पर हुई थी, जिसमें उन्होंने सैनिकों या पुलिसमैनों को निहत्थी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा मिलने की सूरत में उनका क्या कर्तव्य है यह बताया था। यह बयान सिर्फ कानूनी था, और उसमें बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डिया कानून में इस बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भड़काने वाला और खतरनाक समझा गया।

बम्बई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पड़ी। बड़े सवेरे से बहुत रात तक उन्हें काम करना पड़ता था और हर जरूरी काम का फैसला उन्हें ही करना पड़ता था। वह बहुत दिनों से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल थक कर लौटे, और अपने डाक्टरों की जरूरी सलाह से उन्होंने फौरन पूरी तरह आराम लेने का फैसला कर लिया। उन्होंने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वगैरा बंधवा लिया; मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेण्ट्रल जेल की हमारी बैरक में हमारे पास आ पहुंचे।

३०

नैनी-जेल में

मैं करीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ कुछ धुंधली हो गई थीं। मैं नैनी सेण्ट्रल जेल में जोकि प्रांत का एक बड़ा जेलखाना है रखा गया था। वहां मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बडे अहाते से, जिसमें कि बाईस सौ या तेईस सौ कैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एक सौ फीट था और जिसके चारों तरफ करीब पन्द्रह फीट ऊंची गोल-दीवार थी। उसके बीचों-बीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमें चार कोठरियां थीं। मुझे इनमें से दो कोठरियां, जो एक-दूसरे से मिली हुई थीं, दी गईं। एक नहाने-धोने वगैरा के लिए थी। दूसरी कोठरियां कुछ वक्त तक खाली रहीं।

बाहर के विक्षोभ और दौड़-धूप के जीवन के बाद, यहां मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मैं इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मैं खूब सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तंग जगह में, खुले में सोने की इजाजत मिल गई थी। मेरा पलंग भारी-भारी जंजीरों से कस दिया गया था, ताकि मैं कहीं उसे लेकर भाग न जाऊं, या शायद इसलिए कि पलंग कहीं अहाते की दीवार पर चढ़ने की सीढ़ी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाजें आया करती थीं। खास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक दूसरे को तरह-तरह की आवाजें लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लम्बी आवाजें लगाते थे जो अन्त में दूर चलती हुई तेज हवा के कराहने की-सी आवाजें मालूम होती थीं। बैरकों के अन्दर से चौकीदार बराबर जोर-जोर से अपने कैदियों को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात में कई बार कोई-न-कोई जेल-अफसर अपना चक्कर लगाता हुआ हमारे अहाते में आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे वहां का हाल पूछता था।

चूंकि मेरा अहाता दूसरे अहातों से कुछ दूर था, ये आवाजें ज्यादातर साफ सुन
न देती थीं, और पहले-पहल मैं समझ न सका कि ये क्या हैं। पहले-पहल तो मु
ऐसा लगा कि मैं किसी जगल के पास हूं और किसान लोग अपने खेतों से जंग
जानवरों को भगाने के लिए चिल्ला रहे हैं; और कभी-कभी ऐसा मालूम हो
था कि मानो रात में स्वयं जंगल और जानवर, सब मिलकर गीत गा रहे हैं

मैं सोचता हूं कि यह मेरा महज खयाल ही है, या यह सचाई है कि चौको
दीवार की बनिस्बत गोल दीवार में आदमी को अपने कैद होने का ज्यादा भ
होता है। कोनों और मोड़ों के न होने से यह भाव हमारे मन में और भी
जाता है कि हम यहां दबाये जा रहे हैं। दिन के वक्त वह दीवार आसमान
भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं—

उस नन्हें नील वितान पर
बन्दी जिसे कहें आकाश—
उड़ते हुए मेघ-खंडों पर
जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास;[1]

अपनी सजल सतृष्ण दृष्टि डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और
ज्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएं के भीतर हू
कभी-कभी तारों से भरा हुआ आसमान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता थ
वह मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी, तारामण्डल
हिस्सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आमतौर पर, सारे जेल में कुत्ताघर कहलाता था
यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक नहीं था। यह छोट
बैरक, सबसे अलग, इसलिए बनाई गई थी कि इसमें खासतौर पर खतरना
अपराधी, जिन्हें अलग रखने की जरूरत हो, रखे जांय। बाद में वह राजनैतिव
कैदियों, नजरबन्दों वगैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जो सारे जेल
अलग रखे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूर पर एक ऐसी चीज थी जिसे

---

[1]ऑस्कर वाइल्ड के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद। कवि ने अपने जल
जीवन में 'रेडिंग जेल की प्रशस्ति' नामक एक काव्य लिखा है। उसमें से ये पंक्तिय
उद्धृत की हैं।

पहले-पहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बड़ा धक्का-सा लगा। वह एक बड़ा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि यह पानी खींचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमें एक साथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज मामूली हो जाती है। इसलिए मैं भी उसके देखने का आदी होगया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खतापूर्ण और जंगली तरीका मालूम हुआ है, और जब कभी मैं उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शनी की याद आ जाती।

कुछ दिनों तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाजत न मिली। बाद में मुझे बड़े सवेरे, जब प्रायः अंधेरा ही रहता था, आधा घंटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड़ लगाने की इजाजत मिल गई। यह बड़े सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजवीज किया गया था कि मैं दूसरे कैदियों के सम्पर्क में न आ सकूं, या वे मुझे देख न लें। पर मुझे उससे बड़ी ताजगी आजाती थी। इस थोड़े-से वक्त में ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की गरज से मैं दौड़ लगाया करता था। दौड़ने के अभ्यास को मैंने धीरे-धीरे बढ़ा लिया था, और मैं रोज दो मील से ज्यादा दौड़ लिया करता था।

मैं सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढ़े तीन बजे ही जब बिलकुल अंधेरा रहता था, उठजाया करता था। कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज्यादा पढ़ने के लिए काफी नहीं थी। मुझे तारों को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारों की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज होजाता था। जहां मैं लेटता था वहां से मुझे ध्रुवतारा दीवार के ऊपर झांकता हुआ दिखाई देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारों तरफ का आसमान चक्कर काटता था, मगर वहीं कायम था। वह मुझे प्रसन्नतापूर्ण और दीर्घ उद्योग का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मैं अकेला नहीं था, क्योंकि मेरे अहाते में वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफाई करने वाले कैदी थे। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे कैदी, ज्यादातर

कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सजाएं भुगत रहे थे, आ जाते थे। इनमें आजन्म-कैदी ज्यादा थे। आमतौर पर समझा जाता था कि आजन्म कैद बीस साल या कम में खत्म हो जाती है, मगर जेल में ऐसे बहुत कैदी थे जिन्हे बीस साल से भी ज्यादा हो गए थे। नैनी में मैंने एक बड़ी अजीब मिसाल देखी। कैदियों के कन्धों पर कपड़ों पर लगी हुई लकड़ी की एक पट्टी रहती है, जिनमें उनकी सजाओं का हाल और रिहाई की तारीख लिखी रहती है। एक कैदी की पट्टी पर मैंने पढ़ा कि उसकी रिहाई १९९६में होगी। १९३० में ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड़ था। शायद उसे कई सजाएं दी गई थीं और वे सब एक के बाद एक जोड़ दी गई थीं। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सजा थी !

बरसों बीत जाते हैं और कई आजन्म-कैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरों को भी नहीं देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और कोई मानवी सम्पर्क नहीं रहता। वे मन-ही-मन हमेशा घुटा करते हैं, और उनका दिमाग भय, बदले की भावना और नफरत के रोषपूर्ण विचारों से भर जाता है। दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते हैं,और सिर्फ बुराई में ही जीवन बिताते हैं। फिर धीरे-धीरे उनमें से द्वेष और वैर-भाव भी चला जाता है,और उनका जीवन एक जड़ यन्त्र जैसा बन जाता है। अपने-आप चलनेवाले यंत्रोंकी तरह वे अपने दिन गुजारते हैं,ये सब दिन सदा बिलकुल एक-से ही गुजरते हैं। उन्हें एक भय के सिवा और कोई भावना ही नहीं होती। समय-समय पर कैदियों की तुलाई और नपाई होती है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तौलता है? लोग मौत की सजा के खिलाफ दलीलें देते हैं और वे मुझे बहुत जंचती हैं। मगर जब में जेल का लम्बा संकट भरा जीवन देखता हूं, तो सोचता हूं कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सजा ही अच्छी है। एक दफा एक आजन्म-कैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम आजन्म-कैदियों का क्या होगा ? क्या स्वराज हमें इस नरक में से निकाल देगा ?"

और ये आजन्म कैदी कौन होते हैं ? इनमें से बहुतेरे तो सामूहिक मुकदमों में आते हैं,जिनमें कि उन लोगों को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ आदमियों को, एक-साथ सजाएं होती हैं। इसमें कुछ ही शायद कुसूरबार होते हैं, ज्यादातर

लोग सचमुच कुसूरवार होते हैं इसमें मुझे सन्देह है। ऐसे मुकदमे में लोगों को फंसा देना बड़ा आसान है। किसी मुखबिर की शहादत और थोड़ी शनाख्त हो जानी चाहिए, बस इतना ही जरूरी है। आजकल डकैतियां बढ़ रही हैं, और जेल की आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है। जब लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे क्या करें? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर टीका करते नहीं थकते। मगर उनकी निगाह उसके प्रकट—आर्थिक कारणों पर नहीं जाती।

इसके अलावा काश्तकार लोग आते हैं। किसी जमीन के टुकड़े की बाबत गांव में झगड़ा हो जाता है, लाठियां चल जाती हैं, और कोई मर जाता है। नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लम्बी मियादों के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते हैं। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष कैद कर दिये जाते हैं, और पीछे स्त्रियां रह जाती हैं, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती हैं। इनमें एक भी व्यक्ति जरायम-पेशा नहीं होता। साधारणत: ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक औसत देहाती से कहीं ऊपर उठे हुए, होते हैं। यदि इन्हें थोड़ी तालीम मिले, और दूसरी बातों और कामों की तरफ इनकी रुचि थोड़ी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के कीमती धन बन सकते हैं।

बेशक, हिन्दुस्तान की जेलों मे पक्के मुजरिम भी हैं, जो जान-बूझकर समाज के शत्रु बनकर उसके लिए बहुत खतरनाक हो जाते हैं। मगर मुझे जेल में ऐसे लड़के और आदमी बहुत मिले हैं जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मैं बिना झिझके विश्वास कर सकता हूं। मुझे यह नहीं मालूम कि असली जरायमपेशा और गैर-जरायम पेशा कैदी कितने-कितने अनुपात में हैं, और शायद इसतरह विभाजन करने का खयाल तक जेल-महकमे में किसी को नहीं आया होगा। न्यूयार्क के सिंग-सिंग-जेल के वार्डन लुई ई० लोज ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आंकड़े दिये हैं। वह अपनी जेल के कैदियों के बारे में कहता है कि मेरी राय में पचास फीसदी तो बिलकुल जरायम-वृत्ति के नहीं हैं; पचीस फीसदी परिस्थितियों और मजबूरियों के कारण अपराधी बने हैं; और बाकी पचीस फीसदी में से शायद आधे यानी साढ़े बारह फीसदी, ही समाज में न रहने लायक हैं। यह तो सभी जानते हैं कि असली अपराधवृत्ति बड़े शहरों और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में ज्यादा होती है, और पिछड़े हुए देशों में कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियां तो मशहूर हैं, और सिंग-सिंग-जेल भी खासतौर पर मशहूर है, जहां भयंकर-से-भयंकर मुज-

रिम भेजे जाते हैं। मगर, उनके वार्डन की राय के मुताबिक उनके सिर्फ साढ़े बारह फीसदी कैदी ही सचमुच बुरे हैं। मेरे खयाल से यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलों में तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोड़ी और अच्छी हो जाय, लोगों को रोजगार कुछ ज्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ़ जाय, तो हमारी जेलें खाली की जा सकती हैं। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, जरूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही है जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है—हिन्दुस्तान में पुलिस की और जेलों की तादाद बढ़ाना। हिन्दुस्तान में कितनी तादाद में लोग जेल भेजे जाते हैं, यह देखकर माथा ठनकने लगता है। अखिल भारतीय-कैदी-सहायक समिति के मन्त्री की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है, कि १९३३ में सिर्फ बम्बई प्रान्त में ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बगाल की संख्या १,२४,००० थी।[1] मुझे सब प्रान्तों के आंकड़े तो मालूम नहीं, किन्तु यदि दो प्रान्तों का जोड़ ढाई लाख है, तो बहुत सम्भव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड़ करीब दस लाख तक होगा। मगर इसे वास्तव में जेल में हमेशा रहनेवालों की तादाद नहीं कह सकते, क्योंकि बहुत लोगों को तो थोड़ी-थोड़ी सजाएं मिलती हैं। स्थायी रहनेवालों की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बड़ी संख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े प्रान्तों की जेलें संसार की बड़ी-बड़ी जेलों में समझी जाती हैं। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तों में माना जाता है, जिसे वह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है। और, बहुत सम्भव है, यहां संसार का सबसे पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी जेल-प्रबन्ध है या था। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश यहां नहीं की जाती। युक्तप्रान्त का जेल-प्रबन्ध जिस बात में सबसे बढ़ा-चढ़ा है, वह है अपने कैदियों को भागने न देना। वहां भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हजार में से शायद ही एकाध कोई भागने में सफल होता होगा।

जेलखानों की एक अत्यन्त दुःखजनक बात है, वहां पन्द्रह साल या इससे

---

[1] स्टेट्समैन, ११ दिसम्बर, सन् १९३४

ज्यादा उम्र के लड़कों का बड़ी तादाद में होना। इनमें से ज्यादातर तो तेज और होशियार दीखनेवाले लड़के होते हैं, जो अगर मौका मिले तो बड़ी आसानी से अच्छे बन सकते हैं। कुछ अर्से से इन्हें मामूली पढ़ना-लिखना सिखाने की कुछ शुरूआत की गई है, मगर, जैसा कि हमेशा होता है, वह बिलकुल ही नाकाफी और बेकार है। खेल कूद या दिल-बहलाव का बहुत-कम मौका आता होगा, किसी किस्म के भी अखबार की इजाजत नहीं है, और न किताबें पढ़ने का प्रोत्साहन दिया जाता है। बारह घंटे या इससे भी ज्यादा देर तक सब कैदियों को उनकी बैरकों या कोठरियों में बंद रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शामों का वक्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नहीं रहता।

मुलाकातें तीन महीने में एक दफा हो सकती हैं, और यही खतों का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक-रूप से लम्बी है। इसपर भी, कई कैदी तो इससे भी लाभ नहीं उठा सकते। अगर वे अनपढ़ होते हैं, जैसे कि ज्यादातर होते ही हैं, तो वे किसी जेल-अफसर से ही चिठ्ठी लिखवाते हैं, और ये लोग चूंकि अपना काम और बढ़ाना नहीं चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहते हैं, अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नहीं दिया जाता, और वह ठिकाने पर नहीं पहुंचती। मुलाकात करना तो और भी मुश्किल है। करीब-करीब, लाजिमी तौर पर, किसी-न-किसी जेल कर्मचारी को कुछ नजराना-शुक्रियाना देने से ही मुलाकात हो सकती है। अक्सर कैदी दूसरी-दूसरी जेलों में बदल दिये जाते हैं, और उनके घर के लोगों को उनका पता नहीं लगता। मुझे कई ऐसे कैदी मिले हैं जिनका ताल्लुक अपने कुटुम्ब से बरसों से छूट चुका था, और उन्हें मालूम नहीं था कि उनका क्या हुआ? तीन या अधिक महीनों के बाद जब मुलाकातें होती भी हैं तो अजीब तरह से। जंगले के दोनों तरफ आमने-सामने बहुत-से कैदी और उनके मुलाकाती खड़े कर दिये जाते हैं, और वे सब एक-साथ बात-चीत करने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे से बहुत जोर से चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पड़ता है, इससे मुलाकात में जो थोड़ा-बहुत मानवी-सम्पर्क हो सकता है, वह भी नहीं रहता।

हजार में से किसी एकाध कैदी को (यूरोपियनों को छोड़कर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाकात करने या खत लिखने की खास सुविधा भी मिल जाती है। राजनैतिक आन्दोलनों में जबकि लाखों राजनैतिक कैदी जेल जाते हैं, इन विशेष दर्जे के कैदियों की तादाद कुछ थोड़ी-सी बढ़ जाती है, मगर

फिर भी वह बहुत थोड़ी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष कैदियों में से ९५ फीसदी के साथ मामूली-ढंग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हें ऐसी सुविधाएं भी नहीं मिलतीं।

कई लोग, जिन्हें क्रान्तिकारी हलचलों के कारण आजन्म या लम्बी सजाएं दी जाती हैं,लम्बे अर्से तक तनहाई की कोठरियों में रखे जाते हैं। मेरा खयाल है कि यू० पी० में तो ऐसे सब लोग आमतौर पर सीधे तनहाई कोठरियों में बन्द रखे जाते हैं। यों तो तनहाई, जेल के किसी कुसूर के लिए, सजा के तौर पर ही दी जाती है, मगर इन लोगों को तो, जो आमतौर पर कच्ची उम्र के नवयुवक होते हैं,शुरूसे तनहाई में ही रखा जाता है,चाहे उनका बर्ताव जेल में बहुत अच्छा ही क्यों न हो। इस तरह अदालत की सजा के अलावा जेल महकमा उसमें बिना किसी सबब के एक और भयंकर सजा बढ़ा देता है। यह बड़ी असाधारण बात है और कानून के किसी दफा के अनुसार नहीं है। थोड़े वक्त के लिए भी तनहाई में बन्द रखा जाना एक बड़ी दर्दनाक बात है, फिर जब यह बरसों तक रहे तब तो बड़ी खतरनाक हो जाती है। इससे दिमागी ताकत धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, और अन्त में पागलपन की हद तक पहुंच जाती है, और कैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दीखने लगता है। यह मनुष्य की शक्ति को धीमे धीमे खत्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है। अगर आदमी जिन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिए बे-मौजूं बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव में किसी कार्य या अपराध का गुनहगार भी था? हिन्दुस्तान में पुलिस के तरीके अर्से से सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं, और राजनैतिक मामलों में तो वे बहुत ही ज्यादा सन्देहास्पद हैं।

यूरोपियन या यूरोशियन कैदियों को, चाहे उन्होंने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी ही हैसियत हो, अपने-आप ऊंचे दर्जे में रख दिया जाता है, और उन्हें ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी खत और मुलाकात की सुविधाएं दी जाती हैं। हर हफ्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातों के सम्पर्क में बने रहते हैं। पादरी उनके लिए सचित्र और हँसी-मजाक वाले विदेशी अखबार ले आता है, और जब जरूरत होती है तब उनके घरवालों से पत्र-व्यवहार करता रहता है।

यूरोपियन कैदियों को ये सुविधाएं क्यों मिली हैं,इसकी किसी को शिकायत नहीं है, क्योंकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—कैदियों के प्रति व्यवहार में मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर जरूर रंज होता है। कैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी, नहीं समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा बर्ताव भी नहीं किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से-बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना सोचे, काम करता रहता है, और उसकी पकड़ में जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के कायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए खास तौर पर बनाये गये हैं। जब भावनाशील स्त्री या पुरुष यहां आते हैं, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीड़ा जैसा लगता है। मैंने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के कैदी जेल की उदासी से ऊबकर बच्चे की तरह फूट-फूटकर रोने लगते हैं, और सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोड़े-से शब्दों से, जोकि इस वातावरण में बहुत दुर्लभ होते हैं, उनके चेहरे खुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते हैं।

इतना होने पर भी, कैदियों में एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखाई देते थे। एक बार, एक अन्धा दुबारा कैदी तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहां न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी कैदी उसकी सहायता करना चाहते थे, लेकिन वे ज्यादा नहीं कर सकते थे। एक ने जेल-दफ्तर में जमा की हुई अपनी कमीज दी, दूसरे ने कोई और कपड़ा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोड़ी मिली थी, जिसे उसने अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल में यह चीज मिलना बड़ी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अन्धा नंगे-पैर बाहर जा रहा है तो उसने खुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैंने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज्यादा उदारता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गांधीजी की सारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत-शक्ति से मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति में एक मोहिनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे में जो बात गोखले ने कही थी वह हमें याद

आई—उनमें मिट्टी से सूरमा बना लेने की ताकत है। शांतिपूर्ण सविनय-भंग महान् राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए, लड़ाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह-से, काम में आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश में, मित्रों और विरोधियों दोनों को बिलकुल भरोसा-सा होने लगा कि हम सफलता की ओर जा रहे हैं। आंदोलन में क्रियात्मक-रूप से काम करनेवालों में एक अजीब उत्साह भर आया, और थोड़ा-थोड़ा जेल के भीतर भी आ पहुंचा। मामूली कैदी भी कहते थे कि स्वराज्य आ रहा है। और इस उम्मीद से कि उससे उन्हें भी कुछ फायदा हो जायगा वे आतुरता से उसका इन्तजार करते थे। बाजार की बात-चीत सुन-सुनकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि स्वराज्य नजदीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफसर कुछ और घबराहट में पड़ जाते थे।

जेल में हमें दैनिक-पत्र नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक-पत्र से हमें कुछ खबरें मिल जाया करती थीं, और ये खबरें ही अक्सर हमारी कल्पनाओं को तेज कर दिया करती थीं। रोज लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर में फौजी कानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झंडा ले जाने के लिए ही दस साल की सजा दी गई थी, ऐसी खबरें आती थीं। सारे देश में हमें अपने लोगों, खासकर स्त्रियों, पर बड़ा अभिमान होने लगा। मुझे तो अपनी माता, पत्नी और बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनों और महिला-मित्रों के कार्यों के कारण विशेष सन्तोष हुआ और हालांकि मैं उनसे दूर था, और जेल में था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य में साथ-साथ कार्य करने के नये नाते मे एक-दूसरे के बहुत पास आ गए हैं। ऐसा मालूम होने लगा मानो परिवार तो उससे भी बड़े समुदाय में समा गया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया, क्योंकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चंगी बनी रही।

जिस वक्त बाहर दूसरे लोग खतरे का मुकाबला कर रहे हैं, और कष्ट उठा रहे हैं, उस वक्त मैं जेल में आराम से समय बिता रहा हूं, यह ख्याल मुझे दिक करने लगा। मैं बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नहीं जा सकता था। इसलिए मैंने अपना जेल-जीवन बड़ा कठोर कार्यमय, बना लिया। मैं अपने चर्खे

पर रोज करीब तीन घंटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घंटे में निवाड़ बुनता, जो मैंने जेल-अधिकारियों से खासतौर पर मांग ली थी। मैं इन कामों को पसन्द करता था। इनमें न ज्यादा जोर पड़ता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम में लग जाता था। इससे मेरे दिमाग का बुखार भी शान्त हो जाता था। मैं बहुत पढ़ता रहता था, या सफाई करने या कपड़े धोने वगैरा में लगा रहता था। मैं मशक्कत अपनी खुशी से ही करता था, क्योंकि मुझे सजा सादी मिली थी।

इस तरह, बाहर की घटनाओं और अपने जेल-कार्यक्रम का विचार करते-करते, मैं नैनी-जेल में अपने दिन गुजारने लगा। हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली देखकर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सरकार की प्रणाली से भिन्न नहीं है। सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देशपर सरकार का कब्जा मजबूत होता है, मगर जिसमें देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत थोड़ी, या बिलकुल नहीं, की जाती है। ऊपर से तो यही समझना चाहिए कि जेलका प्रबन्ध सुचारु रूप से होरहा है और यह किसी हद तक ठीक भी है। मगर शायद कोई भी यह खयाल नहीं करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए उसमें आनेवाले अभागे लोगों को सुधारना और उनकी सहायता करना। यहां तो बस यही खयाल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकलें, तबतक उनमें जरा-सी भी हिम्मत बाकी न रहे। और जेल का प्रबन्ध संचालन किस तरह होता है, कैदियों को कैसे काबू में रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है, यह बात ज्यादातर कैदियों की सहायता से ही होती है। कैदियों में से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डबल्यू०) या कनविक्ट-ओवरसियर (सी० ओ०) बना दिए जाते हैं, और वे खौफ से या इनामों या छूट के प्रलोभन से अधिकारियों के साथ सहयोग करने लगते हैं। तनख्वाहदार गैर-कनविक्ट-वार्डर वैसे थोड़े-ही हैं। जेल के अन्दर की ज्यादातर हिफाजत और चौकीदारी कनविक्ट-वार्डर और सी० ओ० ही करते हैं। जेल में मुखबिरी का भी खूब जोर रहता है। कैदियों को एक-दूसरे की चुगली और मुखबिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और कैदियों को एका करने या कोई भी संयुक्त कार्य करने की तो इजाजत ही नहीं रहती। यह सब आसानी से समझ में आ सकता है, क्योंकि उनमें फूट रखने से ही वे काबू में रक्खे जा सकते हैं।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन में भी,यही एक प्रणाली व्यापक, लेकिन कम जाहिर रूप में दिखाई देती है। मगर यहां सी०डब्ल्यू० और सी०ओ० लोगों का नाम बदल गया है। उनके बड़े-बड़े शानदार नाम हैं और उनकी वर्दियां ज्यादा तड़क-भड़कदार हैं और नियम-पालन कराने के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है।

आधुनिक राज्यों के लिए जेलखाना कितना जरूरी और लाजिमी है, कम-से-कम कैदी तो यही सोचने लगता है। सरकार के प्रबन्ध आदि विषयक तरह-तरह के कार्य तो जेल, पुलिस और फौज के मौलिक कार्यों के मुकाबले में थोथे मालूम होने लगते हैं। जेल में आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की कदर करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव में उस दल की, जिसके हाथ में शासन है, इच्छा को अमल में लानेवाला एक जबरदस्ती का साधन है।

एक महीने तक मैं अपनी बैरक में अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनसे मिलने से बड़ी सान्त्वना मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९३० की आखिरी तारीख को हमारे अहाते में असाधारण खलबली मच गई। अचानक बड़े सवेरे मेरे पिताजी और डॉ० सैयद महमूद वहां लाये गये। वे दोनों आनन्द-भवन में, जबकि अपने बिस्तरों में सोये हुए थे गिरफ्तार किये गये थे।

३१

यरवडा में सन्धि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फौरन बाद ही, कार्य-समिति गैर-कानूनी करार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई—यदि कमेटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के-सब मेम्बर एक साथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियों को जो अख्तियार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थानापन्न मेम्बर उसमें और जोड़े गये और इस सिलसिले में कई स्त्रियां भी मेम्बर बनीं। कमला भी उनमें थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती निहायत खराब थी और वह जिन हालतों में वहां रखे गये थे उनमें उन्हें बड़ी तकलीफ थी। सरकार ने जान-बूझकर यह स्थिति पैदा नहीं की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ से तो उनकी तकलीफ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नहीं कर सकी। मेरी बैरिक की ४ छोटी-छोटी कोठरियों में हम चार आदमियों को एकसाथ रख दिया गया। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहां उन्हें कुछ ज्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगों ने एक साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकते थे।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की जमीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योंकि छत से जगह-जगह पानी टपकता रहता था। रात के वक्त रोज यह सवाल उठता था कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे में, जो १० फीट लम्बा और ५ फीट चौड़ा था, कहां लगाया जाय, जिससे पानी से बचाव हो सके? कभी-कभी उन्हें बुखार आ जाता था। आखिर जेल-अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बड़ा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे ज्यादा आराम भी मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फायदा न मिला, क्योंकि उसके

तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। तब हममें से जो लोग वहां पीछे रह गए थे, उन्होंने उससे पूरा फायदा उठाया।

जुलाई के अखीर में यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह हो जाय। हमने यह खबर एक दैनिक-पत्र में पढ़ी, जो पिताजी को खासतौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसमें हमने वह सारा पत्र-व्यवहार पढ़ा जो वाइसराय लार्ड इर्विन और सर सप्रू तथा जयकर साहब के बीच हुआ था। और बाद में हमें यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शान्तिदूत' गांधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ में यह नहीं आता था कि आखिर इनको सुलह की इतनी क्यों पड़ी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते हैं। बाद को हमें मालूम हुआ कि उन्हें इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होंने बम्बई में अपनी गिरफ्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकाम्ब (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के संवाददाता, जो उन दिनों हिन्दुस्तान में थे) का बनाया हुआ था, जो पिताजी से बात-चीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होंने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य[1] में यह बताया गया था कि

---

[1]यह वक्तव्य २५ जून १९३० को पं० मोतीलाल नेहरू की सहमति से दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतों में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार—हालांकि इसका पहले से अन्दाज नहीं किया जा सकता कि गोलमेज-परिषद् अपनी खुशी से क्या सिफारशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफारशों के बारे में क्या रुख रहेगा—खानगी तौर पर यह आश्वासन दें कि वे भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करेंगी, सिर्फ शर्त इतनी होगी कि हिन्दुस्तान की खास जरूरतों और अवस्थाओं और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण जरूरी बातों पर दोनों का आपस में समझौता हो जायगा और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें तय हो जांयगी और इनका निर्णय गोलमेज-कान्फ्रेंस करेगी, तो पंडित मोतीलाल नेहरू यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन—या किसी तीसरे जिम्मेदार पार्टी का यह इशारा कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा—गांधीजी या पं० जवाहरलाल नेहरू तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मंजूर कर लिया गया

अगर सरकार कुछ शर्तें मान ले तो सम्भव है कि कांग्रेस सत्याग्रह को वापस ले लेगी।

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमें यह साफ कह दिया गया था कि उन स्पष्ट शर्तों पर भी तबतक विचार नहीं किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गांधीजी से और मुझसे मशवरा न कर लें। मुझसे जरूरत इसलिए पड़ती थी कि मैं उस साल कांग्रेस का प्रधान था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ्तारी के बाद पिताजी ने इसका जिक्र नैनी में मुझसे किया था, और उन्हें इस बात पर दुःख ही रहा कि उन्होंने जल्दी में ऐसा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव था कि उसका गलत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी, क्योंकि जिन लोगों की विचार-धारा हमसे बिलकुल जुदा है उनके द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यों का भी गलत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुंचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों में बड़ी देर तक बात-चीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बात-चीत से वह बहुत थक गए। हमारी बात-चीत और बहस घूम-घामकर वहीं आ जाती थी जहां से शुरू हुई थी। हम लोगों के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावों को समझ पाते थे। हमें यह साफ दिखाई देता था कि मौजूदा हालत में कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौका नहीं है। हमनें अपने साथियों—कार्य-समिति के सदस्यों—और खासकर गांधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गांधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डॉक्टर सप्रू वाइसराय का जबाब लेकर

तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय-भंग-आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी खतम हो जायगी, राजनैतिक कैदियों को आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर, जो आपस में तय हो जायंगी, गोलमेज-कान्फ्रेंस में शरीक होगी।"

फिर हमसे मिलने आये। वाइसराय को इस बात पर कोई एतराज न था कि हम लोग यरवडा जावें (यरवडा पूना के पास है और यहीं की जेल में गांधीजी रखे गये थे); लेकिन वह तथा उनकी कौंसिल हमें सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम आजाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरों से मिलने की इजाजत नहीं दे सकती थी, जो कि बाहर थे और सरकार के खिलाफ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे। डॉक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत में आप लोग यरवडा जाने को तैयार हैं या नहीं? हमने कहा कि हमें तो कभी भी गांधीजी से मिलने जाने में कोई उज्र नहीं है,न हो सकता है; लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियों से न मिल लें,तबतक किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सकेगा। इत्तफाक से उसी दिन या शायद एक दिन पहले के अखबार में यह खबर पढ़ी कि बम्बई में भयंकर लाठी-चार्ज हुआ और सरदार वल्लभभाई, मालवीयजी, तसद्दुक अहमद शेरवानी वगैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये हैं। हमने डॉक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना से मामला सुधरा नहीं है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वाइसराय के सामने साफ कर दें। फिर भी डॉक्टर सप्रू ने कहा कि गांधीजी से तो जल्दी मिलने में हर्ज ही क्या है? हमने उन्हें यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना यरवडा हुआ तो हमारे साथी डॉक्टर सैयद महमूद भी, जो हमारे साथ नैनी में ही थे, ब-हैसियत कांग्रेस-सेक्रेटरी हमारे साथ चलेंगे।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनों -- पिताजी, महमूद और मैं—एक स्पेशल ट्रेन में नैनी से पूना भेजे गए। हमारी गाड़ी बड़े-बड़े स्टेशनों पर नहीं ठहरी, हम उन्हें झपाटे से पार करते हुए चले गये, कहीं-कहीं छोटे और किनारे के स्टेशनों पर ट्रेन ठहराई गई। फिर भी हमारे जाने की खबर हमसे आगे दौड़ गई और लोगों की बड़ी भीड़ स्टेशनों पर——जहां हम ठहरे वहां भी और जहां नहीं ठहरे वहां भी——इकट्ठी हो गई। हम ११ की रात को पूना के नजदीक खिड़की स्टेशन पर पहुंचे।

हमने उम्मीद तो यह की थी कि हम गांधीजी की ही बैरक में ठहराये जायंगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाक़ात हो जायगी। यरवडा के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने तो यही तजवीज कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक्त पर उन्हें अपना प्रबन्ध बदल देना पड़ा। जो पुलिस अफसर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडा

वालोंको ऐसी ही कुछ हिदायत मिली थी। सुपरिण्टेण्डेण्ट कर्नल मार्टिनने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमें गांधीजी से (कम-से-कम पहली बार तो) सप्रू और जयकर साहब के सामने ही मिलने दिया जायगा। यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेंगे तो हमारा रुख कड़ा हो जायगा और हम सब और भी मजबूत हो जायंगे। लिहाजा वह सारी रात और दूसरे दिनभर और रातभर हम दूसरी बैरक में रखे गए। इसपर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वहां ले जाकर गांधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हम तरसना और तड़पाना था। आखिर १३ ता० को दोपहर के पहले हमें खबर की गई कि सर सप्रू और जयकर साहब तशरीफ ले आये हैं और गांधीजी भी जेल के दफ्तर में उनके साथ मौजूद हैं और आप सबको वहीं बुलाया है। पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालों की तरफ से बहुतेरी सफाइयां दी गईं और माफियां मांगी गईं और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गांधीजी से ही मिलाये जायंगे, तब वह वहां जाने को राजी हुए। आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनों यरवडा ले आये गये थे, और सरोजिनी नायडू भी, जो हमारे सामने की स्त्री-बैरक में ही रक्खी गई थीं, हमारे साथ बात-चीत में शरीक किए गए। उस रात पिताजी, महमूद और मैं तीनों गांधीजी के अहाते में ले जाये गये और यरवडा से चलने तक हम वहीं रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहां लाये गये और वे भी वहीं रक्खे गये, जिससे हमारे आपस में सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३, १४ और १५ अगस्त तक सप्रू और जयकर साहब से हमारा मशवरा जेल के दफ्तर में होता रहा और हमने आपस में चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिए, जिन में हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गईं जिनके पूरा होने पर सविनय-भंग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठियां अखबारों में भी छाप दी गई थीं।[1]

इन बातचीतों का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को

---

[1] जिन चिट्ठियों में ये शर्तें दी गई थीं वे परिशिष्ट नं० २ में दी गई हैं।

एकाएक उन्हें जोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाए—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बम्बई-सरकार ने सफर में हर तरह से पिताजी के आराम का खयाल रक्खा और यरवडा-जेल में भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुंचे उस दिन एक मजेदार घटना हुई, जो मुझे अब तक याद है। सुपरिण्टेण्डेण्ट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हल्का खाना खाता हूं, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक का सब जरूरी चीजें गिना दीं (नैनी में रोज हम लोगों के घर से खाना आता था)। पिताजी ने सरल-भाव से जो-जो चीजें लिखाईं वे थीं तो सब सादी और हल्की ही, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गए। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवाय होटल में वे चीजें सादा और हल्की समझी जाती हों, जैसा कि खुद पिताजी भी समझते थे, लेकिन यरवडा जेल में ये अजीब और बेतुकी दिखाई दीं। महमूद और मैं बड़ी रंगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीजों के नाम सुनाते जा रहे थे, क्योंकि कई दिनों से उनके यहां भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रखा गया था और उसकी भोजन-सामग्री थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर और शायद कभी-कभी नारंगियां। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े-बड़े स्टेशन छलांगते गए और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अब की और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भरे हुए थे और कहीं-कहीं तो रेलवे लाइन पर भी भीड़ जमा हो गई थी—खासकर हरदा, इटारसी और सोहागपुर में। यहां तक कि दुर्घटनाएं होते-होते बचीं।

पिताजी की हालत तेजी से गिरने लगी। कितने ही डॉक्टर उन्हें देखने गये—खुद उनके डॉक्टर भी और प्रांतीय-सरकार की तरफ से भेजे हुए डॉक्टर भी। जाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थी और वहां किसी तरह माकूल इलाज भी नहीं हो सकता था। मगर फिर भी जब किसी मित्र ने अखबार में लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हें रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगड़े और उन्होंने कहा कि लोग समझेंगे कि मेरी तरफ से यह इशारा कराया गया है। यहांतक कि उन्होंने लार्ड इर्विन को तार दिया कि मैं खास मेहरबानी

कराके नहीं छूटना चाहता । लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई । वजन तेजी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढांचा मात्र रह गया था । आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद, वह रिहा कर दिये गये ।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया । जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ता था । उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखना पड़ता था । और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मैं—बड़ी खुशी-खुशी उनकी सेवा में दिन बिताते थे । मैंने निवाड़ बुनना छोड़ दिया था, कातना भी बहुत कम कर दिया था, और न किताबें पढ़ने का ही वक्त मिलता था । जब वह चले गये तो हमें फिर उन्हीं कामों को शुरू करना पड़ा,मगर दिल पर बोझ बना रहता था। और वह आनन्द नहीं रहा था । उनके रिहा होने पर तो दैनिक-पत्र भी मिलना बन्द हो गया था । ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजित पंडित गिरफ्तार हुए और हमारी बैरक में ही रखे गये ।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छः महीने की सजा पूरी होजाने पर, मैं छोड़ दिया गया । मैं जानता था कि मैं थोड़े ही दिन आजाद रह सकूंगा, क्योंकि लड़ाई जमती और तेज होती जा रही थी । 'शान्ति-दूतों'—सप्रू-जयकर साहब—की कोशिशें बेकार हो चुकी थीं । उसी दिन, जिस दिन मैं छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गये थे । ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आजाद रहूं कुछ अच्छा जोरदार काम कर जाऊं ।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेस के काम में जुट पड़ी थी। पिताजी मसूरी में इलाज करा रहे थे और मां तथा बहनें उनके साथ थीं । कमला को लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ़ दिन तक मैं इलाहाबाद में ही व्यस्त रहा । उन दिनों हमारे सामने जो बड़ा सवाल था वह यह कि देहात में करबन्दी आन्दोलन शुरू किया जाय या नहीं ? लगान-वसूली का वक्त नजदीक आ रहा था और यों भी लगान वसूल होने में दिक्कत आनेवाली थी; क्योंकि अनाज के भाव बुरी तरह गिर गए थे । संसारव्यापी मन्दी का प्रभाव हिंदुस्तान-भर में दिखाई दे रहा था ।

लगानबन्दी-ग्रान्दोलन के लिए इससे बढ़कर उपयुक्त अवसर नहीं दिखाई देता था—दोनों तरह से, सविनय-भंग-ग्रान्दोलन के सिलसिले में भी और यों स्वतन्त्र रूप से भी। यह जाहिरा तौर पर असम्भव था कि जमींदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दें। उन्हें या तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या कर्ज का सहारा लिए बिना चारा न था। जमींदार के पास तो यों भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता है, और उसे कर्ज भी आसानी से मिल सकता है; मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नंगा और कंगाल होता है, कोई सहारा नहीं होता। किसी भी प्रजातन्त्री देश में या और जगह जहां किसानों का संगठन अच्छा और प्रभावशाली है, इन परिस्थितियों में, किसानों से ज्यादा वसूल करना असम्भव होता। लेकिन भारत में उनका प्रभाव नाम-मात्र का है—सिवा इसके कि कहीं-कहीं कांग्रेस उनकी हिमायत करती और उनका साथ देती है। हां, एक बात और भी है। सरकार को यह डर जरूर लगा रहता है कि जब किसानों के लिए हालत असहनीय हो जायगी, तो वे उठ खड़े होंगे और बुरी तरह उभड़ पड़ेंगे। लेकिन, उन्हें तो जमाने से यह शिक्षा मिलती चली आरही है कि जोकुछ विपदा आवे उसे चूं तक किये बिना कमर पर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रांतों में उस समय करबन्दी-ग्रान्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे प्रायः सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय-भंग-ग्रान्दोलन से जुड़े हुए थे। ये वे प्रान्त थे जहां रैयतवारी तरीका था और किसानों का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरन्त सीधा सरकार पर पड़ता था। मगर युक्तप्रान्त की हालत उनसे भिन्न थी, क्योंकि हमारा इलाका जमींदारी और ताल्लुकेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द कर दे तो उसका सीधा असर जमींदार पर होता है; इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कांग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय संस्था है और उनमें कितने ही छोटे-मोटे तथा कुछ बड़े जमींदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कहीं कोई वर्ग-विग्रह का प्रश्न न बन जाय, या जमींदार लोग न बिगड़ बैठें। इस कारण सविनय-भंग शुरूहोने से ठेठ छः महीने तक वे देहात में करबन्दी-ग्रान्दोलन शुरूकरने से बचते रहे, हालांकि मेरी राय में उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर

था। मैं इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह कतई नहीं घबराता था, लेकिन मैं इतना जरूर महसूस करता था कि कांग्रेस अपनी मौजूदा हालत में वर्ग-संघर्ष को नहीं अपना सकती। हां, वह दोनों से—काश्तकार और जमींदार दोनों से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत जमींदार बहुत करके मालगुजारी दे देते; लेकिन उस दशा में कुसूर उनका होता।

अक्तूबर में जब मैं जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनों दशाएं मुझे ऐसी मालूम हुईं, मानो वे देहात में करबन्दी आंदोलन छेड़ देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हों। किसानों की आर्थिक कठिनाइयां तो जाहिर ही थीं। राजनैतिक क्षेत्र में, हमारा सविनय-भंग-आंदोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड़ गया था। हालांकि लोग थोड़े-थोड़े करके और कहीं-कहीं बड़े दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण में वह तेजी और गर्मी नहीं दिखाई देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हड़तालों और जलूसों से कुछ थक-से गए थे। प्रत्यक्षतया यह दिखाई देता था कि कुछ जिन्दगी डालने की, नया खून लाने की, जरूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहां से आ सकता था? और यह खजाना तो अभी अखूट भरा पड़ा है। यह फिर जनता का एक आंदोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितों का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह यह थी कि इसकी बदौलत समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न उठ खड़े होंगे।

उस थोड़े समय में जब मैं इलाहाबाद रहा, हमारे साथियों ने और मैंने इन विषयों पर खूब गौर किया। जल्दी ही हमने प्रांतीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आंदोलन की मंजूरी दे दी और हर जिले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने खुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया, और कार्यकारिणी नें उसे जमींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-सम्बन्धी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हां, यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों की ही तरफ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे कदम बढ़ाने की छुट्टी मिल गई, तो हमारे इलाहाबाद जिले ने पहला कदम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद जिले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया।

मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी ग्राम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बा भाषण दिया। इसी भाषण पर बाद को मुझे फिर सजा दी गई थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शांति और बड़े आनन्द में बीते जो मुझे अबतक याद आते हैं। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लड़की इन्दिरा और मेरी तीन नन्हीं-नन्हीं भानजियां भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३-४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिए, झण्डा-गीत 'झण्डा ऊंचा रहे हमारा' गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आखिरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हें हमसे छीनकर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को और अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था,इसलिए कमला और मैं १७को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को, और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज की।

कमला और मेरे दोनों के लिए यह यात्रा जरा घटनापूर्ण रही। देहरादून में, ज्योंही मैं रवाना होने लगा, जाब्ता फौजदारी की १४४ दफा के मुताबिक मुझपर एक नोटिस तामील की गई। लखनऊ में हम कुछ ही घण्टों के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ, कि वहां भी १४४ दफा की एक नोटिस हमारी राह देख रही है। लेकिन वह तामील न हो सकी, क्योंकि भीड़ के कारण पुलिस अफसर मुझतक पहुंच नहीं पाया। म्युनिसिपैलिटी की तरफ से मुझे एक मान-पत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते में जगह-जगह ठहरकर किसानों की सभाओं में व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुंचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफा की एक और नोटिस मुझे मिली। सरकार मेरे पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ्तारी के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊं। इस सम्मेलन में हमने खानगी तौर से सिर्फ प्रतिनिधियों को ही बुलाया था। किसी बाहरी आदमी के आने की, इजाजत इसमें न थी। इलाहाबाद जिले के बहुत-से प्रतिनिधि इसमें आये थे, और जहां तक मुझे याद है उनकी संख्या १६०० के लगभग थी। सम्मेलन ने बड़े उत्साह के साथ अपने जिलों में करबन्दी शुरू करने का फैसला किया। हां, कुछ मुख्य कार्यकर्ताओं को जरूर हिचकिचाहट थी। इस बात में उन्हें कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नहीं, क्योंकि किसानों को डराने-दबाने के साधन जमींदारों के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हें यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयों में कहां तक टिक सकेंगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के १६०० प्रतिनिधियों के दिलों में, जो वहां मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहां तो दिखाई नहीं देता था। सम्मेलन में मैंने भी एक भाषण दिया था। लेकिन मैं नहीं कह सकता कि मैंने १४४ दफा का उल्लंघन किया या नहीं, जोकि मुझपर सार्वजनिक सभा में न बोलने के लिए लगाई गई थी।

वहां से मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगों को लिवाने के लिए स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हें वहीं छोड़कर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आने-वाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-मांदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बातें करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे, क्योंकि उनके आने के बाद हमें शायद ही बात-चीत करने का मौका मिला हो। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गई—वहां से हमारा घर दिखाई दे रहा था, और मैं फिर गिरफ्तार करके फिर जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैठक में पहुंचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के लोगों को इस नई घटना की खबर सुनाई और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

३२

युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

ाठ दिन की गैरहाजिरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और सैयद महमूद, सादि और रणजित पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मिला। कुछ के बाद जेल में ही मेरा मुकदमा चला। मुझपर कई दफाएं लगाई गई नका आधार था मेरा वह भाषण जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद ा था। उसी के अलग-अलग हिस्सों को लेकर अलग-अलग इलजाम लगाये । अपने व्यवहारानुसार मैंने कोई सफाई पेश नहीं की, सिर्फ थोड़े में अपना खित बयान अदालत में पेश किया। दफा १२४की रू से राजद्रोह के अप- ों मुझे १८ मास की सख्त कैद और ५००) जुरमाने, १८८२के नमक-कानून ाबिक ६ महीने की कैद और १००) जुरमाने तथा १९३० के आर्डिनेन्स मातहत (मैं भूल गया हूं कि यह आर्डिनेन्स किस विषय का था) ६ मास की ौर १००) जुरमाने की सजाएं दी गईं। पिछली दोनों सजाएं एक साथ वाली थीं, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की कैद हुई और जुरमाना की हालत में ५ महीने और। यह मेरी पांचवीं बार जेल-यात्रा थी।

फिर से मेरी गिरफ्तारी और सजा का सविनय-भंग-आन्दोलन की गति पर मय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमें एक नया जीवन और बल आ गया। इसका अधिकांश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से मेरी गिरफ्तारी की खबर मिली तो उन्हें वेदना का एक धक्का लगा, फौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज ंककर कहा----अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पड़ा हूंगा; अब अच्छा होकर एक जवांमर्द की तरह काम करूंगा और बीमारी को में अपने पर हावी न होने दूंगा। उनका यह निश्चय तो जवांमर्दों का-सा ; मगर अफसोस है कि यह सारा संकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को जो, शरीर को कुतर-कुतर कर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी कुछ दिनों

तक तो उनके स्वास्थ्य में साफ-साफ तबदीली दिखाई देने लगी—इतनी कि देखकर लोगों को अचम्भा होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये, उनके बलगम में खून आने लगा था। उनके इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिलकुल नहीं दिखाई दिया। इससे उन्हें खुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल में मिलने आये तो उन्होंने मुझसे इस बात का जिक्र कुछ फख्र के साथ किया। लेकिन बदकिस्मती से यह तसल्ली थोड़े ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ़ गई और खून अधिक परिमाण में आने लगा। इस बीच में उन्होंने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम किया और देश-भर में सविनय-भंग-आन्दोलन को एक जोर का वेग दिया। जगह-जगह के लोगों से वह बात-चीत करते और उन्हें ब्यौरेवार आज्ञाएं भेजते। उन्होंने एक दिन मुकर्रर किया (यह नवम्बर में मेरा जन्मदिन था) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंश सभाओं में पढ़े जांय जिनपर मुझे सजा दी गई थीं। उस दिन कई जगह लाठी चार्ज हुए, जलूस और सभाएं बलपूर्वक तितर-बितर की गईं और यह अन्दाज किया गया था कि उस दिन सारे देशभर में कोई पांच हजार गिरफ्तारियां हुई होंगी। वह अपने ढंग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमें इतनी ज्यादा ताकत का सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत हानिकारक हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिलकुल आराम ही करें। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान में तो उनको विश्राम मिलेगा नहीं क्योंकि यहां उनका दिमाग लड़ाई के उतार-चढ़ाव में लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेंगे; इसलिए मैंने उन्हें सुझाया कि वह रंगून, सिंगापुर, और डच-इंडीज की तरफ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवें और उन्हें यह विचार पसंद भी आया था। यह भी तजवीज की गई थी कि कोई डाक्टर-मित्र यात्रा में साथ रहें। इस गरज से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहां उनकी तबीयत और भी खराब होती गई और वह आगे न बढ़ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान में सात हफ्ते तक रहे। कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद में बहुत अर्से तक कांग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मैं करबन्दी-आन्दोलन

के सिलसिले में काम कर रहा था। मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढ़कर उस आन्दोलन को बढ़ानेवाली और कोई घटना नहीं हो सकती था—खासकर उसी दिन जबकि किसान-सम्मेलन खतम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद में ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ़ गया और वे जिले के करीब-करीब हर गांव में सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन में ही जिले-भर में खबर फैल गई कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमें शरीक होने लगे।

उन दिनों हमारी सबसे बड़ी मुश्किल खबर पहुंचाने की थी—लोगों को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे हैं और उनसे क्या कराना चाहते हैं। अखबार हमारी खबरों को छापने के लिए तैयार नहीं होते थे, इस डर से कि सरकार उनको सजा देगी और दबा देगी; छापेखाने भी हमारे इश्तिहार और पत्रिकाएं छापने को तैयार नहीं होते थ; चिट्ठियों और तारों को काट-छांट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। खबरें पहुंचाने का भरोसे का तरीका जो हमारे पास बाकी था वह यह था कि हम हरकारों की मार्फत अपनी खबरें भेजें। इसमें भी हमारे हरकारों को कभी-कभी गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह तरीका खर्चीला था, और इसमें बड़े संगठन की भी जरूरत थी। लेकिन इसमें कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क में रहते थे और अपने खास-खास जिला-केन्द्रों के सम्पर्क में भी। शहरों में कोई खबर फैलाना मुश्किल नहीं था। कई शहरों में गैर-कानूनी खबरें रोजाना या हफ्तेवार साइक्लोस्टाइल के जरिये प्रकाशित होती रहती थीं और ऐसी खबरों की मांग बहुत रहती थी। आम लोगों में इत्तिला करने के लिए शहर में डोंडी पिटवाने का भी एक तरीका था। इसमें अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ्तारी हो जाती थी, मगर इसकी कुछ परवा नहीं थी क्योंकि लोग गिरफ्तारी को तो पसंद ही करते थे, उससे बचना नहीं चाहते थे। ये सब तरीके शहरों में अनुकूल पड़ते थे परन्तु गांवों में आसानी के साथ काम में नहीं लाये जा सकते थे। हरकारों और साइक्लोस्टाइल से छपे हुए इश्तिहारों के जरिये से खास-खास गांवों के केन्द्रों से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं था; क्योंकि दूर के गांवों में हमारी खबरों को पहुंचाने में काफी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह मुश्किल दूर हो गई। जिले के प्रायः हर खास-खास गांव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले ताजा फैसलों और उनके कारण हुई मेरी गिरफ्तारी की खबर को जिले के हरेक हिस्से में ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमें कोई शक नहीं था कि शुरू में उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देंगे, और उस वक्त तक बिलकुल नहीं देंगे, जबतक कि उनको देने के लिए और दबाया-डराया नहीं जायगा। निस्सन्देह कोई नहीं कह सकता था कि जमींदारों और अहलकारों का हिंसावृत्ति और भय के मुकाबले में उनकी सहन-शक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने जमींदारों और किसानों दोनों से की थी। सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नहीं थी। मगर अमली रूप में कई जमींदारों ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी, ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुकसान उठाने की सम्भावना थी। जहांतक किसानों का सवाल है, वे तो मजबूत रहे। उन्होंने लगान नहीं दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद जिले से वह संयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे जिलों में भी फैल गया। कई जिलों में उसको बाजाब्ता अख्तियार नहीं किया गया, न उसका ऐलान किया गया, परन्तु वास्तव में किसानों ने कर देना रोक दिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नहीं सके। इसपर कई महीनों तक न तो सरकार ने और न बड़े जमींदारों ने उन सरकश किसानों को भयभीत करने के लिए कोई बड़ी कार्रवाई की। उन्हें अपनी कामयाबी पर भरोसा नहीं था; क्योंकि एक तरफ तो सविनय-भंग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक संग्राम था और दूसरी तरफ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दुःखी थे। इन दोनों कठिनाइयों का समावेश एक-दूसरे में होगया और सरकार का बराबर यह डर रहा कि कहीं किसानों में कोई तूफान न उठ खड़ा हो। उधर लन्दन में गोलमेज-कान्फ्रेंस हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष में सरकार अपनी तकलीफें नहीं बढ़ाना चाहती थी, और न

'जोरदार' हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहांतक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक खास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे संग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी प्रदेश से हटकर देहाती प्रदेशों में चला गया। इससे आन्दोलन में नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मजबूत बना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम श्रेणी के लोग किसी हदतक निराश हो गए, परन्तु संयुक्तप्रान्त में आन्दोलन मजबूत था और पहले किसी भी समय किये गए आन्दोलन से मजबूत रहा। शहर से देहात की तरफ परिवर्तन और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओं की तरफ परिवर्तन दूसरे प्रान्तों में इतनी हदतक नहीं हुआ और नतीजा यह हुआ कि उनमें शहरों की प्रधानता बनी रही और वे मध्यमवर्ग के लोगों की थकावट से ज्यादा-से-ज्यादा नुकसान उठाते रहे। बम्बई शहर में भी, जो कि शुरू से अखीर तक आन्दोलन में खूब भाग लेता रहा, कुछ-कुछ निराशा फैलने लगी। बम्बई में और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ्तारियां भी जारी रहीं, परन्तु यह सब किसी कदर बनावटी दिखाई देता था। उसका सजीव तत्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जन-समूह को लम्बे समय तक किसी क्रान्ति की हालत में रखना असम्भव है। आमतौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनों तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय-भंग की यह अद्भुत शक्ति है कि यह कई महीनों तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी धीमी चाल से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढ़ा। स्थानिक कांग्रेस कमेटियां, यूथ-लीग आदि, जोकि अभी तक आश्चर्य के साथ चलती रही थीं, गैर-कानूनी करार दी जाकर दबा दी गईं। जेलों में राजनैतिक कैदियों के साथ ज्यादा बुरा बर्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ़ गई, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल में चले जाते थे। सजा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने में असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। जाहिरा तौर पर जेल शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण संयुक्तप्रान्त में नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू में कुछ राजनैतिक कैदियों को बेंत की सजा दी गई थी। इसकी खबर हमारे पास नैनी-जेल में पहुंची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तब से हम हिन्दुस्तान में इसके तथा इससे भी खराब दृश्यों और घटनाओं के आदी हो गए हैं—क्योंकि

बेंत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी कैदियों के लिए भी मुझे एक अवांछनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चों के लिए तो और ज्यादा। फिर नाममात्र के नियम-भंग के कुसूर में बेंत की सजा को बिलकुल जंगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारों ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेंत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवालों के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घंटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज से यह कोई बड़ी बात न थी, मगर हमें उपवास का अभ्यास नहीं था और न यही जानते थे कि हम उसमें कितने टिक सकेंगे? इससे पहले २४ घंटे से ज्यादा का उपवास मैंने शायद ही कभी किया हो।

हमें उपवास के दिनों में कोई ज्यादा तकलीफ नहीं हुई, और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि उसमें वैसी सख्त तकलीफ जैसी कोई बात नहीं थी जिसका कि डर था। मगर एक बेवकूफी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कड़ी कसरत जारी रक्खी थी; जैसे दौड़ना और हाथ-पांव का झटके देने की कसरत वगैरा। मैं नहीं समझता कि उससे मुझे कोई ज्यादा फायदा हुआ। खासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ खराब थी। इन तीन दिनों में हम सब का वजन ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने में कोई १५ से २६ पौंड तक वजन हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेंत लगाने के खिलाफ खासा आन्दोलन हो रहा था, और मैं समझता हूं कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी हिदायतें भेजी थीं कि आइन्दा बेंत न लगाये जांय। मगर ये आज्ञाएं ज्यादा दिन कायम नहीं रहने को थीं और कोई १ साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तों की जेलों में बेंतों की सजा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच में यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओं से खलल न पड़ा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाड़ा तो इलाहाबाद में बहुत ही मजेदार होता है। रणजित पंडित क्या आये, हमारी बैरक को दुर्लभ लाभ मिल गया; क्योंकि वह बागबानी बहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीरान अहाता फूलों और तरह-तरह के रंगों से गुलजार हो गया। उन्होंने तो उस तंग और थोड़ी जगह में छोटे पैमाने पर गाल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल में हमारे सिर पर से हवाई जहाज उड़कर जाया करते थे और यह हमारे लिए एक आनंद और मनोरंजन का विषय हो गया था। पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बड़े-बड़े हवाई जहाजों के लिए इलाहाबाद एक खास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा, और फ्रेंच इण्डो-चायना को जानेवाले बड़े-बड़े जहाज सीधे हमारे सिर पर से गुजरा करते थे। उनमें सबसे बड़े और शाही थे डच जहाज, जो बटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफाक से और हमारी खुश-किस्मती से जाड़े में बड़े तड़के जबकि कुछ-कुछ अंधेरा रहता था और तारे चमकते दिखाई देते थे, कोई जहाज ऊपर से गुजरता था। उसमें खूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनों सिरों पर लाल रोशनी होती थी। प्रात:काल के स्वच्छ नीले आसमान में जब वह जहाज ऊपर उड़ता तो उसका दृश्य बड़ा ही सुन्दर मालूम होता था।

पंडित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक में रक्खे गए थे, लेकिन हम रोज उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत वहां मैं उनसे अधिक परिचय कर पाया। वह बड़े खुश-मिजाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात में एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजित की सहायता से उन्होंने जर्मन पढ़ना शुरू किया और उस सिलसिले में उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेंतें लगाने की खबर मिली तब वह नैनी में ही थे और यह खबर सुनकर बहुत बिगड़े थे और उन्होंने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय में लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार हो गए। जेल की सर्दी उन्हें बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गई और वह शहर के अस्पताल में भेज दिये गए और कुछ दिन बाद मियाद से पहले ही वहां से रिहा कर दिये गए। खुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चंगे हो गये।

१ जनवरी १९३२ को अंग्रेजी साल के नये दिन, कमला की गिरफ्तारी की खबर हमें मिली। मुझे इससे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी दोनों बहनें तथा और भी दूसरी स्त्रियां बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गई होतीं, मगर उस वक्त सरकार जहांतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ्तार करना टालती थी और इससे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके

मन की मुराद पूरी हुई। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी खुशी हुई होगी!
मगर साथ ही मुझे कुछ डर भी लगा, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा खराब
रहती थी। और मुझे अन्देशा था कि जेल में ही कहीं उसे बहुत ज्यादा तकलीफ
न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहां मौजूद था। उसने उससे एक
सन्देश मांगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा सन्देश दिया, जो उसके
स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे असीम प्रसन्नता है और इस बात का
गर्व है कि मैं अपने पति के पद-चिह्नों पर चल सकी हूं। मुझे आशा है कि आप
लोग इस ऊंचे झंडे को नीचे न झुकने देंगे।" मुमकिन था कि अगर वह कुछ
सोच पाती तो ऐसा सन्देश न देती; क्योंकि वह अपने को पुरुषों के अत्याचारों
से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करनेवाली योद्धा समझती थी। लेकिन उस
समय हिन्दू-स्त्रीत्व के संस्कार उसमें प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह में पुरुषों
के अत्याचार न जाने कहां बह गये?

पिताजी कलकत्ता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक नहीं थी। लेकिन
कमला की गिरफ्तारी और सजा के समाचार सुनकर वह बहुत बेचैन हो गये
और उन्होंने इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को
उन्होंने इलाहाबाद रवाना किया और खुद घर के और लोगों के साथ कुछ दिन
बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हें कोई दो
मास बाद देखा था, और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मैं
मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल म जो दहशत बैठ
गई उससे वह अनजान मालूम हुए; क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की
बनिस्बत अब तो मैं बहुत अच्छा हूं। उनके चेहरे पर वरम आ गया था और
वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह
उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्तबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ
कि उनके लिए खतरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और
स्वास्थ्य के साथ-साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध में मौत का खयाल कभी मन
में नहीं आता था। मौत के खयाल पर वह हमेशा हंस दिया करते थे—उसे हंसी में
उड़ा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मैं तो अभी बहुत दिन जीऊंगा।

लेकिन इधर मैं देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी का मित्र मर जाता, तब वह अपने को अकेला-सा, अटपटे साथियों और लोगों में छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आमतौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना जोर जमा लेती थी। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उसके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के कितने अभ्यस्त हो गए थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरे मन में तरह-तरह की आशंकाएं छा गईं। फिर भी मुझे यह खयाल नहीं हुआ था कि खतरा इतना नजदीक आ पहुंचा है। ठीक उन्हीं दिनों पता नहीं क्यों खुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहती थी।

पहली गोलमेज-कान्फ्रेंस के वे अखीरी दिन थे और उसमें जो आलंकारिक भाषण हुए और आडम्बरयुक्त भाव प्रदर्शित किये गए वे हमारे मनोरंजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरंजन में कुछ घृणा का भाव भी था। वहां के भाषण और लम्बी-चौड़ी बातें और वादविवाद हमें अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे; पर हां, एक वास्तविकता साफ दिखाई पड़ती थी—वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जबकि हमारे भाइयों और बहनों ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य में डाल दिया, तब भी हमारे देश में ऐसे लोग थे जो हमारे संग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विपक्षियों की तरफ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमें पहले से भी ज्यादा साफ नजर आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी में विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे हैं और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे हैं। गोलमेज-कान्फ्रेंस इन स्थापित स्वार्थों के प्रतिनिधियों का ही एक सम्मेलन था। उनमें से कितनों ही ने हमारे संग्राम का विरोध किया था, कुछ खामोश होकर एक तरफ खड़े देखते थे—हां, समय-समय पर हमें इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खड़े होकर इन्तजार करते हैं वे एक तरह की सेवा ही करते हैं।" लेकिन ज्यों ही लन्दन से डोर हिली इस इन्तजारी का एकाएक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकड़े और मिल सकते हैं उनमें हिस्सा बंटाने के

लिए एक-के-बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन में यह सम्मेलन और भी जल्दी इसलिए किया गया कि कांग्रेस तेजी के साथ बायें पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत में आमूल राजनैतिक परिवर्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होंगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियों या अंशों का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाजिमी तौरपर आमूल सामाजिक परिवर्तन पर जोर देंगे और इस तरह स्थापित स्वार्थों को धक्का पहुंचा जावेंगे ! हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफत को देखकर सहम गये और इसके कारण उन्होंने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहां वर्तमान सामाजिक ढांचे को और स्थापित स्वार्थों को कायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक-शक्ति के तौर पर कायम रहें। औपनिवेशिक पदपर जो इतना जोर दिया गया उसके मूल में यही धारणा काम कर रही है। एक दफा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड़ पड़े कि मैंने इस बात पर जोर दिया था कि ग्रेट-ब्रिटेन से समझौता होने के लिए आवश्यक है कि ब्रिटिश फौज हिन्दुस्तानसे तुरन्त हटाली जाय और हिन्दुस्तानी फौज हिन्दुस्तानी लोकतन्त्र के मातहत कर दी जाय। वह तो यहां तक आगे बढ़ गए थे कि बोले— "अगर ब्रिटिश-सरकार इस बात पर राजी हो भी जाय, तो मैं अपनी पूरी ताकत से इसका विरोध करूंगा।" किसी भी तरह की कौमी आजादी के लिए यह मांग बहुत जरूरी थी। फिर भी उन्होंने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नहीं कि मौजूदा हालत में वह पूरी नहीं की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवांछनीय समझी गई। इसका आंशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बाहरी शक्तियां हमारे देश पर धावा बोल देंगी और वह समझते थे कि ब्रिटिश फौज उस समय हमारी रक्षा के काम आवेंगी ! मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह खयाल ही कितना जलील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अंग्रेजों की सबल बाहु को हिन्दुस्तान में कायम रखने की ख्वाहिश की तह म असली बात यह नहीं थी। अंग्रेजों की जरूरत तो समझी गई थी खुद हिन्दुस्तानियों से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढ़ती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के

इसलिए गोलमेज के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नहीं बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपने को उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस में तथा ब्रिटिश-सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बातें पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच में बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ। एक तरफ उसमें जहां वे लोग शामिल थे जो आजादी की लड़ाई में जूझते हुए जेल गये थे, वहां दूसरी तरफ उसमें उन लोगों का भी समावेश होता था जो हमें जेल भेजनेवालों से हाथ मिलाते थे, उनकी कतार में खड़े होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश में थे—बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाड़ते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढ़ावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसी में स्वराज्य का सार छिपा हुआ है। इसलिए कुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ; और तकदीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हें कुछ त्याग नहीं करना पड़ा। उलटा उनकी तिजारत और मुनाफा बढ़ गया। और जब एक तरफ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुकाबला किया, तो दूसरी तरफ वे अपनी दुकानों में बैठ-बैठ कर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने जरा उग्र-रूप धारण किया और उसमें ज्यादा जोखिम दिखाई दी तो उन्होंने अपने भाषणों का स्वर नीचा कर दिया, गरम दलवालों को बुरा कहने लगे और विरोधियों के साथ राजीनामे और ठहराव कर लिये।

हमें सचमुच इसका कुछ खयाल या परवा नहीं थी कि गोलमेज-कान्फ्रेंस ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लड़ाई यहां हमारे कस्बों और गांवों में हो रही थी। हमें इस बात में कोई भ्रम नहीं था कि हमारी लड़ाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या खतरा सामने खड़ा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओं ने हमें अपने राष्ट्रीय बल और दमखम का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमें दुःख पहुंचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरा के (जहां मैं समझता हूं कि उन्हें 'शहर की आजादी' भेंट की गई थी) अपने एक भाषण में उन लोगों के प्रति नफरत के भाव जाहिर किये जो सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के सिलसिले में जेल जा रहे थे उस भाषण ने और खासकर जिस मौके पर वह दिया गया उससे हमारे दिल

को बड़ी चोट लगी। क्योंकि यद्यपि राजनीति में शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तो भी हम उनकी इज्जत करते थे।

रैम्जे मैकडानल्ड साहब ने, सदा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज-कान्फ्रेंस का उपसंहार किया। उसमें कांग्रेसियों से ऐसी अपरोक्ष रीति से अपील की गई थी कि वे बुरा मार्ग छोड़ दें और भले आदमियों की टोली में मिल जांय। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी के बीच में—इलाहाबाद में कांग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातों के साथ-साथ इस भाषण और उसमें की गई अपील पर भी विचार किया। उस वक्त मैं नैनी-जेल में था और रिहा होने पर मैंने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी उसी समय कलकत्ते से लौटे थे और हालांकि वह बहुत बीमार थे तो भी उन्होंने इस बात पर बहुत जोर दिया कि उनकी रोगशय्या के पास ही मेम्बर लोग आकर चर्चा करें। किसीने सुझाया कि मि० मैकडानल्ड की अपील के जवाब में हमारी तरफ से भी कोई इशारा किया जाय और सविनय-भंग कुछ ढीला कर दिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गए, अपने बिछौने पर उठ बैठे और कहा कि मै तबतक समझौता नहीं करूंगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता, और अगर मैं अकेला ही रह गया तो भी मैं लड़ाई जारी रक्खूंगा। यह उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ़ गया। आखिर डॉक्टरों ने किसी तरह उन्हें राजी करके मेहमानों को वहां से हटाकर उन्हें अकेला रहने दिया।

बहुत कुछ उन्हींके आग्रह से कार्य-समिति ने बिलकुल न झुकने का प्रस्ताव पास किया था। उसके अखबारों में छपने से पहले ही सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमें उनकी मार्फत कांग्रेस से यह दरख्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फैसला न करे, जबतक कि उन्हें बातचीत करने का एक मौका न दिया जाय। वे लन्दन से विदा हो चुके थे। उन्हें इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहां न आ जायंगे और आपसे बातचीत न हो जायगी, तबतक वह प्रकाशित नहीं किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये

थे। हमें जिस बात का सबसे अधिक खयाल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतन्त्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव, और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभाएं की गईं और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह प्रस्ताव पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव'[1] कहा जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि न तो अखबार और न छापेखाने ही सहायता करते थे, न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एकही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में,कई बड़ी-बड़ी सभाएं करके, करीब-करीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या कस्बे सब जगह पास किया गया। बहुतेरी सभाएं तो कानून की अवहेलना करके की गईं और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गईं थीं।

२६ जनवरी को हम नैनी-जेल में बीते हुए साल के कामों पर सिंहावलोकन कर रहे थे और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देख रहे थे। इतने ही में दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाजुक हो गई है और मुझे फौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूं। रणजित भी मेरे साथ थे।

उसी शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गये। ये लोग थे कार्यसमिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर गौर करने का मौका देना चाहती थी। इसलिए मैं उसी शाम को हर हालत में छूट ही जाता। पिताजी की तबियत की वजह से कुछ घंटे पहले रिहाई हो गई। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ जेल से छोड़ दी गई। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेम्बर थी।

---

[1] यह प्रस्ताव परिशिष्ट नं० ३ में दिया गया है।

३३

पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज्यादा वरम आ गया था। बोलने में कुछ तकलीफ होती थी और दिमाग पर पूरा-पूरा काबू नहीं रहा था; लेकिन फिर भी उनकी संकल्प-शक्ति वैसी ही कायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग को काम करने में ताकत देती रही।

मुझे और रणजित को देखकर वह खुश हुए। एक या दो रोज बाद रणजित (वह कार्य-समिति के सदस्यों की श्रेणी में नहीं आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गये। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते हैं तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है। उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह जाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फायदा नहीं हो रहा था। ३ या ४ दिन बाद, मैं समझता हूं डॉक्टरों के कहने से, युक्तप्रान्त की सरकार ने रणजित को छोड़ दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मैं छोड़ा गया, गांधीजी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गये। मैं उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवें, और जब मैंने उनके छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। बम्बई में एक अभूतपूर्व विशाल जन-सभा में स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गांधीजी बम्बई से चल पड़े। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुंचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तजारी में जाग रहे थे,और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बड़ी शान्ति मिली। उनके आने से मेरी मां को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे

असमंजस में पड़े हुए मीटिंग की सूचनाओं की इन्तजार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाये। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये और हमारे मकान के पास ही स्वराज्य-भवन में उनकी मीटिंगें होने लगीं। कभी-कभी मैं भी इन मीटिंगों में चला जाता था। लेकिन मैं अपनी चिन्ताओं में इतना डूबा रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नहीं लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नहीं आता कि वहां क्या-क्या निर्णय हुए थे। मेरा खयाल है कि वे सविनय भंग-आन्दोलन को जारी रखने के हक में हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे। और अन्तिम दर्शन करके उनसे अन्तिम बिदा लेना चाहते थे। सुबह-शाम वे दो-दो तीन-तीन करके आते पिताजी अपने इन पुराने साथियोंका स्वागत करनेके लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डीलडौल तो भव्य मगर चेहरा भावशून्य दिखाई देता था; क्योंकि वरम आजाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे तैसे-तैसे उन्हें पहचान-पहचान कर उनकी आंखों में चमक आजाती थी। उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड़ जाते थे। हालांकि वह ज्यादा नहीं बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मजाक कायम था। वह, एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह जख्मी हो गया हो और जिसकी ताकत शरीर से करीब-करीब चली गई हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिंहों या राजाओं जैसी ही थी। जब-जब मैं उनकी तरफ देखता, तो मैं सोचता कि उनके दिमाग में क्या-क्या खयाल आते होंगे। क्या वह हम लोगों के काम-काज में दिलचस्पी लेने की हालत में नहीं रहे हैं? यह साफ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लड़ते थे। चीजें उनकी पकड़ से निकलना चाहती थीं और वह उनपर काबू पाने की कोशिश करते थे। अखीर तक यह लड़ाई जारी रही। मगर वह हारे नहीं। जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बातें करते थे—यहां तक कि जब गले की सिकुड़न से उनके मुंह से शब्द निकलना

मुश्किल हो गया था तो वह कागज पर लिख-लिख अपना आशय जाहिर करते थे।

कार्य-समिति की बैठकों में, जो कि हमारे पड़ौस में ही हो रहीं थीं, कहना चाहिए कि, उन्होंने कुछ भी दिलचस्पी नहीं ली। १५ रोज पहले इनसे उनका उत्साह जरूर बढ़ा होता, मगर अब शायद उन्होंने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गये हैं। उन्होंने गांधीजी से कहा—'महात्माजी ! मैं जल्दी ही चला जानेवाला हूं, स्वराज्य देखने के लिए जिन्दा नहीं रहूंगा। लेकिन मैं जानता हूं कि आपने स्वराज जीत लिया है और जल्दी ही वह आपके हाथ में आ जायगा।"

जो दूसरे शहरों और सूबों से लोग आये थे उनमें से बहुतेरे चले गये। गांधीजी रह गये। कुछ और घनिष्ट मित्र, निकट सम्बन्धी और तीन नामी डाक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनके लिए वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर उनके हाथों में सौंप दिया है। वे थे डाक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता। ४ फरवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखाई पड़ी और इसलिए यह तय किया कि उससे फायदा उठाकर उन्हें लखनऊ ले जाया जाय, जहां कि एक्स-रे द्वारा इलाज की सुविधाएं हैं। उसी दिन उन्हें हम मोटर से ले गये। गांधीजी और कुछ लोग भी साथ गये। हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गये। दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई, लेकिन फिर भी कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखाई पड़ते थे। दूसरे दिन सुबह यानी ६ फरवरी को मैं उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हें देख रहा था। रात उनकी तकलीफ और बेचैनी में बीती थी। एकाएक मैंने देखा कि उनका चेहरा शान्त हो गया और लड़ने की शक्ति खत्म हो गई। मैंने समझा कि उन्हें नींद लग गई है और इससे मुझे खुशी भी हुई। मगर मां की निगाह तेज थी। वह रो पड़ी। मैंने उसकी तरफ देखा और कहा कि उन्हें नींद लग गई है, वह जाग जायंगे। मगर वह नींद तो उनकी आखीरी नींद थी और उसके बाद फिर जागना नहीं हो सकता था।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये। मैं उसके साथ बैठा। रणजित गाड़ी चला रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था। उसके पीछे दूसरी मोटर थी, जिसमें मां और गांधीजी थे और उसके बाद

दूसरी मोटरें थीं। मैं दिनभर भौंचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बड़ी-बड़ी भीड़ों के कारण मैं कुछ सोच भी न सका। सूचना मिलते ही लखनऊ में बड़ी भीड़ जमा हो गई थी। वहां से शव को लेकर इलाहाबाद आये। शव राष्ट्रीय झंडे में लपेटा हुआ था और ऊपर एक बड़ा झंडा फहरा रहा था। मीलों तक जबरदस्त भीड़ उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने को जमा हुई थी। घर पर कुछ अन्तिम विधियां की गईं और फिर गंगा-यात्रा को चले। जबरदस्त भीड़ साथ थी। जाड़े के दिन थे। सन्ध्या का अंधकार गंगा-तट पर धीरे-धीरे फैल रहा था। और चिता की ऊंची-ऊंची लपटों ने उस शरीर को भस्म कर दिया जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट मित्रों के लिए और हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के लिए इतना मूल्य और महत्व था। गांधीजी ने छोटा-सा हृदयस्पर्शी भाषण दिया और फिर हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान लौट रहे थे, तब आकाश में तारे तेजी से चमक रहे थे।

मां को और मुझे हजारों सहानुभूति के सन्देश मिले। लार्ड और लेडी इर्विन ने मां को एक सौजन्यपूर्ण सन्देश भेजा। इस बहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुःख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा और आश्चर्यजनक शान्ति और सान्त्वना तो मिली गांधीजी के वहां मौजूद रहने से, जिससे मां को और हम सब लोगों को जीवन के उस संकटकाल का सामना करने का बल मिला।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं हैं। तीन महीने बाद मैं, अपनी पत्नी और लड़की सहित, लंका गया। हम लोगों ने वहां नुवारा एलीया में शान्ति और आराम से कुछ दिन गुजारे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई और मुझे एकाएक खयाल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफिक होगी। तो उन्हें यहां क्यों न बुला लूं? वह बहुत थक गये होंगे और यहां आराम से-उनको जरूर फायदा होगा। मैं उन्हें इलाहाबाद तार देने लगा था।

लंका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानों की मोहरें लगी हुई थीं। मैंने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख उसपर

पडी थी २८ फरवरी सन् १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियों में मिला। इस तरह वह कोई साढ़े पांच साल तक इधर-उधर सफर करता रहा। १९२६ में जब मैं कमला के साथ यूरोप रवाना हुआ था तब पिताजी ने अहमदाबाद से यह खत लिखा था। इटालियन स्टीमर लॉयड के पते पर, जिससे कि मैं यात्रा करनवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ है कि वह उस वक्त मुझे नहीं मिला और बहुतेरे स्थानों में भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकखानों में हवा खाता रहा। अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब संयोग है कि वह बिदाई का पत्र था!

३४

दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई, उसी दिन और प्रायः उसी समय बम्बई में गोलमेज-कांन्फ्रेंस के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका खयाल अब मुझे नहीं है, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी तथा कार्यसमिति के कुछ और सदस्य वहां पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी बैठकें हुईं, जिनमें यह बताया गया कि गोलमेज-कान्फ्रेंस में क्या-क्या हुआ? मगर शुरू में ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने खुद-ब-खुद अपने एडिनबरा वाले भाषण पर खेद प्रकट किया। उन्होंने यह भी कहा कि अपने आस-पास के वातावरण का मुझ पर अक्सर असर हो जाता है और मैं अत्युक्ति और शब्दाडम्बर में बह जाता हूं।

इन प्रतिनिधियों ने हमें गोलमेज-कान्फ्रेंस के सम्बन्ध में ऐसी मार्के की कोई बात नहीं कही, जिसे हम पहले से न जानते हों। हां, उन्होंने यह अलबत्ता बताया कि वहां परदे के पीछे कैसी-कैसी साजिशें हुईं,और फलां 'लार्ड' या फलां 'सर' ने खानगी में क्या-क्या किया? हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तों की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओं की बनिस्बत इस बात को ज्यादा महत्त्व देते हुए दिखाई देते हैं कि बड़े अफसरों ने खानगी बात-चीत में या गपशप में क्या-क्या कहा? लिबरल नेताओं के साथ हमारी जो कुछ बात-चीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मजबूत हो गई कि गोलमेज-कान्फ्रेंस के निर्णयों की कुछ भी वुकत नहीं है। किसी ने—मैं उनका नाम भूल गया हूं—सुझाया कि गांधीजी वाइसराय को मुलाकात के लिए लिखें और उनके साथ खुलकर बातचीत करलें। इसपर गांधीजी राजी हो गए, हालांकि मैं नहीं समझा कि उन्होंने परिणाम की कोई आशा की हो। मगर अपने सिद्धान्त को सामने रखते हुए वह सदा विरोधियों के साथ, कुछ

कदम आगे जाकर भी, मिलने और बात-चीत करने को तैयार रहते हैं। और चूंकि अपने पक्ष की सच्चाई का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगों को भी कायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज्यादा था। वह हमेशा हृदय-परिवर्तन की कोशिश करते हैं—राग-द्वेषके बन्धनों को तोड़कर दूसरे की सदिच्छा और ऊंची भावनाओं तक पहुंचने की कोशिश करते हैं। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्तन हो गया तो विश्वास का जमना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी जम सका तो विरोध ढीला हो जायगा और संघर्ष की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारों में अपने विरोधियों पर उन्होंने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की हैं, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज अपने व्यक्तित्व के जोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ कर लेते हैं। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशंसक बन गये, और हालांकि वह नुक्ताचीनी करते रहते हैं, मगर उसमें कहीं उपहास का नामो-निशान नहीं रहता।

चूंकि गांधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगों से मिलना पसन्द करते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलों में व्यक्तियों से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है। इस बात को जानते हुए,गांधीजी कोई बड़ी आशा लेकर लार्ड इर्विन से मिलने नहीं गये थे। सविनय-भंग-आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड़ गया था; क्योंकि सरकार से 'सुलह' करने की बातों का बड़ा जोर हो रहा था।

बात-चीत का इन्तजाम फौरन हो गया और गांधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के बारे में कोई बात-चीत गम्भीर रूप से हुई तो मैं कार्य-समिति के मेम्बरों को बुला लूंगा। कुछ ही दिनों बाद हमें दिल्ली का बुलावा आया। हम तीन हफ्ते तक वहां रहे। रोज मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गांधीजी कई बार लार्ड इर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच में तीन-चार रोज खाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार लन्दन में इण्डिया-आफिस से सलाह-मशवरा

किया करती थी। कभी-कभी देखने में जरा-जरा-सी बात या कुछ शब्दों के कारण ही गाड़ी रुक जाती। एक ऐसा शब्द था सविनय-भंग को स्थगित कर देना। गांधीजी बरावर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भंग अखीरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है; क्योंकि यही एक-मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगों के हाथ में है। हां, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड इर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भंग छोड़ दिया गया। लेकिन यह गांधीजी को मंजूर नहीं होता था। आखिर 'डिस्कन्टिन्यू' (रोक देना) शब्द इस्तेमाल किया गया। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौड़ी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीजों पर गौर करने में लगा और मूलभूत बातों पर कम ध्यान दिया गया। शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज-रोज की लड़ाई रोक दी जायगी, तब अधिक अनुकूल वातावरण में बुनियादी बातों पर गौर किया जा सकेगा। हम उस बात-चीत को विराम सन्धि की वार्ता मान रहे थे, जिसके बाद असली प्रश्नों पर आगे और बात-चीत की जायगी।

उन दिनों दिल्ली में हर तरह के लोग खिच-खिचकर आते थे। बहुत-से विदेशी, खासकर अमेरिकन, पत्रकार थे और वे हमारी खामोशी पर कुछ नाराज से थे। वे कहते थे आपकी बनिस्बत तो हमें गांधी-इर्विन बात-चीत के बारे में नई दिल्ली के सेक्रेटेरियट से ज्यादा खबरें मिल जाती हैं। और यह बात सही थी। इसके बाद बड़े-बड़े पदधारी लोग थे जो गांधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड़ आते थे, क्योंकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलन्द होरहा था। उन लोगों को, जो अबतक गांधीजी से और कांग्रेस से दूर रहे, और जबतब उनकी बुराई करते रहे थे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मजेदार लगता था। कांग्रेस का बोलबाला होता हुआ दिखाई देता था, और कौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि कांग्रेस और उसके नेताओं के साथ मेल-जोल करके रहा जाय। एक साल के बाद ही उनमें दूसरे परिवर्तन की लहर आई दिखाई दी। वे कांग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यों के प्रति जोरों के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे इनसे कोई वास्ता नहीं है।

सम्प्रदायवादी लोग भी इन घटनाओं से जगे और उन्हें यह आशंका पैदा हुई कि कहीं ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था में उनके लिए कोई ऊंचा स्थान न रह जाय, और इसलिए कई लोग गांधीजी के पास आये और उनको यकीन दिलाया कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर हम समझौता करने को बिलकुल तैयार हैं। अगर आप शुरुआत कर दें तो समझौते में कोई दिक्कत पेश न आयेगी।

ऊंची और नीची सभी श्रेणियों के लोगों का सतत प्रवाह डॉ० अन्सारी के बंगले की ओर हो रहा था, जहां गांधीजी और हममें से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फुरसत के वक्त हम उन्हें दिलचस्पी से देखते और फायदा भी उठाते थे। कुछ सालों से हम, खास करके कस्बों में, देहात में रहने वाले गरीबों के और उन लोगों के जो जेलों में ठूंस दिये गये थे, सम्पर्क में आते रहते थे; लेकिन धनी-मानी वैभवशाली लोग जो गांधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे। वे परिस्थितियों के साथ अपना मेल मिलाना खूब जानते हैं, जहां कहीं उन्हें सत्ता और सफलता दिखाई दी, वे उसी तरफ झुक गये और अपनी मधुर मुसकान से उसका स्वागत करने लगे। उनमें कितने ही हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार के मजबूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत में जो भी अन्य कोई सरकार कायम होगी उसके भी उतने ही सुदृढ़ स्तम्भ बन जायंगे।

उन दिनों अक्सर मैं सुबह गांधीजी के साथ नई दिल्ली घूमने जाया करता था। यही एक ऐसा वक्त था कि मामूलीतौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौका पा सकता था; क्योंकि उनका बाकी सारा वक्त बंटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहां तक कि सुबह के घूमने का वक्त भी किसी को बात-चीत के लिए, मामूली तौर पर किसी विदेश से आये हुए या किसी मित्र को, दे दिया जाता था जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते थे। हमने बहुत-से विषयों पर बातचीत की। पिछले जमाने पर भी और मौजूदा हालत पर भी; और खासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे किस तरह कांग्रेस के भविष्य के बारे में अपने एक विचार से अचम्भे में डाल दिया। मैंने तो खयाल कर रक्खा था कि आजादी मिल जाने पर कांग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि कांग्रेस बदस्तूर रहेगी—सिर्फ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स

पास करेगी, जिसके मुताबिक उसका कोई भी मेम्बर राज्य में वैतनिक काम न कर सकेगा, और अगर राज्य में अधिकार-पद ग्रहण करना चाहे तो उसे कांग्रेस छोड़ देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि उन्होंने अपने दिमाग में उसका कैसा ढांचा बैठाया था; मगर उसका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव के कारण सरकार के प्रबन्ध तथा दूसरे विभागों पर जबरदस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हें ठीक रास्ते पर कायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे पूरीतौर से समझ लेना मुश्किल है और जिसमें अनगिनत कठिनाइयां सामने आती हैं। मुझे यह दिखाई पड़ता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ रख दें, तो इससे गांधीजी के विचारों का कुछ आधार समझने में जरूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिलकुल विपरीत है; क्योंकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के अनुसार राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को ढालने के लिए राज्यसत्ता पर कब्जा करने के खयाल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आजकल अक्सर पाई जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दों में "ज्यादा-से-ज्यादा गधों को ज्यादा-से-ज्यादा गाजरें खिलाना" है।

गांधीजी के लोक-तन्त्र का खयाल निश्चित-रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ में उसका संख्या से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नहीं। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग; और यह नैतिक दबाव से ही काम लेती है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में (१७ सितम्बर १९३४) लोकतन्त्र की उन्होंने व्याख्या दी है। वह अपने को जन्मतः लोकतन्त्र-वादी मानते हैं और कहते हैं कि अगर "मनुष्य-जाति के दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्तियों के साथ अपने-आपको बिलकुल मिला देने, उनसे बेहतर हालत में अपना जीवन-यापन न करने की उत्कंठा और उनके समतल तक अपने को पहुंचाने के जागरूक प्रयत्न से किसी को इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मैं अपने लिए यह दावा करता हूं।" आगे चलकर वह लोकतन्त्र की विवेचना इस प्रकार करते हैं—

"हमें यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के लोकतन्त्री-स्वरूप और

प्रभाव की प्रतिष्ठा उसके वार्षिक अधिवेशन में खिंच आनेवाले प्रतिनिधियों या दर्शकों की संख्या के कारण नहीं बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है, जिसकी मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। पश्चिमी लोकतन्त्र अगर अबतक विफल नहीं हुआ है तो कम-से-कम वह कसौटी पर जरूर चढ़ा है। ईश्वर करे कि हिन्दुस्तान में प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतन्त्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो।

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतन्त्र के अनिवार्य फल नहीं होने चाहिएं जैसे कि वे निःसन्देह वर्तमान समय में हो रहे हैं। और न बड़ी संख्या लोकतंत्र की सच्ची कसौटी ही है। यदि थोड़े-से व्यक्ति, जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते हैं, उनकी भावना, आशा और हौसले का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो यह लोकतन्त्र के सच्चे भाव से असंगत नहीं है। मेरा मत है कि लोकतन्त्र का विकास बल-प्रयोग करके नहीं किया जा सकता है। लोकतन्त्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती; वह तो अन्दर से ही पैदा की जा सकती है।"

निश्चय ही यह पश्चिमी लोकतन्त्र नहीं है, जैसा कि वह स्वयं कहते हैं। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्युनिस्टों के लोकतन्त्र की धारणा से मिलता-जुलता है; क्योंकि उसमें भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोड़े-से कम्यूनिस्ट जनता की असली आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के प्रतिनिधित्व का दावा करेंगे, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। फिर भी वह समानता थोड़ी ही है और हमको बहुत-दूर तक नहीं ले जाती है। जीवन को देखने और उस तक पहुंचने के साधनों में बहुत ज्यादा मतभेद है—मुख्यतः उसे प्राप्त करने के साधन और बलप्रयोग के सम्बन्ध में।

गांधीजी चाहे लोकतन्त्री हों या न हों वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि अवश्य हैं। वह उन करोड़ों की जागी और सोई हुई इच्छा-शक्ति के सार-रूप हैं। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कहीं ज्यादा है; क्योंकि वह करोड़ों के आदर्शों की सजीव मूर्ति हैं। हां, वह एक औसत किसान नहीं हैं। वह एक बहुत तेज बुद्धि, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष हैं—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होंने अपने विकारों और भावनाओं का दमन करके उन्हें दिव्य बना दिया है और आध्यात्मिक

मार्गों में प्रेरित किया है। उनका एक जबरदस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खींच लेता है और दूसरों के हृदय में अपने प्रति आश्चर्य-जनक वफादारी और ममता उमड़ाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान है जो बातों को एक किसान के दृष्टि-बिन्दु से देखते हैं और जीवन के कुछ पहलुओं के बारे में एक किसान की ही तरह अन्धे हैं। लेकिन भारत किसानों का भारत है और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं और उसके हलके-से-हलके कम्पनों का भी उनपर तुरन्त असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और अक्सर सहज-स्फूर्ति से जान लेते हैं और ऐन मौके पर काम करने की अद्भुत सूझ उनमें है।

ब्रिटिश-सरकार ही के लिए नहीं, बल्कि खुद अपने लोगों और नजदीकी साथियों के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए हैं। शायद दूसरे किसी भी देश में आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है पैगम्बरों जैसे धार्मिक पुरुषों को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बातें करते हैं, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी कदर करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बड़े-बड़े तपस्वियों की कथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने घोर तप और त्याग के द्वारा भारी पुण्य-संचय करके छोटे-छोटे देव-ताओं की सत्ता हिला दी तथा प्रचलित व्यवस्था उलट-पलट दी। जब कभी मैंने गांधीजी के अक्षय आध्यात्मिक भंडार से बहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथाएं याद आ जाया करती हैं। वह स्पष्टतः दुनिया के साधारण मनुष्य नहीं हैं। वह तो बिरले और कुछ और ही तरह के सांचे में ढाले गये हैं और अनेक अवसरों पर उनकी आंखों से हम मानो उस अज्ञात के दर्शन होते थे।

हिन्दुस्तान पर, कस्बों के हिन्दुस्तान पर ही नहीं, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने इस पुत्र को—अपने ही समान और फिर भी अपने से इतने भिन्न स्व-पुत्र को—अपना उपास्य-देव और अपना प्रिय नेता बनावे। उन्होंने पुरानी और धुंधली स्मृतियां फिर ताजा कर दीं और हिन्दुस्तान को उसकी आत्मा की झलक दिखलाई। इस जमाने की घोर मुसीबतों से कुचले जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य के गोल-मोल स्वप्न देखने में सान्त्वना मिलती

थी। मगर उन्होंने अवतरित होकर हमारे दिलों को आशा और हमारे जीर्ण-शीर्ण शरीर को बल दिया और भविष्य हमारे लिए मन-मोहक वस्तु बन गया। इटली के दो-मुंहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे भूतकाल की तरफ और आगे भविष्यकाल की तरफ देखने लगा और दोनों के समन्वय की कोशिश करने लगा।

हममें से कितने ही इस किसान-दृष्टि से कटकर अलग हो गये थे और पुराने आचार-विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी-से बन गये थे। हम अपने को नई रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊंचे सहन-सहन और समष्टीकरण की भाषा में सोचते थे। किसान के दृष्टि बिन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और कुछ लोग, जिनकी संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और कम्यूनिज्म को अनुकूल दृष्टि से देखते थे। ऐसी दशा में यह प्रश्न है कि हमने कैसे गांधीजी की राजनीति में उनका साथ दिया और किस तरह बहुत-सी बातों में उनके भक्त और अनुयायी बन गये? इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है और जो गांधीजी को नहीं जानता है उसे उस जवाब से सन्तोष न हो सकेगा। बात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह एक ऐसी शक्ति है जिसका मनुष्य के अन्त:करण पर अधिकार हो जाता है और गांधीजी के पास यह शक्ति बहुत बड़े परिमाण में है। और जो लोग उनके पास आते हैं उन्हें वे अक्सर भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह ठीक है कि वह लोगों को आकर्षित करते हैं, मगर लोग जो उनतक गये हैं और जाकर ठहर गये हैं सो तो अखीर में अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही। यह ठीक है कि वे उनके जीवन-सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शों से भी सहमत न थे; कई बार तो वे उन्हें समझते भी न थे; मगर जिस कार्य को करने का उन्होंने आयोजन किया वह एक मूर्त और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी कदर कर सकती थी। हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लम्बी परम्परा के बाद, जोकि हमारी मुर्दा राज-नीति में पोषित चली आ रही थी, किसी भी प्रकार के कार्य का स्वागत ही हो सकता था। फिर एक बहादुराना और उपयोगी कार्य का तो, जिसके कि आस-पास नैतिकता का तेज भी जगमगा रहा हो, पूछना ही क्या! बुद्धि और भावना दोनों पर उसका असर हुए बिना नहीं रह सकता था। फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपने कार्य के सही होने का भी हमें कायल कर दिया और हम उनके साथ हो लिये, हालांकि हमने उनके जीवन-तत्त्व को स्वीकार नहीं किया। कार्य को उसके

मूलभूत विचार से अलग रखना शायद ठीक तरीका नहीं है और उससे आगे चलकर कठिनाई और मानसिक संघर्ष हुए बिना नहीं रह सकता । हमने मोटे तौर पर यह उम्मीद की थी कि गांधीजी चूंकि एक कर्मयोगी हैं और बदलनेवाली हालतों का उनपर बहुत जल्दी असर होता है, इसलिए उस रास्ते पर आगे बढ़ेंगे जो हमें सही नजर आता था । और हर हालत में वह जिस रास्ते पर चल रहे थे अबतक तो सही ही था और अगर आगे चलकर हमें जुदे-जुदे रास्ते चलना पड़े तो उसका पहले से खयाल बनाना बेवकूफी होगी ।

इन सबसे यह जाहिर होता है कि न तो हमारे विचार सुलझे हुए थे और न निश्चित । हमेशा हमारे दिल में यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक तर्क-शुद्ध हो मगर गांधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं और जो शख्स इतनी जबरदस्त श्रद्धा-भक्ति का अधिकारी बन जाता है उसके अन्दर कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओं और ऊंची आकांक्षाओं के माफिक हो । हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारों का कायल कर सकें तो हम जनता को भी अपने मत का बना सकेंगे, और हमें यह सम्भव दिखाई पड़ता था कि हम उनको कायल कर सकेंगे, क्योंकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते हुए भी वह एक पैदायशी विद्रोही हैं, एक क्रान्तिकारी हैं, जो भारी-भारी परिवर्तनों के लिए कमर कसे रहते हैं और जिसे परिणाम की आशंकाएं रोक नहीं सकतीं ।

किस तरह उन्होंने सुस्त और निराश जनता को एक अनुशासन में बांधकर काम म जुटा दिया—बल-प्रयोग करके या दुनियावी लालच देकर नहीं बल्कि महज मीठी निगाह, कोमल शब्द और इनसे भी बढ़कर खुद अपने जीते-जागते उदाहरण के द्वारा । सत्याग्रह की शुरुआत के दिनों में, ठेठ १९१९ में, मुझे याद है कि बम्बई के उमर सोभानी उन्हें 'स्लेव ड्राइवर' (गुलामों को हांकनेवाले) कहा करते थे । अब इस एक युग में तो हालत और भी बदल गई है । उमर अब मौजूद नहीं हैं कि उन परिवर्तनों को देखें । मगर हम जो ज्यादा खुशकिस्मत रहे, १९३१ के शुरू महीनों से पीछे के समय को देखते हैं तो दिल उमंग और अभिमान से भर जाता है । १९३१ का साल सचमुच हमारे लिए एक अद्भुत साल था और ऐसा मालूम होता था कि गांधीजी ने अपनी जादू की लकड़ी से हमारे देश का नकशा ही बदल दिया है । कोई ऐसा मूर्ख तो नहीं था जो यह समझता

हो कि हमने ब्रिटिश-सरकार पर अखीरी विजय पा ली है। हमें जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई ताल्लुक नहीं है। हमें तो अपने लोगों, अपनी बहनों, अपने नौजवानों और बच्चों पर, इस आन्दोलन में जिस तरह उन्होंने योग दिया उसपर, फख़ था। वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्हीं भी लोगों के लिए कीमती था। मगर हमारे लिए तो, जोकि गुलाम और दलित हैं, दुहरा उपकार था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात न हो जाय जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

खासकर मुझपर तो गांधीजी ने असाधारण कृपा और ममता दिखाई है और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें खासतौर से मेरे नजदीक ला दिया है। मुझे जो कुछ कहना होता था, उसको वह बहुत ही धीरज के साथ सुनते थे और मेरी इच्छाओं को पूरी करने के लिए उन्होंने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही मैं यह सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना असर डालते रहे तो सम्भव है उन्हें समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकें, और उन्होंने खुद भी यह कहा था कि 'जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखाई देगा मैं एक-एक कदम बढ़ता जाऊंगा'। उस वक्त मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि एक दिन वे अनिवार्यत: समाजवाद के मूल सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेंगे; क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था में हिंसा, अन्याय, नाश और दुखों से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। मुमकिन है कि साधनों से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नहीं। उस वक्त मैंने यही खयाल किया था। मगर अब मैं अनुभव करता हूं कि गांधीजी के आदर्शों में और समाजवाद के ध्येय में मौलिक भेद है।

अब हम फिर फरवरी १९३१ की दिल्ली में चलें। गांधी-इर्विन बात-चीत होती रहती थी। वह एकाएक रुक गई। कई दिनों तक वाइसराय ने गांधीजी को नहीं बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओं और सविनय-भंग पर (जोकि अभी उसूलन् जारी था) विचार-विनिमय किया। हमें यकीन था कि ज्योंही बात-चीत के टूटने की बात पक्के तौर पर जाहिर हो जायगी त्योंही हम सबके लिए फिर मिलकर बात-चीत करने का मौका नहीं रह जायगा।

हम गिरफ्तारियों की उम्मीद ही रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबकी बार सरकार कांग्रेस पर जोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में अखीरी तौर पर मिल लिये और आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव खासतौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ्तार होने पर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देता था और कार्य-समिति में जो स्थान खाली हों उनके लिए भी मेम्बरों को नामजद कर देता था। स्थानापन्न कार्य-समितियों की शायद ही कभी बैठकें होती थीं और उन्हें किसी भी विषय में नई बात करने के नहीं-से अधिकार थे। वे सिर्फ जेल जाने भर को थीं। इसमें एक जोखिम हमेशा ही लगी रहती थी और वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कार्रवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की स्थिति थोड़ी अटपटी हो जाय। इसमें खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली में कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य नामजद न किये जाने चाहिएं। जबतक मूल समिति के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेंगे तबतक वही पूरी कमेटी की हैसियत से काम करेंगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायंगे तब कोई समिति नहीं रहेगी, और हमने जरा दिखावे के तौर पर कहा कि सत्ता उस हालत में देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पास चली जायगी। और हम उनको आह्वान करते हैं कि वे बिना झुके लड़ाई को जारी रखें।

इस प्रस्ताव में संग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग दिखाया गया था और समझौते के लिए कोई गली-कूचा नहीं रखा गया था। इसके द्वारा यह बात भी मंजूर की गई थी कि हमारे सदर मुकाम के लिए देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रखने और नियमित रूप से आदेश भेजने में कठिनाई अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी। यह लाजिमी था, क्योंकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्ता नामी स्त्री-पुरुष थे और वे खुल्लम-खुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते थे। १९३० में छिपे तौर पर आदेश भेजने, रिपोर्ट मंगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह भी दिखा दिया कि हम गुप्त खबरें देने के काम को बड़ी सफलता के साथ कर सकते हैं। लेकिन कुछ हद तक हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नहीं खाती थीं, और गांधीजी इसके खिलाफ थे। तो अब प्रधान कार्यालय से हिदायतें मिलने के

अभाव में हमें काम की जिम्मेदारी स्थानीय लोगों पर ही छोड़नी पड़ी थी, वरना वे ऊपर से आदेश आने की राह देखते बैठे रहते और कुछ काम नहीं करते। हां, जब-जब मुमकिन होता आदेश भेजे भी जाते थे।

इस तरह हमने यह और दूसरे कई प्रस्ताव पास किये, (इनमें से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उन पर अमल ही किया गया। क्योंकि बाद को हालत बदलगई थी) और अपनी-अपनी जगह जाने के लिए बिस्तर बांध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड इर्विन की तरफ से बुलावा आया और बात-चीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम आधीरात तक गांधीजी के वाइसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह रात को कोई २ बजे आये, और हमें जगाकर कहे कि समझौता हो गया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी धाराओं को तो मैं जानता था, क्योंकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी लेकिन धारा नं० २[1] जो कि सबसे ऊपर ही थी और संरक्षण आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए कतई तैयार न था, मगर मैं उस वक्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

अब कुछ करने की गुंजाइश भी कहां रह गई थी? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राजी न भी हों तो कर क्या सकते थे? क्या उनका विरोध करें? क्या उनसे अलहदा हो जांय? अपने मतभेद की घोषणा करें? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम फैसले पर उसका क्या असर पड़ सकता था? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनय-भंग-आन्दोलन खत्म हो चुका

---

[1]दिल्ली-समझौते की धारा नं० २ (५ मार्च, १९३१) यह है—"विधान-सम्बन्धी प्रश्न पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ कि हिन्दुस्तान के वैध शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज-कान्फ्रेंस में पहले विचार हो चुका है। वहां जो योजना बनी थी, संघ-शासन उनका एक अनिवार्य अंग है। इसी प्रकार भारतीय उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और जिम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग हैं।"

था। अब जबकि सरकार यह घोषित कर सकती थी कि गांधीजी समझौता कर चुके हैं, ता कार्य-समिति तक उसे आगे नहीं बढ़ा सकता था।

मैं इस बात के लिए तो बिलकुल राजी था, जैसा कि मेरे दूसरे साथी भी थ कि सविनय-भंग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता कर लिया जाय। हममें से किसीके लिए यह आसान बात न थी कि अपने साथियों को वापस जेल भेज दें या जो कई हजार लोग पहले से जेलों में पड़े हुए हैं उनको वहीं पड़ा रहने देने के साधन बनें। जेलखाना ऐसी जगह नहीं है जहां हम अपने दिन और रात गुजारा करें, हालांकि हम बहुतेरे अपने को उसके लिए तैयार रखते हैं और आत्मा को कुचल डालनेवाले उसके दैनिक कार्य-क्रम के बारे में बड़े हलके दिल से बातें करते हैं। इसके अलावा तीन हफ्ते से ज्यादा दिन गांधीजी और लार्ड इर्विन के बीच जो बातें चलीं उनसे लोगों के दिलों में ये आशाएं बंध गईं कि समझौता होनेवाला है और अब अगर उसके अखीरी तौर पर टूट जाने की खबर मिले तो उससे उनको निराशा होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सब मेम्बर अस्थायी समझौते के (क्योंकि इससे अधिक वह हो भी नहीं सकता था) पक्ष में थे, बशर्ते कि उसके द्वारा हमें अपनी कोई अत्यन्त महत्त्व की बात न छोड़नी पड़ती हो।

जहांतक मुझसे सम्बन्ध है, जिन दूसरी बातों पर काफी बहस-मुबाहिसा हुआ उनसे मुझे इतनी ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी; मुझे सबसे ज्यादा खयाल दो बातों का था। एक तो यह कि हमारा स्वतन्त्रता का ध्येय किसी भी तरह नीचा न किया जाय, और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति पर क्या असर होगा? हमारा लगानबन्दी-आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था, और कुछ इलाकों में तो मुश्किल से लगान वसूल हो पाया था। किसान खूब रंग में थे। और संसार की कृषि-सम्बन्धी अवस्थाएं और चीजों के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई क्षणिक समझौता हो जाता है तो सविनय-भंग वापस ले लिया जायगा और उसका राजनैतिक आधार निकल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावों की इतनी गिरावट के और किसानों की मुकर्रर की हुई किश्त के मुकाबले में कुछ भी देने की असमर्थता के विषय में

क्या होगा ? गांधीजी ने लार्ड इर्विन से यह प्रश्न बिलकुल साफ कर लिया था। उन्होंने कहा था करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानों को यह सलाह नहीं दे सकते कि वे अपनी ताकत या हैसियते से ज्यादा दें। चूंकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नहीं हो सकी थी। हमें यह यकीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय-सरकार इस विषय में खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बस-भर किसानों की तकलीफ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोलमोल आश्वासन था। लेकिन उन हालतों में इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खतम ही हो गया था।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे उद्देश्य का महत्त्वपूर्ण प्रश्न बाकी रहा और समझौते की धारा नम्बर २ से मुझे यह मालूम पड़ा कि यह भी खतरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई ? क्या हमारी बड़ी-बड़ी जोरदार बातों और कामों का खात्मा इसी तरह होना था ? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी ? इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रात-भर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानो उसमें से कोई कीमती चीज सदा के लिए निकल गई हो—

तरीका ये दुनिया का देखा सही—
गरजते बहुत वे बरसते नहीं।[1]

---

[1]अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

३५

कराची-कांग्रेस

गांधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक़्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक हमने बातचीत की, जिसमें उन्होंने मझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्त्व की बात छोड़ दी गई है और न कोई सिद्धान्त ही त्यागा गया है। उन्होंने धारा नम्बर २ का एक विशेष अर्थ लगाया जिससे वह हमारी स्वतन्त्रता की मांग से मेल खा सके। इसमें उनका आधार खासकर 'भारत के हित में' शब्द थे। यह अर्थ मुझे खींचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका कायल तो नहीं हुआ, लेकिन उनकी बात-चीत से मुझे कुछ सान्त्वना जरूर हुई; मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ रख दें, तो भी एकाएक कोई नई बात खड़ी कर देने के आपके तरीके से मैं डरता हूं। आपमें कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल के निकट-सम्पर्क के बाद भी मैं बिलकुल नहीं समझ सका हूं और इसने मेरे मन में भय पैदा कर दिया है। उन्होंने अपने अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया, मगर कहा कि मैं खुद भी इसके लिए जवाबदेह नहीं हो सकता, न यही पहले से बता सकता हूं कि वह मुझे कहां और किस ओर ले जायगा।

एक-दो दिन तक मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूं। अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वह वक्त गुजर चुका था और मैं जो कुछ कर सकता था वह यह कि व्यवहार में उसे स्वीकार करते हुए सिद्धान्ततः अपने को उससे अलग रक्खूं। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती लेकिन हमारे पूर्ण स्वराज्य के बड़े प्रश्न पर इसका क्या असर पड़ सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे खूबसूरती के साथ मंजूर कर लूं और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊं, जैसाकि गांधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फौरन अखबारवालों से बात-चीत करते

हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर जोर दिया और कहा कि हम स्वतन्त्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल हैं। वह लॉर्ड इर्विन के पास गये और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई गलतफहमी न होने पावे। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज कान्फ्रेंस में अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतन्त्रता ही हो सकता है और उसे पेश करने के लिए ही वहां जाया जा सकता है। अवश्य ही लार्ड इर्विन इस दावे को मान तो नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने यह मंजूर किया कि हां, कांग्रेस का उसे पेश करने का हक है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और दिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नहीं कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था।

समझौते के पहले तथा बाद में लॉर्ड इर्विन के साथ बातचीत के दरमियान गांधीजी ने सत्याग्रही कैदियों के अलावा दूसरे राजनैतिक कैदियों की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही कैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जानेवाले ही थे। लेकिन दूसरे ऐसे हजारों कैदी थे जो मुकदमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नजरबन्द भी थे जो बिना मुकदमा चलाये, बिना इलजाम लगाये या सजा दिये ही जेलों में ठूंस दिये गये थे। इनमें से कितने ही नजरबन्द वर्षों से वहां पड़े हुए थे और उनके बारे में सारे देश में नाराजगी फैली हुई थी—खासकर बंगाल में, जहां कि बिना मुकदमा चलाये कैद कर देने के तरीके से बहुत ज्यादा काम लिया गया। पेनग्विन आइलैण्ड के[1] जनरल स्टाफ के मुखिया की तरह (या शायद ड्रेफस[2] के मामले की तरह) भारत-सरकार का भी मानना

---

[1] 'पेनग्विन आइलैण्ड' आनातोले फ्रांस नामक प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक की कृति है जिसमें लोकशासन-हीन, यन्त्राधीन राज्य का चित्र खींचा गया है।

[2] ड्रेफस नामक एक फरासीसी सैनिक अफसर था जिसपर पिछली सदी के अन्त में सरकारी खबरें बेचने का झूठा इलजाम लगाया गया था और लम्बी सजा दी गई थी। इसपर इलजाम दो बार झूठा साबित हुआ; दो दफा उसपर फिर मुकदमा चलाया गया और अन्त में बहुत सालों तक कैद भोगने के बाद बेचारा निरपराध साबित हुआ।

था कि सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत का होना है। सबूत का न होना तो गैरसाबित किया ही नहीं जा सकता। नजरबन्दों पर सरकार का यह ग्रारोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के ग्रसली या ग्रप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी हैं। गांधीजी ने समझौते के ग्रंग-स्वरूप तो नहीं, परन्तु इसलिए कि बंगाल में राजनैतिक तनातनी कम होजाय ग्रौर वातावरण ग्रपनी मामूली स्थिति में ग्रा जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इसपर रजामन्द न हुई।

भगतसिंह की फांसी की सजा रद कराने के लिए गांधीजी ने जो जोरदार पैरवी की उसको भी सरकार ने मंजूर नहीं किया। उसका भी समझौते से कोई सम्बन्ध न था। गांधीजी ने इसपर भी ग्रलहदा तौर पर जोर इसलिए दिया कि इस विषय पर भारत में बहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी बेकार गई।

उन्हीं दिनों की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के ग्रातंकवादियों की मनःस्थिति का ग्रान्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या बाद, यह घटना हुई। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने ग्राया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर ग्राजाद है। मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा था। हां, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम जरूर सुना था जबकि १९२१ में ग्रसहयोग-ग्रान्दोलन के जमाने में स्कूल से ग्रसहयोग करके वह जेल गया था। उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा ग्रौर जेल के नियम-भंग करने के ग्रपराध में जेल में उसे बेंत लगवाये गये थे। बाद को उत्तर-भारत में वह आतंकवादियों का एक मुख्य ग्रादमी बन गया। इसी तरह का कुछ-कुछ हाल मैंने सुन रक्खा था। मगर इन ग्रफवाहों में मैंने कोई दिलचस्पी नहीं ली थी। इसलिए वह ग्राया तो मुझे ताज्जुब हुग्रा।

पंडितजी का संकेत जिसकी तरफ है ऐसा पात्र तो 'पेनगिवन ग्राइलैण्ड' में मुमकिन है; 'परन्तु सबूत का न हाना ही बढ़िया सबूत है' यह तो ड्रेफस के केस की याद दिलाती है। ड्रेफस क हाथ की सही का एक भी कागज मिलता नहीं था, इस सफाई के विरोध में यह कहा जाता था कि 'सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत है' क्योंकि सबूत हो तो सच-झूठ प्रमाणित करना पड़े! सबूत रक्खा ही नहीं, यह साबित करता है कि इसपर जुर्म साबित होता है। —ग्रनु०

वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि हमारे छूट जाने से आमतौर पर ये आशाएं बंधने लगीं कि सरकार और काँग्रेस में कुछ-न-कुछ समझौता होने-वाला है। वह मुझसे जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो उनके दल के लोगों को भी कुछ शान्ति मिलेगी या नहीं ? क्या उनके साथ अब भी विद्रोहियों का-सा बर्ताव किया जायगा ? जगह-जगह उनका पीछा इसी तरह किया जायगा ? उनके सिरों के लिए इनाम घोषित होते ही रहेंगे और फांसी का तख्ता हमेशा लटकता रहा करेगा, या उनके लिए शान्ति के साथ काम-धन्धे में लग जाने की भी कोई सम्भावना होगी ? उसने कहा कि खुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियों का यह विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीके बिलकुल बेकार हैं और उनसे कोई लाभ नहीं है। हाँ, वह यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि शान्तिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है,मगर वह आतंकवाद न होगा। हिन्दुस्तान की आजादी के लिए तो उसने आतंकवाद को खारिज ही कर दिया था। पर उसने फिर पूछा, कि अगर मुझे शान्ति के साथ जमकर बैठने का मौका न दिया जाय, रोज-रोज मेरा पीछा किया जाय, तो मैं क्या करूंगा ? उसने कहा—इधर हाल में जो आतंककारी घटनाएं हुई हैं वे ज्यादातर आत्म-रक्षा के लिए ही की गई हैं।

मुझे आजाद से यह सुनकर खुशी हुई थी और बाद में उसका और सबूत भी मिल गया कि आतंकवाद पर से उन लोगों का विश्वास हट रहा है। एक दल के विचार के रूप में तो वह अवश्य ही लगभग मर गया है; और जो कुछ व्यक्तिगत इक्की दुक्की घटनाएं हो जाती हैं वे या तो किसी कारण बदले के लिए या बचाव के लिए या किसी की व्यक्तिगत लहर के फलस्वरूप हुई घट-नाएं हैं, न कि आम धारणा के फलस्वरूप। अवश्य ही इसके यह मानी नहीं हैं कि पुराने आतंकवादी और उनके नये साथी अहिंसा के हामी बन गये हैं या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये हैं। हां, अब वे पहले की तरह आतंकवादियों की भाषा में नहीं सोचते। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उनमें से बहुतों की मनोवृत्ति निश्चित रूप से फासिस्ट[1] बन गई थी।

---

[1]फासिस्ट पद्धति आज मुसोलिनी की पद्धति समझी जाता है। लेकिन

मैंने चन्द्रशेखर आजाद को अपना राजनैतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टिबिन्दु का कायल हो जाय। लेकिन उसके असली सवाल का, कि 'अब मैं क्या करूं ?', मेरे पास कोई जवाब न था। ऐसी कोई बात होती हुई नहीं दिखाई देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसों को कोई राहत या शान्ति मिले। मैं जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य में आतंकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे, क्योंकि उससे हमारे बड़े कार्य को तथा खुद उसके दल को भी नुकसान पहुंचेगा।

दो तीन हफ्ते बाद ही जब गांधी-इर्विन बातचीत चल रही थी, मैंने दिल्ली में सुना कि चन्द्रशेखर आजाद पर इलाहाबाद में पुलिस ने गोली चलाई और वह मर गया। दिन के वक्त एक पार्क में वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड़ के पीछे से उसने अपने को बचाने की कोशिश की। दोनों तरफ से गोलियां चलीं। एक-दो पुलिसवालों को घायल कर अन्त में गोली लगने से वह मर गया।

अस्थायी समझौता होने के बाद शीघ्र ही मैं दिल्ली से लखनऊ पहुंचा। हमने सारे देश में सविनय-भंग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कार्रवाईकी, और कांग्रेस की तमाम शाखाओं ने हमारे आदेशों का पालन बड़े ही अनुशासन से किया। हमारे साथियों में से ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज थे, और कितने ही तो आगबबूला भी थे। उन्हें सविनय-भंग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहां तक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल संगठन ने इस नई व्यवस्था को स्वीकार करके उसपर अमल किया, हलांकि कितने ही लोगों ने उसकी बड़ी आलोचना भी की थी। मुझे खासतौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी किहमारे सूबे में इसका क्या असर होगा? क्योंकि वहां कुछ क्षेत्रों में करबन्दी-आन्दोलन तेजी

यहां फासिस्ट मनोवृत्ति का अर्थ है—'रक्षित हित रखनेवाले वर्ग के लाभ के लिए बलपूर्वक बनाई गई डिक्टेटरशाही।' ऐसी डिक्टेटरशाही आज इटली में चल रही है और जर्मनी में भी है। पंडितजी का कहना यह है कि हिंसावादी भी आज इसी तरह की डिक्टेटरशाही बनाने की तरफ झुक रहे हैं। —अनु०

से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही कैदी रिहा हो जांय। वे हजारों की तादाद में प्रतिदिन छूटते थे, और कुछ समय बाद—उन हजारों नजरबन्दों के और उन लोगों के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सजा पाये हुए थे और जो रिहा नहीं किये गये थे—सिर्फ वही लोग जेल में रह गये जिनका मामला विवादास्पद था।

ये जेल से छूटे हुए कैदी जो अपने गांवों और कस्बों में गये तो स्वभावतः लोगों ने उनका स्वागत किया। कई लोगों ने सजावट भी की, बन्दनवारें लगवाई, जलूस निकाले, सभाएं कीं, भाषण हुए और स्वागत में मानपत्र भी दिये गये। यह सब कुछ होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। वह जमाना जबकि चारों ओर पुलिस की लाठियां-ही-लाठियां दिखाई देती थीं, सभा और जलूस जबर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले जरा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालों में विजय का भाव भी आगया था। यों अपने को विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था; लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल में आत्मा कुचल न दी गई हो तो) हमेशा एक आनन्द और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुण्ड-के-झुण्ड लोगों के एक-साथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ़ जाता है।

मैंने इस बात का जिक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस "विजय के भाव' पर बड़ा एतराज किया था, और हम पर इसके लिए इलजाम लगाया गया था! हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण में रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के सम्बन्ध में ऐसे फौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नहीं होता, उनके नजदीक अपने तथाकथित रोब के घट जाने से बढ़कर दुःखदायी बात दूसरी नहीं हो सकती। जहांतक मुझे पता है,हममें से किसीको इसका कोई खयाल न था और जब हमने बाद को यह सुना कि लोगों की इस गुस्ताखी पर सरकारी अफसर ठेठशिमला से लेकर नीचे मैदान तक आग-बबूला होगये हैं और ऐसा अनुभव करने लगे हैं मानो उनके अभिमान पर चोट पड़ी है, तो हम आश्चर्य से दंग रह गये। जो अखबार उनके विचारों की प्रतिध्वनि करते हैं वे तो अबतक भी इससे बरी नहीं हुए हैं। अब भी वे, हालांकि तीन-साढ़े तीन साल होगये हैं, उन साहसिक और बुरे दिनों का

जिक्र भय से कांपते हुए करते हैं, जबकि उनके मतानुसार कांग्रेसी इस तरह विजय-घोष करते फिरते थे कि मानो उन्होंने कोई बड़ी भारी विजय प्राप्त की हो। अखबारों में सरकार ने और उनके दोस्तों ने जो गुस्सा उगला वह हमारे लिए एक नई बात थी। उससे पता लगा कि वे कितने घबरा गए थे, उन्हें अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पड़ा था, जिससे उनके मन में कैसी गांठ पड़ गई थी। यह एक अनोखी बात है कि थोड़े-से जलूसों से और हमारे लोगों के कुछ भाषणों से उनमें इतना तहलका मच गया!

सच पूछो तो कांग्रेस के साधारण लोगों में ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने का कोई भाव' नहीं था और नेताओं में तो और भी नहीं। लेकिन हां, अपने भाइयों और बहनों के त्याग और साहस पर हम लोगों के अन्दर एक विजय की भावना जरूर थी। देश ने १९३० में जो कुछ किया उस पर हमें अवश्य गर्व है। उसने हमें अपनी ही निगाहों में ऊंचा उठा दिया; हममें आत्म-विश्वास पैदा किया, और इस बात के खयाल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयंसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊंचा हो जाता है। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ खींच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको अपने ध्येय के ज्यादा नजदीक पहुंचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक न था, और वास्तव में तो हममें से बहुतों का यही खयाल रहा कि दिल्ली समझौते में तो सरकार ही ज्यादा फायदे में रही है। इसमें से जिन लोगों ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर हैं और एक बड़ा और एक मुश्किल संग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रों के द्वारा लड़ाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की भावना को भंग करने के दोषी तक बताये गए।

युक्तप्रान्त में अब हमें किसानों के मसले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह थी कि जहां तक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय। इसलिए, हमने तुरन्त ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू कर दी। बहुत दिनों के बाद सूबे के कुछ बड़े अफसरों से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नहीं रक्खा था—मैं किसानों के मामलों पर चर्चा करने के लिए मिला। इस विषय में हमारी लम्बी लिखा-पढ़ी भी चली। प्रान्तीय कमेटी ने हमारे प्रान्त के प्रमुख नेता श्री गोविन्दवल्लभ

पन्त को एक मध्यस्थ के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के सम्पर्क में रहें। सरकार की तरफ से यह बात मान ली गई कि हां, किसान वाकइ संकट में हैं, अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर गये हैं, और एक औसत किसान लगान देने में असमर्थ है। सवाल सिर्फ यह था कि छूट कितनी दी जाय। इस विषय में कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ में था। साधारणतया सरकार जमींदारों से ही ताल्लुक रखती है, सीधे काश्तकारों से नहीं; और लगान कम करना या उसमें छूट देना जमींदारों का ही काम था। लेकिन जमींदारों ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया, जबतक कि सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हें तो किसी भी सूरत में अपने काश्तकारों को छूट देने की ऐसी पड़ी नहीं थी। इसलिए फैसला तो आखिर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने किसानों से कह दिया था कि कर-बन्दी की लड़ाई रोक दी गई है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफी छूट चाही थी। बहुत दिनों तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नहीं की। शायद गवर्नर सर माल्कम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक्कत महसूस कर रही थी। और इस मामले में तुरंत और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की जरूरत थी। कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी ऐसी कार्रवाई करने में हिचकते थे, और सर माल्कम हेली के आने तक (गर्मियों तक) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और ढील-ढाल ने उस मुश्किल हालत को और भी खराब बना दिया, जिससे काश्तकारों को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पड़ा।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ खराब हो गई। जेल में भी मेरी तबीयत कुछ खराब रही थी। उसके बाद पिताजी की मृत्यु से गहरा धक्का लगा और फिर फौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का जोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिए हानिकर साबित हुआ। लेकिन कराची-कांग्रेस जाने तक मैं कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम कोने में है, जहां की यात्रा जरा मुश्किल होती है। बीच में बड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सों से बिलकुल जुदा पड़ जाता है। लेकिन फिर भी वहां दूर-दूर के हिस्सों

से बहुत लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिजाज था उसको सही तौर पर जाहिर करते थे। उनके दिलों में शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताकत देश में बढ़ रही थी उसके प्रति गहरा सन्तोष था। कांग्रेस-संगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और मांग का बड़ी योग्यता-पूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरा सार्थकता दिखलाई था, उनके मन में अभिमान था। अपने लोगों के प्रति विश्वास का भाव था और उस उत्साह में संयम भी दिखलाई पड़ता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले जबर्दस्त प्रश्नों और खतरों के प्रति जिम्मेदारी का गहरा भाव था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर किये जाने-वाले कार्यों के मंगलाचरण-से थे और वे यों ही बिना सोचे-विचारे न बोले जाते थे, न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौता यद्यपि भारी बहुमत से पास हो गया था, तो भी वह लोकप्रिय नहीं था, और न पसन्द किया गया था, और लोगों के अन्दर यह भय काम कर रहा था कि यह हमें तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियों में लाकर डाल देगा। कुछ ऐसा दिखाई पड़ता था कि देश के सामने जो सवाल हैं उनको यह स्पष्ट कर देगा। काँग्रेस-अधिवेशन के ठीक पहले ही देश की नाराजगी का एक और कारण पैदा हो गया था—भगतसिंह का फांसी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत में इस भावना की लहर तेज थी और कराची उत्तर में ही होने के कारण वहां पंजाब से बड़ी तादाद में लोग आये थे।

पिछली किसी भी कांग्रेस की बनिस्बत कराची-कांग्रेस में तो गांधीजी की और भी बड़ी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल हिन्दुस्तान के बहुत ही लोकप्रिय और जोरदार आदमी थे और उन्हें गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमें प्रधानता तो गांधीजी की ही थी। अब्दुलगफ्फारखां के नेतृत्व में सीमाप्रांत से भी लालकुर्तीवालों का एक अच्छा दल वहां पहुंचा था। लालकुर्तीवाले बड़े लोकप्रिय थे। जहां कहीं भी जाते, लोग तालियों से उनका स्वागत करते,क्योंकि अप्रैल १९३० के बाद से अबतक गहरी उत्तेजना दिखाई जाने पर भी उन्होंने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर डाली थी। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगों को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्यूनिस्ट या वाम-पक्षीय मजदूर-दल के थे। उनका असली नाम तो 'खुदाई खिदमतगार' था और वह संगठन कांग्रेस के साथ मिलकर

काम करता था (१९३१ में बाद को कांग्रेस का एक अभिन्न अंग बना लिया गया था।) वे लालकुर्तीवाले महज इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी जरा पुराने ढंग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम में कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह पूर्णरूप से राष्ट्रीय था और उसमें सामाजिक सुधार का काम भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव में दिल्ली-समझौता और गोलमेज कांफ्रेंस का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप में उसे पास किया था उसे मैंने अवश्य ही मंजूर कर लिया था। मगर जब गांधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन में उसे पेश करने के लिए कहा, तो मैं जरा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ था। पहले मैंने इन्कार कर दिया, मगर बाद को यह मुझे अपनी कमजोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखाई दी। या तो मुझे इसके पक्षमें होना चाहिए या इसके खिलाफ; यह मुनासिब न था कि ऐसे मामलों में टालमटोल करूं और लोगों को अटकलें बांधने के लिए खुला छोड़ दूं। अतः बिलकुल आखीरी घड़ी पर खुले अधिवेशन में, प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले, मैंने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यों-के-त्यों उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को हृदय से स्वीकार कर लें। मेरा वह भाषण—जो ऐन मौके पर अन्तःस्फूर्ति से दिया गया और जो हृदय की गहराई से निकला था, जिसमें न कोई अलंकार था न सुन्दर शब्दावली—शायद मेरे उन कई भाषणों से ज्यादा सफल रहा, जिनके लिए पहले से ध्यान देकर तैयारी करने की जरूरत हुई थी।

मैं और प्रस्तावों पर भी बोला था। इनमें भगतसिंह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय हैं। आखीरी प्रस्ताव में मेरी खास दिलचस्पी थी, क्योंकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस में एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ राष्ट्रीयता की ही दिशा में सोचती थी और आर्थिक प्रश्नों से बचती रहती थी। जहांतक ग्राम-उद्योगों से और आमतौर पर स्वदेशी को बढ़ावा देने से ताल्लुक था, उसको छोड़कर कराचीवाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगों और नौकरियों के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायों के प्रचार के द्वारा गरीबों का बोझा कम करके अमीरों पर बढ़ाने के लिए एक बहुत छोटा कदम, समाजवाद की दिशामें, उठाया गया; लेकिन वह समाजवाद कतई न था। पूंजीवादी राज्य भी उसकी प्रायः हर

बात को आसानी से मंजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और निस्सार प्रस्ताव ने भारत-सरकार के बड़े-बड़े लोगों को गहरे विचार में डाल दिया। शायद उन्होंने अपनी हमेशा की अन्दरूनी निगाह से यह खयाल कर लिया कि बोलशेविकों का रुपया लुक-छिपकर कराची जा पहुंचा है और कांग्रेस के नेताओं को नीति-भ्रष्ट कर रहा है। एक तरह के राजनैतिक अन्तःपुर में रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे, गोपनीयता के वातावरण से घिरे हुए उनके दिमाग को रहस्य और भेद की कहानियां और कल्पित कथाएं सुनने का बड़ा शौक रहता है। और फिर ये किस्से एक रहस्यपूर्ण ढंग से थोड़ा-थोड़ा करके उनके प्रीति-भाजन पत्रों में दिये जाते हैं और साथ में यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते हैं। उनके इस मान्य प्रचलित तरीके से मौलिक अधिकार आदि सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का बार-बार जिक्र किया गया है और मैं उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूं कि वे इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मति क्या है, यह बतलाते हैं। किस्सा यहांतक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने, जिसका कम्यूनिस्टों से सम्बन्ध है, पूरे प्रस्ताव का या उसके ज्यादातर हिस्से का ढांचा बनाया है और उसने कराची में वह मेरे मत्थे मढ़ दिया। उसपर मैंने गांधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे कीजिए या दिल्ली समझौते पर मेरे विरोध के लिए तैयार रहिए। गांधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी और आखिरी दिन जबकि विषय-समिति और कांग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उनके सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहांतक मुझे पता है, यों साफ-साफ लिया नहीं गया है। लेकिन तरह-तरह के इशारों से मालूम हो जाता है कि उनकी मंशा किनसे है। मुझे छिपे तरीकों और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नहीं, इसलिए मैं सीधे ही कह दूं कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय से है। शिमला और दिल्ली के ऊंचे आसनवालों के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-विचारवाले' कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे में क्या खयाल करते हैं। उन्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ-कुछ घृणा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार तो यह मध्यम वर्ग के सुधारवादियों की मनोवृत्ति का एक खासा उदाहरण है।

जहांतक गांधीजी से ताल्लुक है, उनसे मेरी घनिष्टता पिछले १७ बरसों से है और मुझे उन्हें बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है । यह खयाल कि मैं उन्हें चुनौती दूं, या उनसे सौदा करूं, मेरी निगाह में भयानक है । हां, हम एक-दूसरे का खूब लिहाज रखते हैं और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते हैं, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारों में बाजारू तरीकों से हरगिज काम नहीं लिया जा सकता ।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का खयाल पुराना है । कुछ सालों से युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अ०भा०कां०कमेटी में समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले । १९२९ में उसने अ० भा० कां० कमेटी में कुछहद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था । उसके बाद सत्याग्रह आगया । दिल्ली में, फरवरी १९३१ में, जबकि मैं गांधीजी के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का जिक्र किया था और उन्होंने आर्थिक विषयों पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था । उन्होंने मुझसे कहा था कि 'कराची में इस विषय को उठाना और इस विषय में एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना ।' कराची में मैंने मसविदा बनाया और उन्होंने उसमें बहुतेरे परिवर्तन सुझाए और तजवीजें कीं । वह चाहते थे कि कार्य-समिति में पेश करने के पहले हम दोनों उसकी भाषा पर सहमत हो जांय । मुझे कई मसविदे बनाने पड़े और इससे इस मामले में कुछ दिन की देरी हो गई । आखिर गांधीजी और मैं दोनों एक मसविदे पर सहमत हो गये और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति में पेश किया गया । यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और कुछमेम्बरों को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था । फिर भी वह कमेटी में और कांग्रेस में आसानी से पास हो गया और बाद में अ० भा० कां० कमेटी को सौंप दिया गया कि वह निर्दिष्ट दिशा में उसको और विशद और व्यापक बनावे ।

हां, जब मैं इस प्रस्ताव का मसविदा तैयार कर रहा था तब कितने ही लोगों से, जो मेरे डेरे पर आया करते थे, इसके बारे में मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था । मगर एम० एन० राय से इसका कोई ताल्लुक नहीं था, और मैं यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नहीं करेंगे और इसकी खिल्ली तक उड़ावेंगे ।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद में एम० एन० राय से मेरी मुलाकात हुई थी। वह एक रोज शाम को अकस्मात् हमारे घर चले आये। मुझे पता नहीं था कि वह हिन्दुस्तान में हैं। फिर भी मैंने उन्हें फौरन पहचान लिया, क्योंकि उनको मैंने १९२७ में मास्को में देखा था। कराची में वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पांच मिनट से ज्यादा नहीं। पिछले कुछ सालों में राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे खिलाफ उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है, और अक्सर मुझे चोट पहुंचाने में कामयाब भी हुए हैं। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद हैं, फिर भी मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ्तार हुए और मुसीबत में थे, तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोड़ी थी) उनकी मदद करूं। मैं उनकी तरफ आकर्षित हुआ उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मैं उनकी तरफ इसलिए भी खिंचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड़ दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पड़ी हुई थी ही। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगों को उनकी ओर दिलचस्पी नहीं थी। और जो लोग हिन्दुस्तान में अपनेको कम्यूनिस्ट कहते हैं वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालों तक रूस में रहने और कोमिण्टर्न के साथ घनिष्ट सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड़ गये थे, या जुदा कर दिये गये थे। ऐसा क्यों हुआ इसका मुझे पता नहीं है और सिवा कुछ आभास के न अबतक यही जानता हूं कि उनके मौजूदा विचार क्या हैं और पुराने कम्यूनिस्टों से किस बात में उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्रायः हरेक के द्वारा अकेला छोड़े जाते देखकर मुझे पीड़ा हुई और अपनी आदत के खिलाफ मैं उनके लिए बनाई गई डिफेंस कमेटी में शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियों से, अबसे कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल में हैं, बीमार हैं और प्रायः तनहाई में रह रहे हैं

कराची में कांग्रेस अधिवेशन का एक आखिरी काम था कार्य-समिति का चुनाव। यों तो उसका चुनाव अ० भा० कां० कमेटी द्वारा होता है मगर ऐसा रिवाज पड़ गया था कि उस साल का सभापति (गांधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियों की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० कां० कमेटी में मंजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची में हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को खयाल नहीं हुआ था। अ० भा० कां० कमेटी

के कुछ मुसलमान मेम्बरों ने इस चुनाव पर एतराज किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होंने उसमें अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का कोई भी आदमी नहीं था। एक ऐसी अ० भा० कमेटी में जिसमें केवल पन्द्रह ही मेम्बर हों, यह बिलकुल असम्भव था कि सभी हितों के प्रतिनिधि उसमें रहें। और असली झगड़ा था, जिसके बारे में हमें कुछ भी इल्म नहीं था, बिलकुल निजी और पंजाब का स्थानीय। लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों ने विरोध की आवाजें उठाई थीं वे (पंजाब में) कांग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार[1] में शरीक हो गये। कांग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमें शामिल हो गये और पंजाब के कितने ही मुसलमानों को उसने अपनी ओर खींच लिया। वह निचले मध्यमवर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करती थी और मुस्लिम जनता से उसका बहुत सम्पर्क था। इस तरह वह एक जबर्दस्त संगठन बन गया। उच्च श्रेणी के मुस्लिम साम्प्रदायिक लोगों के उस पुंज संगठन की बनिस्बत यह कहीं ज्यादा मजबूत था, काम करता था जोकि सभा में या यों कहिये, कि दीवानखाने में या कमेटियों के अहरार लोग वैसे तो साम्प्रदायिकतावाद की तरफ चले गये मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होंने अपना सिलसिला बांध रक्खा था। इसलिए वे एक जिन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुंधला-सा आर्थिक दृष्टिकोण है। देशी राज्यों के मुसलमान आन्दोलन में, खासकर कश्मीर में, उन्होंने बड़ा काम किया है जिनमें कि आर्थिक कष्ट और साम्प्रदायिकता दोनों अजीब तरह से और बदकिस्मती से घुल-मिल गये हैं। कांग्रेस से अहरार पार्टी के कुछ नेताओं का कट जाना पंजाब में कांग्रेस के लिए बहुत ही हानिकारक हुआ। मगर कराची में इसका हमें पता क्या था? बाद में जाकर धीरे-धीरे हमें इसका भान होने लगा। लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग कांग्रेस से अलग हो गये हों। वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख को बताया। इसके असली कारण तो और ही हैं, और वे गहरे हैं।

हम सब कराची में ही थे कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे की खबर हमें मिली। इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को

---

[1] अहरार के मानी हैं आत्म-सम्मान रखनेवाले। —अनु०

कुछ मजहबी दीवाने लोगों ने, जिनकी मदद के लिए वह वहां गये थे, कत्ल कर डाला। वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे ? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने हमें उनकी वीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी वैसी और कोई चीज नहीं कर सकती थी। उस कांग्रेस-कैम्प में हजारों आदमी उन्हें जानते थे और युक्तप्रान्त के हम सब लोगों के वह अत्यन्त प्यारे साथी और दोस्त थे। जवांमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, पद और प्रसिद्धि से दूर भागनेवाले। अपनी जवानी के उत्साह में झूमते हुए वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होंने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढ़े थे कि बेवकूफ हाथों ने उन्हें जमीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यन्त उज्ज्वल-रत्न से वंचित कर दिया। जब यह खबर पहुंची तो कराची के यू०पी० कैम्प में शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई। लेकिन फिर भी उसके दिल में यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबला किया और उन्हें ऐसी गौरवपूर्ण मौत नसीब हुई।

३६

लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरों ने मुझपर जोर दिया कि मुझे कुछ आराम करना चाहिए, और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुजारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली सम्भावना दिखाई न दी; क्योंकि मैं जहां भी जाता वहां राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्याएं भी मेरे पीछे-पीछे वहां पहुंच जातीं। लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नजदीक की जगह थी, इसलिए हम लंका ही गये—कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ में यूरप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौका था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एक साथ शान्ति से कहीं विश्राम किया हो और हमें कोई चिन्ताएं न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला है, और मैं सोचता हूं कि शायद मिलेगा भी या नहीं।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में नुवाया एलीया में दो हफ्तों के सिवा ज्यादा विश्राम नहीं मिला। वहां के सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना लगती तो बहुत अच्छी थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवाया एलीया में बहुत-से श्रमिक, चायबागों के मजदूर और दूसरे लोग रोज कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीजें,—जंगल के फूल, सब्जियां घर का मक्खन----भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्रायः बात भी नहीं कर सकते थे; एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुसकरा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन कीमती चीजों से, जो वे दरिद्रतावस्था में भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीजें हम वहां के अस्पतालों और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजों और ऐतिहाहिक खंडहरों, बौद्ध मठों और घने जंगलों को देखा। अनुराधापुर में मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्ति

बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मैं देहरादून जेल में था, तब लंका के एक मित्रने इस मूर्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्धकी मूर्ति के गम्भीर शान्त भावों से मुझे बड़ी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौकों पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षित प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है मगर वह धार्मिक नहीं है; क्योंकि बौद्ध-धर्म के आसपास जो मताग्रह जम गये हैं उनमें मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों में और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्षुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह, जहां कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। करीब-करीब सभी के चेहरों पर शांति और निश्चलता का, तथा दुनिया की फिक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, मुख्य भाव था। आमतौर पर उनके चेहरे से बुद्धिमत्ता नहीं झलकती थी; उनकी सूरत से दिमाग के अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था। जीवन उन्हें महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मैं उनकी तरफ कुछ रश्क के साथ, आंधी और तूफान से बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हल्की उत्कण्ठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी किस्मत में और ही कुछ है, उसमें तो आंधी और तूफान ही हैं। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफान भी उतना ही तेज है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहां इत्तिफाक से आंधी की प्रचंडता न हो, तो क्या वहां मैं सन्तोष और सुखसे रह सकूंगा ?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहां आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था। और उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय मेरी भी वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया, और हार्दिक दुःख के साथ हम वहां से विदा हुए। उस भूमिकी और वहां के लोगों की कई बातें अब भी मुझे

याद आया करती है; जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे याद है। यह शायद जाफना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलाल किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊंगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आंखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है; मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की विषम समस्याओं का मुकाबला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायेगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास, दक्षिणी सिरे पर गये। वहां आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद त्रावणकोर, कोचीन, मलावार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुजरे, जो ज्यादातर देशी रियासतें हैं। इनमें से कुछ दूसरों से बहुत प्रगतिशील हैं, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं। मैसूर शायद उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ा हुआ है, और हैदराबाद करीब-करीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी, आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियों की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहां आने से कहीं लोगों के खयालात खतरनाक न हो जांय। मालूम होता है, उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आजादी न थी। और, हालांकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोंटने और सांस रोकनेवाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक कार्यों की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होंने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बंगलोर शहर में, एक बड़े मजमे के बीच, मैंने लोहे के एक ऊंचे खम्भे पर-राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोड़े दिनों बाद ही यह खम्भा तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया, और मैसूर सरकार ने झण्डे का

प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी खराबी और बेइज्जती होने से मुझे बड़ा रंज हुआ।

आज त्रावणकोर में कांग्रेस ही गैरकानूनी संस्था करार दे दी गई है और कांग्रेस का मेम्बर भी कोई नहीं बन सकता, हालांकि ब्रिटिश भारत में सविनय-भंग रुक जाने के बाद से वह कानूनी हो गई है। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं, और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही हैं किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधायें छीनने की जरूरत ही नहीं महसूस हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस किस्म की कोई सुविधाएं दी थीं। हैदराबाद में राजनैतिक सभायें नहीं होतीं, और सामाजिक और धार्मिक सभाएं भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं, और उनके लिए भी खास इजाजत लेनी पड़ती है। वहां कोई भी अच्छे अखबार नहीं निकलते; और बाहर से बुराई के कीटाणुओं को न आने देने के लिए हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में छपने वाले बहुत-से अखबारों की रियासत में रोक कर दी गई है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि नरम नीति के अखबारों की भी वहां मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफेद यहूदी' कहानेवाले लोगों का मुहल्ला देखने गये, और उनके पुराने मन्दिर में उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते हैं, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कस्बे देखे जिनमें ज्यादातर सीरियन-मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगों को खयाल होगा कि ईसाई धर्म हिन्दुस्तान में ईसा के बाद पहली सदी में ही आ गया था, जबकि यूरप ने भी उसे ग्रहण किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान में खूब मजबूती से जम गया था। हालांकि इन ईसाइयों का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी कस्बे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज ही है और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक नहीं है।

दक्षिण में नेस्टेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देखकर मुझे बड़ा

ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हजार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभी के दूसरे मतों में मिल चुके होंगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान में भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान में उनके अनुयायी बहुत थे, और वे उत्तर में बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजनी नायडू और उनकी लड़कियों, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहां ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियां उन्हीं के मकान पर इकट्ठी हो गईं और शायद कमला ने उनके सामने भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवतः पुरुषों के बनाये हुए कानूनों और रिवाजों के खिलाफ स्त्रियों के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे में था, और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषोंसे बहुत न दबें। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि, आपके यहां आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब होगया है। पहले की तरह वह मेरी बात नहीं सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्तियार कर लेती है।

बम्बई से लंका को रवाना होनेके सात हफ्ते बाद हम फिर बम्बई आगये, और मैं फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भंवर में कूद पड़ा। कार्य-समिति की बैठकें कई जरूरी मामलों पर विचार करने के लिए होने वाली थीं—हिन्दुस्तान की स्थिति तेजी से बदलती और गम्भीर होती जाती थी; यू० पी० के किसानों का प्रश्न जटिल हो गया था; खान अब्दुलगफ्फार खां के नेतृत्व में सीमाप्रान्त में लालकुर्ती-दल की आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी; बंगालमें अत्यन्त विक्षोभ की दशा होगई थी, और उसमें क्रोध और असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ़ गया था; हमेशा की साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही, और कांग्रेस के लोगों और सरकारी अफसरों के बीच कई तरह के मामलों में छोटे-छोटे कई स्थानीय झगड़े खड़े होगये थे, जिनमें दोनों पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोड़ने का इलजाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या कांग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेंस में शामिल होगी? क्या गांधीजी को वहां जाना चाहिए?

३७

समझौता-काल में दिक्कतें

गांधीजी को गोलमेज-कान्फ्रेंस के लिए लन्दन जाना चाहिए या नहीं ? यह सवाल बरावर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नहीं मिलता था। आखीरी मिनट तक कोई भी नहीं जानता था, कांग्रेस-कार्य-समिति और खुद गांधीजी भी नहीं जानते थे। क्योंकि, जवाब का आधार तो कई बातों पर था, और नई-नई घटनाएं परिस्थिति को बदल रही थीं। इस सवाल और जवाब की तह में असली मुश्किल समस्याएं खड़ी थीं।

ब्रिटिश सरकार और उसके दोस्तों की तरफसे हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज-कान्फ्रेंस ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखाएं खिच चुकी हैं और अब तो इनमें रंग भरना ही बाकी रहा है। मगर कांग्रेस ऐसा नहीं समझती थी और उसकी निगाह में तो अभी सारी तस्वीर ही बनना बाकी थी; सो भी करीब-करीब कोरे कागज पर। यह तो सच था कि दिल्ली में समझौते के द्वारा संघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और संरक्षणों या प्रतिबन्धों का विचार भी मंजूर कर लिया था। मगर हममें से बहुत-से तो पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए संघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नहीं था कि हमने खास उस तरह का संघ भी मान लिया जिसकी रचना पहली गोलमेज-कान्फ्रेंस ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्तन के साथ भी संघ स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हां, संरक्षणों या प्रतिबन्धों के विचार का मेल बैठाना ज्यादा मुश्किल था और मामूली तौरपर उसके होने से स्वाधीनता में काफी कमी आजाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दों से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोड़ी हदतक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नहीं। कुछ भी हो, कराची-कांग्रेस ने यह साफ कर दिया था कि हमें वही विधान मंजूर हो सकेगा जिसमें फौज,

श्रीमती कमला नेहरू : जवाहरलाल जी : इंदिरा नेहरू :

वैदेशिक मामलों और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशों की (अर्थात् अधिकांश ब्रिटिशों की) देनदारी मंजूर करने से पहले अपने कर्जे के प्रश्न की जांच करने का हक हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारों-सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों को करना चाहते हैं। ये सब बातें गोलमेज कान्फ्रेंस के कई निश्चयों और हिन्दुस्तान की सरकार के मौजूदा ढांचे के भी खिलाफ पड़ती थीं।

कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण में भारी फर्क था, और अब इस अवस्था में उनका दूर होना बहुत ही असम्भव मालूम होता था। करीब-करीब सभी कांग्रेसवालों को गोलमेज-कान्फ्रेंस में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी बात पर एक-राय की उम्मीद नहीं थी, और गांधीजी को भी, हालांकि वह हमेशा बड़े आशावादी रहे हैं, कोई आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नहीं होते थे, और अखीरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे कि चाहे सफलता मिले या न मिले दिल्ली-समझौते के कारण एक बार प्रयत्न तो करना चाहिए। मगर दो जरूरी बातें थीं, जिनके कारण हमारा गोलमेज-कांफ्रेंस में हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमें गोलमेज-कान्फ्रेंस के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आजादी रहे, और इसके लिए हमें यह कहकर कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोलमेज-कान्फ्रेंस में हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहां ऐसी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से संघर्ष पैदा हो जाता, या जिसमें हमें कठोर दमन का मुकाबला करना पड़ता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिल्कुल असम्भव होता कि इस आग का खयाल न करके वह लन्दन में जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितों की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेजी से बदल रही थी। सारे देश में ऐसा हो रहा था—खासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फर्क नहीं पड़ा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय-भंग के कुछ कैदी छोड़ दिये गये। लेकिन हजारों

राजनैतिक कैदी, जो नाम के लिए सविनय-भंग के कैदी नहीं समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नजरबन्द भी जेलों या नजरबन्द-कैम्पों में ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के कारण नई गिरफ्तारियां अक्सर हो जाती थीं, और आमतौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ से हमला अब भी बन्द नहीं हुआ है; वह जारी है। कांग्रेस के आतंकवाद के कारण बंगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय-भंग के मुकाबले आतंकवादी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी-सी रही हैं। मगर उनसे शोर ज्यादा मचता था, और उनकी तरफ ध्यान खिंच जाता था। इन हलचलों से दूसरे प्रान्तों की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतंकवाद से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था जो शान्तिपूर्ण लड़ाई के लिए अनुकूल न था। लाजिमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख्त-से-सख्त दमन किया, जिसका असर आतंकवादी और गैर-आतंकवादी बहुत-कुछ दोनों पर निष्पक्ष समानता से पड़ा।

पुलिस और स्थानीय अफसरों के लिए यह मुश्किल था कि वे खास कानून और आर्डिनेन्सों का (जो आतंकवादियों के लिए बनाये गए थे) कांग्रेसवालों, मजदूरों और किसानों के कार्यकर्ताओं और दूसरे लोगों पर, जिनकी प्रवृत्तियों को वे नापसंद करते थे, उपयोग न करें। यह मुमकिन है कि कई नजरबन्दों का जिन्हें अभी तक कई वर्षों से बगैर इलजाम लगाये, मुकदमा चलाये या सजा दिये बन्द रखा गया था, असली कुसूर आतंकवादी प्रवृत्तियां नहीं, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हें इसका मौका तक नहीं दिया गया कि वे अपनी सफाई दे सकें, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सकें। उनपर अदालतों में मुकदमे इसलिए नहीं चलाये जाते कि शायद पुलिस के पास उन्हें सजा दिलाने लायक काफी सबूत नहीं हैं, हालांकि यह सभी जानते हैं कि सरकार-विरोधी जुर्मों के लिए ब्रिटिश भारत के कानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे हैं और उनके घने जाल में से बच सकना मुश्किल है। यह अक्सर होता है कि कोई आदमी अदालतों से बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फौरन ही गिरफ्तार कर लिया जाता है और नजरबन्द बना लिया जाता है।

बंगाल के इस पेचीदा सवाल के कारण कांग्रेस-कार्य-समिति के लोग अपने को बड़ा लाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी-न-

किसी रूप में बंगाल का कोई-न-कोई मामला उनके सामने आता ही रहता। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे में वे जरूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए कुछ कमजोरी ही समझिए, वे जो कुछ वहां होता था उसे वैसा ही चलने देते थे और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति थी उसमें वे और कर भी क्या सकते थे? बंगाल में कार्य-समिति के इस रवैये पर बड़ा रोष प्रकट किया जाता रहता था, और वहां यह खयाल पैदा हो गया कि कांग्रेस-कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बंगाल की परवा नहीं करते। मालूम होता था कि मुसीबत के वक्त में सबने बंगाल का साथ छोड़ दिया है। मगर यह खयाल बिलकुल गलत था, क्योंकि सारे हिन्दुस्तान में बंगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नहीं सूझता था कि इस सहानुभूति को अमली मदद की शक्ल में कैसे जाहिर करें? इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टों का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त में किसानों की स्थिति खराब होती जा रही थी। प्रान्तीय सरकार इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी। उसने लगान और मालगुजारी के छूट के फैसले को आगे धकेल दिया, और जबरदस्ती लगान-वसूली शुरू कर दी। सामूहिक बेदखलियां और कुर्कियां होने लगीं। जब हम लंका में थे तभी जबरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन जगहों पर किसानों के दंगे हो गये थे। ये दंगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदकिस्मती से उनमें जमींदार या उनके कारिन्दे मर गये थे। गांधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली से किसानों की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे (उस वक्त भी मैं लंका में ही था), मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला। जब सरकार ने छूट की घोषणा की, तो वह उम्मीद से बहुत कम थी। देहात में लगातार हो-हल्ला मचने और बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों जमींदार और सरकार दोनों का मिलाकर दबाव बढ़ता गया, और हजारों किसान अपनी जमीन से बेदखल किये जानेलगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगी, त्यों-त्यों ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे देश में एक बड़ा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था। मेरा खयाल है कि यह कांग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानों ने कोई हिंसात्मक कार्य नहीं किये। मगर खुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना!

किसानों की इस उभाड़ और मुसीबत में एक बात अच्छी थी। खेती की पैदावारों के भाव बहुत कम हो जाने से गरीब लोगों के पास, जिनमें किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नहीं थी तो, पिछले कई सालों की बनिस्बत, ज्यादा खाद्य-सामग्री मौजूद थी।

बंगाल की तरह, सीमाप्रान्त में भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नहीं हुई। वहां विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा। वहां की हुकूमत विशेष कानूनों और आर्डिनेन्सों और छोटे-छोटे कुसूरों पर भारी-भारी सजाओं के कारण एक फौजी हुकूमत के समान हो रही थी। इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुलगफ्फारखां ने बड़ा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह में वह बहुत खटकने लगे। वह छः फुट तीन इंच ऊंचे पूरे पठान, मर्दानिगी के साथ, गांव-गांव पैदल जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र कायम करते थे। जहां कहीं वह या उनके खास-खास साथी जाते थे वहां-वहां वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड़ जाते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त में 'खुदाई खिदमतगार' की शाखाएं फैल गईं। वे बिलकुल शान्तिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ गोल-मोल आरोप लगाये जाने पर भी, आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नहीं ठहर सका है। मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हों या नहीं, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का रहा था, और वे उपद्रवी सीमा प्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक था, तेजी से बढ़ने के कारण सरकार घबरा गई। मेरा खयाल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नहीं किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुंझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह इसे शान्ति से देखती नहीं रह सकती थी।

इस बड़े आन्दोलन के मुखिया, बिला उज्र, खान अब्दुलगफ्फार खां ही थे—जिन्हें 'फख्रे-अफगान', 'फख्रे-पठान,' 'गांधी-ए-सरहद' वगैरा नामों से याद किया जाने लगा। उन्होंने सिर्फ अपने चुपचाप और एक-निष्ठ काम के बल पर, जिसमें न वह मुश्किलों से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त में आश्चर्यजनक लोकप्रियता पा ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आमतौर पर हुआ करते हैं उस तरह के राज-

नीतिज्ञ न वह थे, न हैं; वह राजनैतिक चालाकियों और पैंतरेबाजियों को नहीं जानते। वह तो एक ऊंचे और सीधे—शरीर और मन दोनों में—आदमी हैं। वह शोर-गुल और बकवास से नफरत करते हैं। वह हिन्दुस्तान की आजादी के ढांचे के अन्दर अपने सीमा-प्रान्तीय लोगों के लिए भी आजादी चाहते हैं मगर विधानों और कानूनी बातों के बारे में उनका दिमाग सुलझा हुआ नहीं है और न उनमें उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज को पाने के लिए जोरदार काम की जरूरत है, और गांधीजी ने ऐसे शांतिपूर्ण काम का एक बढ़िया तरीका, जो उन्हें जंच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस में न पड़ते हुए, और अपने संगठन के लिए कायदों के मसविदे के फेर में न पड़कर, उन्होंने सीधा संगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमें उन्हें खूब कामयाबी मिली।

गांधीजी की तरफ उनका रुझान खासतौर पर हो गया। पहले तो अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीले स्वभाव के कारण वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद में कई मामलों पर बहस करने के लिए उन्हें उनसे मिलना पड़ा, और उनका ताल्लुक बढ़ा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पठान ने अहिंसा को उसूलन हममें से कई लोगों की बनिस्बत ज्यादा कैसे मान लिया? और चूंकि उनका अहिंसा पर पक्का यकीन था, इसी कारण वह अपने लोगों को समझा सके कि उभाड़े जाने पर भी शान्ति रखने का बड़ा भारी महत्त्व है। यह कहना तो बिलकुल गलत ही होगा कि सीमा-प्रांत के लोगों ने कभी भी या छोटी भी हिंसा करने का विचार पूरी तरह से छोड़ दिया है, जैसा कि किसी भी प्रांत के लोगों के बारे में आमतौर पर यह कहना बिलकुल गलत होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरों में बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ खड़ी हो तब वह क्या करेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर काबू और जब्त रखने की जो मिसाल सीमा-प्रांत के लोगों ने १९३० में और बाद के बरसों में पेश की थी वह विलक्षण ही थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सरहदी गांधी' को शक की निगाह से देखते हैं। वे उनकी बातों का यकीन नहीं करते। उन्हें उनमें कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखाई देता है। मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमा-प्रांत के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के बहुत नजदीक आगये हैं, और उनके बीच में गहरा भाईचारा

श्रौर परस्पर श्रादर का भाव पैदा हो गया है। खान श्रब्दुलगफ्फार खां को कांग्रेस के लोग कई बरस से जानते श्रौर चाहते हैं। मगर वह महज एक साथी ही नहीं हैं, उससे कुछ ज्यादा हैं। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाकी हिस्सों मे लोग उनको एक बहादुर श्रौर निडर लोगों के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध में हमारे साथी हैं, साहस श्रौर बलिदान का प्रतीक समझने लगे हैं।

खान श्रब्दुलगफ्फार खां से पहचान होने के बहुत पहले ही से मैं उनके बड़े भाई डाक्टर खान साहब को जानता हूं। जब मैं केम्ब्रिज में पढ़ता था, तब वह लंदन के सेण्ट टॉमस श्रस्पताल में शिक्षा पाते थे, श्रौर बाद में जब मैं इनर टेम्पल के कानूनी विद्यालय में पढ़ता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गई थी। जब मैं लन्दन में रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम श्रापस में न मिलते हों। मैं तो हिन्दुस्तान चला श्राया, मगर वह इग्लैण्ड में ही रह गये श्रौर महायुद्ध के जमाने में डाक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसों तक वहीं रहे। इसके बाद मैंने उन्हें नैनी-जेल में देखा।

सीमा-प्रांत के लालकुर्तीवालों ने कांग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका श्रपना संगठन श्रलग ही था। यह एक विचित्र हालत थी। दोनों को जोड़नेवाली कड़ी तो श्रब्दुलगफ्फार खां थे। १९३१ की गर्मियों में इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमा-प्रांत के नेताश्रों की सलाह से यह तय किया कि लाल-कुर्तीवालों को कांग्रेस का ही श्रंग बना लिया जाय श्रौर इस तरह वे कांग्रेस के एक जुज बन गये।

गांधीजी की इच्छा कराची-कांग्रेस के बाद फौरन सीमा-प्रान्त में जाने की थी, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनों में जब सरकारी श्रधिकारियों ने लालकुर्ती-दल की कारंवाइयों की शिकायत की, तो उन्होंने जोर दिया कि उनको वहां इन बातों का खुद पता लगाने के लिए जाने की इजाजत दी जाय, मगर उन्हें नहीं जाने दिया गया। न वहां मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझौते को देखते हुए, हमने यह ठीक नहीं समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त में जांय।

इन सवालों के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक श्रौर मसला था —सांप्र-दायिक। यह कोई नई समस्या न थी, हालांकि बार-बार यह नई श्रौर श्रजीब शक्ल में सामने श्राती थी। गोलमेज-कांफ्रेंस के सबब से इसे श्रौर भी महत्त्व

मिल गया । क्योंकि यह तो जाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओं को इससे कम महत्त्व देगी । इस कान्फ्रेंस के मेम्बर, जोकि सभी सरकार के नामजद किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि जिससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्त्व दिया जा सके । सरकार ने खासतौर पर, और जोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानों के किसी भी नेता को नामजद करने से ही इन्कार कर दिया । गांधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश-सरकार के कहने से कान्फ्रेंस बिलकुल शुरू में ही साम्प्रदायिक सवाल में ही उलझ गई, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर काफी विचार न हो सकेगा । इस परिस्थिति में उनके लन्दन जाने से कोई फायदा न होगा । इसलिए उन्होंने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जबकि सब सम्बन्धित दलों के बीच साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय । उनकी यह सहज-बुद्धि बिलकुल ठीक थी, मगर कमेटी ने यह बात न मानी, और यह फैसला किया कि सिर्फ इसी आधार पर कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नहीं कर पाये हैं, उन्हें जाने से इन्कार न करना चाहिए । कमेटी ने विविध सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की सलाह से इस समस्या का हल ढूंढ़ने की कोशिश भी की । मगर इसमें ज्यादा कामयाबी न मिली ।

१९३१ की गर्मियों में, छोटे-मोटे कई मसलों के अलावा, यही कुछ बड़े प्रश्न हमारे सामने थे । सारे देश की स्थानीय कांग्रेस-कमेटियों से हमारे पास बराबर शिकायतें आ रही थीं कि स्थानीय अफसरों ने फलां-फलां बात में दिल्ली के समझौते को तोड़ दिया है । हमने उनमें से कुछ-कुछ बड़ी शिकायतें सरकार के पास भी भेज दीं, और उधर सरकार ने भी कांग्रेसवालों के खिलाफ समझौता तोड़ने के अपराध लगाये । इस तरह एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप किये गये, और बाद में वे अखबारों में भी छाप दिये गये । यह कहने की जरूरत नहीं है कि इससे भी कांग्रेस और सरकार के सम्बन्ध सुधरे नहीं ।

फिर भी, इन छोटे-छोटे कई मसलों के सम्बन्ध में संघर्ष खुद कोई बड़ा महत्त्व नहीं रखता था । इसका महत्त्व यही था कि इससे एक-दूसरे बड़े और मौलिक संघर्ष के बढ़ने का पता लगता था । यह मौलिक संघर्ष व्यक्तियों पर निर्भर नहीं करता था, बल्कि हमारे राष्ट्रीय संग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामों

की आर्थिक व्यवस्था में असामंजस्य होने के कारण उत्पन्न हुआ था। इस संघर्ष को बिना बुनियादी परिवर्तन किये मिटाना या कम करना मुमकिन नहीं था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल में इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गों में अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड़ में राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम वर्गों म फैल गया, और देश में एक ताकत बन गया; और फिर उसने देहात के लोगों को भी उठाना शुरू किया, जिन्हें आमतौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह कायम रख सकें। पुराने जमाने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनसे जमीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद हो गये थे; कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण कि वे मशीनों के व्यवसायों का मुकाबला नहीं कर सके। जमीन का बोझ बढ़ने लगा, और हिन्दुस्तान के कारखानों की तरक्की इतनी धीमी हुई कि वह इसमें कुछ फर्क न कर सकी। और फिर ये गांव, जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझों से लदे हुए थे, और सहसा संसार के बाजारों के मुकाबले में डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे थे, बराबरी के नाते से विदेशों का मुकाबला कर नहीं सकते थे। उनकी उत्पत्ति के औजार पुराने ढंग के थे, और जमीन के बंटवारे का तरीका उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटते जाते थे। कोई भी अमूल्य सुधार होना नामुमकिन था। इसलिए कृषि करनेवाले वर्ग—जमींदार और काश्तकार दोनों ही—सिवा उन दिनों के जबकि भाव बहुत ऊंचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। जमींदारों ने अपने बोझ को काश्तकारों पर उतारने की कोशिश की, और किसानों के, छोटे जमीन-मालिकों और काश्तकारों दोनों ही के, मुफलिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आंदोलन की तरफ खिंच आये। खेतिहर-मजदूर भी, अर्थात् देहातों के ऐसे लोग जिनके पास जमीन नहीं थी और जिनकी तादाद बड़ी थी, इस तरफ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गों के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज' का मतलब यही था कि जमीन के बंटवारे की प्रणाली में मौलिक परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय और भूमिहीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़े हुए किसानों या मध्यम-वर्गीय नेताओं में किसी ने भी

इनकी इच्छाओं को साफ तौर पर जाहिर नहीं किया।

१९३० का सविनय-भंग आन्दोलन, उद्योग-धन्धों और कृषि की बड़ी संसार-व्यापी मन्दी के बिलकुल मुआफिक बैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओं को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज्यादा पड़ा था, इसलिए वे भी कांग्रेस और सविनय-भंग की तरफ झुक पड़े। उनका यह लक्ष्य नहीं था कि लन्दन में या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय, मगर उनका लक्ष्य, खासकर जमींदारी इलाके में, यह था कि भूमि-प्रथा में बुनियादी तब्दीली की जाय। वास्तव में यह मालूम होने लगा कि जमींदारी तरीका अब इस जमाने के लिए पुराना पड़ गया है, और उसमें कोई स्थिरता बाकी नहीं रही है। मगर ब्रिटिश सरकार, अपनी मौजूदा परिस्थिति में, इस भूमि-प्रणाली में कोई बुनियादी तब्दीली करने की हिम्मत नहीं दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुकर्रर किया था, तब भी उसके निर्देशों में जमीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्तन पर विचार करने की मनाही कर दी गई थी।

इस तरह, उस समय संघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति में ही छिपा था, और वह किसी प्रकार के लुभावने शब्दों या समझौते से दूर नहीं किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नों के अलावा जमीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह संघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार की मार्फत निकले, इसकी कोई सम्भावना न थी। अस्थायी इलाजों से बीमारी चाहे थोड़ी देर के लिए कम हो सके, और सख्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इजहार करना बन्द कर दें, मगर दोनों बातों से सवाल का हल नहीं निकल सकता था।

मगर, मैं समझता हूं कि, ज्यादातर सरकारों की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी यह खयाल है कि हिन्दुस्तान में ज्यादा गड़बड़ 'आन्दोलनकारियों' के कारण है। मगर यह बिलकुल ही गलत खयाल है। पिछले पन्द्रह बरसों से हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नेता तो रहा है, जिसने अपने करोड़ों देशवासियों का स्नेह, श्रद्धा और भक्ति पाई है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण तो वे आम लोग ही रहे हैं जो उसके आदेशों को मानो आंख बन्द करके मानते रहे हैं। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और

उनके पीछे, उन्हें आगे धकेलने वाली, बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक प्रेरणाएं थीं, जिन्होंने लोगों को तैयार कर दिया और अपने नेता की आवाज सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओं के अभाव में, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हें कोई भी काम करने की स्फूर्ति नहीं दे सकते थे। गांधीजी में नेतृत्व का यही खास गुण था कि वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगों की नब्ज पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और काम के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० में हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की बढ़ती हुई सामाजिक शक्तियों के भी अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बड़ी ताकत मिल गई। उसमें वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानो वह सचमुच इतिहास के साथ कदम-ब-कदम आगे बढ़ रहा है। कांग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने से मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ़ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज, कुछ जबान से न बयान किया जाने-जैसा तो था, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ मौजूद था ही। निःसन्देह किसान लोग कांग्रेस की तरफ झुके, और उन्होंने ही उसकी असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मजबूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कांग्रेस से दोस्ती बनाये रखने में ही ज्यादा भलाई देखी। ज्यादातर सूती मिलों ने कांग्रेस के बनाये इकरारनामों पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगीं जिनसे कांग्रेस उनसे नाराज हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन में बैठे पहली गोलमेज-कान्फ्रेंस में भले-भले कानूनी प्रश्नों पर बातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था कि आम लोगों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताकत चली जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढ़ता ही रहा; किन्हीं अभिमान-भरे भाषणों के कारण नहीं, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओं के कारण। इसमें शक नहीं कि शायद कांग्रेस के नेताओं को ही सबसे ज्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयां और खतरे आनेवाले हैं, इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होंने पूरी फिक्र रक्खी।

देश में बढ़नेवाली बराबर की दो समान सत्ताओं की हस्ती का अस्पष्ट भान कुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभनेवाला था। असल में, इस धारणा के

लिए कोई असली बुनियाद तो थी नहीं; क्योंकि दृश्य सत्ता तो सोलहों आना सरकारी अधिकारियों के हाथ में ही थी; फिर भी लोगों के दिमागों में दो समान सत्ताओं के अस्तित्व का भान था, इसमें तो शक ही नहीं है। सत्तावादी और अपरिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गए, न कि गांवों के कुछ ऐसे-वैसे भाषणों या जलूसों से, जिनकी कि उन्होंने बाद में शिकायत की। इसलिए संघर्ष होना लाजमी दीखने लगा। कांग्रेस अपनी खुशी से आत्मघात नहीं कर सकती थी, और सरकार भी इस दुहरी सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नहीं कर सकती थी, और कांग्रेस को कुचल डालने पर तुली हुई थी। यह संघर्ष दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेंस के कारण रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गांधीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहांतक हो सके कोई भी ऐसा काम नहीं करती थी जिसमें उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इतने पर भी संघर्ष की भावना बढ़ती ही गई, और हमें दीखने लगा कि सरकार का रुख सख्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड इर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन वाइसराय बनकर आये। यह खबर फैलने लगी कि नया वाइसराय बड़ा सख्त आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करने वाला नहीं है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषों में, लिबरलों की तरह राजनीति का विचार सिद्धान्तों की दृष्टि से न करके व्यक्तियोंकी दृष्टि से करने की आदत हो गई है। वे यह नहीं समझते थे कि ब्रिटिश-सरकार की सामान्य साम्राज्यवादी नीति वाइसरायों की व्यक्तिगत रायों पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए वाइसरायों के बदल जाने से कोई फर्क नहीं पड़ा, न पड़ सकता था। मगर, व्यवहार में यह हुआ कि परिस्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियों को कांग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नहीं थी। शासन के सम्बन्ध में उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणाएं इसके खिलाफ थीं। उनके दिमाग में यह खयाल था कि उन्होंने गांधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्ताव करके कांग्रेस के प्रभाव और गांधीजी के रुतबे को बढ़ा दिया है, और अब यह वक्त है कि जब उनको थोड़ा-सा नीचा दिखाया जाय। यह खयाल बड़ी बेवकूफी का था; मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विसमें विचारों की मौलि-

कता तो कभी मानी ही नहीं गई है। खैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख्ती से तन गई और उसने अपना पंजा और भी मजबूती से जमाया, और पुराने पैगम्बर के शब्दों में मानो उसने हमसे कहा कि "मेरी छोटी अंगुली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है; उसने तुम्हें कोड़े लगवाये थे, तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊंगा।"

मगर अभी तोबा कराने का वक्त नहीं आया था। अभी तो यही जरूरी समझा गया कि अगर मुमकिन हो तो, कांग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेंस में जरूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियों से लम्बी-लम्बी बात-चीत करने के लिए गांधीजी दो बार शिमला गये। उन्होंने उस समय के मौजूदा कई सवालों पर बात-चीत की, और बंगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पड़ता था, खासकर सीमा-प्रान्त के लालकुर्ती-दल-आन्दोलन और युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति इन दो विषयों पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुला लिया था, और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौके मिले। मैं सिर्फ युक्तप्रान्त के बारे में ही बातचीत करता था। बड़ी साफ-साफ बातें हुई, और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थीं उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया कि फरवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के आन्दोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था।

---

[1]ये शब्द बाइबिल के पुराने अहदनामे (१ किंग्ज, १२-१०) से लिये गये हैं। ये शब्द पैगम्बर के नहीं हैं, बल्कि प्राचीन यहूदी बादशाह के सलाहकार के हैं। सुलेमान बादशाह का लड़का जब गद्दी पर बैठा तो प्रजा ने उससे जाकर प्रार्थना की—"हम आपके वफादार हैं, आपके वालिद के जमाने में जो जुआ हमारे कन्धे पर था उसे बराय मेहरबानी हलका कर दीजिए।" बादशाह के पिता के वृद्ध सलाहकारों ने सलाह दी कि यह बात मंजूर कर लेनी चाहिये। मगर उसके युवक सलाहकारों ने कहा कि ये लोग यों सीधे न होंगे। इनसे आप कहिए—"मेरे बाप की कमर से मेरी छोटी अंगुली भी ज्यादा मोटी है। मेरे पिता के समय जुआ भारी था तो मैं उसे और भारी कर दूंगा। उन्होंने तुम्हें कोड़े लगवाये थे तो मैं तुम्हें बिच्छू से कटवाऊंगा।" —अनु०

और उसे चालू कर देने की, केवल बटन दबा देने भर की, आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस में मिलकर समझौता कर लेना शायद अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और पल-भर में दबाया जा सकता था और इसमें यह भी इशारा मालूम होता था कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी नम्रता से और साफ-साफ कही गई थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे सारे प्रयत्नोंके बावजूद, और हम चाहे कुछ भी कहें या करें, संघर्ष होना तो लाजिमी था।

एक दूसरे ऊंचे अधिकारी ने कांग्रेस की तारीफ भी की। उस वक्त हम ज्यादा व्यापक अ-राजनैतिक ढंग की समस्याओं पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि, राजनीति के सवाल को छोड़ दें तो भी कांग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी सेवा की है। हिन्दुस्तानियों के खिलाफ आमतौर पर यह इलजाम लगाया जाता है कि वे अच्छे संगठनकर्ता नहीं हैं, मगर १९३० में कांग्रेस ने भारी कठिनाइयों और विरोध के होते हुए भी एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।

जहांतक गोलमेज-कान्फ्रेन्स में जाने का सवाल था, गांधीजी की पहली शिमला-यात्रा[१] का कोई नतीजा न निकला। दूसरी यात्रा[२] अगस्त के अख़ीरी हफ्ते में हुई। जाने या न जाने का आखिरी फैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमा-प्रान्त में और युक्तप्रान्त में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नहीं चाहते थे। अन्त में[३] एक तरह का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य

[१-२-३] समझौते के बाद सन्धि-भंग के बारे में तीन बार गांधीजी शिमला गये थे—दुबारा लन्दन जाने के निश्चय के बाद गांधीजी ने शिमला जाने का निश्चय किया। समझौते की शर्तें तोड़ी जा रही थीं, मगर शर्तें तोड़ी गईं या नहीं इसका फैसला करनेवाली कोई निष्पक्ष अदालत तो थी नहीं। गांधीजी यह चाहते थे कि यदि शर्तें तोड़ी गई हों तो उनका परिमार्जन किया जाय, या ऐसी कोई अदालत नियुक्त की जाय। समझौते की शर्तों के खिलाफ युक्तप्रान्त और बारडोली में कर वसूल

और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आखिरी घड़ी में किया गया, ताकि वह उस जहाज से जा सकें जिसमें गोलमेज-कान्फ्रेंस के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव में यह, एक तरह से बिल्कुल ही अखीरी घड़ी में हुआ था, क्योंकि अखीरी ट्रेन छूट चुकी थी, शिमला से कालका तक---एक स्पेशल ट्रेन तैयार कराई गई, और कालका से छूटनेवाली गाड़ी पकड़ने के लिए दूसरी गाड़ियां रोक दी गईं।

मैं उनके साथ शिमले से बम्बई तक गया। और वहां अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हें विदाई दी, और वह अरब के समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ बढ़ चले। अगले दो साल तक के लिए मेरे लिए उनके ये अन्तिम दर्शन थे।

किया जा रहा था। दोनों जगह अन्याय और आत्याचार की घटनाएं हुई थीं। आखिरकार तीसरी बार की शिमला-यात्रा में सरकार ने बारडोली के अत्याचारों की जांच के लिए एक कमेटी मुकर्रर की और आगे के लिए कांग्रेस को यह छूट दे दी कि जहां कहीं ऐसी घटनाएं हों वहां वह उसका प्रतिकार करे। —अनु०

३८

दूसरी गोलमेज-परिषद्

एक अंग्रेज पत्रकार ने हाल ही में एक किताब लिखी है और उसका दावा है कि उसने गाधीजी को हिन्दुस्तान में और लन्दन में गोलमेज-परिषद् में बहुत काफी देखा है । अपनी किताब में उसने लिखा है—

"मुलतान नाम के जहाज में जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गांधीजी के खिलाफ कार्य-समिति के भीतर एक साजिश की गई है और वे यह भी जानते थे कि वक्त आते ही कांग्रेस उन्हें निकाल फेंकेगी । लेकिन कांग्रेस गांधीजी को निकालकर गालिबन अपने आधे के करीब मेम्बरों को निकाल देगी । इन आधे मेम्बरों को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब लिबरल-पार्टी में मिला लेना चाहते थे । वे इस बात को कभी नहीं छिपाते थे । उन्हींके शब्दों में गांधीजी का दिमाग साफ नहीं है, लेकिन अगर कोई मट्ठर दिमाग वाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठर दिमाग वाले अनयायी आपको दे तो उनको अपनी तरफ करना अच्छा ही है ।"[1]

---

[1] ग्लोर्नी बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उद्धरण मैंने उस किताबकी एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को पढ़ने का मौका अभीतक नहीं मिल पाया है । मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब के लेखक या जिन लोगों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूं ।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली । मि० बोल्टन के बहुत-से बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार से बिलकुल बेबुनियाद हैं । इसके अलावा कई वाकयात भी गलत दिये गए हैं, खासकर कमेटी ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया इस सम्बन्धी बातें । उन्होंने एक अजीब बात यह भी मानली है कि १९३१ में सरदार

मुझे पता नहीं कि इस उद्धरण में जो बातें कही गई हैं वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर साहब या गोलमेज-कान्फ्रेंस के दूसरे मेम्बरों के विचारों को, जो सन् १९३१ में लन्दन जा रहे थे, कहां तक प्रकट करती हैं ? लेकिन मुझे यह बात जरूर आश्चर्यजनक मालूम होती है कि हिन्दुस्तान की राजनीति से थोड़ी-सी जानकारी रखने वाला कोई शख्स, फिर वह चाहे पत्रकार हो या नेता, इस तरह की बात कह सकता है ! मैं तो उसे पढ़कर दंग रह गया, क्योंकि इससे पहले मैंने किसी को इशारे में भी इस तरह की बात कहते हुए नहीं सुना। लेकिन इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो समझ में न आये, क्योंकि तभी से मैं ज्यादातर जेल में रह रहा हूं।

वल्लभभाई पटेल को कांग्रेस का सभापतित्व और उसका नेतृत्व गांधीजी की प्रतिस्पर्धा में मिला, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस में और निस्सन्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती कांग्रेस के किसी भी अध्यक्ष से कहीं ज्यादा बड़ी हस्ती रही है। वह सभापति बनाने वाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मानी है। उन्होंने खुद बार-बार अध्यक्ष होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके कुछ साथी और सहायक सदारत करें। मैं तो कांग्रेस का सभापति महज उन्हीं की बदौलत हुआ। वास्तव में वह चुन लिये गये थे लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर जबरदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीके से नहीं हुआ। हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभी तक कांग्रेस-कमेटियां गैरकानूनी जमातें थीं। वे मामूली तरीकों पर काम नहीं कर सकती थीं इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत सारी कमेटी ने गांधीजी से प्रार्थना की कि वह सभापतित्व मंजूर कर लें और इस तरह जहां वह कांग्रेस के असली प्रधान हैं वहां पद के द्वारा भी प्रधान हो जांय; खासकर आगामी नाजुक साल के लिए। लेकिन वह राजी नहीं हुए और इस बात पर जोर देते रहे कि वल्लभभाई को सभापतित्व मंजूर कर लेना चाहिए। मुझे याद है कि उस वक्त उनसे यह कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोड़े वक्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी बहुत-सी वाहियात बातों

तो ये साजिश करनेवाले शख्स कौन हैं और इनका मकसद क्या है? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मैं कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरों में सबसे ज्यादा गरम स्वभाव के हैं, और मेरा ख्याल है, इसलिए, साजिश के नेताओं में हम लोगों की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गांधीजी का वल्लभभाई से ज्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर में दूसरा कोई न होगा। अपने काम में वह कितने ही कड़े और मजबूत क्यों न हों, लेकिन गांधीजी के आदर्शों, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। मैं जरूर इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शों को माना है, लेकिन मुझे बहुत नजदीक रहकर गांधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खिलाफ साजिश करने का खयाल ही कमीना

का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ जाती-सा है, मैं जरूर कुछ कहना पसन्द करूंगा। उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है, और एक इसी बात से न सिर्फ वह उग्र तरीकों के ही हामी हो गये; बल्कि अंग्रेजों की सोसाइटी से भी वह दूर रहने लगे। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, कतई गलत है। असली घटना की कोई खास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मैं उन्हें यहां दिये देता हूं। वकालत के शुरू के दिनों में पिताजी को सर जान एज बहुत चाहते थे। वह उन दिनों इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे। सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जांय। उन्होंने कहा, मैं खुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूंगा। पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा जरूर होगा, क्योंकि बहुत-से अंग्रेज मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से एतराज करेंगे और मुमकिन है कि मेरे खिलाफ वोट दें। कोई भी मामूली अफसर इस तरह मेरा नाम रद करा सकेगा, और ऐसी हालत में मैं चुनाव के झगड़े में पड़ना नहीं पसन्द करूंगा। इसपर सर जान ने यह भी कहा कि मैं इलाहाबाद क्षेत्र की फौज के कमाण्डर ब्रिगेडियर जनरल से आपके नाम का अनुमोदन करा दूंगा। लेकिन आखीर में यह खयाल छोड़ दिया

है। सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी मेम्बरों के बारे में यही बात सही है। वह कमेटी असल में गांधीजी की बनाई हुई थी। आपने कुछ साथियों के सलाह-मशविरे से उन्होंने इस कमेटी को नामजद किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गई थी। कमेटी के ज्यादातर मेम्बर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमें बरसों से रह रहे थे; करीब-करीब उसके हमेशा मेम्बर खयाल किये जाते थे। उनमें राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टिकोण का मतभेद था; और सालों तक एकसाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते-करते तथा एकसे खतरों का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिल मिल गये थे। उनमें आपस में दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे 'संयुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक-शरीर थे और उनमें से किसीकी बाबत यह सोचा तक नहीं जा सकता कि वह दूसरों के खिलाफ साजिश करेगा। कमेटी में गांधीजी की चलती थी और सब लोग नेतृत्व के लिए उन्हींकी तरफ देखते थे। कई सालों से यही होता आ रहा था और सन् १९३० और उसके बाद १९३१ में हमारी लड़ाई को जो बड़ी कामयाबी मिली थी उसमें तो यह बात और भी ज्यादा बढ़ गई थी। कार्य-समिति के गरम खयाल के मेम्बरों को उन्हें निकालने की कोशिश करने में क्या मकसद

गया। मेरे पिताजी का नाम क्लब में नहीं पेश किया गया; क्योंकि उन्होंने यह बात साफ कर दी कि मैं बेइज्जती का खतरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूं। इस घटना की बदौलत वह अंग्रेजों के खिलाफ होने के बजाय सर जान एज के एहसानमन्द बन गये और उसके बाद के सालों में ही बहुत-से अंग्रेजों से उनकी दोस्ती तथा मेल-मुहब्बत पैदा हुई। और यह सब तो हुआ १८९० से १८९९ के दरमियान, और पिताजी इसके कोई पच्चीस वर्ष बाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी बने। उनकी यह तबदीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पंजाब के फौजी कानून ने इस स्थिति को जल्दी ला दिया। और ऐन मौके पर पड़े गांधीजी के असर ने तो हालत बहुत ही बदल दी। इतने पर भी अंग्रेजों से मिलना-जुलना छोड़ने का---उनसे संबंध छोड़ने का उनका कोई इरादा नहीं था। लेकिन जहां ज्यादातर अंग्रेज अफसर हों वहां असहयोग और सविनय-भंग के कारण लाजिमी तौर पर मिलना-जुलना बन्द हो जाता है।

हो सकता था? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हें जल्दी समझौता करने के लिए राजी हो जानेवाला और इसलिए एक किस्म का बोझा समझा जाता हो। लेकिन उनके बिना लड़ाई का क्या होता ? असहयोग और सत्याग्रह का क्या होता ? वह तो इस जीवित आन्दोलन के अंग थे । बल्कि सच बात तो यह है कि वह खुद ही आन्दोलन थे। जहांतक उस लड़ाई से ताल्लुक है, सब कुछ उन्हीं पर निर्भर था। यह ठीक है कि यह राष्ट्रीय लड़ाई उनकी ही पैदा की हुई नहीं थी, न वह किसी एक शख्स पर निर्भर ही थी। उसकी जड़ें इससे ज्यादा गहरी थीं। लेकिन लड़ाई का वह खास पहलू, जिसकी निशानी सविनय-भंग थी, खासतौर पर गांधीजी पर ही अवलम्बित था। उनके अलग होने के मानी थे इस आंदोलन को बन्द करना और नई नींव पर नये सिरे से इमारत खड़ी करना। यह काम किसी भी वक्त काफी मुश्किल साबित होता; लेकिन १९३१ में तो कोई उसका खयाल भी नहीं कर सकता था।

यह खयाल बड़ा ही मजेदार है कि कुछ लोगों की राय में हम कुछ लोग १९३१ में गांधीजी को कांग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको जरा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमें उनके खिलाफ साजिश करने की क्या जरूरत थी ? ज्योंही गांधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मैं कांग्रेस से अलग होना चाहता हूं त्योंही तमाम कार्य-समिति और दूसरे मुल्क में तहलका मच जाता था। वह हमारी लड़ाई के एक ऐसे अंग बन गये थे कि हम इस खयाल को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जांय । बल्कि हम लोग तो उन्हें लन्दन भेजने में भी हिचकिचाते थे, क्योंकि उनकी गैरहाजिरी में हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पड़ता था, और यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते । हम लोग उनके कन्धों पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति के मेम्बरों को ही नहीं, उससे बाहर के बहुत-से लोगों को भी जो बन्धन गांधीजी से बांधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक्त के लिए कुछ फायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गांधीजी का दिमाग साफ है या नहीं, इसका फैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तों के लिए ही छोड़ देते हैं। हां, यह बात बिलकुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है जो मुश्किल से समझ में आती है। लेकिन

उन्होंने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर हैं, उनमें आश्चर्यजनक साहस है और
वह एक ऐसे शख्स हैं जो अक्सर अपनी जिम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते
हैं। और अगर 'दिमाग के साफ न होने' से इतने व्यावहारिक नतीजे निकलते
हैं, तो शायद वह उस व्यावहारिक राजनीति के मुकाबले बुरा साबित न होगा,
जिसकी शुरुआत और जिसका खात्मा स्टडी-रूमों और ऊंचे हलकों में ही हो
जाता है। यह सच है कि उनके करोड़ों अनुयायियों का दिमाग साफ नहीं था।
वे राजनैतिक और शासन-विधानों की बाबत कुछ नहीं जानते । वे तो सिर्फ
अपनी इन्सानी जरूरतों, खाना, घर, कपड़ों और जमीन की बातें ही सोच
सकते हैं।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि मानव प्रकृति को देखने
की विद्या को भली-भांति सीखे हुए नामी विलायती पत्रकार किस तरह हिन्दुस्तान
के मामलों में गलती कर जाते हैं। क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा
की वजह से है कि 'पूर्व तो' बिलकुल दूसरी चीज है। उसको आप मामूली पैमानों
से नहीं नाप सकते ?' या, अंग्रेजों के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग
है, जो उनकी आंखों को खराब कर देता है? कोई चीज कैसी भी अनहोनी क्यों
न हो, उसपर वे करीब-करीब फौरन ही इत्मीनान कर लेंगे, बिना किसी तरह का
अचम्भा किये, क्योंकि वे समझते हैं कि रहस्य-भरे पूर्व में हर बात मुमकिन हो
सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबें छापते हैं, जिनमें काफी योग्यतापूर्ण निरी-
क्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच में विल-
क्षण गलतियां भी होती हैं।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ में यूरप रवाना हुए तब, उसके बाद
फौरन ही, मैंने पेरिस के एक प्रसिद्ध संवाददाता का एक लेख पढ़ा था । उन
दिनों वह लन्दन के एक अखबार का संवाददाता था। उसका वह लेख हिन्दुस्तान के
बारे में था। उस लेख में एक ऐसी घटना का जिक्र था जो उसके कहने के मुताबिक
१९२१ में उस वक्त हुई जब असहयोग के दौरान मे प्रिंस ऑफ वेल्स ने यहां दौरा
किया था। उस में कहा गया था कि किसी जगह (शायद वह देहली थी),
महात्मा गांधी एकाएक, जैसे नाटक में होता है, बिना इत्तिला के ही, युवराज
के सामने जा पहुंचे और उन्होंने अपने घुटने टेककर युवराज के पैर पकड़ लिये
और ढाड़ मार-मारकर रोते हुए उनसे विनती की कि इस अभागे देश को शान्ति

दीजिए। हम किसीने, गांधीजी ने भी, यह मजेदार कहानी कभी नहीं सुनी। इसलिए मैंने उस पत्रकार को एक खत लिखा।[1] उसने अफसोस जाहिर किया, लेकिन साथ में यह भी लिखा कि मैंने यह कहानी बड़े विश्वस्त सूत्र से सुनी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जांच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर इत्मीनान कर लिया जो जाहिरा तौर पर बिलकुल गैरमुमकिन थी और जिसका कोई भी शख्स, जो गांधीजी, कांग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे में कुछ भी जानता था, इत्मीनान नहीं कर सकता था। बदकिस्मती से यह बात सही है कि हिन्दुस्तान में बहुत-से ऐसे अंग्रेज हैं जो यहां बहुत दिनों तक रहने के बाद भी कांग्रेस या गांधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नहीं जानते। कहानी कतई इत्मीनान के काबिल नहीं थी। वह बिलकुल बेहूदा थी, उतनी ही बेहूदा जितनी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बड़े पादरी साहब एकाएक मुसोलिनी के सामने जा पहुंचे और सिर के बल खड़े होकर, हवा में अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हाल ही में एक अखबार में जो रिपोर्ट छपी है उसमें एक दूसरी किस्म की कहानी दी हुई है। उसमें कहा गया है कि गांधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड़ होगी। वह उनके दोस्तों के पास छिपी रक्खी है। कांग्रेस उस रुपये को हड़पना चाहती है। कांग्रेस को डर है कि अगर गांधीजी कांग्रेस से अलहदा हो जायंगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी भी सरासर बेहूदा है, क्योंकि गांधीजी कभी किसी फण्ड को न अपने पास रखते हैं और न छिपाकर रखते हैं। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते हैं, उसे सार्वजनिक संस्थाओं को दे देते हैं। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले में उनमें बनियों की-सी सहज बुद्धि है, और उन्होंने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया है।

कांग्रेस ने सन् १९२१ में एक करोड़ का जो मशहूर चन्दा किया था, यह अफवाह शायद उसीकी कहानी पर आधार रखती है। यह रकम वैसे तो बहुत बड़ी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलाई जाय तो ज्यादा

---

[1] यह पत्रकार हैं 'डेली हेरल्ड' के प्रतिनिधि श्री स्लोकोम्ब। गांधीजी जब विलायत गये तब फ्रान्स में वह उनसे मिले थे और उन्होंने गांधीजी से कुबूल किया था कि यह बात बिलकुल मनगढ़न्त थी और उसके लिए माफी भी मांगी थी। अनु०

नहीं मालूम होगी। इस रकम को इस्तेमाल भी विश्वविद्यालय और स्कूल कायम करने,घरेलू धन्धों को तरक्की देने और खासतौर पर खद्दर की तरक्की के लिए, अछूतपन मिटाने के कार्यों में तथा ऐसे ही दूसरी तरह के रचनात्मक कार्यों में किया गया था। उसमें से काफी तादाद खास-खास स्कीमों के लिए तय कर दी गई थी। फण्ड अबतक मौजूद है और जिन खास कार्यों के लिए वे तय किये गये थे उन्हींमें लगाये जा रहे हैं। बाकी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह स्थानीय कमेटियों के पास छोड़ दिया गया था और वह कांग्रेस के संगठन के काम में तथा राजनैतिक कामों में खर्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था और कुछ साल बाद तक कांग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गांधीजी ने और मुल्क की गरीबी ने हमें यह सिखा दिया है कि बहुत थोड़े-से रुपयों से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए। हमारा ज्यादातर काम तो लोगों ने अपनी खुशी से बिना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पड़ा है, तो सिर्फ उतना ही जितना पेट भरने को काफी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्यकर्त्ताओं को,जो विश्व-विद्यालयों के ग्रेजुएट हैं और जिन्हें अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख्वाहें दी गईं वे उस भत्ते से भी कम हैं जो इंग्लैण्ड में बेकारों को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालों के दौरान में कांग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मजदूरों का आन्दोलन, मुझे शक है कि, किसी भी मुल्क में शायद ही चलाया गया हो। और कांग्रेस के तमाम फण्ड और उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल आडिट होता रहा है,उनका कोई हिस्सा गुप्त नहीं है। हां, उन दिनों की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लड़ाई चल रही थी और कांग्रेस गैर-कानूनी जमात थी।

गांधीजी गोलमेज-परिषद् में शामिल होने के लिए कांग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। बड़ी लम्बी बहस के बाद हम लोगों ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की जरूरत नहीं। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गई कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाजुक वक्त में अपने सब अच्छे आदमियों को हिन्दुस्तान में ही रक्खें। उन दिनों हालात को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख्त जरूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन में गोलमेज-कान्फ्रेंस होने के बाद बावजूद आकर्षण का केन्द्र

तो हिन्दुस्तान में ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा लन्दन में उसकी प्रतिध्वनि जरूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क में कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखें और अपने संगठन को ठीक हालत में बनाये रक्खें। लेकिन सिर्फ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना जरूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे लेकिन हम लोगों ने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया।

हम गोलमेज-कान्फ्रेंस में इसलिए शामिल नहीं हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातों पर ऐसी बातें और बहस करें जिनका कभी खात्मा ही न हो। उस अवस्था में हमें इन तफसीलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनपर तो तभी गौर किया जा सकता था जबकि खास-खास बुनियादी मामलों में ब्रिटिश-सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताकत सौंपी जाती है। यह बात तय हो जाने के बाद राजीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफसीलें तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातों पर कांग्रेस की स्थिति बहुत साफ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौका न था। हम लोगों को यह मालूम होता था कि हम लोगों के लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहां जाकर हमारी स्थिति साफ कर दे। यह बतावें कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसंगत है और किस तरह उसको मंजूर किये बिना गति नहीं है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राजी करलें कि वह कांग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत मुश्किल है, और उस वक्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिल्कुल ही सम्भव नहीं थी; लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ सकते थे। न हम उन उसूलों और आदर्शों को हां छोड़ सकते थे जिनसे हम बंधे हुए थे और जिनमें हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तकदीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातों में राजीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाकी बातें अपने-आप आसानी से तय हो जातीं। बल्कि सच बात तो यह है कि हम लोगों में आपस में यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राजीनामा हो जाय तो गांधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम

मेम्बरों को फौरन लन्दन बुला लेंगे, जिससे कि हम वहां जाकर समझौते की तफसील तय करने का काम कर सकें। हम लोगों को वहां जाने के लिए तैयार रहना था और जरूरत पड़ती तो हम लोग हवाई जहाजों में उड़कर भी जाते। इस तरह हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुंच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातों में शुरू में कोई समझौता नहीं होता, तो आगे और तफसील में, समझौते की बातें करने का सवाल ही नहीं पैदा होता। न कांग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियों को गोलमेज-कान्फ्रेंस में जाने की कोई जरूरत पड़ती। इसीलिए हमने सिर्फ गांधीजी को ही वहां भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज-कान्फ्रेंस में शामिल हुईं, लेकिन वह वहां कांग्रेस के प्रतिनिधि होकर नहीं गई थीं। उनको तो वहां हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था और कार्य-समिति ने उन्हें इजाजत दी थी कि वह इस हैसियत से उस कान्फ्रेंस में शामिल हो सकती हैं।

लेकिन ब्रिटिश-सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले में वह हमारी मर्जी के मुताबिक काम करे। उसकी कार्य-पद्धति तो यह थी कि परिषद् गौण और बेमतलब की छोटी-छोटी बातों पर चर्चा करके थक जाय। तबतक मूल और असली सवालों पर विचार करने का काम टलता रहे। जब कभी बड़े-बड़े सवालों पर गौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हां या ना करने से साफ इन्कार कर दिया और सिर्फ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल में उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया। कान्फ्रेंस में इसी सवाल का बोलबाला था।

कान्फ्रेंस के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालों के जाल में फंस गये। ज्यादा तो राजी खुशी से और कुछ थोड़े-से मजबूरी से। कान्फ्रेंस क्या थी, भानमती का पिटारा था। उसमें शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी काबिल थे और मुल्क में उनकी इज्जत भी थी, लेकिन बाकी बहुत-से लोगों की बाबत यह बात भी नहीं कही जा सकती थी। कुल मिलाकर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से वे हिन्दुस्तान में राजनैतिक उन्नति के सबसे ज्यादा विरोधी दलों के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल, जो

हिन्दुस्तान में बहुत ही माडरेट और फूंक-फूंककर कदम रखनेवाले माने जाते हैं, इनकी जमात में वही प्रगति के बड़े भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान में ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालों के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से बंधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो साम्प्रदायिक झगड़ों के सिलसिले में जो 'छोटी' और 'बड़ी' जातियां थीं उनके थे। ये टोलियां उन उच्च वर्गवालों की थीं जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस में कभी मिल ही नहीं सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे हर किस्म की प्रगति के एकदम विरोधी थे और उनकी दिलचस्पी केवल एक बात में थी कि किसी तरह अपने फिरके के लिए कुछ फायदे की बात हासिल करलें, फिर चाहे ऐसा करने में हमें अपनी राजनैतिक प्रगति को भी छोड़ना पड़ें। बल्कि सच बात तो यह है कि उन्होंने खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी साम्प्रदायिक मांगें पूरी नहीं की जांयगी, तबतक वे राजनैतिक आजादी लेने को राजी न होंगे। यह एक असाधारण दृश्य था और उससे हमें बड़े दुःख के साथ यह बात साफ-साफ दिखाई देती थी कि एक गुलाम कौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियों के खेल में किस तरह शतरंज का मोहरा बन सकती है। यह सही था। हाईनेसों, लार्डों, सरों और दूसरे बड़े-बड़े उपाधिधारी लोगों की उस भाड़ की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगों के प्रतिनिधि हैं। गोलमेज-कान्फ्रेंस के मेम्बर ब्रिटिश-सरकार के नामजद थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज यह बात कि ब्रिटिश अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तेमाल कर सकते हैं, यह दिखाती है कि हम लोगों में कितनी कमजोरियां हैं और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातों से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशों को बेकार करने के काम में लगाये जा सकते हैं। हमारे उच्च-वर्ग के लोग अभीतक हमारे साम्राज्यवादी शासकों की विचारधारा के असर में थे और वे उन्हीं का खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालों को समझ नहीं पाते थे? या वे उसके असली मानों को समझते हुए जान-बूझकर उसे इसलिए मंजूर कर लेते थे कि उन्हें हिन्दुस्तान में आजादी और लोकतन्त्र कायम होने से डर लगता था?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, मांडलिकवादी, महाजन, व्यवसाय,

और धार्मिक तथा साम्प्रदायिक लोगों के स्थापित स्वार्थों के इस समाज में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व हमेशा के मुताबिक सर आगाखां के हाथ में रहे; क्योंकि वह कुछ हद तक इन स्वार्थों से स्वयं संपन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नजदीकी सम्बन्ध रहा है। वह ज्यादातर इंग्लैण्ड में ही रहते हैं। इसलिए वह हमारे शासकों के स्वार्थों और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते हैं और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। उस गोलमेज-कान्फ्रेंस में साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड के वह बहुत योग्य प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे।

कान्फ्रेंस में हमारे खिलाफ पलड़ा बुरी तरह से भारी था, और यद्यपि हमें उससे कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयों को पढ़-पढ़कर हमें हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की सतह को खरोंचने की कैसी दयनीय और वाहियात ढंग से मामूली कोशिश की जा रही है! कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशें हो रही हैं! कैसी-कैसी चालें चली जा रही हैं! हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज्यादा प्रतिगामी लोगों से मिल गये हैं। टुच्चे-टुच्चे मामलों पर बातें चलता थीं और सो भी खत्म ही न होती थीं। जो असली बातें हैं उनको जान-बूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बड़े-बड़े स्थापित स्वार्थों के और खासकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं। वे कभी तो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं और कभी एक-साथ बैठकर दावतें खाते तथा एक-दूसरे की तारीफ करते हैं। शुरू से लेकर अखीर तक सब मामला नौकरियों का था। छोटे ओहदे, बड़े ओहदे, हिन्दुओं के लिए कितनी नौकरियां और कुर्सियां तथा सिक्खों और मुसलमानों के लिए कितनी? और एंग्लो-इंडियनों तथा यूरोपियनों के लिए कितनी? लेकिन ये सब ओहदे ऊंचे दरजे के अमीर लोगों के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमें कुछ न था। अवसर-वादिता का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पड़ता था कि नये शासन-विधान में टुकड़े-रूपी जो शिकार था उसकी फिराक में भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेड़ियों की तरह घात लगाये फिरते थे। उनकी आजादी की कल्पना ने भी तो बड़े पैमाने पर नौकरियां तलाश करने का रूप धारण कर लिया था। इसे ये लोग "भारतीय-

करण" के नाम से पुकारते थे । फौज में, मुल्की नौकरियों में और दूसरी जगहों में हिन्दुस्तानियों को ज्यादा नौकरियां मिलें, यही इनकी पुकार थी। कोई यह नहीं सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आजादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौंपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगों के सामने जो भारी और जरूरी आर्थिक समस्याएं मौजूद हैं उनके हल करने की भी कोई जरूरत है ? क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान में इतनी मर्दानगी से लड़ाई लड़ी गई थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे।

उस राजसी महल में और इतने विभिन्न लोगों की भीड़ में गांधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे। उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाकी सब लोगों में उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता था। लेकिन आसपास अच्छे सजे-धजे लोगों की जो भीड़ बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टि-कोण में तथा गांधीजी के विचारों और उनके दृष्टि-बिन्दु में और भी ज्यादा फर्क था। उस कान्फ्रेंस में उनकी स्थिति बहुत ही मुश्किल थी। इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे हैं ? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और समझौते की कोई-न-कोई बुनियाद ढूंढने के लिए उन्होंने कई कोशिशें कीं। एक विलक्षण बात उन्होंने ऐसी की जिसने फौरन यह दिखला दिया कि किस तरह साम्प्रदायिक भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट में छिपा रखा था। मुसलमान प्रतिनिधियों की तरफ से कान्फ्रेंस में जो साम्प्रदायिक मांगें पेश की गई थीं उनको गांधीजी पसन्द नहीं करते थे। उनका खयाल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानों का भी यही खयाल था, कि इनमें से कुछ मांगें तो आजादी और लोकतन्त्र के रास्ते में रोड़ा अटकाने वाली हैं। लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि मैं इन सब मांगों को 'बिना किसी एतराज के मानने को तैयार हूं, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक मांग यानी आजादी के मामले में मेरा तथा कांग्रेस का साथ दें।'

उनका यह प्रस्ताव खुद अपनी तरफ से था; क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, उसमें कांग्रेस को वह किसी बात से नहीं बांध सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया कि मैं कांग्रेस में इस बात के लिए जोर दूंगा कि ये मांगें मान ली जायं। और

कोई भी शख्स जो कांग्रेस में उनके असर को जानता था, इस बात में किसी तरह का शक नहीं कर सकता था कि वह कांग्रेस से उन मांगों को मनवाने में कामयाबी हासिल कर सकते थे। लेकिन मुसलमानों ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं किया। सचमुच इस बात की कल्पना करना जरा मुश्किल है कि आगाखां साहब हिन्दुस्तान की आजादी के हामी होजांयगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ-साफ दिखाई दे गई कि असली झगड़ा साम्प्रदायिक नहीं था, यद्यपि कान्फ्रेंस में साम्प्रदायिक प्रश्न की ही धूम थी। असल में तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक्की के रास्तेको रोक रही थी और वही साम्प्रदायिक प्रश्न की आड़ में छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही। कान्फ्रंस के लिए अपने नामजद प्रतिनिधियों का चुनाव बड़ी चालाकी से करके ब्रिटिश-सरकार ने उन्नति-विरोधी लोगों को वहां जमा किया था कान्फ्रेंस की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ में रखकर उसने साम्प्रदायिक सवाल को मुख्य और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिस पर आपस में कभी न मिल सकने वाले वहां पर इकट्ठे हुए लोगों में कभी कोई समझौता हो ही नहीं सकता था।

इस कोशिश में ब्रिटिश-सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी से उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमें न सिर्फ अपने साम्राज्य को कायम रखने की बाहरी ताकत ही है, बल्कि कुछ दिनों तक और साम्राज्यवादी परम्परा को चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज-कान्फ्रेंस न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी, और न उसकी ताकत से हिन्दुस्तान के लोगों की ताकत का अन्दाजा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की खास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश्य के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हें आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए असफल हुए कि वे अपने में इतनी ताकत नहीं महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालों को धत्ता बता दें जो उनकी तरक्की के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे असफल रहे, क्योंकि उनमें मजहबीपन की अति थी और उनके साम्प्रदायिक भाव आसानी से भड़काये जा सकते थे। थोड़े में वे इसलिए असफल हुए कि अभी तक इतने आगे नहीं बढ़े हुए थे, न इतने मजबूत ही थे, कि कामयाब होते।

असल में इस गोलमेज-कान्फ्रेंस में तो सफलता या विफलता का सवाल ही

न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नहीं की जा सकती थी। फिर भी उसमें पहले से कुछ फर्क था। पहली गोलमेज-कान्फ्रेंस थी तो अपने किस्म की सबसे पहली कान्फ्रेंस; लेकिन हिन्दुस्तान में बहुत ही कम लोगों का खयाल उसकी तरफ गया, और बाहर भी यही बात रही; क्योंकि उन दिनों सब लोगों का ध्यान सविनय भंग की लड़ाई की तरफ था। ब्रिटिश सरकार द्वारा जो नामजद उम्मीदवार १९३० में कान्फ्रेंस में शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गए और विरोधी नारे लगाये गए। लेकिन १९३१ में सब बातें बदल गई थीं। क्यों? इसलिए कि गांधीजी कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से, जिसके पीछे करोड़ों लोग चलते हैं, उसमें शामिल हुए; इस बात से कान्फ्रेंस की शान जम गई और हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज-बरोज उसकी कार्रवाइयों पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह जरूर है कि इस कांफ्रेंस में जितनी असफलता हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई। अब हम लोगों की समझ में यह बात साफ-साफ आ गई कि ब्रिटिश-सरकार गांधीजी के उसमें शामिल होने को इतना महत्त्व क्यों देती थी।

वह कान्फ्रेंस, जहां साजिशों, मौकापरस्ती और जालसाजियों का बोलबाला था, हिन्दुस्तान की विफलता नहीं कहला सकती। वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिससे असफल होती। उसकी नाकामयाबी का कुसूर हिन्दुस्तान के लोगों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। लेकिन उसे इस बात में जरूर सफलता मिली कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालों से दुनियां का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान में उसकी वजह से लोगों की आंखें खुल गई, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होंने उससे अपनी जिल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगों को फिर अपना सिर उठाने का मौका दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगों के लिए तो सफलता या असफलता खुद हिन्दुस्तान में होनेवाली घटनाओं से हो सकती थी। हिन्दुस्तान में जो मजबूत राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था वह लन्दन में होनेवाली चालबाजियों से ठण्डा नहीं पड़ सकता था। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानों की असली और तात्कालिक जरूरतों को दिखलाती थी। उसीके जरिये वे अपने मसलों को हल करना चाहते थे; इसलिए उस आन्दोलन की दो ही सूरतें हो सकती थीं—एक तो यह कि वह कामयाब होता, अपना काम पूरा करता और किसी ऐसे दूसरे आंदोलन

के लिए जगह खाली कर देता जो लोगों को प्रगति और आजादी की सड़क पर और भी आगे ले जाता; दूसरी यह कि कुछ वक्त के लिए उसे जबरदस्ती दबा दिया जाता। असल में कान्फ्रेंस के बाद फौरन हिन्दुस्तान में लड़ाई छिड़ने को और कुछ वक्त के लिए बेबसी से खत्म हो जाने को थी। दूसरी गोलमेज-कांफ्रेंस का इस लड़ाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नहीं पड़ सका; पर उसने कुछ हदतक हमारी लड़ाई के खिलाफ वातावरण जरूर बना दिया।

३६

युक्तप्रान्त के किसानों में अशान्ति

कांग्रेस के प्रधानमन्त्री और कार्य-समिति के एक सदस्य की हैसियत से अखिल-भारतीय राजनीति से मेरा सम्बन्ध रहता था, और कभी-कभी मुझे कुछ दौरा भी करना पड़ता था; हालांकि जहांतक हो सकता मैं उसे टालता ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और जिम्मेदारियां ज्यादा-ज्यादा बढ़ने लगीं, वैसे-वैसे कार्यसमिति की बैठकें भी ज्यादा-ज्यादा लम्बी होने लगीं। यहां तक कि वे लगातार दो-दो हफ्ते तक होती थीं। अब सिर्फ नुकताचीनी के प्रस्ताव पास करना नहीं था, बल्कि एक बड़े भारी, और कई तरह की प्रवृतियों वाले संगठन के अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रचनात्मक-कार्यों का नियन्त्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालों का फैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या शान्ति निर्भर करती थी।

मगर मेरा खास काम तो युक्तप्रान्त में ही था, जहां कि कांग्रेस का ध्यान किसानों की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी में डेढ़ सौ से ज्यादा सदस्य थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने में हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमें पन्द्रह सदस्य थे, बैठकें अक्सर होती रहती थीं, और उसी के हाथ में किसानों का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से में इस कौंसिल ने किसान-सम्बन्धी एक खास कमेटी मुकर्रर कर दी। यह जानने लायक बात है कि इस कौंसिल और इस कमेटी में कई जमींदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में उस साल के हमारे प्रान्तीय कमेटी के सभापति (और इसलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान कमेटी के अध्यक्ष भी थे) तसद्दुक अहमदखां शेरवानी थे, जो एक मशहूर जमींदार खानदान के थे। प्रधान-मन्त्री श्री प्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बड़े मेम्बर जमींदार थे, या जमींदार घराने के थे। बाकी सदस्य ऊंचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग

थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी में एक भी काश्तकार या गरीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी जिला-कमेटियों में किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावों में जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी-कौंसिल बनती थी उनमें वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों की ही तादाद बहुत ज्यादा थी, और जमींदारों का भी बहुत प्रभाव था। इस तरह यह कौंसिल किसी तरह भी 'गरम' नहीं कही जा सकती थी, और किसानों के सवाल पर तो निश्चय ही नहीं।

प्रान्त में मेरी हैसियत सिर्फ कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमेटी के एक मेम्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। सलाह-मशविरों या दूसरे काम-काज में मैं खास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी में सबसे प्रमुख भाग नहीं लेता था। वास्तव में, किसीके भी बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता है, क्योंकि इकट्ठा सामूहिक कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गई थी, और व्यक्ति पर नहीं, संगठन पर ही हमेशा जोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष अधिकार न थे।

मैं इलाहाबाद की जिला कांग्रेस कमेटी का भी सदस्य था। इस कमेटी ने, अपने अध्यक्ष श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व में, किसान-समस्या की प्रगति में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० में इस कमेटी ने ही प्रान्त में सबसे पहले करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नहीं था कि इलाहाबाद जिले में किसानों की हालत, भाव की मन्दी से सबसे ज्यादा खराब हो गई थी—क्योंकि अवध के ताल्लुकेदारी हिस्से और भी ज्यादा खराब थे—बल्कि इसलिए कि इलाहाबाद जिले का संगठन अच्छा था, और इसमें राजनैतिक चेतना ज्यादा थी। क्योंकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक हलचलों का एक केन्द्र था और आस-पास के देहात में बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली समझौते के बाद फौरन ही हमने देहात में कार्यकर्ता और नोटिस भेज दिये थे, और किसानों को इत्तिला दे दी थी कि सविनय भंग और उसका आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने में अब कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हें सलाह भी दी थी कि वे अदा कर दें। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी मन्दी

को देखते हुए हमारी राय यह है कि उन्हें काफी छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत में भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के जमाने में तो पूरा लगान या पूरी के करीब रकम देना तो बिलकुल ही असम्भव था। हमने किसानों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा किया, और अस्थायी तजवीज की कि आमतौर पर छूट पचास फीसदा होनी चाहिए, और कहीं-कहीं तो इससे भी ज्यादा।

हमने किसानों के सवालों को सविनय-भंग के प्रश्न से बिलकुल अलग करने की कोशिश की। कम-से-कम १९३१ में तो, हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक क्षेत्र से अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था; क्योंकि दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड़ गये थे, और पहले में दोनों का गहरा साथ होगया था। और कांग्रेस-संगठन के रूप में, हम लोग तो निश्चितरूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी संस्था एक किसान-यूनियन (जिस पर नियन्त्रण गैर-किसानों और जमींदारों तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नहीं छोड़ सके, और न हमने छोड़ने की ख्वाहिश ही की और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय-भंग फिर होने की सम्भावना भी हमारे सामने थी, और अगर ऐसा हुआ तो इसमें शक नहीं कि अर्थ-नीति और राजनीति दोनों साथ-साथ मिलकर चलेंगी।

इन जाहिरा मुश्किलों के बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक्त से हमेशा हमारी यह कोशिश रही कि किसानों के सवालको राजनैतिक लड़ाई से अलग रक्खा जाय। इसका असली सबब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे बन्द नहीं किया था, और यह बात हम सरकार और आम लोगों को बिलकुल साफ बता देना चाहते थे। दिल्ली की बात-चीतों में, मेरा खयाल है, गांधीजी ने लॉर्ड इर्विन को यह भरोसा दे दिया था कि अगर वह गोलमेज-कान्फ्रेंस में न भी गये, तो भी जबतक कान्फ्रेंस की बैठकें होती रहेंगी, तबतक सविनय-भंग फिर शुरू नहीं करेंगे; वह कांग्रेस से सिफारिश करेंगे कि कान्फ्रेंस को हर तरह का मौका दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तजार करना चाहिए, मगर, तब भी गांधीजी ने यह साफ बता दिया था कि अगर किसी स्थानीय आर्थिक लड़ाई के लिए हमें मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह बात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानों

की समस्या उस वक्त हम सबके सामने थी क्योंकि वहां संगठित कार्य किया गया था। दरअसल तो हिन्दुस्तान भर के किसानों की वैसी ही हालत थी। शिमला की बातचीतों में भी गांधीजी ने इस बात को दोहराया था और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[1] में भी इसका जिक्र किया गया था। यूरप रवाना होने के ठीक पहले ही उन्होंने साफ कर दिया था, कि गोलमेज-कान्फ्रेंस और राजनैतिक सवालों के बिलकुल अलावा भी कांग्रेस के लिए यह जरूरी हो

---

[1]शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के पत्र भी शामिल थे —

भारत-सरकार के होम सेक्रेटरी श्री इमरसन के नाम
गांधीजी का पत्र

शिमला
२७, अगस्त, १९३१

प्रिय श्री इमरसन,

आपके आज की तारीख के खत के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर कावसजी ने भी आपके बताये संशोधन भेजने की कृपा की है। मेरे साथियों ने व मैंने संशोधित मसविदे पर खूब गौर किया है। नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके संशोधित मसविदे को मंजूर करने को तैयार हैं—

पैराग्राफ ४ में सरकार न जो स्थिति अख्तियार की है उसे कांग्रेस की तरफ से मंजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि जहां कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकाकत दूर नहीं की जाती वहां जांच करना जरूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय-भंग आन्दोलन उसी वक्त तक के लिए स्थगित किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत-सरकार और दूसरी प्रान्तीय सरकारें जांच कराने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और मैं इस जुमले के रहने देने पर कोई ऐतराज न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अब से उठाये गये दूसरे मामलों के बारेमें जांच के लिए जोर नहीं देगी, लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जांच के अभाव में उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना जरूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय भंग आन्दोलन के स्थगित रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

सकता है कि वह आर्थिक लड़ाइयों में लोगों के, और खासकर किसानों के, अधिकारों की रक्षा करे। ऐसी किसी लड़ाई में फंसने की उनकी इच्छा नहीं है। वह उसे टालना चाहते हैं; मगर यदि यह अनिवार्य हो जाय, तो उसे हाथ में लेना ही पड़ेगा। हम जनता को अकेला नहीं छोड़ सकते थे। वह यह मानते थे कि दिल्ली के समझौते में, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भंग से ताल्लुक रखता था, इसकी रोक नहीं की गई है।

मैं इसका जिक्र इसलिए कर रहा हूं कि युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी और उसके नेताओं पर यह दोष बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होंने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली का समझौता तोड़ दिया। आरोप करनेवालों को सुभीता यह था कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब लोग, जिनपर यह लगाया गया और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल में बन्द कर दिये गये थे और हर अखबार और प्रेस पर कड़ा सेंसर लगा हुआ था। इस हकीकत के अलावा कि युक्तप्रान्तीय कमेटी ने १९३१ में कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नहीं किया, मैं इस बात को साफ कर देना चाहता हूं कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भंग से अलग रहते हुए, ऐसी लड़ाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भंग नहीं होता। वह उसके कारणों को देखते हुए उचित था या नहीं, यह तो दूसरी बात थी; लेकिन जिस तरह किसी कारखाने के मजदूरों को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने का हक होता है, उसी तरह किसानों को भी आर्थिक कारण से हड़ताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी

मैं सरकार को यह यकीन दिलाने की जरूरत नहीं समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाने-बुझाने के उपायों से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की स्थिति का जिक्र करना यहां इसलिए जरूरी हो गया है कि आगे कोई सम्भावित गलतफहमी या कांग्रेस पर समझौता तोड़ने का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के सफल होने की हालत में मेरा खयाल है कि यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एक साथ प्रकाशित कर दिये जांय।

आपका

मो० क० गांधी

यह स्थिति रही, और सरकार ने इसे समझ ही नहीं लिया था, बल्कि उसे वह ठीक भी मालूम हुई थी।

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगड़ी हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुंच गई थी। पिछले कई वर्षों से दुनियाभर में कृषि-सम्बन्धी भाव ऊंचे की तरफ चढ़ते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाजार से बंध चुकी थी, इस चढ़ाव में हिस्सा लिया था। दुनियाभर में कारखानों और खेतों की तरक्की में कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-सम्बन्धी चीजों के भाव चढ़ गये थे। हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे भाव बढ़ते गये, सरकार की मालगुजारी और जमींदार का लगान भी बढ़ता गया, जिससे कि असली खेती करने वाले को इससे कुछ भी फायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसानों

गांधीजी के नाम श्री इमरसन का पत्र

शिमला

प्रिय गांधीजी, २७ अगस्त, १९३१

आज की तारीख के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपन पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ विज्ञप्ति के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मामलों में जांच पर जोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहां आप यह आश्वासन देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाने-बुझाने आदि तरीकों से ही अपनी शिकायत दूर करने की हमेशा कोशिश करेगी, वहां आप, आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी स्थिति भी साफ कर देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौन्सिल-सहित गवर्नर-जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल हैं कि सीधी लड़ाई का कोई मौका नहीं आयेगा। जहांतक सरकार की सामान्य स्थिति की बात है मैं वाइसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूं। मुझे कहना है कि उक्त विज्ञप्ति, आपका आजकी तारीख का पत्र और यह जवाब सरकार एक-साथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डबल्यू० इमरसन

की हालत, कुछ खासतौर पर अच्छे हिस्से को छोड़कर खराब ही हो गई। युक्त-प्रान्त में लगान मालगुजारी की बनिस्बत बहुत तेजी से बढ़ा; इन दोनों की सीधी वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षों में करीब-करीब (मैं अपनी याददाश्त से ही कहता हूं) ५ : १ थी। इस तरह हालांकि जमीन से सरकार की आमदनी काफी बढ़ गई, लेकिन जमींदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज्यादा बढ़ी और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कहीं भाव गिर भी जाते थे, या कहीं बारिश न होना, बाढ़ आ जाना, ओले और टिड्डी वगैरा जैसी स्थानीय मुसीबतें आ पड़तीं, तब भी मालगुजारी और लगान की रकम वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो बहुत हिचकिचाहट के बाद थोड़ी-सी, सिर्फ उस फसलभर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फसलों के वक्त भी लगान की दर बहुत ऊंची मालूम होती थी, तब दूसरे वक्त में तो साहूकार से कर्ज लिये बिना उसकी अदायगी होनी मुश्किल थी। फलतः किसानों का कर्जा बढ़ता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक रखनेवाले सभी वर्ग, जमींदार, मालिक, किसान और काश्तकार सभी साहूकारों के, जोकि मौजूदा हालतों में गांवों की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फन्दे में फंस गये। इस काम से उन्होंने खूब फायदा उठाया, और उनका जाल जमीन पर और जमीन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगों पर फैल गया। उनपर कोई बन्धन नहीं था। कानून उनकी मदद पर था, और अपने इकरारनामे के एक-एक लफ्ज को पकड़कर वे अपने असामियों को जरा भी नहीं बख्शते थे। धीरे-धीरे छोटे जमींदार, और मालिक-किसान दोनों के पास से जमीन उनके हाथों में आने लगी, और साहूकार ही बड़े पैमाने पर जमीन के मालिक, बड़े जमींदार—जमींदार-वर्गीय—बन गये। मालिक-किसान, जो अभी तक अपनी ही जमीन पर खेती करता था, अब बनिया-जमींदारों या साहूकारों का करीब-करीब दास-किसान बन गया; जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी खराब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदखल किये हुए भूमि-हीन मजदूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियों—का जो अब इस तरह जमीन-मालिक भी बन गये, जमीन से या काश्तकारों से कोई सजीव सम्पर्क नहीं था। वे आमतौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहां वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होंने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दों के सुपुर्द कर दिया, जो इस

काम को मशीनों की-सी संग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानों की बढ़ती हुई कर्जदारी ही खुद इस बात का सबूत थी कि जमीन की मिल्कियत की प्रणाली गलत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगों के पास किसी किस्म की बचत न थी, न शारीरिक न आर्थिक, उनकी बरदाश्त करने की ताकत बिलकुल न थी और वे हमेशा भूखे-नंगे ही रहते थे। किसी भी प्रतिकूल असाधारण घटना के सामने वे टिक नहीं सकते थे। कोई आम बीमारी आ जाती, तो लाखों मर जाते थे। १९२९ और १९३० में सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिंग जांच कमेटी ने अन्दाजा लगाया था कि (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी कर्जा ८६० करोड़ रुपया था। इस आंकड़े में जमींदारों, मालिक किसानों और काश्तकारों का कर्जा शामिल था, मगर मुख्यतः यह असली काश्तकारों का ही कर्जा था। सरकारी आर्थिक नीति बिलकुल साहूकारों के ही हक में रही है। इससे भी भारी कर्ज में और बढ़ती ही हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का जबरदस्त विरोध होते हुए भी सोलह पेन्स के बजाय १८ पेन्स कर देने से किसानों का कर्ज १२½ फी सदी या लगभग १०७ करोड़ बढ़ गया।[1]

लड़ाई के बाद के अचानक चढ़ाव के बाद भाव धीरे-धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये, और देहात की हालत और खराब हो गई। और इस सबके ऊपर १९२९ और बाद के वर्षों का संकट आ गया सो अलग।

---

[1]हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी कर्जदारी ८६० करोड़ है; यह भी सम्भवतः बहुत कम अन्दाजा है और कम-से-कम, पिछले चार या पांच वर्षों में, यह काफी ज्यादा बढ़ गया होगा। पंजाब प्रान्तीय बैंकिंग जांच-कमेटी ने, १९२९ में पंजाब का आंकड़ा १३५ करोड़ बताया था। लेकिन पंजाब ऋण-मुक्ति बिल की सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट में (जो १९३४ में पेश की गई थी) लिखा है कि "कृषकों के कर्ज का बोझा बहुत भारी है, बहुत ही कम अन्दाज लगावें तो करीब २०० करोड़ रुपया होगा।" यह नया आंकड़ा बैंकिंग-जांच-कमेटी की रिपोर्ट के आंकड़े से लगभग ५० फीसदी ज्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४) कृषि-कर्जदारी १२०० करोड़ से ज्यादा होगी।

१९३१ में युक्तप्रान्त में हमारा कहना यह था कि लगान चीजों के भावों के मुताबिक रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे, उस वक्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, करीब १९०१ में थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी आसान नहीं था; क्योंकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे, मौरूसी, गैर-मौरूसी, शिकमी वगैरा, और सबसे नीचे दर्जे के काश्तकारों पर ही मन्दी का सबसे ज्यादा असर पड़ा था। दूसरी कसौटी सिर्फ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी कि खेती का खर्चा और निर्वाह योग्य मजदूरी निकालकर कितनी रकम देने की ताकत काश्तकार की रहती है। मगर इस पिछली कसौटी से जांचने पर जीवन-निर्वाह के खर्च कितने भी कम क्यों न माने जांय, हिन्दुस्तान में बहुत ज्यादा खेत ऐसे निकलेंगे जो बे-मुनाफा हैं, और जैसा कि हमने १९३१ में युक्तप्रान्त में उदाहरणों से साबित किया था, कि कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नहीं सकते थे, जबतक कि वे, अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचें या ऊंची दरों पर कर्ज न लें।

हमारी पहली और अस्थायी तजवीज यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारों के लिए ५० फीसदी आम छूट होनी चाहिये, और जिन काश्तकारों की हालत और भी खराब है उनके लिए इससे भी ज्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ में गांधीजी युक्तप्रान्त में आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले, तो उनमें मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद ही उन्होंने युक्त-प्रान्त के जमींदारों और काश्तकारों के नाम अपीलें निकाली थीं। पिछली अपील में उन्होंने काश्तकारों से कहा कि, उनसे जितना बन सके वे अदा कर दें। उन्होंने एक आंकड़ा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये आंकड़ों से कुछ ऊंचा था। हमारी प्रान्तीय कमेटी ने गांधीजी का ही आंकड़ा मंजूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नहीं; क्योंकि सरकार उसपर राजी नहीं हुई।

प्रांतीय सरकार एक कठिन परिस्थिति में थी। मालगुजारी ही उसकी आमदनी का बड़ा जरिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उड़ा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसका दिवाला ही निकल जाय। मगर, साथ ही उसे किसानों के उभड़ पड़ने का भी काफी अन्देशा था, और जहांतक हो सके वह उन्हें काफी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनों तरफ फायदे

में रहना आसान न था। सरकार और किसानों के बीच में जमींदारवर्ग खड़ा था, जोकि आर्थिक दृष्टि से बेकार और गैर-जरूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को नुकसान पहुंचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनों को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश-सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति में राजनैतिक कारणों से उस वर्ग को नाराज नहीं कर सकती थी, क्योंकि जो-जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे, उनमें वह भी एक था।

आखिर प्रान्तीय सरकार ने जमींदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की। यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीके पर दी गई थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गई है। मगर यह तो साफ जाहिर था कि यह बहुत ही नाकाफी थी। इसके अलावा छूट चालू किश्त के लिए ही घोषित की गई, और किसानों के पिछले बकाया कर्जे के बारे में कोई भी बात नहीं कही गई। यह तो जाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने में असमर्थ है, तो वह पिछला बकाया या कर्जा चुकाने में तो और भी ज्यादा असमर्थ होगा। हमेशा ही जमींदारों का कायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी, वे पिछले बकाये में जमा किया करते थे। काश्तकार की दृष्टि से यह तरीका खतरनाक था; क्योंकि किश्त का कुछ-न कुछ हिस्सा बाकी रह जाने की बिना पर उसके खिलाफ, चाहे जब, मुकदमा दायर किया जा सकता था, और उसकी जमीन जब चाहे छीनी जा सकती थी।

प्रान्तीय कांग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति में पड़ गई। हमें विश्वास था कि काश्तकारों के साथ बहुत अनुचित बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ न कर सकते थे। हम किसानों से यह कहने की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करें। हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा कर दें, और आमतौर पर उनकी मुसीबतों में उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हें हिम्मत बंधाने की कोशिश करते रहे। हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी किश्त की रकम उनकी ताकत के बाहर है।

अब बल-प्रयोग की मशीन, कानूनी और गैरकानूनी दोनों तरह से, चलने लगी। हजारों की तादाद में बेदखली के मुकदमे दायर होने लगे; गाय, बैल और जाती मिल्कियत कुर्क होने लगी; जमींदारों के कारिन्दे मारपीट करने लगे,

बहुत से किसानों ने किश्त का कुछ हिस्सा जमा कर दिया। उनकी राय में, इतना ही देने की उनकी ताकत थी। बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोड़ा और दे सकते हों, लेकिन यह बिल्कुल जाहिर था कि ज्यादातर किसानों के लिए तो यह भी भारी बोझ था। मगर इस थोड़ी-सी अदायगी के कारण वे बच नहीं सके। कानून का एंजिन तो आगे बढ़ता और रास्ते में जो कुछ आया उसे कुचलता ही गया। हालांकि किश्तों का थोड़ा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री होती गई और पशुओं और व्यक्ति-गत सम्पत्ति की कुर्की और नीलाम जारी रहा। अगर काश्तकार कुछ भी न देते,तो भी उनकी हालत इससे अधिक खराब न हो सकती थी। बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती।

वे बड़ी तादाद में हमारे पास जोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है। अकेले इलाहाबाद जिले में ही कई हजार काश्तकार बेदखल कर दिये गये थे, और कई हजारों के खिलाफ कोई-न-कोई मुकदमा दायर कर दिया गया था। जिला कांग्रेस कमेटी का दफ्तर दिनभर परेशान काश्तकारों से घिरा रहता था। मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मैं यहां से भाग जाऊं और कहीं छिप जाऊं, जहां यह दुर्दशा दिखाई न दे। कई काश्तकारों पर, जो हमारे यहां आते थे, चोट के निशान थे, जो जमींदारों के कारिन्दों की मार के थे। हमने उनका अस्पताल में इलाज करवाया। वे क्या कर सकते थे? और हम क्या कर सकते थे? और हमने युक्तप्रान्तीय सरकार के पास बड़े-बड़े पत्र भेजे। हमारी कमेटी ने नैनीताल या लखनऊ में प्रान्तीय-सरकार से सम्पर्क रखने के लिए श्री गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी तरफ से मध्यस्थ बनाया था। वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे; हमारे प्रान्तीय अध्यक्ष, तसद्दुक अहमदखां शेरवानी, भी लिखते रहे, और मैं भी लिखता रहा।

जून-जुलाई की बारिश नजदीक आने से एक और कठिनाई सामने आई। यह खेत जोतने और बोने का मौसम था। क्या बेदखल किसान बेकार बैठे रहें और अपने सामने अपनी जमीन खाली पड़ी देखते रहें? किसान के लिए यह बड़ा मुश्किल था। यह तो उसकी आदत के खिलाफ था। कई लोगों की बेदखली

सिर्फ कानूनी लिहाज से हो गई थी, उन्हें दरअसल हटा नहीं दिया गया था। सिर्फ अदालत का फैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नहीं हुआ था। इस हालत में क्या वे जमीन जोत डालें और इस तरह मदाखलत बेजा का जुर्म कर लें, जिसमें शायद छोटे-मोटे दंगे की भी सम्भावना हो जाय ? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी जमीन को कोई दूसरा जोत ले। वे सब हमसे सलाह मांगने आते थे। हम उन्हें क्या सलाह दे सकते थे ?

गरमियों में जब मैं गांधीजी के साथ शिमला गया तो मैंने यह कठिनाई भारत-सरकार के एक ऊंचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति में होते तो क्या सलाह देते ? उनका जवाब आंखें खोल देनेवाला था। उन्होंने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी जमीन छिन गई है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मैं जवाब देने से इन्कार कर दूंगा।' हालांकि जमीन पर से किसान का कब्जा कानूनन हटाया गया था, फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार नहीं थे कि वह अपनी जमीन न जोते। शिमला के पहाड़ पर बैठकर मिसलों पर इस तरह हुक्म देना, मानो वह गणित की किसी अमूर्त समस्या पर विचार कर रहे हों, उनके लिए तो आसान था। उन्हें या नैनीताल के प्रान्तीय आकाओं को आदमियों से साबका नहीं पड़ता था, और न वे आदमियों की मुसीबतों को ही अपनी आंखों से देखते थे।

शिमला में हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानों को सिर्फ एक ही सलाह दें कि उन्हें पूरी किश्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सकें उतनी दे देनी चाहिए। हमें करीब-करीब जमींदारों के कारिन्दों के जैसे ही काम करना चाहिए। दरअसल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी, जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बन सके उतना अदा कर दो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हें अपने पशु नहीं बेचने चाहिएं, या नया कर्जा नहीं करना चाहिए। और इसका नतीजा भी जो कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हम सबके लिए बड़ी विकट थी, और हम मुश्किल से उसे सह रहे थे। हिन्दुस्तान के किसानों में मुसीबत सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा जरूरत से ज्यादा मुसीबतें आती भी रही हैं—अकाल, बाढ़, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली गरीबी—और जब वे अधिक सह नहीं सकते, तो चुपचाप, और मानो बिना शिकायत किये, हजारों की तादाद में, मर जाते हैं।

उनका मुसीबतों से बचने का मार्ग ही यह रहा है। उनपर समय-समय पर आनेवाली पिछली मुसीबतों से बढ़कर १९३१ में कोई नई बात नहीं हुई थी। मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनाएं उन्हें ऐसी न लगीं कि जो कुदरत की तरफ से आ गई हों और जिन्हें चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होंने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लाई हुई हैं, और इसलिए उनका उन्होंने विरोध किया। जो नई राजनैतिक शिक्षा उन्हें मिली थी, वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए १९३१ की ये घटनाएं खासतौर पर कष्टकर थीं, क्योंकि किसी हद तक हम अपने-आपको उनके लिए जिम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले में किसानों ने बहुत-कुछ हमारी सलाह नहीं मानी थी? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर उन्हें हमारी निरन्तर सहायता न मिली होती तो किसानों की हालत और भी बदतर हो गई होती। हम उनको संगठित करके रखते थे, और उनकी अपनी एक ताकत हो गई थी, जिसकी उपेक्षा नहीं हो सकती थी और इसी कारण उन्हें इतनी छूट भी मिल गई जितनी शायद और तरह उन्हें न मिलती और इन अभागे लोगों पर जो मारपीट और सख्ती की गई, वह खराब जरूर थी मगर उनके लिए कोई नई बात न थी। हां, इस बार कुछ तो उनकी मात्रा में अन्तर था (क्योंकि इस बार पहले से अधिक मात्रा में की गई थी), और कुछ उसका प्रकाशन भी बढ़कर हुआ था। आमतौर पर, गांवों में जमींदार के कारिन्दों का काश्तकार से दुर्व्यवहार करना या उन्हें बहुत त्रास देना भी साधारण बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत ही न हो जाय तो, वहां छोड़कर बाहर किसीको उसकी खबर तक नहीं होती। मगर हमारे संगठन और किसानों की जागृति के कारण अब ऐसा नहीं हो सकता था, क्योंकि इससे किसानों में खूब एका हो गया था और वे हर बात की रिपोर्ट कांग्रेस के दफ्तर में करते थे।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, जबरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गई और बल-प्रयोग की कार्रवाइयां कम पड़ने लगीं। अब हमें बहुसंख्यक बेदखल किसानों की फिक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए? हम सरकार पर जोर डाल रहे थे कि वह उन्हें उनके खेत वापस दिलाने में मदद करें, जोकि ज्यादातर खाली ही पड़े थे। इससे भी ज्यादा जरूरी प्रश्न भविष्य का था। जो छूट मिली थी वह पिछली फसल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी तय नहीं हुआ था। अक्तूबर से अगली किश्त की वसूली का

वक्त आ जायगा। तब क्या होगा ? क्या हमें इसी भयंकर घटना-चक्र में से फिर गुजरना पड़ेगा ? प्रान्तीय सरकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमेटी नियुक्त की, जिसमें उसीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ जमींदार मेम्बर थे। उसमें किसानों की तरफ से कोई प्रतिनिधि न था। अन्तिम क्षण, जबकि कमेटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमें शामिल होने को कहा। उन्होंने इस अखीरी वक्त में उसमें शामिल होने में कुछ फायदा न देखा, क्योंकि महत्वपूर्ण मामलों के निर्णय तो किये ही जा चुके थे।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने भी किसानों सम्बन्धी पिछले और तात्कालिक कई आंकड़े इकट्ठा करने और सामयिक परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमेटी बिठाई थी। इस कमेटी ने एक बड़ी रिपोर्ट पेश की, जिसमें युक्तप्रान्त के किसानों और खेती की परिस्थिति का बड़ी योग्यतापूर्ण निरीक्षण किया गया था। और भावों की भारी कमी के कारण आई हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था। उनकी सिफारिशें बड़ी व्यापक थीं। उस रिपोर्ट में जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित की गई थीं, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफी अहमद किदवई और वेंकटेशनारायण तिवारी के दस्तखत थे।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गांधीजी गोलमेज परिषद् के लिए लन्दन जा चुके थे। वह बड़ी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक कारण युक्तप्रान्त के किसानों की परिस्थिति भी थी। वास्तव में उन्होंने प्रायः यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज परिषद् के लिए लन्दन न गये, तो यू० पी० आयेंगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने में जुट पड़ेंगे। सरकार के साथ शिमला में जो अखीरी बातचीत हुई थी, उसमें और बातों के साथ युक्तप्रान्त की बात भी शामिल थी। उनके इंग्लैण्ड रवाना हो जाने के बाद भी हम उन्हें परिस्थितियों में होनेवाले नये-नये परिवर्तनों की पूरी-पूरी सूचना देते रहते थे। पहले एक या दो महीने तक तो मैं उन्हें हर सप्ताह हवाई और मामूली, दोनों डाक से पत्र लिखा करता था। उनके प्रवास के अन्तिम समय में मैं इतने नियमितरूपसे नहीं लिखता था, क्योंकि हमें आशा थी कि वह जल्दी ही लौट आयेंगे। उन्होंने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने में, यानी नवम्बर में किसी वक्त, लौट आयेंगे, और हमें उम्मीद थी कि तबतक हिन्दुस्तान में कोई संकट

खड़ा न होगा । सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनकी गैरहाजिरी में हम सरकार के साथ संघर्ष या संकट मोल लेना नहीं चाहते थे। मगर, जब उनके आने में देर लग गई और किसानों की समस्या तेजी से पेचीदा होने लगी, तब हमने उन्हें एक लम्बा तार भेजा, जिसमें ताजी-से-ताजी घटनाएं लिखीं और उन्हें सूचित किया कि किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं । उन्होंने तार से जवाब दिया, कि इस मामले में मैं लाचार हूं और इस समय कुछ नहीं कर सकता और यह भी कह दिया जैसा कि हम लोगों को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जांय।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, अखिल-भारतीय कार्य-समिति को भी हर बात की इत्तिला देती रही । मैं खुद उसमें अपनी जानकारी से बातें बताने को मौजूद था ही, मगर चूंकि मामला गम्भीर होता जाता था, कमेटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक अहमदखां शेरवानी और इलाहाबाद जिला कमेटी के प्रेसिडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी बातचीत की ।

सरकार की किसान-सम्बन्धी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ सिफारिशें भी कीं, जो पेचीदा और गोलमोल थीं और उसमें बहुत बात स्थानीय अफसरों के ऊपर छोड़ दी गई थीं । कुल मिलाकर उसमें जिस छूट की तजवीज की गई थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज्यादा थी, पर यह छूट भी काफी नहीं थी । जिन आधारों पर उसमें सिफारिशें की गई थीं उनपर, और सिफारिशों के स्वरूप पर भी, एतराज किया गया । इसके सिवा, रिपोर्ट में सिर्फ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले बकाया, कर्ज, और बहुसंख्यक बे-दखल किसानों के सवाल पर कुछ नहीं कहा गया था । अब, हम क्या करते ? जिस तरह हमने पिछले चैत-बैसाख में किसानों से कहा था कि वे जितना बने उतना अदा कर दें, क्या अब भी हम किसानों को वही सलाह दें, और फिर वही नतीजे देखें ? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज्यादा बेवकूफी की थी, और फिर से नहीं दी जा सकती थी । या तो किसानों को चाहिए कि अगर वे दे सकें तो पूरी रकम अदा करें जो अब छूट काटकर उनसे मांगी जा रही है, या वे कुछ भी न दें और देखें कि क्या होता है। रकम का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न उधर के । काश्तकारों का जितना वे निकाल सकते हैं, सारा रुपया वगैरा भी चला जाता है, और उनकी जमीन भी छिन जाती है ।

हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी ने परिस्थिति पर बहुत समय तक और

गम्भीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीजें हालांकि पिछली गरमी की छूट से ज्यादा हैं, लेकिन इतनी मुआफिक नहीं है कि उन्हें इस रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उनमें परिवर्तन करके उन्हें किसानों के लिए हितकर बनाये जाने की फिर भी सम्भावना थी, और इसलिए हमने सरकार पर जोर डाला। मगर हमें महसूस होरहा था कि अब कोई आशा नहीं है, और जिस संघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेजी से आ रहा है। प्रान्तीय सरकार और भारत-सरकार का कांग्रेस-संगठन की तरफ लगातार रुख बदलता और सख्त होता जा रहा था। हमारे बड़े-बड़े पत्रों का हमें जरा-जरा सा जवाब मिल जाया करता था, जिसमें कह दिया जाता था कि हम स्थानीय अफसरों से लिखा-पढ़ी करें। यह स्पष्ट था कि सरकार की नीति हमें किसी प्रकार से भी प्रोत्साहित करने की नहीं थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि अगर हम लोगों के कहने से किसानों को छूट दी जाती तो इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ जाने की सम्भावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ प्रतिष्ठा की भाषा में ही सोच सकती थी, और यह खयाल उसे असह्य हो रहा था कि जनता छूट दिलाने की नामवरी कांग्रेस को देने लगे, और वह इससे जहां तक हो सके बचना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहों से ये रिपोर्टें आरही थीं कि भारत-सरकार सारे कांग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक जबरदस्त हमला शुरू करनेवाली है। उस मशहूर यहूदी कहावत के अनुसार अब सरकार की छोटी-सी अंगुली ज्यादा जोर से काम करने वाली है, और बिच्छू के डंक हमसे तोबा करानेवाले हैं। कांग्रेस के खिलाफ क्या-क्या करने की तजवीज है इसकी बहुत-सी तफसील भी हमें मिल गई। मेरी समझ में शायद नवम्बर में किसी वक्त डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास और कांग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी अलग से एक खबर भेजी, जिससे हमें पहले मिले हुए समाचारों की पुष्टि होती थी, और जिसमें खासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रांत के लिए प्रस्तावित आर्डिनेंसों का ब्यौरा भी था। मेरा खयाल है कि उस समय तक शायद बंगाल को एक नये आर्डिनेंस की सौगात मिल चुकी थी या मिलने ही वाली थी। कई हफ्ते बाद जब नये आर्डिनेंस निकले, मानो वे किसी नई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हों, तब डाक्टर अन्सारी की खबरें और उनकी तफसीलें भी

बहुत हद तक सच्ची निकलीं। आमतौर से यही माना गया कि सरकार ने गोलमेज कान्फ्रेंस के आशा से अधिक बढ़ जाने के कारण अपना हमला रोक रक्खा था। ऐसे समय में जबकि गोलमेज-कान्फ्रेंस के मेम्बर आपस में मीठी-मीठी बेमतलब की काना-फूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढ़ती गई, और हम सभी को महसूस हो रहा था कि घटनाएं हम जैसे छोटे-छोटे लोगों की उपेक्षा करती हुई अपने-आप आगे बढ़ रही हैं, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुकाबला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक में, जो शायद दुःखान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपना हिस्सा ठीक तरह से बंटाने के लिए अपने-आपको तैयार कर लें। मगर हमें उम्मीद थी कि परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष का यह नाटक शुरू होने से पहले गांधीजी लौट आयेंगे और वह लड़ाई या सुलह की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर उठा लेंगे। उनकी गैरहाजिरी में इस बोझ को उठाने के लिए हममें से कोई भी तैयार नहीं था।

युक्तप्रान्त में सरकार ने एक और काम किया जिससे देहाती हलकों में हलचल मच गई। काश्तकारों को छूट की पर्चियां बांट दी गईं, जिनमें छूट की रकम बताई गई थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमें दिखाई हुई रकम एक महीने में (किसी-किसी पर्ची में इससे भी कम वक्त दिया गया था) जमा न की जायगी तो छूट रद कर दी जायगी और पूरी रकम कानूनी तरीके से, जिसका मतलब होता है बेदखली, कुर्की वगैरा से, वसूल कर ली जायगी। मामूली बरसों में तो काश्तकार अपना लगान दो या तीन महीनों में किश्तों से अदा कर देते हैं। अबकी यह मामूली मियाद भी नहीं दी गई। किसानों के सामने एकदम नया संकट खड़ा हो गया, और पर्चियां हाथ में लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके स्थानीय अफसरों की तरफ से यह मूर्खताभरी धमकी थी। बाद को हमसे कहा गया था कि इसको सचमुच अमल में लाने का कोई इरादा नहीं था। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौका बहुत कम रह गया, और अनिवार्य संघर्ष एक के बाद दूसरा पग धरता पास आने लगा।

अब तो किसानों को और कांग्रेस को जल्दी ही फैसला करना जरूरी था।

हम गांधीजी के लौटने तक अपना फैसला नहीं राक सकते थे । हमें अब क्या करना चाहिए ? क्या सलाह देनी चाहिए ? हम यह जानते थे कि कई किसान इस छोटी-सी मियाद में अपनी रकम अदा नहीं कर सकते तो क्या यह उचित बात होती कि हम उन किसानों से कह देते कि वे अपनी रकम अदा कर दें ? और फिर जो बकाया उनकी तरफ था, उसके बारे में क्या होगा ? अगर उनसे मांगी हुई रकम भी चुका दें, जो बकाया में जमा कर ली जायगी, तो भी क्या वे बेदखल किये जाने के खतरे से बच जायंगे ?

इलाहाबाद कांग्रेस कमेटी ने अपनी मजबूत किसान-सेना के साथ लड़ाई की तैयारी की। उसने फैसला किया कि उसके लिए किसानों को अदायगी करने की सलाह देना सम्भव नहीं है। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की बाकायदा मंजूरी के बिना वह कोई आक्रामक कार्य नहीं कर सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और जिले की तरफ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक-अहमदखां शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टण्डन दोनों ही मौजूद रहे । हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ इलाहाबाद जिले से ही वास्ता रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हम जानते थे कि उस समय जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमें उसका परिणाम व्यापक हो सकता था। क्या इलाहाबाद जिला कांग्रेस कमेटी को यह इजाजत दे दी जाय कि वह फिलहाल, जबतक कि आगे समझौते की बातचीत न हो ले और ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल जायं तबतक के लिए, लगान या मालगुजारी जमा न करने की सलाह किसानों को दे। यह एक छोटा मामला था और हम उसकी मर्यादा में ही रहना भी चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गांधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड़ पड़ने की स्थिति से बचने के लिए अपनी शक्ति-भर कोशिश करना चाहती थी, और खासकर वह एक ऐसी आर्थिक समस्या पर तो लड़ाई को टालना चाहती थी जिसके वर्ग-समस्या बन जाने की सम्भावना थी। कमेटी यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से आगे बढ़ी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे बढ़ी हुई नहीं थी और उसे किसान और जमींदारों का आपसी झगड़ा खड़ा होना पसन्द न था।

चूंकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलों में सलाह देने के लिए अधिक भरोसे का आदमी न समझा गया। मुझे

खुद यह अनुभव हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम पक्ष के मेम्बर भी, संघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, घटनाओं से मजबूर होकर संघर्ष करना चाहते हैं, इसलिए मैंने हमारी कमेटी की मीटिंग में हमारे प्रान्त से तसद्दुक-अहमदखां शेरवानी और दूसरे लोगों के आने को बहुत अच्छा समझा; क्योंकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी प्रकार उग्र नहीं थे। स्वभाव से, राजनैतिक और सामाजिक दोनों रूप में वह कांग्रेस में रम पक्ष के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनके विचार युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की किसानों-सम्बन्धी नीति के विरुद्ध हो गये थे। मगर जब वह खुद कमेटी के सदर बन गये और उन्हें खुद बोझ उठाना पड़ा, तो उन्होंने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा कोई चारा ही नहीं है। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने बाद में जो-जो भी कदम उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर प्रधान की हैसियत से उन्हीं की मार्फत उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक अहमदखां शेरवानी की बहस से मेम्बरों पर बड़ा असर पड़ा—मैं जितना असर डाल सकता था, उससे कहीं ज्यादा। बहुत हिचकिचाहट के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नहीं कर सकते हैं, उन्होंने युक्तप्रान्तीय कमेटी को अधिकार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाके में लगान और मालगुजारी की अदायगी को स्थगित करने की इजाजत दे सकती है। मगर साथ ही उन्होंने युक्तप्रान्त के लोगों पर जोर दिया कि हो सके तो वे इस कदम को न उठायें, और प्रान्तीय सरकार से समझौते की बातचीत चलाते रहें।

कुछ समय तक यह बातचीत चलाई भी गई; लेकिन नतीजा कुछ भी नहीं हुआ। मेरा खयाल है कि इलाहाबाद जिले की छूट में थोड़ा-सा इजाफा कर दिया गया। साधारण परिस्थिति में शायद यह सम्भव था कि आपस में समझौता हो जाता या खुला संघर्ष रुक जाता। सरकार और किसानों का मत-भेद कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सरकार और कांग्रेस दोनों ही तरफसे यह भावना थी कि जल्दीही संघर्ष होना लाजिमी है और हमारी निपटारे की बात-चीत की तह में कोई असलियत नहीं थी। दोनों तरफ से जो-जो कदम उठाया जाता, उसमें ऐसा ही दीखता था कि अपने लिए

अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की इच्छा से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियां तो गुप्तरूप से हो सकती थीं, और दरअसल सोलहों आना हो भी गई थीं। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगों के नैतिक बल पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयों से नहीं हो सकती थी। हममें से कुछ लोगों ने तो, और मैं भी उन्हीं अपराधियों में से था, सार्वजनिक भाषणों में यह बार-बार कहा था कि आजादी की लड़ाई हरगिज खत्म नहीं हुई है, और हमें निकट भविष्य में कई परीक्षाओं और कठिनाइयों से गुजरना पड़ेगा। हमने लोगों से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहें, और इसी कारण हमें लड़ाई छेड़नेवाला कहकर हमारी आलोचना की गई थी। वास्तव में मध्यमवर्ग के कांग्रेसी-कार्यकर्ताओं में वस्तुस्थिति का मुकाबला करने की साफ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हें आशा थी कि किसी-न-किसी तरह संघर्ष टल जायगा। गांधीजी का लन्दन में रहना भी अखबार पढ़नेवाले लोगों को चक्कर में डाले हुए था। मगर पढ़े-लिखे लोगों की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनाएं आगे ही बढ़ती गईं, खासकर बंगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में—और नवम्बर में कई लोगों को यह दीखने लगा कि संकट निकट आ गया है।

युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनाएं हो जायं, लड़ाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमेटी ने एक बड़ी किसान-कान्फ्रेंस बुलाई, जिसमें एक अस्थायी प्रस्ताव पास किया गया कि अगर ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल सकेंगी, तो उन्हें किसानों को लगान और मालगुजारी रोक लेने की सलाह देनी पड़ेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार बहुत नाराज हुई, और इसी को 'लड़ाई का पर्याप्त कारण' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बात-चीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख का प्रान्तीय-कांग्रेस पर भी असर पड़ा, और उसने इसको आने वाले तूफान का इशारा समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियां करनी शुरू की। इलाहाबाद में एक और किसान-कान्फ्रेंस हुई, जिसमें पहले से भी ज्यादा तेज और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमें किसानों से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज्यादा अच्छी शर्तें मिलने तक के लिए अदायगी रोक लें। उस समय भी, और अन्त तक, हमारी लड़ाई का रुख यह नहीं था कि 'लगान न दिया जाय' मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय'।

और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त देते ही रहे, हालांकि दूसरा पक्ष ऐंठ में दूर हट गया था। इलाहाबाद का प्रस्ताव जमींदारों और काश्तकारों दोनों पर लागू होता था, मगर हम जानते थे कि अमल में वह काश्तकारों और कुछ छोटे जमींदारों पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के आरम्भ में युक्तप्रान्त में यह परिस्थिति थी। इस बीच बंगाल और सीमा-प्रान्त में भी घटनाएं सीमा तक पहुंच चुकी थीं, और बंगाल में एक नया और भयंकर रूप से व्यापक आर्डिनेंस जारी कर दिया गया था। ये सब लड़ाई के लक्षण थे, समझौते के नहीं, और प्रश्न उठता था कि गांधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बड़े प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गांधीजी हिन्दुस्तान आ पहुंचेंगे? या वह यहां पहुंचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके हैं और लड़ाई चालू होगई है? हमें मालूम हुआ है कि वह इंग्लैंड से चल चुके हैं और महीने के अन्तिम हफ्ते में बम्बई आ पहुंचेंगे। हम में से हरेक मुख्य कार्यालय का या प्रान्तों का हर प्रमुख कार्यकर्त्ता, उनके लौटने तक संघर्ष को टालना चाहता था। और लड़ाई की दृष्टि से भी हमारे लिए यह उचित था कि हम उनसे मिल लें, और उनकी सलाह और हिदायतें पा लें। पर यह एक ऐसी दौड़ थी, जिसमें हम मजबूर थे। इसको रोक रखना या शुरू करना तो ब्रिटिश-सरकार के हाथ में था।

४०

सुलह का खात्मा

युक्तप्रान्त में व्यस्त रहते हुए भी बहुत दिनों से मेरी यह इच्छा थी कि मैं दूसरे दोनों तूफानी केन्द्रों, सीमाप्रान्त और बंगाल में भी हो आऊं। मैं उस जगह जाकर वहां की परिस्थिति का अध्ययन करना, और अपने पुराने साथियों से, जिनमें अनेक को मैंने करीब दो साल से नहीं देखा था, मिलना चाहता था। मगर सबसे ज्यादा, मैं यह चाहता था कि मैं उन प्रान्तों के लोगों की भावना और हिम्मत और राष्ट्रीय संग्राम में उनकी कुर्बानियों के प्रति, अपनी तरफ से सम्मान प्रकट करूं। सीमाप्रान्त में तो कुछ समय के लिए मैं जा ही नहीं सकता था, क्योंकि भारत-सरकार यह पसन्द नहीं करती थी कि कोई प्रमुख कांग्रेसी वहां जाय, और उसके इस रुख को देखते हुए हम वहां जाने और अड़चन पैदा करने की कोई इच्छा नहीं रखते थे।

बंगाल में स्थिति बिगड़ती जा रही थी, और हालांकि उस प्रान्त की तरफ मुझे बहुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे हिचकिचाहट हुई। मैं अनुभव करता था कि मैं वहां असहाय-सा रहूंगा, और कुछ भी फायदा न पहुंचा सकूंगा। उस प्रान्त में कांग्रेसी लोगों के दो दलों के शोचनीय और दीर्घकालीन झगड़ों के सबब से अन्य प्रान्तों के कांग्रेसवाले डर गये थे, और दूर-दूर-से रह रहे थे, क्योंकि उन्हें भय था कि वे भी किसी-न-किसी दल में शामिल समझ लिये जायंगे। यह बड़ी कमजोर और शुतुर्मुर्ग-जैसी नीति थी और इससे बंगाल की समस्या के सरल या हल होने में मदद नहीं मिली। गांधीजी के लन्दन जाने के कुछ वक्त बाद ही दो घटनाएं अचानक ऐसी हुईं जिनसे सारे हिन्दुस्तान का ध्यान बंगाल की स्थिति पर केन्द्रित होगया। ये दोनों घटनाएं हिजली और चटगांव में हुई थीं।

हिजली नजरबन्दों के लिए खासतौर पर बनाया हुआ एक डिटेंशन कैम्प-जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि कैम्प के अन्दर एक दंगा

होगया और नजरबन्दों ने जेल के अधिकारियों पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजबूरन जेलवालों को गोली चलानी पड़ी थी। इस गोलीकाण्ड से एक नजरबन्द मारा गया और कई घायल हुए। स्थानीय सरकार-द्वारा की गई जांच में, जो उसके बाद ही फौरन हुई थी, जेलवालों को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजों से बिलकुल बरी कर दिया। मगर इस घटना में कई विचित्र बातें हुईं, और कई तथ्य ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नहीं खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज्यादा जांच करने की जोरदार और जबरदस्त मांग की गई। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज के खिलाफ बंगाल-सरकार ने एक ऐसी जांच-कमेटी बैठाई, जिसमें सब ऊंचे-ऊंचे जुडीशियल अफसर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमेटी थी, लेकिन उसने गवाहियां लीं और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट नजरबन्दी जेल के मुलाजिमों के खिलाफ हुई। यह मान लिया गया कि कुसूर ज्यादातर जेल के अधिकारियों का ही था, और गोलीकाण्ड बिलकुल अनुचित था। इस तरह सरकार की जो पहले विज्ञप्तियां निकली थीं वे बिलकुल झूठी साबित हुईं।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण घटना नहीं थी। बदकिस्मती से ऐसी घटनाएं हिन्दुस्तान में कम नहीं होतीं और जेल के अन्दर दंगों के होनेकी और जेल में हथियार-बन्द वार्डरों और दूसरे लोगों द्वारा निहत्थे और बेबस कैदियों के बहादुरी से दबाये जाने की खबरें अक्सर पढ़ने को मिला करती हैं। हिजली में असाधारण बात यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओं के बारे में सरकारी विज्ञप्तियों के बिलकुल एकतर्फापन और झूठेपन की पोल खुल गई और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार की विज्ञप्तियों का कोई भरोसा नहीं किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड़ ही हो गया।

हिजली काण्ड के बाद तो जेल में दंगा, जिनमें जेलवालों-द्वारा कहीं गोली चलाई जाती थी और कहीं दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान में बड़ी तादाद में होने लगे। अचरज की बात यह है कि इन जेल के दंगों में चोट सिर्फ कैदियों को ही लगती मालूम होती थी। करीब-करीब हर मामले में एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमें कैदियों पर कई बेजा हरकतों का इलजाम लगाया जाता था, और जेल के अधिकारियों को बचाया जाता था। बहुत ही कम उदाहरण ऐसे होंगे जिनमें जेलवालों को महकमे की तरफ से

वना थी हिन्दुस्तान में इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डों का फैलना। हालांकि मैं हिंसा-काण्डों को नापसन्द करता हूं लेकिन मैं उनसे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नहीं हूं। मगर मैं यह जरूर महसूस करता हूं कि हिन्दुस्तान में फूट फैलानेवाली ताकतें अभीतक भी बहुत बढ़ी-चढ़ी हैं, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिंसा-कांड होने लगेंगे तो उनसे उन ताकतों को मदद मिल जायगी, और एक संयुक्त और अनुशासन-युक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मजहब के नाम पर या स्वर्ग जाने के लिए कत्ल करते हैं, तो ऐसे लोगों को आतंककारी हिंसा का अभ्यास करा देना बड़ी खतरनाक बात होगी। राजनैतिक खून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतंकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योंकि शायद उसका लक्ष्य सांसारिक है, और व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय है। मगर धर्म के नाम पर खून करना तो और भी बुरा है, क्योंकि उसका सम्बन्ध इस लोक से नहीं, परलोक में सद्गति पाने से है, और ऐसे मामलों में दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नहीं कर सकता। कभी-कभी तो दोनों के बीच का अन्तर बहुत ही बारीक रहता है और करीब-करीब मिट-सा जाता है, और राजनैनिक हत्या, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से, अर्द्ध-धार्मिक बन जाती है।

चटगांव में एक आतंकवादी-द्वारा एक पुलिस-अफसर की हत्या किये जाने और उसके नतीजों से हरेक को बहुत साफ-साफ यह अनुभव होने लगा कि आतंक-कारी हलचलों से बड़ी खतरनाक बातें पैदा हो सकती हैं और हिन्दुस्तान की एकता और आजादी के काम को बेहद नुकसान पहुंच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनाएं हुईं उनसे भी हमें मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान में फासिस्ट तरीके पैदा हो चुके हैं। तब से ऐसी बदला लेने की घटनाएं, खासकर बंगाल में बहुत हुई हैं और यह फासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन जातियों में तो निःसन्देह फैल चुकी है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओं में भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

पर यह एक विचित्र बात है, कि खुद आतंककारियों का या उनमें से कई लोगों का भी यही फासिस्ट दृष्टिकोण है। लेकिन उसकी दिशा कुछ दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फासिस्टवाद यूरोपियनों, एंग्लो-इंडियनों और कुछ ऊंची श्रेणी-वाले हिन्दुस्तानियों के साम्राज्यवादी फासिस्टवाद का जवाब है।

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया। वहां मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और निजी तौर पर लोगों और समूहों से मिलने के अलावा मैंने कई सार्वजनिक सभाओं में भाषण भी दिये। इन सब सभाओं में मैंने आतंकवाद के प्रश्न पर भी चर्चा की और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आजादी के लिए वह कितना गलत, बेकार और हानिकारक है। मैंने आतंकवादियों को बुरा नहीं कहा, न मैंने अपने कुछ ऐसे देशवासियों की तरह उन्हें 'कायर' ही कहा, जिन्होंने शायद ही कभी पराक्रम या खतरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवकूफी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो लगातार अपनी जान को हथेली पर लिये रहता है, 'कायर' कहा जाय। इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचकों को, जो दूर खड़े रहकर ही चिल्लाते हैं लेकिन कर कुछ भी नहीं सकते, तिरस्कार की निगाह से देखने लगता है।

कलकत्ते से रवाना होने के लिए स्टेशन पर जाने से थोड़ी देर पहले वहां शाम को मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम उम्र के, करीब-करीब बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे फीके थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। उनकी आंखें चमकदार थीं। मुझे मालूम नहीं कि वे कौन थे, लेकिन मैं अटकल से समझ गया कि उनका काम क्या था। वे मेरे आतंकवादी हिंसा के विरुद्ध प्रचार करने के कारण मुझपर बहुत गुस्सा थे। उन्होंने कहा कि उससे नवयुवकों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है, और इस तरह मेरा हस्तक्षेप करना वे पसन्द नहीं करते हैं। हमने थोड़ी-सी बहस भी की, लेकिन वह बड़ी जल्दी-जल्दी हुई, क्योंकि मेरे रवाना होने का समय पास आ रहा था। मेरा खयाल है कि उस समय हमारी आवाज तेज और हमारा मिजाज कुछ गर्म हो गया था, और मैंने उनसे कुछ कड़ी बातें भी कह दी थीं; और जब मैं उन्हें छोड़कर चलने लगा, तो उन्होंने मुझे अन्तिम चेतावनी दी कि "अगर आगे भी आपका यही रुख रहा तो हम आपके साथ भी वही बर्ताव करेंगे जैसा कि हमने दूसरों के साथ किया है।"

मैं कलकत्ते से चल तो दिया, मगर रात को गाड़ी में अपनी बर्थ पर लेटे-लेटे मेरे दिमाग में उन्हीं दोनों लड़कों के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमें जीवन और जोश भरा हुआ था, अगर वे ठीक रास्ते पर लग जाते

तो कितने अच्छे बन सकते थे ! मुझे दुःख हुआ कि मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी में बातें कीं और कुछ रूखा व्यवहार किया। काश, मुझे लम्बी बातचीत करने का मौका मिलता! शायद मैं उन्हें दूसरी दिशाओं में, हिन्दुस्तान की सेवा और आजादी के रास्ते में, जिसमें कि साहस और आत्मत्याग के मौकों की कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने की बात समझा सकता। उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूं। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न उनका मुझे बाद में भी कुछ पता लगा। मैं कई बार सोचता हूं कि न जाने वे मर चुके हैं, या अण्डमन के टापुओं की किन्हीं कोठरियों में बन्द हैं।

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद में दूसरी किसान-कान्फ्रेंस हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डॉक्टर एन० एस० हार्डिकर को दिये अपने पिछले वादे को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अंग था। वह हमेशा कांग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गर्मियों में कार्य-समिति ने उसे बिलकुल कांग्रेस में शामिल करने और उसे कांग्रेस का ही स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा हो भी गया, और वह विभाग हार्डिकर को और मुझे सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर हुबली (कर्नाटक) शहर में ही रहा, और हार्डिकर ने मुझे दल सम्बन्धी कई कामों के लिए वहां बुलाया था। वहां से वह मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा करने को ले गये। वहां सब जगह लोगों में जबरस्त जोश देखकर मैं दंग रह गया। लौटते हुए मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फौजी कानून (मार्शल लॉ) के दिनों में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण विदाई के गीत जैसे लगते थे, लेकिन उनमें संगीत के बजाय लड़ाई का सुर था। युक्तप्रान्त से जो खबर मिली वह निश्चित और स्पष्ट थी। सरकार ने वार कर दिया था, और सख्त वार किया था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते हुए मैं कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गई थी। मैंने बम्बई में उसके इलाज की व्यवस्था कर दी। बम्बई में ही, और लगभग हमारे इलाहाबाद से वहां पहुंचने के बाद ही, हमें यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक खास 'आर्डिनेंस' निकाल दिया है। सरकार ने निश्चय

कर लिया था कि वह गांधीजी के आनेकी बाट न देखेगी, हालांकि गांधीजीहाज ज पर चल दिये थे, और जल्दी ही बम्बई आ जानेवाले थे। कहने को तो यह आर्डिनेंस किसानों के आन्दोलन के ही लिए निकाला गया था, लेकिन वह इतना ज्यादा विस्तृत था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमें बच्चों या नाबालिगों के अपराधों के लिए माता-पिताओं या संरक्षकों को सजा देने का विधान भी किया गया। वह इंजील की प्राचीन प्रथा की ठीक उलटी आवृत्ति थी।[1]

लगभग इन्हीं दिनों हमने गांधीजी की उस बातचीत की खबर पढ़ी, जो रोम में 'जनरेल दि इटैलिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गई थी। इसे पढ़कर हम अचम्भे में पड़ गये, क्योंकि इस तरह रोम में राह चलते 'इंटरव्यू' दे देना उनकी आदत के खिलाफ था। ज्यादा गौर से जांच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग में नहीं आते थे, और उनका खण्डन आनेसे पहले ही हमें साफ तौर से मालूम हो गया था कि जिस तरह की 'इंटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नहीं हो सकती। हमारा खयाल हुआ कि उन्होंने जो कुछ भी कहा होगा, उसको बहुत ज्यादा तोड़-मरोड़कर बनाया गया है। बाद में तो गाँधीजी का जोरदार खण्डन भी निकला और यह वक्तव्य भी निकला कि उन्होंने रोम में कोई इंटरव्यू ही नहीं दी। हमें तो स्पष्ट मालूम था ही कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमें आश्चर्य इस बात से हुआ कि ब्रिटिश अखबारों और सार्वजनिक लोगों ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया और तिरस्कार के साथ उन्हें झूठा बतलाया। इससे हमें चोट पहुंची और गुस्सा भी आया।

मैं इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक

---

[1]यहां थोड़ा व्यंग है। बाइबिल (इंजील) में एक जगह पैगम्बर मूसा ईश्वर के दस आदेश (Ten Commandments) गिनते हैं, जिसमें एक जगह पर वह कहते हैं—"होशियार! तुम बुरे देवों को मत पूजना क्योंकि ईश्वर तो ईर्ष्यालु देव है, दूसरे देवताओं की पूजा सहन नहीं कर सकता। माता-पिताओं के पापों के फल तीसरी-चौथी पीढ़ी तक उनकी सन्तानों को भोगने पड़ते हैं (ड्यूटे पृ० ९)"। इसकी उलटी आवृत्ति, अर्थात् सन्तानों के कुकर्म के फल माता-पिता भोगें। —अनु०

था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे में अपने साथियों के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर-आंगन में इतनी घटनाएं हो रही हों, तब उनसे बहुत दूर रहना मेरे लिए एक कठोर परीक्षा ही थी। फिर भी मैंने निश्चय किया कि मैं कर्नाटक के कार्यक्रम को पूरा ही कर डालूं। मेरे बम्बई आने पर कुछ मित्रों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक ठहरा रहूं। वे एक ही सप्ताह बाद आनेवाले थे। मगर यह असम्भव था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगों की गिरफ्तारी की खबर आई। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ्रेंस भी इटावा में उसी हफ्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊं और फिर एक हफ्ते बाद, अगर आजाद रहा तो, गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की बैठक में सम्मिलित होने को बम्बई लौट आऊं। कमला को मैंने रोग-शय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुंचने से पहले ही, छिउकी स्टेशन पर नये आर्डिनेन्स के अनुसार एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नकल मुझे देने की कोशिश की गई। और मेरे मकान पर भी एक तीसरे व्यक्ति ने ऐसा ही तीसरा प्रयत्न किया। जाहिर था कि सरकार कोई भी जोखिम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक मैं इलाहाबाद म्युनिसिपल हद के अन्दर नजरबन्द कर दिया गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी भी सार्वजनिक सभा या समारोह में शामिल नहीं होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए। किसी अखबार, पत्रिका या पर्चे में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियां लगा दी गई थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें तसद्दुक अहमदखां शेरवानी भी थे, इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गये थे। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने जिला-मैजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिये या क्या न करना चाहिए इसकी बाबत मैं आपसे हुक्म लेना नहीं चाहता; मैं अपना साधारण काम साधारण रूप से करूंगा, और अपने काम के सिलसिले में इस हफ्ते में गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूं, बैठक में शरीक होने बम्बई जानेवाला हूं।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गई। हमारी युक्तप्रान्तीय-कान्फ्रेंस उसी हफ्ते इटावे में होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेंस को स्थगित करवाने की तजवीज पेश करने के इरादे से आया था, क्योंकि एक तो वह गांधीजी

के आने के दिनों में ही होनेवाली थी, और दूसरे सरकार से अभी संघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ से हमारे प्रधान शेरवानी साहब के पास एक ताकीदी खत आया था, जिसमें पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेंस में किसानों की समस्या पर भी विचार किया जायगा ? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कांफ्रेंस को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ जाहिर था कि कान्फ्रेंस का खास उद्देश्य ही किसानों की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त में खलबली मच रही थी। कान्फ्रेंस करना और उसमें इस सवाल पर गौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हंसी करानी ही थी। कुछ भी हो, हमारे प्रधान को या और किसी को भी यह अख्तियार न था कि वह कांफ्रेंस को किसी बात के लिए पहले से बांध दे। सरकार की धमकी के बिना भी हम कुछ लोगों का तो यह इरादा था ही कि कान्फ्रेंस स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और होगई। हममें से कई लोग ऐसे मामलों में तो कुछ-कुछ आग्रही थे, और सरकार-द्वारा हमें ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी, बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक्त अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ्रेंस को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फैसला इसलिए किया कि हम गांधीजी के आने तक लड़ाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत में ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहते थे। हम उन्हें ऐसी परिस्थिति के अन्दर नहीं डाल देना चाहते थे, जिसमें वह बागडोर अपने हाथ में न ले सकें। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेंस को स्थगित कर देने पर भी इटावा में पुलिस और फौज का खूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि, जो वहां पहुंच गये थे, गिरफ्तार कर लिये गये, और वहां लगी स्वदेशी-प्रदर्शनी पर फौज ने कब्जा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग में यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए खासतौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनों को ही आर्डिनेंस के मुताबिक यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोड़ें। कहा गया था कि आर्डिनेंस यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे जिलों में लगानबन्दी की हलचलों के खिलाफ जारी किया गया है। यह समझना तो सरल था ही कि सरकार को हमारा इन देहाती हिस्सों में जाना बंद करना ही

चाहिए। मगर यह भी साफ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानों का आन्दोलन नहीं चला सकते थे और अगर वास्तव में आर्डिनेंस किसानों की परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही किया जाना चाहिए था। आर्डिनेंस के जारी हो जाने के समय से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम संघर्ष को टालते ही रहे, हालांकि बाज-बाज लोगों ने हुक्म-उदूली कर दी थी। जहांतक यू०पी० कांग्रेस का सम्बन्ध था, यह बात साफ थी कि वह, कम-से-कम फिलहाल सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे टालना ही चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहां कि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलों पर गौर करती और यह किसीको मालूम नहीं था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नहीं था कि उनके अखीरी फैसले क्या होते!

इन सब विचारों से मुझे खयाल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नजरबन्दी के कानूनी आज्ञा-भंग को सरकार सह लेगी। लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योंही हम रेल में बैठे, हमने सवेरे के अखबारों में नये सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेंस और अब्दुलगफ्फार खां तथा डॉक्टर खानसाहब वगैरा की गिरफ्तारी का हाल पढ़ा। बहुत जल्दी ही हमारी गाड़ी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगंज पर, जहां आमतौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई, और हमें गिरफ्तार करने को पुलिस अफसर आगये। रेलवे लाइन के पास ही एक 'ब्लैक मैरिया' (जेल की मोटर) खड़ी थी, और कैदियोंकी इस लारी में मैं और शेरवानी दाखिल हुए। वह तेजी से चली और हम नैनी-जेल में जा पहुंचे। वह 'बॉक्सिंग दिवस' का प्रातःकाल था और वह पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमें गिरफ्तार करने आया था, अंग्रेज था; वह दुःखी और उदास दिखाई दिया। मुझे दुःख है कि हमने उसका क्रिसमस त्यौहार बिगाड़ दिया था।

और इस तरह हम जेल में आ पहुँचे—

'एक घड़ी भर तू सारा आह्लाद भुला दे;
और, वेदना में ही अब कुछ काल बिता दे।'[1]

---

[1] शेक्सपियर के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

४१

गिरफ्तारियां, आर्डिनेंस और जब्तियां

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई में उतरे, और तभी उन्हें यहां की नई और ताज़ा घटनाओं का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन में ही बंगाल-आर्डिनेंस की खबर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दुःखी हुए थे। अब उन्हें मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय और आर्डिनेंसों के रूप में बड़े दिन की भेंट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू० पी में उनके कुछ सबसे घनिष्ट साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पासा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूंढ़ने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय लॉर्ड विलिंग्डन से मुलाकात चाही। उन्हें नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाकात कुछ खास शर्तों पर ही हो सकेगी। वे शर्तें ये थीं कि वह बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त की ताजी घटनाओं, और नये आर्डिनेंसों और उनके मुताबिक हुई गिरफ्तारियों के बारे में बातचीत न करें। (यह बात मैं अपनी याद से लिख रहा हूं, क्योंकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नकल नहीं है।) यह समझ में नहीं आता कि सरकार इन विषयों के अलावा, जो कि देश में खलबली मचा रहे थे, और जिनपर बात करने का निषेध कर दिया गया था, और किन विषयों पर गांधीजी या कांग्रेस के अन्य किसी नेता से बातचीत करने की आशा करती थी। अब यह बिलकुल साफ प्रकट हो गया कि भारत-सरकार ने कांग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया है और वह उससे कोई नाता नहीं रखना चाहती। कार्य-समिति के पास सविनय आज्ञा-भंग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालों को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की अशंका हो गई थी, और बरबस विदा होने के पहले वे देश का आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से अस्थायी तौर पर सविनय-भंग का प्रस्ताव पास किया गया, और गांधीजी ने वाइसराय से मुलाकात करने की दुबारा कोशिश

की। उन्होंने वाइसराय को बिना शर्त के मुलाकात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गांधीजी और कांग्रेस के सभापति सरदार पटेल की गिरफ्तारी के रूप में मिला और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया जिससे सारे देश में भयंकर दमन का दौर शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि चाहे दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो, या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो लड़ाई के लिए बेचैन थी और पहले से ही जरूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

हम तो जेल में ही थे और ये सारी खबरें हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आईं। हमारा मुकदमा नये साल के लिए स्थगित कर दिया गया, इसलिए हमें हवालाती कैदी होने के कारण सजायाफ्ता कैदियों की अपेक्षा ज्यादा मुलाकात करने का मौका मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाकात मंजूर करनी चाहिए थी या नहीं, इस पर अखबारों में बहुत वस्द-विवाद चल रहा है, मानो इससे कोई बड़ा फर्क पड़नेवाला था। यह मुलाकात का प्रश्न ही और सब बातों से बढ़कर चर्चा का विषय हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लॉर्ड इर्विन होते तो वह मुलाकात जरूर मंजूर कर लेते, और अगर उनसे और गांधीजी से मुलाकात हुई होती तो निश्चय ही सब कुछ ठीक हो जाता। मुझे अचरज हुआ कि परिस्थिति के बारे में हिन्दुस्तान के अखबार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते हैं, और असलियत की ओर कैसे आंख उठाकर नहीं देखते हैं। क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद का, जिनमें सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नहीं हो सकता, न रुकनेवाला संघर्ष किन्हीं व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर ही निर्भर है? क्या इतिहास की दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष मीठी मुसकान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकता है? गांधीजी को एक खास दिशा में ही जाना पड़ा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तों का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नहीं कर सकती थी, और न महत्त्वपूर्ण मामलों में विदेशी फरमानों के सामने खुशी से झुक सकती थी। तथा हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा में जाना पड़ा, क्योंकि उन्हें इस राष्ट्रीयता का सामना करना था, और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनी थी, और उस समय वाइसराय कोई भी हो इस बात में जरा भी फर्क नहीं पड़ सकता था। लॉर्ड इर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंग्डन ने किया, क्योंकि दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अस्त्र थे, और वे निर्धारित

दिशा में कुछ बहुत ही मामूली-सा फर्क कर सकते थे । और बाद में तो लॉर्ड इर्विन भी ब्रिटिश शासन-तन्त्र के सदस्य हो गये,और हिन्दुस्तान में जो-जो सरकारी कार्रवाइयां की गई उन सबमें उन्होंने पूरा-पूरा साथ दिया । हिन्दुस्तान में प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ या बुराई करना मुझे तो बिलकुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालों को नहीं समझते, या उन्हें जान-बूझकर टालना चाहते हैं ।

४ जनवरी सन् १९३२ एक महत्त्वपूर्ण दिन था । उसने बातचीत और बहस का अन्त कर दिया । उस दिन सवेरे ही गांधीजी और कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई गिरफ्तार कर लिये गए और, बिना मुकदमा चलाये, राजबन्दी बना लिये गए । चार नये आर्डिनेंस जारी कर दिये गये जिसके द्वारा मैजिस्ट्रेटों और पुलिस अफसरों को व्यापक-से-व्यापक, अधिकार मिल गये । नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई और जन और धन दोनों पर ही अधिकारी चाहे जब कब्जा कर सकते थे । सारे देश पर मानो कब्जा कर लेने की हालत की घोषणा कर दी गई और इसको किस-किस पर और कितना-कितना लागू किया जाय, यह स्थानीय अफसरों की मर्जी पर छोड़ दिया गया ।[1]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल में यू० पी० इमर्जेंसी पावर्स आर्डिनेंस के मुताबिक हमारा मुकदमा हुआ । शेरवानी को छः महीने की सख्त कैद और १५० रुपये जुर्माने की सजा हुई; मुझे दो साल की सख्त कैद और ५०० रुपये जुर्माने (या बदले में छः महीने की कैद और) की सजा दी गई । दोनों के अपराध बिलकुल एक-से थे । हम दोनों को इलाहाबाद शहर में नजरबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे । हम दोनों ने बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भंग किया था । हम दोनों को एक ही धारा में गिरफ्तार किया गया, और दोनों का एक साथ ही मुकदमा चला । फिर भी हमारी सजाओं में बड़ा अन्तर था ।

---

[1] भारत-मन्त्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "मैं मंजूर करता हूं कि जिन आर्डिनेंसों का हमने समर्थन कर दिया है वे बड़े व्यापक और सख्त हैं; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं ।"

लेकिन एक फर्क जरूर हुआ था। मैंने जिला मैजिस्ट्रेट को लिखकर सूचना दी थी कि मैं हुक्म तोड़कर बम्बई जाना चाहता हूं; शेरवानी ने ऐसी कोई बाकायदा नोटिस नहीं दी थी, लेकिन वह भी जाना चाहते हैं यह बात भी समानरूप से सब जानते थे और इसकी खबर अखबारों में भी छपी थी। सजा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मैजिस्ट्रेट से पूछा कि मुसलमान होने के खयाल से तो मुझे कम सजा नहीं दी गई है? उनके इस सवाल से वहां उपस्थित लोगों को बड़ी हँसी आई और मैजिस्ट्रेट कुछ परेशानी में पड़ गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को, देशभर में बहुत-सी घटनाएं हुईं। इलाहाबाद शहर में, हमारे स्थान के पास ही, बड़ी-बड़ी भीड़ों की पुलिस और फौज से मुठभेड़ हो गई, और सदा की भांति लाठी-प्रहार हुए, जिसमें कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय आज्ञा-भंग के कैदियों से जेलें भरने लगीं। पहले तो ये कैदी जिला-जेलों में भेजे जाते, और जब वहां जगह न रहती तब ही नैनी आदि सैण्ट्रल जेलों में आते थे। बाद में सभी जेलें भर गईं, और बड़ी-बड़ी स्थायी कैम्प-जेलें कायम करनी पड़ीं।

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते में बहुत थोड़े लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गये। रणजित पंडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बैरक नं० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली में लंका के युवक-मित्र बर्नार्ड एलूविहारे भी अचानक आ गये, जो कि बैरिस्टर बनने के बाद इंग्लैण्ड से अभी-अभी लौटे थे। मेरी बहिन ने उनसे कहा था कि आप हमारे जलूस आदि में शामिल न हों। लेकिन जोश में आकर वह कांग्रेस के एक जलूस में शरीक हो ही गये, और एक 'ब्लैक मरिया' गाड़ी उन्हें जेल में ले आई।

कांग्रेस, जिसमें सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमेटियां और अनगिनती स्थानिक कमेटियां शामिल थीं, गैर-कानूनी घोषित कर दी गई थीं। कांग्रेस के साथ-साथ सब तरह से सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील संगठन—जैसे, किसान-सभाएं, किसान-संघ, युवक-संघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक-संगठन, राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकानें, पुस्तकालय आदि भी—गैर-कानूनी करार दे दिये गये। इनकी सूचियां बड़ी लम्बी-लम्बी थीं, प्रत्येक बड़े प्रान्त के सैकड़ों नाम इनमें शामिल थे; सारे हिन्दुस्तान का जोड़ कई हजार तक पहुंच गया होगा। इन गैर-कानूनी

घोषित संस्थाओं की यह संख्या ही मानो कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्त्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई में कमला रोग-शय्यापर पड़ी थी और आन्दोलन में हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी मां और दोनों बहिनें बड़े उत्साह के साथ आन्दोलन में कूद पड़ीं। उनको जल्दी ही एक-एक साल की सजा मिल गई और वे जेल पहुंच गई। नये आनेवालों के जरिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी खबरें मिल जाया करती थीं। जो कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सेंसर की बड़ी सख्ती थी, और समाचार-पत्रों और समाचार एजेंसियों को भारी-भारी जुर्मानों का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तों में तो गिरफ्तारशुदा या सजा पाये हुए व्यक्ति का नाम छापना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल में बाहर के झगड़ों से अलग पड़े हुए, फिर भी उनमें सैकड़ों तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपने को सूत कातने, पढ़ने या दूसरे कामों में लगाये रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलों पर भी बातचीत करते थे, लेकिन हम लोग हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहारदीवारी के बाहर क्या हो रहा है? उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमें शामिल थे। कभी-कभी किसी काम की उम्मीद करते-करते बहुत थक जाते थे और कभी-कभी किसी काम के बिगड़ जाने पर गुस्सा आता था, और किसी कमजोरी या भद्देपन पर तबीयत झुंझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीब ढंग से तटस्थ-से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देखा करते थे, और यह अनुभव करते थे कि जब बड़ी-बड़ी ताकतें अपना काम कर रही हैं और दैवी तन्त्र लोगों को पीस रहा है, तब व्यक्तियों की छोटी-छोटी गलतियां या कमजोरियां कोई महत्त्व नहीं रखतीं। हम सोचा करते थे कि इस झगड़े और शोर-गुल का और इस पराक्रमपूर्ण उत्साह, निर्दयताभरे दमन और घृणित कायरता का भविष्य क्या होनेवाला है? इसका क्या नतीजा होगा? हम किस तरफ जा रहे हैं? भविष्य हमारी आंखों से छिपा हुआ था; और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था: और जहांतक हमसे सम्बन्ध था, वर्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, संघर्ष, कष्ट-सहन और बलिदान में से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध का हो जायेगा,
सारा जेन्थस[1] अहो रक्त से रंग जायेगा;
हेक्टर[2] तथा अजेक्स[3] पुनः होंगे समुपस्थित
हेलन[4] भी खुद दृश्य लखेंगी हो उच्चस्थित।
तब हम या परदे में होंगे या चमकेंगे रण में;
अन्धी आशा-निराशाओं में झूलेंगे क्षण-क्षण में;
तब सोचा हमने यह जीवन-बल का होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।"

---

[1]-[2]-[3]-[4]अजेक्स, हेक्टर, और हेलन यूनानी कवि होमर के 'ईलियड' काव्य के पात्र हैं। (यूनान की सुन्दरी) के हरण होने पर यूनान ने ट्रॉय पर चढ़ाई की थी और दस वर्ष तक ट्रॉय का घेरा चलता रहा। हेक्टर ट्रॉय का योद्धा था और अजेक्स यूनान का। जेन्थस ट्रॉय की एक नदी है।

"मेथ्यू एरनॉल्ड के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद। —अनु०

४२

ब्रिटिश शासकों की छेड़छाड़

१६३२ के उन शुरू के महीनों में, और बातों के अलावा, खास बात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमों ने अपनी खुशी का खूब प्रदर्शन किया। छोटे और बड़े, सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय हैं और कांग्रेसवाले कितने बुरे और झगड़ालू हैं। हम लोग लोकतन्त्र के हामी हैं जबकि कांग्रेस को डिक्टेटरशिप भाती है। वह देखो कांग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश में हाकिम आर्डिनेंसों, तमाम आजादी का दमन, अखबारों और छापेखानों की मुंहबन्दी, बिना मुकदमा चलाये लोगों की जेल-बन्दी, जायदाद और रुपयों की जब्ती और रोज-ब-रोज होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्भुत चीजों-जैसी न-कुछ बातों को भूल गये थे। इसके अलावा वे, हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज का जो मूल-स्वरूप है, उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बड़े धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलों में बन्द कांग्रेसी किस तरह अपना मतलब गांठ रहे हैं जब कि हम कुछ हजार रुपये महीने की न-कुछ-सी मजदूरी पर पब्लिक की भलाई में दिन-रात जुटे रहते हैं। छोटे-छोटे मैजिस्ट्रेट हम लोगों को भारी-भारी सजाएं तो देते ही थे, लेकिन सजा देते वक्त हमें उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशों के साथ-साथ कभी-कभी वे कांग्रेस और कांग्रेस में काम करने वाले लोगों को गालियां भी देते थे। भारत-मन्त्री के ऊंचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठावाले पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, "हां, कुत्ते भोंक रहे हैं, मगर हमारा कारवां चला जा रहा है।" उस वक्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलों में बन्द थे, वहां से वे आसानी से नहीं भोंक सकते थे और जो कुत्ते बाहर रह गये थे उनके मुंह बिलकुल बन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज्यादा अचरज की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे का दोष कांग्रेस के मत्थे मढ़ा जा रहा था। यह दंगा सचमुच बहुत ही वीभत्स

था, लेकिन उसकी वीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि उनके लिए कांग्रेस जिम्मेदार थी, जबकि असली बात यह थी कि उस दंगे में कांग्रेस ने अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य किया; यहां तक कि कांग्रेस के एक सर्वश्रेष्ठ सेवक श्री० गणेशशंकर विद्यार्थी उसमें बलि चढ़ गये, जिनकी मौत पर कानपुर की हर कौम और दल ने आंसू बहाकर शोक प्रकट किया। दंगों की खबर पाते ही कांग्रेस ने अपने करांची के अधिवेशन में फौरन ही एक जांच-कमेटी बिठा दी और इस कमेटी ने एक बहुत विस्तृत जांच की। कई महीने मेहनत के बाद कमेटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फौरन ही इस रिपोर्ट को जब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियां उठा ली गई, और मेरी समझ में वे नष्ट कर दी गई। जांच के नतीजों को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे सरकारी आलोचक और वे अखबार जिनके मालिक अंग्रेज हैं, हर बार यह बात दुहराते नहीं थकते कि दंगा कांग्रेस की वजह से हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि इस मामले में ही नहीं, दूसरे और मामलों में भी, अन्त में जीत सचाई की होगी; लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी होजाता है। एक कवि के शब्दों में—

"यह असत्य निश्चय ही जग में नष्ट एक दिन होगा,
पर तब तक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा।
सत्य महान् उसीकी जग में विजय अन्त में होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?"[1]

मेरा खयाल है कि हिस्टीरिया-जैसी युद्ध मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिलकुल स्वाभाविक था। और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की उम्मीद नहीं कर सकता था कि सचाई या संयम का पालन होगा। लेकिन फिरभी ऐसा मालूम पड़ता था कि उस समय आशातीत झूठ से काम लिया गया, उस झूठ की गहराई को देख कर अचम्भा होता था। इससे हमें इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल की प्रवृत्ति कैसी थी और पिछले दिनों में वे अपने को कितना दबाये रखते थे। सम्भवतः उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नहीं आया, बल्कि इस विचार से आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हें जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन-शासकों

---

[1]अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

को अपनी ताकत का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नहीं हारते। शासकों की इस मनोवृत्ति में और उधर दूसरी तरफ की तस्वीर में जमीन-आसमान का फर्क था। क्योंकि कांग्रेस की तरफ बिलकुल खामोशी छाई हुई थी। मगर यह खामोशी संयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण संयम की—सूचक नहीं थी, बल्कि इसलिए थी कि कांग्रेसवाले जेलों में बन्द थे और बाकी लोग डरे हुए थे तथा अखबारवालों को भी सर्व-व्यापी सेंसर का डर था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर कांग्रेसवालों का मुंह इस तरह मजबूरी से बन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते, बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहते और गालियां देने में शासकों को मात करते। मगर, हां, कांग्रेसवालों के लिए भी एक रास्ता तो था—वह था गैर-कानूनी अखबारों का, जो कई शहरों में समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान में अधगोरों के जो अखबार निकलते हैं और जिनके मालिक अंग्रेज हैं, वे भी बड़े रस के साथ इस हर्ष प्रदर्शन में शामिल हुए और उन्होंने ऐसे बहुत-से विचार प्रकट किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनों से उनके दिलों में दबे हुए पड़े थे। यों आमतौर पर उन्हें अपनी बात कुछ समझ-बूझकर कहनी पड़ती है, क्योंकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अखबारों के ग्राहक हैं; लेकिन जब नाजुक वक्त आ गया तब यह सब संयम बह गया और हमें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों ही के मन की झलक मिल गई। अब हिन्दुस्तान में अधगोरे अखबार बहुत कम रह गये हैं, वे एक-एक करके बन्द होगये हैं। लेकिन जो बाकी बचे हैं; उनमें कई ऊंचे दरजे के हैं—खबरों के लिहाज से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज से भी। दुनियाकी समस्याओं पर उनके जो अग्रलेख होते हैं, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगोंके दृष्टिकोणसे लिखे जाते हैं,फिर भी, उनमें लिखने वालों की योग्यता झलकती है, और इस बात का पता चलता है कि उन्हें अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा अधिकार है। इसमें कोई शक नहीं है कि अखबारों की दृष्टि से सम्भवत: वे हिन्दुस्तान में सबसे अच्छे हैं; लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलों में वे अपने उस गौरव से गिर जाते हैं। उनके एकपक्षी विचारों को देखकर ताज्जुब होता है। और जब कभी आन-बान का मौका आता है तब तो उनकी वह हिमायत प्रायः बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सचाई के साथ भारत-सरकार की राय को प्रकट करते हैं और

इस सरकार के हक में वे लगातार जो प्रचार करते हैं उसमें अपनी बात किसी पर जबरदस्ती न थोपने का गुण नहीं होता।

इन कुछ गिने-चुने अधगोरे अखबारों के मुकाबले हिन्दुस्तानी अखबार नीचे दरजे के हैं। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते हैं और उनके मालिक उनकी तरक्की करने की बहुत कम कोशिश करते हैं। वे अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी मुश्किल से चला पाते हैं और बेचारे दुःखी सम्पादकीय-विभाग को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमें छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्तिजनक होते हैं और क्या राजनीति और क्या सामान्य जीवन, दोनों में वे बहुत बढ़ी-चढ़ी भावुकता का परिचय देते हैं। मैं समझता हूं कि कुछ तो इसकी वजह यह है कि हम लोगों की जाति ही भावुकतामय है और कुछ यह कि जिस भाषा में (यानी अंग्रेजी में) वे निकलते हैं वह विदेशी भाषा है और उसमें सरलता से और साथ ही जोर के साथ लिखना आसान नहीं है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोगों के मन में दीर्घकालीन दमन और गुलामी की वजह से कई प्रकार की गांठें पड़ गई हैं, इसलिए अपने भावों को बाहर निकालने की हमारी प्रत्येक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेजी में निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिकों के अखबारों में जहांतक बहिरंग की सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से सम्बन्ध है, मदरास का 'हिन्दू' सम्भवतः सबसे अच्छा है। उसे पढ़कर मुझे हमेशा किसी अविवाहित वृद्धा की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरूफ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता है। यह अखबार खासतौर पर मध्यम श्रेणीवालों का अखबार है, जिनकी जिन्दगी चैन से गुजरती है। जीवन के संघर्षों और उसकी धक्का-मुक्की का, उसको कोई पता नहीं। नरम-दल के और भी कई अखबारों का स्टैंडर्ड भी यही अविवाहित वृद्धाओं का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुंच जाते हैं, लेकिन उनमें वह खूबी नहीं नहीं आ पाती जो 'हिन्दू' में है और इसलिए वे हर लिहाज से बहुत नीरस हो जाते हैं।

यह साफ था कि सरकार ने वार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहांतक हो सके पूरी कसकर बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस

कोशिश में रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेंसों से सम्हाले। उन दिनों वार का सूत्रपात हमेशा कांग्रेस की तरफ से होता था; लेकिन १९३२ की पद्धति बिलकुल दूसरी थी। १९३२ में सरकार ने सब तरफ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेंसों के द्वारा हाकिमों को जितने अधिकार सोचे जा सकते थे सभी दे दिये गये। संस्थाएं गैरकानूनी करार दे दी गईं। इमारतों पर, जायदाद पर, सवारियों, मोटरों वगैरा पर और बैंकों में जमा रुपयों पर कब्जा कर लिया गया। आम जलसों और जलूसों की मनाही कर दी गई और अखबारों और छापेखानों पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ, १९३० के बिलकुल विरुद्ध, गांधीजी निश्चितरूप से यह चाहते थे कि उस वक्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज्यादातर मेम्बरों की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मैं भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करें लेकिन लड़ाई हुए बिना नहीं रहेगी और हमें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा संयुक्तप्रान्त में और सीमा-प्रान्त में जो तनातनी बढ़ रही थी उससे लोगों का ध्यान भावी लड़ाई की तरफ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढ़े-लिखे लोग लड़ाई की बात नहीं सोच रहे थे, हालांकि वे लड़ाई की सम्भावना की पूरी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हें यह उम्मीद थी कि गांधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और जाहिर है कि इस मामले में उनकी लड़ाई से बचने की इच्छा ने ही उनके हृदयों में यह आशा पैदा कर दी थी।

इस तरह १९३२ के शुरू में निश्चित रूप से पहला हमला सरकार की तरफ से होता था और कांग्रेस हमेशा अपना बचाव करने में लगी रहती थी। आर्डिनेंसों को और सत्याग्रह-संग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनाएं अचानक हो गईं उनकी वजह से कई जगह के स्थानिक नेता तो भौंचक्के रह गये। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी कांग्रेस की पुकार का लोगों ने जो जवाब दिया वह ऐसा-वैसा नहीं था। सत्याग्रहियों की कमी नहीं रही। बल्कि सच बात तो यह है और मेरे खयाल से इस बात में कोई शक नहीं हो सकता कि १९३२ में ब्रिटिश सरकार का जो मुकाबला किया गया वह १९३० में किये जानेवाले मुकाबले से बहुत कड़ा और भारी था। १९३० में खासतौर पर बड़े-बड़े शहरों में धूमधाम और शोरगुल ज्यादा था, पर १९३२ में लोगों ने सहन-शक्ति पहले से ज्यादा दिखाई और

पूरी तरह शान्त रहे। इन बातों के होते हुए भी स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का जोर १९३० से इस बार बहुत कम था। ऐसा मालूम होता था मानो हम अनिच्छा से लड़ाई में शामिल हुए थे। १९३० में अपनी लड़ाई में हम एक तरह का गौरव महसूस करते थे जो दो साल बाद अब कुछ-कुछ मुरझा गया था। इधर सरकार ने उसके पास जितनी ताकत थी सब लगाकर कांग्रेस का मुकाबला किया। उन दिनों हिन्दुस्तान एक तरह से फौजी कानून के अधीन रहा और कांग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आजादी ही मिली। वह पहले ही प्रहार में बेहोश हो गई। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों में से, जो पिछले दिनों में उसके खास मददगार रहे थे, बहुत से इस बार घबरा गये। उनके धन-माल पर आ बनी। यह बात साफ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-संग्राम में शामिल होंगे या और किसी तरह से उसकी मदद करेंगे, न सिर्फ उनकी आजादी ही छीन ली जा सकती बल्कि शायद उनकी सारी जायदाद भी जब्त कर ली जा सकती थी। इस बात का हम लोगों पर युक्तप्रांत में तो कोई खास असर नहीं पड़ा, क्योंकि यहां तो कांग्रेस गरीबों ही की थी। लेकिन बम्बई जैसे बड़े शहरों में इस बात का बड़ा भारी असर पड़ा। व्यापारियों के लिए तो इसका अर्थ था पूरा सत्यानाश। पेशेवर लोगों (जैसे वकीलों-डाक्टरों) को भी उनसे भारी नुकसान पहुंचता था। इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखाई गई—शहर के अमीर श्रेणी के लोगों को लकवा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी थी कि तुम्हें लम्बी कैद की सजा देने के साथ तुमपर पांच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामों के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियां एक आम बात हो गई थी, और ये कोरी बातों की धमकियां ही न थीं; क्योंकि उन दिनों पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगों को हर रोज इन धमकियों के पूरे होने के उदाहरण मिलते रहते थे।

मेरा विचार है कि किसी कांग्रेसी को इस बातका अधिकार नहीं है कि सरकार ने जो तरीका अख्तियार किया उसपर एतराज करे—यद्यपि एक सोलहों आने अहिंसात्मक आन्दोलन का दमन करने के लिए सरकार ने जिस जोर-जबरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत आपत्तिजनक थी। अगर

हम लोग सीधी लड़ाई के क्रान्तिकारी साधनों से काम लेते हैं तो हमें हर तरह के
विरोध के लिए तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे साधन कितने भी अहिंसात्मक
क्यों न हों। हम लोग अपने बैठकखाने में बैठे-बैठे क्रान्ति का खेल नहीं खेल
सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनों का फायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते हैं।
अगर कोई क्रान्ति की ओर कदम बढ़ाना चाहता है, तो उसे उसके पास जो कुछ
है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत
और पैसेवाले अमीर लोगों में से तो बिरले ही क्रान्तिकारी मिलेंगे। हां, उन
व्यक्तियों की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि में मूर्ख और
अपनी श्रेणी के लोगों के लिए विश्वासघाती बनते हैं।

लेकिन आम लोगों के पास न तो मोटरें थीं, न बैंकों में उनका कोई हिसाब
था, न जब्त करने लायक जायदाद; और उन्हीं लोगों पर लड़ाई का असली बोझ
था। इसलिए अवश्य ही उनके लिए सरकार ने दूसरे तरीके अख्तियार किये।
सरकार ने चारों तरफ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मजेदार नतीजा
यह हुआ कि ऐसे बहुत से लोग क्रियाशील हो उठे, (हाल ही में छपी एक
किताब के अनुसार) 'सरकार-परस्त' के नाम से पुकारा जा सकता है। इन
लोगों को यह तो पता नहीं था कि भविष्य में क्या होनेवाला है, इसलिए ये लोग
कांग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त
करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफी नहीं समझती थी।
गदर के समय में मशहूर हुए फ्रेडरिक कूपर के शब्दों में शासक लोग पूरी क्रिया-
शीलता और प्रत्यक्ष वफादारी से कम किसी बात को सह नहीं सकते। सरकार
इतना नीचे उतरने को तैयार नहीं हो सकती थी कि वह अपनी रिआया के सद्भाव
मात्र पर कायम रहे।' अपने पुराने साथियों, ब्रिटिश-लिबरल (उदार) दल के
उन नेताओं के विषय में, जो राष्ट्रीय सरकार में जा मिले थे, एक साल पहले
श्री लॉयड जार्ज ने कहा कि "वे उन गिरगटों के नमूने हैं जो अपने देश-काल
की अवस्था देखकर अपना रंग बदल लेते हैं।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था
में अलग-अलग रंगों के लिए गुंजाइश नहीं थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई
सरकार की पसन्द के अत्यन्त चमकीले रंग में रंगकर बाहर निकले और दावतें
खाते तथा गीत गाते हुए वे शासकों के प्रति अपना प्रेम और आदर प्रदर्शित
करने लगे। जो आर्डिनेंस जारी किये गये थे उनसे, तरह-तरह की जो पाबन्दियां

मनाहियां और रोकें लगी हुई थीं उनसे, और दिन छिपे बाद घरों से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हें डरने की कोई जरूरत न थी, क्योंकि सरकार की ओर से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियों और अ-राजभक्तों ही के लिए है, राजभक्तों के लिए उनसे डरने का कोई कारण नहीं है। इसलिए जिस डर ने हमारे बहुत से देश-भाइयों को जकड़ रक्खा था वह उनके पास तक नहीं फटकता और वे अपने चारों तरफ चलनेवाले आन्दोलन और संघर्ष को समदृष्टि से देखते थे। 'पतिव्रता ग्वालिन' नाम की कविता में शायद वे भी क्लो से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि----

"भय क्यों हो, सर्वथा मुक्त हूं मैं तो भय से,
बलात्कार क्यों, राजी हूं जब स्वयं हृदय से ?"[1]

न जाने कैसे सरकार को यह खयाल हो गया कि कांग्रेस जेलों को औरतों से भरकर अपनी लड़ाई में उनका लाभ उठाना चाहती है। क्योंकि कांग्रेसवाले समझते होंगे कि औरतों के साथ अच्छा बर्ताव किया जायगा या उनको थोड़ी सजा दी जायगी। यह धारणा बिलकुल निराधार थी। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलों में ढकेली जांय ? मामूली तौर पर लड़कियों और स्त्रियों ने हमारी लड़ाई में क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयों या पतियों की इच्छा के विरुद्ध ही लिया। किसी भी हालत में उन्हें अपने घर के पुरुषों का पूरा सहयोग नहीं मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-लम्बी सजाएं देकर और जेलों में बुरा बर्ताव करके स्त्रियों को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहिनों की गिरफ्तारी के बाद शीघ्र ही कुछ युवती लड़कियां, जिनमें से अधिकांश पन्द्रह या सोलह वर्ष की थीं, इलाहाबाद में इस बात पर गौर करने के लिए इकट्ठी हुईं कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें कोई अनुभव तो था ही नहीं। हां, उनमें जोश था और वे यह सलाह लेना चाही थीं कि हम क्या करें। लेकिन जब वे एक प्राइवेट घर में बैठी हुई बातें कर रही थीं, गिरफ्तार कर ली गईं और हरेक को दो-दो साल की सख्त कैद की सजा दी गई। यह तो उन बहुत सी छोटी-छोटी घटनाओं में से एक थी, जो उन दिनों आये-दिन हिन्दुस्तान-भर में हो रही थीं। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सजा मिली उनमें से

[1] फ्लेचर कवि के एक प्रहसन से।

ज्यादातर को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। उन्हें मर्दों से भी ज्यादा तकलीफें भुगतानी पड़ीं। यों मैंने ऐसी कई दुःखदाई मिसालें सुनीं, लेकिन मीरा बहन (मिस मेडलीन स्लेड) ने बम्बई की एक जेल में अपने तथा अपने साथी कैदी, दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों, के साथ होनेवाले जिस व्यवहार का वर्णन किया वह उन सब को मात करनेवाला था।

संयुक्तप्रान्त में हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती क्षेत्रों में ही रहा। किसानों के प्रतिनिधि की हैसियत से कांग्रेस ने जो लगातार जोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफी छूट देने का वादा किया लेकिन हम उसे भी काफी नहीं समझते थे। हमारी गिरफ्तारी के बाद फौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। विचित्र बात तो यह थी कि इस छूट का ऐलान पहले से नहीं किया गया; क्योंकि अगर यह पहले हो जाता तो हालत में काफी अन्तर पड़ जाता। हम लोगों के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यों ही ठुकरा दें। लेकिन उस वक्त तो सरकार को यह चिन्ता थी कि इस छूट की नामवरी कांग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ तो वह कांग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ किसानों को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठ रहें। यह बात तो साफ तौर पर दिखाई देती थी कि जहां-जहां कांग्रेस का जोर ज्यादा था वहीं-वहीं ज्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटें ऐसी-वैसी न थीं, फिर भी उनसे किसानों की समस्या हल न हुई। हां, उनसे स्थिति बहुत-कुछ संभल जरूर गई। इन छूटों ने किसानों की लड़ाई की तेजी कम कर दी और हमारी व्यापक लड़ाई की दृष्टि से इन छूटों ने उस समय हमें कमजोर कर दिया। उस लड़ाई से युक्तप्रान्त में बीसियों हजार किसानों को दुःख झेलने पड़े। उनमें से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद हो गये। लेकिन उस लड़ाई के जोर से लाखों किसानों को मौजूदा प्रणाली में ज्यादा-से-ज्यादा जितनी छूट सम्भव हो सकती थी करीब-करीब उतनी मिल गई और उस लड़ाई ने (सत्याग्रह-संग्राम की वजह से बहुतों को जो तकलीफ उठानी पड़ती वह छोड़कर) तरह-तरह की परेशानियों से भी उनकी जान बचा दी। किसानों को कभी-कभी जो ये थोड़े से फायदे हो गये वे ऐसे कुछ थे नहीं, लेकिन इस बात में कोई शक नहीं है कि वे जैसे कुछ थे प्रायः उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने किसानों की तरफ से की थी। और

किसानों को उस लड़ाई से कुछ दिनों के लिए फायदा ही हुआ, लेकिन उनमें जो सबसे अधिक बहादुर थे, वे उस लड़ाई में काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ में जब युक्तप्रान्त का विशेष आर्डिनेंस जारी हुआ तब उसके साथ-साथ एक विवरणात्मक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान में और दूसरे आर्डिनेंसों के साथ-साथ जो बयान निकाले गये, उनमें बहुत-सी असत्य और अर्ध-सत्य बातें भरी हुई थीं जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थीं। यह सब शुरू-शुरू के हर्ष-प्रदर्शन का एक अंग था और हमें उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट गलतियों के खंडन करने का कोई मौका नहीं मिला। शेरवानी के मत्थे खासतौर पर एक झूठा दोष मढ़ने की कोशिश की गई थी। यह झूठ साफ-साफ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ्तारी से कुछ ही पहले उसका खंडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफाइयां बड़ी अजीब होती थीं। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बकवास करती थी और कितनी हड़बड़ा गई थी। उस दिन जब मैं वह आज्ञापत्र पढ़ रहा था, जो स्पेन बोरबन चार्ल्स तीसरे ने अपने राज्य से जुसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था, तो उसे पढ़ते-पढ़ते मुझे उन हुक्मनामों और आर्डिनेंसों की तथा उन्हें निकालने के लिए दिये गये कारणों की याद आये बिना न रही जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में प्रकाशित किये। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ को निकला था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास "अपनी प्रजा में अपना शासन, शान्ति और न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो कर्त्तव्य है उससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर कारण हैं और इन कारणों को छोड़कर दूसरे बहुत जरूरी, उचित और आवश्यक कारण भी हैं, जिन्हें मैं अपने दिल में सुरक्षित रख रहा हूं।"

तो आर्डिनेंस निकालने के जो असली कारण थे वे तो वाइसराय के दिल में या उनके सलाहकारों के साम्राज्यवादी दिलों में ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ-साफ दीख पड़ते थे। सरकार की तरफ से आर्डिनेंसों को निकालने के लिए जो कारण बताये गये, उनसे हमें सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौका मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में पूर्णता पर पहुंचा रही थी। कुछ महीने बाद हमें यह भी मालूम हुआ कि कुछ अर्द्ध-सरकारी परचे व पैम्फलेट हजारों की तादाद में सब गांवों में बांटे जा रहे हैं, और जिनमें गलत बातों की तादाद काफी आश्चर्य-

जनक है और जिनमें खासतौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानों का नाज की जिस मन्दी से नुकसान पहुंचा है, वह कांग्रेस ने ही कराई है। कांग्रेस की ताकत की इससे ज्यादा तारीफ और क्या हो सकती है कि वह संसारव्यापा-संकट पैदा कर सकती लेकिन यह झूठ काफी होशियारी के साथ इस आशा से लगातार फैलाया गया कि उससे कांग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातों के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ खास-खास जिलों के किसानों ने सत्याग्रह की लड़ाई में जो हिस्सा लिया था, वह प्रशंसनीय था। सत्याग्रह की यह लड़ाई लाजिमी तौर पर उचित लगान और छूट की लड़ाई में मिल गई थी। इस लड़ाई में किसानों ने १९३० की लड़ाई से कहीं ज्यादा तादाद में और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू में इस लड़ाई में कुछ विनोद भी हुआ। हम लोगों को एक मजेदार कहानी यह सुनाई गई कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली जिले के बाकुलिया गांव में गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुर्क करने के लिए गये थे। इस गांव के लोग दूसरे लोगों को देखते हुए कुछ खुशहाल और जीवट के आदमी थे। उन्होंने माल और पुलिस के अफसरों का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरों के किवाड़ खोलकर उनसे कहा कि चले जाइये और जो चाहे उठा लाइये। इन लोगोंने मवेशी वगैरा कुर्क किये। इसके बाद गांववालों ने पुलिस और माल-विभाग के हाकिमों को पान-सुपारी नजर की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीची निगाह करके वहां से चले गये। लेकिन यह तो एक छोटी-सी और गैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फौरन ही यह चुहुलबाजी या उदारता या मनुष्योचित दया कहीं भी न दिखाई दी। चुहुलबाजी की वजह से बेचारा बाकुलिया गांव उस सजा से नहीं बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

इन कई खास-खास जिलों में कई महीनों तक किसानों ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी शायद गरमी के शुरू में होने लगी। इसमें कोई शक नहीं कि बहुतसे लोग गिरफ्तार किये गये,लेकिन ये गिरफ्तारियां तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के खिलाफ करनी पड़ीं। साधारणतौर पर गिरफ्तारियां तो खास-खास कार्यकर्त्ताओं तथा गांवों के नेताओं की ही की जाती थीं। दूसरों को तो केवल मार-पीटकर छोड़ दिया जाता था। मार-पीट की यह पद्धति जेल में ले जाने और गोली मारने से अच्छी पाई गई। क्योंकि लोगों को जब जी चाहे

तभी मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहात में होनेवाली मार-पीट की तरफ वहां से दूर के लोगों का ध्यान प्रायः नहीं जाता है। इसके अलावा उससे कैदियों की तादाद भी नहीं बढ़ती, जोकि वैसे ही बढ़ती जाती थी। हां, बेदखलियां, कुर्कियां और ढोरों तथा जायदाद की नालामियां बहुत हुईं। किसान तकलीफ से तड़पते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो कुछ थोड़ा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देशभर में जिन बहुत-सी इमारतों पर सरकार ने अपना कब्जा कर लिया था उनमें स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन में कांग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था उसका भी कीमती सामान और माल सरकार के कब्जे में ले लिया गया। कुछ दिनों तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया, लेकिन उसके बाद पड़ोस में एक पार्क की खुली जगह में ही दवाखाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल—या कहना चाहिए दवाखाना—स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान में रक्खा गया और वहीं वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द-भवन' की बाबत भी कुछ बात चली कि सरकार उसपर भी अपना कब्जा कर लेना चाहती है, क्योंकि मैंने इन्कम-टैक्स की एक बड़ी बकाया रकम अदा करने से इनकार कर दिया था। यह टैक्स १९३० में पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होंने सत्याग्रह की लड़ाई की वजह से उसे जमा नहीं किया। दिल्ली पैक्ट के बाद १९३१ में उस टैक्स के बारे में इन्कम-टैक्स के हाकिमों से मेरी बहस हुई लेकिन अन्त में मैं उसे देने को राजी हो गया और उसकी एक किश्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेंस जारी हुए और मैंने तय कर लिया कि अब मैं टैक्स नहीं दूंगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यों, अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मैं किसानों से तो यह कहूं कि तुम लगान और मालगुजारी देने से रुक जाओ और खुद अपना इन्कम-टैक्स जमा कर दूं। इसलिए मैं यह आशा करता था कि सरकार हमारे मकान को कुर्क कर लेगी। मुझे अपने मकान की कुर्की की बात बहुत ही बुरी लगती थी। क्योंकि उसका अर्थ यह होता है कि मेरी मां उससे निकाल दी जाती और हमारी किताबें, कागजात तथा जानवर और बहुत-सी ऐसी वस्तुएं जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि में महत्त्व था, पराये लोगों के हाथों में चली जातीं और उनमें से कई तो कदाचित खो भी जातीं। हमारा

राष्ट्रीय झंडा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनियन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का विचार मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता। क्योंकि मैं अनुभव करता था कि मेरा मकान कुर्क हो जाने पर मैं उन किसानों के ज्यादा नजदीक आ जाऊंगा, जो अपनी चीजें खो बैठे हैं और इससे उनके दिल भी बढ़ेंगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान पर हाथ नहीं डाला; शायद इसलिए कि उसे मेरी मां का ख्याल था, या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जान ली कि मेरे मकान को कुर्क करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेजी बढ़ जायगी। कई महीने बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरों (हिस्सों) का उसे पता लगा और इन्कम-टैक्स वसूल करने के लिए उन्हें जब्त कर लिया गया। सरकार ने मेरी और मेरी बहिन की मोटर तो पहले ही कुर्क करके बेच डाली थी।

इन शुरू के महीनों की एक बात से तो मुझे बहुत ज्यादा तकलीफ हुई। यह बात थी कई म्युनिसिपैलिटियों और सार्वजनिक संस्थाओं-द्वारा हमारे राष्ट्रीय झंडे का उतार डालना, खासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरों में कांग्रेसियों का बहुमत बताया जाता था। झंडे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योंकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख्ती से पेश आयेगी। यह सख्ती सम्भवतः म्युनिसिपैलिटी को तोड़ने या उसके मेम्बरों को सजा देने के रूप में होती। जो संस्थाएं स्थापित स्वार्थ रखती हैं वे अक्सर डरपोक होती हैं और शायद उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे झंडे उतार डालतीं। फिर भी इस बात से बड़ा दुःख हुआ। हमारे लिए वह झंडा जिन बातों को हम बहुत प्यार करते हैं उनका प्रतीक हो गया था और उसकी छाया में हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञाएं ली थीं। खुद अपने ही हाथों उसे उतार फेंकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ अपनी प्रतिज्ञाओं का तोड़ना ही नहीं बल्कि एक पाप कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—अधिक शारीरिक बल के सामने झूठ को कबूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होंने कौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्जत को हलका किया।

यह बात नहीं है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह

काम करते और आग में कूद पड़ते। किसी को इसलिए दोष देना कि वह अगली पंक्ति में नहीं है या जेल नहीं जाता या दूसरी तरह की तकलीफें या नुकसान नहीं सह सकता, गलत और व्यर्थ है। हरेक को बहुत से कर्त्तव्य पूरे करने पड़ते हैं और कई प्रकार की जिम्मेदारियां उठानी पड़ती हैं। और दूसरों को इस बात का कोई हक नहीं है कि वे उनके जज बनकर बैठें। लेकिन पीछे घरों में बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सचाई से या जिसे हम सचाई समझते हैं उसे न मानना बिल्कुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय-हितों के खिलाफ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफा दे देते। मगर, इन लोगों ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। टॉमस मूर ने कहा है—

> पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुञ्जन सुन्दर,
> त्यों कौंसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते हैं मेम्बर।[1]

शायद उस काम के लिए किसी की आलोचना करना अन्याय है जो उन्होंने एक ऐसे आकस्मिक संकट में किया जिससे वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला संसारव्यापी-युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बड़े-से-बड़े बहादुरों के भी छक्के छूट जाते हैं। उससे भी पहले १९१२ में 'टाइटैनिक'[2] जहाज सम्बन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उसमें ऐसे-ऐसे नामी आदमियों ने, जिनकी बाबत कभी भी यह खयाल नहीं किया जा सकता था कि वे कायर हैं, जहाज के कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगों को डूबता छोड़ दिया। अभी हाल में 'मॉरो कैसिल' पर जो आग लगी उसके बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नहीं कह सकता कि ऐसा ही संकट आने पर जबकि प्रवृत्तियां बुद्धि और संयम को दबा लेती हैं तब वह खुद क्या करेगा? इसलिए हमें किसी को दोष नहीं देना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं

---

[1] टॉमस मूर के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

[2] एक अंग्रेजी स्टीमर अपनी अमेरिका की पहली ही यात्रा में एक बरफीली चट्टान से टकराकर टूट गया था (१४ अप्रैल १९१२)। उसके २००० यात्रियों में से केवल ७०६ ही बच पाये थे। —अनु०

है कि हम इस बात पर गौर न करें कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नहीं था और भविष्य में इस बात का खयाल रक्खें कि कौम की नैया की .पतवार ऐसे लोगों के हाथ में न दी जाय, जो ऐसे वक्त पर, जब सबसे ज्यादा धीरज की जरूरत होती है, कांपने लगें और बेकार हो जांय। अपनी इस असफलता को उचित ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज्यादा अपराध है।

लड़नेवाली ताकतों की हरेक कशमकश ज्यादातर दिलेरी और धीरज पर निर्भर रहती है। खूनी-से-खूनी लड़ाई भी इन्हीं दो गुणों पर निर्भर रहती है। मार्शल फोक ने कहा था -- "अन्त में जाकर लड़ाई वही जीतता है जो कभी घबड़ाता नहीं और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिंसात्मक लड़ाई में तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज्यादा जरूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस स्वत्व को नुकसान पहुंचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने उद्देश्य को भयंकर हानि पहुंचाता है।

महीने बीतते गये, और हमें हर रोज कुछ अच्छी खबरें मिलती गईं और कुछ बुरी। हम लोग जेल की अपनी नीरस और एकसी जिन्दगी के आदी हो गए। ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह में बहुत-सी घटनाएं घटेंगी। सचमुच उस हफ्ते में बहुत-सी बातें हुईं भी। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाकी सब बातें फीकी पड़ गईं। इलाहाबाद में मेरी मां उस जलूस में थीं जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियों से मारा। जिस वक्त जलूस रोक दिया गया था उस वक्त किसी ने मेरी माता जी के लिए एक कुर्सी ला दी। वह जलूस के आगे उस कुर्सी पर सड़क पर बैठी हुई थीं; कुछ लोग, जिनमें मेरे सेक्रेटरी वगैरा शामिल थे और जो खासतौर पर उनकी देखभाल कर रहे थे, गिरफ्तार करके उनसे अलग कर दिये गये और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी मां को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सिर पर लगातार बेंत मारे गये जिससे उनके सर में घाव हो गया और खून बहने लगा और वह बेहोश होकर सड़क पर गिर गईं। सड़क पर से उस वक्त तक जलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गए थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफसर ने उन्हें उठाया और अपनी मोटर में बिठाकर आनन्द-भवन पहुंचा दिया।

श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू

उस रात को इलाहाबाद में यह अफवाह उड़ गई कि मेरी मां का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रुद्ध जनता की भीड़ ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गये। पुलिस ने उनपर गोली चलाई जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातों की खबर मेरे पास पहुंची (क्योंकि हमें उन दिनों एक साप्ताहिक अखबार मिला करता था) तो अपनी कमजोर बूढ़ी मां के खून से लथपथ धूलभरी सड़क पर पड़े रहने का खयाल मुझे रह-रहकर सताने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहां होता तो क्या करता ? मेरी अहिंसा कहां तक मेरा साथ देती ? मुझे डर है कि वह ज्यादा हद तक मेरा साथ नहीं देती। क्योंकि वह दृश्य शायद मुझे उस पाठ को बिलकुल भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज्यादा समय से की थी और उसका मुझपर या मेरे राष्ट्र पर क्या असर होता इसकी रत्ती-भर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चंगी हो गई और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल में मुझसे मिलने आईं, तब उनके सिर पर पट्टी बंधी थी। लेकिन उन्हें इस बात की बड़ी भारी खुशी और महान् गर्व था कि वह हमारे स्वयंसेवकों और स्वयंसेविकाओं के साथ बेतों और लाठियों की मार खाने के सम्मान से वंचित न रहीं। लेकिन उनका स्वास्थ्य-लाभ उतना वास्तविक नहीं था जितना दिखावटी, और ऐसा मालूम होता है कि इतनी बड़ी उमर में इन्हें जो भारी झकझोरे सहने पड़े उनसे उनका शरीर जर्जर हो गया और उन गहरी तकलीफों को उभाड़ दिया जिन्होंने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लिया।

४३

बरेली और देहरादून की जेलों में

छः हफ्ते नैनी-जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली जिला जेल में कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गड़बड़ रहने लगी। मुझे रोज बुखार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली जेल में बिताने के बाद, जब गरमी बहुत सख्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली की अपेक्षा एक ठंडी जगह, हिमालय की छाया में देहरादून जेल में भेजा गया। मैं वहां लगातार कोई साढ़े चौदह महीने, लगभग अपनी दो साल की सजा के अखीर तक रहा। इस बीच मेरा तबादला किसी और दूसरी जगह नहीं हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और खतों तथा उन गिने-चुने अखबारों के जरिये, जो मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास खबरें पहुंच जाती थीं, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज्यादातर मैं अपरिचित ही रहा और खास-खास घटनाओं के बारे में मेरी धारणा बहुत धुंधली थी।

इसके बाद जब मैं छूटा तब अपने निजी कामों में और उस समय जो राजनैतिक परिस्थिति थी उसे ठीक करने में लगा रहा। कोई पांच महीने से कुछ ज्यादा की आजादी के बाद मैं फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अबतक यहीं हूं। इस तरह पिछले तीन सालों में मैं ज्यादातर जेल में ही—और इसीलिए घटनाओं से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूं। इस बीच में जो-कुछ हुआ उस सबका ब्योरेवार परिचय प्राप्त करने का मुझे बहुत ही कम, नहीं के बराबर, मौका मिला है। जिस दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेंस में गांधीजी शरीक हुए थे उसमें परदे के पीछे क्या-क्या हुआ इसकी बाबत मेरी जानकारी अबतक बहुत ही धुंधली है इस मामले पर गांधीजी से बातचीत करने का अबतक मुझे कोई मौका ही नहीं मिला और न इसी बात का मौका मिला कि अबतक जो-कुछ हुआ है उसके बारे में उनके या दूसरे साथियों के साथ बैठकर विचार कर लूं।

१९३२ और १९३३ के सालों के बारे में मेरी जानकारी इतनी काफी नहीं है कि मैं अपने राष्ट्रीय संग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूं। लेकिन चूंकि मैं रंगमंच को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओं को अच्छी तरह जानता था, इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बातें भी हुईं उनको मैं अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मैं उस संग्राम की साधारण प्रगति के विषय में ठीक राय कायम कर सकता हूं। पहले चार महीने के करीब तो सत्याग्रह की लड़ाई काफी जोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच में वह फिर भड़क उठती थी। सीधी मार की लड़ाई क्रांतिकारी पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नहीं रह सकती, वह या तो तेज होगी या नीचे गिरेगी। पहले आवेश के बाद सत्याग्रह-संग्राम धीरे-धीरे ढीला पड़ता गया, लेकिन उस हालत में भी वह बहुत काल तक चलता रहा। यद्यपि कांग्रेस गैर-कानूनी करार दे दी गई थी, फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस का संगठन काफी सफलता के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने प्रान्त के कार्यकर्त्ताओं के साथ उसका नाता बना रहा। वह अपनी सूचनाएं भेजता रहा, सूबों से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबों को आर्थिक मदद भी दी।

सूबे के संगठन भी कम-ज्यादा कामयाबी के साथ अपना काम चलाते रहे। जिन सालों में मैं जेल में बन्द था उनमें दूसरे सूबों में क्या हुआ इस बात का मुझे ज्यादा पता नहीं, लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे संयुक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बातें मालूम हो गईं। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी का दफ्तर १९३२ में पूरे सालभर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक्त तक अपना काम चलाता रहा जब गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली बार सत्याग्रह को स्थगित किया। इस डेढ़ साल में जिलों को अक्सर हिदायतें भेजी जाती रहीं। छपी हुई या साइक्लोस्टाइल से लिखी हुई पत्रिकाएं नियम से जारी होती रहीं। समय-समय पर जिलों के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-संघ के कार्यकर्त्ताओं को भत्ता मिलता रहा। इसमें से अधिकांश काम अनिवार्यतया गुप्त रूप से किया गया था। लेकिन प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के जो सेक्रेटरी दफ्तर आदि को संभाले हुए थे, वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक्त तक काम करते

रहे, जबतक उन्हें गिरफ्तार करके हटा न दिया गया। उसके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने अनुभव से हमने जाना कि हिन्दुस्तान भर में छिपे-छिपे खबरें लेने-देने के लिए संगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ विरोध होते हुए भी, बिना किसी खास कोशिश के बहुत अच्छा परिणाम निकला। लेकिन, हममें से बहुतों को इस बात का भी खयाल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नहीं खाती और सार्वजनिक जागृति पर उसका निराशाजनक असर पड़ता है। बड़े और खुले जन-आन्दोलन के एक छोटे-से अंश के तौर पर यह काम उपयोगी था, लेकिन उसमें हर वक्त यह खतरा बना रहता था कि कहीं छोटे और प्राय: व्यर्थ के गुप्त काम ही जन-आन्दोलन की जगह न ले लें। यह खतरा उस समय खास-तौर पर बढ़ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो। जुलाई १९३३ में गांधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया।

किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ समय तक गुजरात और कर्नाटक में भी चलती रही। गुजरात और कर्नाटक, दोनों प्रान्तों में ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होंने अपनी धरती के मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुजारी देने से इनकार कर दिया और इसकी वजह से काफी नुकसान उठाया। बेदखलियों और जायदाद की जब्तियों से किसानों को जो तकलीफ पहुंची उसे कम करने और पीड़ितों की मदद करने के लिए कांग्रेस की तरफ से कुछ कोशिश की गई लेकिन वह अवश्य ही नाकाफी रही। युक्तप्रान्त में तो यहां की कांग्रेस-कमेटी ने इस तरह संकटग्रस्त किसानों की मदद करने के लिए कोई कोशिश नहीं की। यहां की समस्या वहां से कहीं ज्यादा बड़ी थी। असामी किसानों की तादाद किसान-जमींदारों से कहीं ज्यादा है। यहां का रकबा भी बहुत बड़ा था, और सूबे की कमेटी के आर्थिक साधन भी दूसरे सूबों के मुकाबले बहुत ही संकुचित थे। लड़ाई की वजह से जिन बीसियों हजार किसानों को नुकसान पहुंचा उनकी मदद करना हमारे लिए बिलकुल असम्भव था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी बहुत मुश्किल था कि हम इन्हीं लोगों की मदद करें और इन लोगों में तथा उन लाखों लोगों में भेद-भाव कैसे करें जिन्हें हमेशा भूखों मरने का डर बना रहता है। सिर्फ कुछ हजार लोगों को मदद

करने से मुसीबत और आपसी रंजिश खड़ी हो जाती। इसलिए हम लोगों ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दें। हमने आन्दोलन के शुरू में ही यह बात सबको बता दी थी और किसान लोग हमारी बात के महत्त्व को अच्छी तरह समझते थे। किसी प्रकार की शिकायत या आपत्ति किये बिना उन्होंने जितनी तकलीफें सहीं उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। जहांतक हमसे हो सका वहांतक हमने कुछ व्यक्तियों की अलबत्ते मदद करने की कोशिश की—खासतौर पर उन कार्यकर्त्ताओं की पत्नियों और बच्चों की, जो जेल गये थे। इस दुःखी देश की दरिद्रता का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगों के लिए ईश्वरीय देन थी।

इस लड़ाई के दौरान में युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, यद्यपि वह गैर-कानूनी करार दे दी गई थी फिर भी, अपने वैतनिक कार्यकर्त्ताओं को जो थोड़ी-बहुत वृत्ति देती थी बराबर देती रही, और जब वे जेल चले गये - जेल तो अपनी अपनी बारी आने पर सभी गये थे—तब उनके परिवारों की मदद करती रही। हमारे बजट में इस मद का खर्च बहुत बड़ा था। इसके बाद परचों और पत्रिकाओं को छापने और उनकी कई हजार कापियां निकालने का खर्च था। यह खर्च भी बहुत बड़ा था। सफरखर्च भी खर्च की एक खास मद थी। इसके अलावा जो जिले ज्यादा गरीब थे उन्हें भी कुछ मदद दी जाती थी। एक जबरदस्त और सब तरह से मोरचाबन्द सरकार के खिलाफ जनता की घमासान लड़ाई के इस काल में इन सब खर्चों के और दूसरे खर्चों के होते हुए युक्तप्रान्त की कांग्रेस-कमेटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के अखीर तक का यानी बीस महीने का कुल खर्च सिर्फ ६३०००रुपया था; यानी करीब-करीब ३१५० रुपया महीना। इस रकम में वह खर्च शामिल नहीं है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर, लखनऊ जैसी ज्यादा साधनसम्पन्न और ज्यादा मजबूत जिलों की कमेटियों ने अलग किया। प्रान्त की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरे विचार से हमने जो-कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उसने बहुत कम खर्च किया। इस छोटी-सी रकम की तुलना उस रकम से करना बड़ा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए खासतौर पर खर्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नहीं मालूम है फिर भी मेरा खयाल है कि कांग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बड़े सूबों ने

हमारे सूबे से कहीं ज्यादा खर्च किया। लेकिन विहार तो, कांग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ोसी युक्तप्रान्त से भी ज्यादा गरीब सूबा था; फिर भी लड़ाई में उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

अस्तु धीरे-धीरे सत्याग्रह आन्दोलन कमजोर पड़ता गया, फिर भी वह चलता रहा और वह भी बिना विशेषताओं के नहीं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों वह सर्वसाधारण का आन्दोलन नहीं रहा। सरकारी दमन की सख्ती के अलावा इस आन्दोलन पर सबसे पहला जबरदस्त प्रहार उस वक्त हुआ जब सितम्बर १९३२ में गांधीजी ने पहले-पहल हरिजनों की समस्या पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जागृति जरूर पैदा की, लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई स्थगित की गई तब तो व्यावहारिक रूप में अखीरी तौर पर उसका अन्त हो गया। यों उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन प्राय: विचार में ही, आचार में नहीं। इसमें कोई शक नहीं कि अगर वह स्थगित न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता के कारण सुन्न हो गया था। कम-से-कम उस वक्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य चला गया था और नये उत्साह का संचार नहीं हो रहा था। व्यक्तिगत रूप में तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थे जो सत्याग्रह करते रह सकते थे। लेकिन उन लोगों को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण में काम करना पड़ता था।

हम लोगों को जेल में रहते हुए यह बात रुचिकर नहीं लगती थी कि हमारा महान् आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममें से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमें झट कामयाबी हो जायगी। यह जरूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आमलोग इस तरह उठ खड़े हों कि उन्हें कोई दबा ही न सके तो चमत्कारिक विजय हो जाती। लेकिन हम ऐसे दैवयोग पर भरोसा नहीं कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लड़ाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज होती, कभी धीमी पड़ती और बीच-बीच में जिच में पड़ जाती। इस लड़ाई से जनता को अनुशासन का पाठ पढ़ाने तथा उसमें एक विचारधारा का लगातार प्रचार करने में ज्यादा सफलता हुई। १९३२ के उन शुरू के दिनों में तो मैं कभी-कभी इस विचार से डर जाता था कि कहीं हमें फौरन ही दिखावटी सफलता न मिल जाय, क्योंकि अगर

ऐसा होता तो उसमें अनिवार्यतः कोई राजीनामा होता जिससे राज की बागडोर सरकार-पक्षी और अवसरवादी (मौकापरस्त) लोगों के हाथ में पहुंच जाती। १९३१ के अनुभव ने हमारी आंखें खोल दी थीं। कामयाबी तो तभी काम की हो सकती है जब वह ऐसे वक्त पर आवे जबकि लोग प्रायः काफी समर्थ हों और उसके बारे में उनके विचार स्पष्ट हों जिससे वे उस विजय का लाभ उठा सकें। यदि ऐसा न होगा तो सर्वसाधारण तो लड़ेंगे और कुर्बानी करेंगे और जब कामयाबी का वक्त आवेगा तब ऐन मौके पर दूसरे लोग बड़ी खूबी से आकर जीत के लाभ हड़प लेंगे। इस बात का भारी खतरा था क्योंकि खुद कांग्रेस के इस बारे में निश्चित विचार नहीं थे कि हम लोगों को किस तरह की सरकार या समाज स्थापित करना चाहिए। न इस बारे में लोगों को साफ-साफ कुछ सूझता ही था। सचमुच कुछ कांग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली में कोई ज्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो केवल यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार में ब्रिटिश या विदेशी अंश को निकालकर उसकी जगह 'स्वदेशी' छाप दे दी जाय।

एकदम 'सरकारपरस्त' लोगों से तो हमें कुछ डर नहीं था क्योंकि उनके धर्म की सबसे पहली बात यह थी कि राजशक्ति जिस किसीके हाथ में हो उसी के सामने सिर झुकाया जाय। लेकिन यहां तो लिबरलों (मध्यमार्गियों) और प्रतिसहयोगियों तक ने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को लगभग सोलहों-आने मंजूर कर लिया था। समय-समय पर वे जो थोड़ा-बहुत छिद्रान्वेषण कर देते थे वह इसलिए बिल्कुल बेकार और दो कौड़ी का होता था। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत में कानून के पोषक थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का स्वागत नहीं कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कहीं ज्यादा आगे बढ़ गये और बहुत-कुछ सरकार की ओर जा खड़े हुए। हिन्दुस्तान में सब प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रता का जो दमन हो रहा था उसे प्रायः चुप-चाप खड़े हुए और यों कहिए कुछ-कुछ डरे हुए दर्शकों की तरह, दूर से देख रहे थे। असल में दमन का यह सवाल महज सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुकाबला किया जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नहीं था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलों को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके खिलाफ शायद ही किसीने कोई आवाज उठाई हो। जो लोग मामूली तौर पर

इन आजादियों के हामी थे, वे सब-के-सब लड़ाई में जुटे हुए थे और उन लोगों ने राज की जबरदस्ती के सामने सिर झुकाने से इनकार करके उसकी सजा भोगी। लेकिन बाकी लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होंने सरकार की नुक्ताचीनी में चूं तक नहीं की। जब कभी उन्होंने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहजे से मानो अपने कुसूर की माफी मांग रहे हों और उसके साथ-साथ वे कांग्रेस की और उन लोगोंकी भी जो सत्याग्रह की लड़ाई लड़ रहे थे, कड़ी निन्दा कर देते थे।

पश्चिमी देशों में नागरिक-स्वतन्त्रता के पक्ष में मजबूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहां ज्योंही इनमें कमी की जाती है त्योंही लोग बिगड़कर उसका विरोध करने लगते हैं। (शायद अब यह वहां भी इतिहास की पुरानी बात हो गई है।) उन देशों में ऐसे लोगों की तादाद बहुत काफी है जो खुद तो बड़ी और सीधी लड़ाई में हिस्सा लेने को तैयार नहीं होते लेकिन इस बात का बहुत काफी ध्यान रखते हैं कि बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता में, सभा और संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता में, तथा व्यक्तिगत और छापेखाने की स्वतन्त्रता में किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरन्तर आन्दोलन करते रहते हैं और इस तरह सरकार द्वारा उनके भंग किये जाने की कोशिशों को रोकने में सहायक होते हैं। हिन्दुस्तान के लिबरलों का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलों की परम्परा पर चल रहे हैं (हालांकि इन दोनों में नाम के अलावा और किसी बात में समानता नहीं है)। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जा सकती थी कि इन आजादियों के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक विरोध तो जरूर करेंगे क्योंकि दमन का असर उन पर भी पड़ता था। लेकिन उन्होंने ऐसा कोई बात नहीं की। उन्होंने वॉल्टेयर की तरह यह नहीं कहा कि "आप जो कुछ कहते हैं उससे मैं बिलकुल सहमत नहीं हूं, लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक है और आपके इस हकको मैं अपनी जानपर खेलकर बचाऊंगा।"

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना मुनासिब नहीं है क्योंकि उन लोगों ने लोकतन्त्र या आजादी के रक्षक होने का दावा कभी नहीं किया और उन्हें एक ऐसी हालत का सामना करना पड़ा जिसमें एक शब्द ऐसा-वैसा कहने पर वे मुसीबत में फंस सकते थे। हिन्दुस्तान में होनेवाले दमन का स्वतन्त्रता के उन पुराने प्रेमियों यानी ब्रिटिश लिबरलों और ब्रिटिश मजदूर-दल के नये साम्यवादियों पर जो असर पड़ा उसे देखना ज्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान

में जो कुछ हो रहा था वह काफी तकलीफदेह था। लेकिन वे उस सबको काफी मजे के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो "मैंचेस्टर गार्जियन" के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान में "दमन के वैज्ञानिक प्रयोग" की कामयाबी पर उनकी खुशी जाहिर हो जाती। हाल में ही ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने एक राजद्रोह-बिल पास करने की कोशिश की है। खासतौर पर लिबरलों और मजदूर दलवालों ने इस बिल के खिलाफ और बातों के साथ इस आधार पर बहुत बावेला मचाया है कि वह बोलने की आजादी को नष्ट करता है और मैजिस्ट्रेटों को यह अधिकार देता है कि वे तलाशी के वारन्ट निकालें। जब-जब मैं इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ सहानुभूति करता था, लेकिन साथ ही मेरी आंखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखाई देता कि यहां तो जो कानून जारी हैं वे करीब-करीब उस कानून से सौ गुने ज्यादा बुरे हैं जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि जिन अंग्रेजों के गले में इंग्लैंड में पतिंगा भी अटक जाता है, वे हिन्दुस्तान में बिना चीं-चपड़ किये ऊंट को किस तरह निगल जाते हैं। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगों की इस अद्भुत खूबी पर हमेशा आश्चर्य हुआ है कि किस प्रकार वे अपने नैतिक पैमानों को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना लेते हैं और जिन कामों से उनके साम्राज्य बढ़ाने के इरादों को मदद मिलती है उन सब में उन्हें गुण-ही-गुण दिखाई देता है। आजादी और लोकतन्त्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे हैं उस पर उन्हें बड़ा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उनकी निन्दा करते हैं लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान में आजादी का छीना जाना जरूरी समझते हैं और इस बात के लिए ऊंचे-से ऊंचे नैतिक कारण पेश करते हैं कि इस आजादी के छीनने के काम में उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

जब हिन्दुस्तान में चारों तरफ आग लग रही थी और पुरुषों तथा स्त्रियों की अग्नि-परीक्षा हो रही थी, तब यहां से बहुत दूर लन्दन में छंटे चुने हजरात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में तीसरी गोलमेज-कान्फ्रेंस हुई और उसके साथ-साथ कई कमेटियां बनीं। यहां असेम्बली के बहुत से मेम्बरों ने इन कमेटियों की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे वे निजी तौर पर आनन्द मनाने के साथ-साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन कर सकें।

सार्वजनिक खर्चे से हिन्दुस्तान से लन्दन को काफी भीड़ गई। बाद को १९३३ में संयुक्त पार्लमेण्टरी कमेटी बैठी जिसमें हिन्दुस्तानियों ने असेसरों की तरह काम किया। इस बार भी जो लोग गवाह बनकर गये उनको दयालु सरकार ने सफर खर्च अपने खजाने से दिया। बहुत-से लोग फिर हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावों से प्रेरित होकर सार्वजनिक खर्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमें से कुछ ने तो ज्यादा सफर खर्च मिलने के लिए कोशिश भी की।

हिन्दुस्तान के जन-आन्दोलन का क्रियात्मक स्वरूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियों को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया में, लन्दन में इकट्ठा देखकर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर जरूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह के जीवन और मरण के संघर्ष में लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममें से बहुतों को यह जान पड़ा कि यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उन्होंने हिन्दुस्तान में प्रगतिविरोधी लोगों को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगों से अलग कर दिया। (उस समय हम यही सोचते थे, लेकिन अब मालूम पड़ता है कि हमारा यह खयाल गलत था।) इस छंटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने में मदद मिलेगी और सब लोगों के लिए यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी कि सिर्फ आजादी के द्वारा ही हम सामाजिक समस्याओं को हल कर सकते हैं और जनता के सिर का बोझ हटा सकते हैं।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगों ने अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में ही नहीं, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपने को हिन्दुस्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कड़ी न थी जो इनको जनता से जोड़ती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उसकी उस भीतरी प्रेरणा को ही, जो उसे कुर्बानी करने और तकलीफें झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजनीतिज्ञों की राय में असलियत सिर्फ एक बात में थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताकत जिससे लड़कर उसे हराना गैर-मुमकिन है और इसलिए, उसके सामने हमें खुशी से या बेचैनी से अपना सिर झुका देना चाहिए। इन लोगों को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव के बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल असम्भव था। मि० जे० ए० स्पेंडर ने हाल ही में "हमारे समय का संक्षिप्त

इतिहास" (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमें १६१० की उस आयरिश ज्वॉइण्ट कान्फ्रेंस की असफलता की चर्चा की गई है, जिसने वैधानिक संकट को मिटाने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता संकट-काल के बीच में विधान तलाश करने की कोशिश करते हैं, उनकी दशा उन लोगों की-सी होती है, जो, जब मकान में आग लगी हुई है तब, उसका बीमा कराने की कोशिश करते हैं। १९३२ और १६३३ में हिन्दुस्तान में जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कहीं ज्यादा थी जो आयर्लैण्ड में १६१० में लगी हुई थी। और यद्यपि उस आग की ज्वालाएं भले ही बुझ जांय फिर भी उसके धधकते हुए अंगारे बहुत दिन तक रहेंगे और वे हिन्दुस्तान में स्वाधीनता के संकल्प की तरह गरम और कभी न बुझानेवाले होंगे।

हिन्दुस्तान के शासकवर्ग में हिंसा-भाव की जो बढ़ती हो रही थी उसे देखकर आश्चर्य होता था। इस हिंसा की परम्परा पुरानी थी, क्योंकि ब्रिटिश लोगों ने हिन्दुस्तान पर राज ज्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। सिविल हाकिमों का भी खास दृष्टिकोण फौजी हो रहा है। उनकी हुकूमत में वह प्रवृत्ति प्रायः हमेशा रही है जो विजित देश पर कब्जा करके पड़ी हुई शत्रु की फौज की हुकूमत में रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज्यादा बढ़ गई। बंगाल में और दूसरी जगह आतंकवादियों ने जो काण्ड किये उनसे इस हिंसा को और भी खुराक मिली और शासकों को अपने हिंसात्मक-कार्यों के लिए थोड़ा-बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेंसों ने सरकारी अफसरों और पुलिस को इतने असीम अधिकार दे दिये कि हिन्दुस्तान में एक तरह का 'पुलिस-राज' ही हो गया, जिसमें पुलिस के लिए न कोई रोक थी न पूछ।

थोड़ी-बहुत मात्रा में हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों को इस भीषण दमन की आग में होकर निकलना पड़ा, लेकिन सीमाप्रान्त और बंगाल को सबसे ज्यादा तकलीफें झेलनी पड़ीं। सीमाप्रान्त तो हमेशा से खासकर फौजी सूबा रहा है। उसका इन्तजाम अर्ध-फौजी कायदों के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य की दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व पहले ही से था। अब लालकुर्त्ती-आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबड़ा गई। इस सूबे में 'शान्तिस्थापन करने के लिए' और 'तूफानी गांवों को' ठीक करने के लिए फौज की टुकड़ियां भेजी गईं। हिन्दुस्तान-भर

में यह ग्राम रिवाज हो गया था कि सरकार गांव-के-गांवों पर जुर्माना ठोंक देती थी और कभी-कभी (खासतौर पर बंगाल में) नगरों पर भी सजा के तौरपर पुलिस बैठा दी जाती थी। और जब पुलिस को अनाप-शनाप अधिकार मिले हुए थे और उन्हें रोकनेवाला कोई न था तब पुलिस की ओर से ज्यादतियां होना लाजिमी था। हम लोगों को कानून और व्यवस्था के नाम पर अनियमितता और अव्यवस्था के आदर्श नमूने खूब देखने को मिले।

बगाल के कुछ हिस्सों में तो बहुत ही असाधारण बातें दिखाई देती थीं। सरकार तमाम आबादी के—सही बात तो यह है कि हिन्दुओं की आबादी के—साथ दुश्मनों का-सा वर्ताव करती। और बारह से लेकर पचीस बरस तक के हर शख्स को, फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लड़का हो या लड़की, 'शनाख्त' का कार्ड लेकर चलना पड़ता था। लोगों के झुंड-के-झुंड को देश-निकाला दिया जाता था या नजरबन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर बन्धन था और उनके स्कूलों का नियमन सरकार करती थी या जब चाहती स्कूलों को बन्द कर देती थी। साइकिलों पर चढ़ने की मनाही थी और कहीं आते-जाते वक्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पड़ती थी। इसके अलावा दिन-छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातों के लिए कायदे और कानूनों की भरमार थी। फौजें गश्त लगाती थीं। ताजीरी पुलिस तैनात कर दी जाती थी और गांव-भर पर जुर्माने होते थे। बड़े-बड़े क्षेत्र ऐसे मालूम पड़ते थे मानो उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल दिया गया हो। इन कसबों में रहनेवाले स्त्री-पुरुषों की ऐसी कड़ी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगों से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नहीं सकते। इस बात का निर्णय देना मेरा काम नहीं है कि आया ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत कायदे-कानून जरूरी थे या नहीं। अगर वे जरूरी नहीं थे तो सरकार पर यह भारी इलजाम आता है कि उसने सारे प्रदेश की स्वतन्त्रता को अपमानित करने, उसपर जुल्म करने और उसे भारी नुकसान पहुंचाने का महान् अपराध किया। अगर वे जरूरी थे तो निस्सन्देह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन की बाबत यह अन्तिम फैसला है, जिससे उसकी नींव का पता लग जाता है।

सरकार की इस हिंसावृत्ति ने जेलों में भी हम लोगों का पीछा किया। कैदियों का अलग-अलग श्रेणियों में बंटवारा एक मजाक-सा था और अक्सर उन

लोगों को बड़ी तकलीफ होती थी जो ऊंचे दर्जों में रक्खे जाते थे। ये ऊंचे दर्जे बहुत ही कम लोगों को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल-स्वभाव के पुरुषों और स्त्रियों को ऐसी हालत में रहना पड़ा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक कैदियों को मामूली कैदियों से भी ज्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलों के इन्सपेक्टर जनरल ने तो यहां तक किया कि सब जेलों के नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमें यह कहा गया कि सत्याग्रही कैदियों के साथ 'कड़ाई का बर्ताव' होना चाहिए।[1]

बेंतों की सजा जेल की आम सजा हो गई। २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा में कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में १९३२ के सत्याग्रह से सम्बन्धित जुर्मों के सिलसिले में कोई पांचसौ व्यक्तियों के बेंत लगे हैं।" इसमें यह बात साफ नहीं है कि उसमें वे लोग भी शामिल हैं या नहीं जिनको जेलों में जेल के कायदे तोड़ने के लिए बेंतों की सजा दी गई। १९३२ में जेलों में बेंत लगाने की खबरें जब हमारे पास अक्सर आने लगीं, तब मुझे याद आया कि हम लोगों ने दिसम्बर १९३० में बेंतों की सजा की एक या दो फुटकर मिसालों के विरोध में तीन दिन तक उपवास किया था। उस वक्त इस सजा की पाशविकता से मुझे भारी चोट पहुंची थी और इस वक्त भी मुझे बार-बार चोट पहुंचती थी और मेरे दिल में बड़ी टीस उठती थी, लेकिन मुझे यह नहीं सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध में अनशन करना चाहिए, क्योंकि मैंने इस बार इस मामले में अपने को पहले से ही कहीं ज्यादा बेबस पाया। कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति जड़-सा हो जाता है। किसी बुरी बात को आप ज्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी आदी हो जायगी।

हमारे आदमियों को जेल में कड़ी-से-कड़ी मशक्कत दी गई—जैसे चक्की,

---

[1] इस गश्ती-चिट्ठी पर ३० जून १९३३ की तारीख पड़ी थी और उसमें यह लिखा हुआ था—"जेल के सुपरिण्टेण्डेण्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्सपेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही कैदियों के साथ उनके महज सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के कैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए।"

कोल्हू वगैरा, और उनसे माफी मंगवाकर तथा सरकार के सामने यह प्रण कराकर, कि हम आगे ऐसा नहीं करेंगे, उन्हें छूटने को प्रेरित करने के लिए, जहांतक हो सका वहांतक उनकी जिन्दगी भाररूप बनाने की कोशिश की गई। कैदियों से इस तरह मांफी मंगवाना जेल के हाकिमों के लिए बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। जेल में ज्यादातर सजाएं उन लड़कों और नौजवानों को भोगनी पड़ीं जो धौंस, दबाव और बेइज्जती बरदाश्त करने को तैयार न थे। ये लड़के निहायत अच्छे और जीवटवाले थे। स्वाभिमान, जिन्दादिली तथा साहसीवृत्ति से भरे हुए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों में इस तरह के लड़कों की बेहद तारीफें होतीं, उन्हें हर तरह की शाबाशी दी जाती। लेकिन यहां हिन्दुस्तान में उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान के कारण उनको हथकड़ियाँ पहनाई गईं, उन्हें काल-कोठरियों में बन्द किया गया और बेंत लगवाये गये।

जेलों में हमारी महिलाओं की जिन्दगी तो खासतौर पर दुःखमय थी—ऐसी दुःखमय कि उसका खयाल करने में तकलीफ होती है। ये स्त्रियां ज्यादातर मध्य-श्रेणी की थीं जो रक्षित जीवन बिताने की आदी थीं और पुरुषों-द्वारा अपने आधिपत्यवाले समाज में अपने फायदे के लिए बनाये गये नीतिनियमों और रिवाजों द्वारा सताई हुई थीं। इन स्त्रियों के लिए आजादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात में कोई शक नहीं कि जिस जोश और जिस दृढ़ता के साथ वे आजादी की लड़ाई में कूदीं उनका मूल उस धुंधली और लगभग अज्ञात, लेकिन फिर भी उत्कट आकांक्षा में था जो उनके मन में घर की गुलामी से अपने को मुक्त करने के लिए बसी हुई थी। इनमें से बहुत कम को छोड़कर बाकी सबको मामूली कैदियों के दर्जे में रखा गया और उनको बहुत ही पतित स्त्रियों के साथ और अक्सर उन्हीं की-सी भयानक हालत में रखा गया। एक बार मैं एक ऐसी बैरक में रखा गया जो औरतों की बैरक से सटी हुई थी। दोनों के बीच में एक दीवार ही थी। औरतों के अहाते में, दूसरी कैदिनों के साथ-साथ कुछ राजनैतिक कैदिनें भी थीं और इनमें एक महिला ऐसी भी थी जिसके घर में मैं एक बार ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊंची दीवार हमें एक-दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातों और गालियों को सुनने से नहीं रोक पाती थी, जो हमारी बहिनों को कैदी-नम्बरदारिनों से सुननी पड़ती थीं। इन्हें सुनकर मुझे बड़ा रंज होता था।

यह बात खासतौर पर ध्यान देने लायक है कि १९३२ और १९३३ में राजनैतिक कैदियों के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कहीं ज्यादा बुरा था, जो दो बरस पहले सन् १९३० में किया गया था। यह बात केवल जेल-हाकिमों की धुन की वजह से ही नहीं हो सकती थी। इसलिए इसके सम्बन्ध में एकमात्र उचित परिणाम यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक कैदियों के प्रश्न को छोड़कर भी युक्तप्रान्तीय-सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ थी कि वह कैदियों के साथ मनुष्यों का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख्त खिलाफ होने के लिए प्रसिद्ध था। इस बात की हमें एक ऐसी मिसाल मिली जिसके बारे में कोई शक हो ही नहीं सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल-निरीक्षक हम लोगों के पास जेल में आये। यह महाशय बागी या हम लोगों की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि 'सर' थे। उनको सरकार ने खुश होकर खिताब बख्शा था। उन्होंने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैंने एक दूसरी जेल का निरीक्षण किया था; और अपने निरीक्षण के नोट में यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योंकि सरकार की मण्डली में 'इन्सानियत' अच्छी निगाह से नहीं देखी जाती। लेकिन मैं अपनी बात पर अड़ा रहा, क्योंकि मैं कभी यह खयाल ही नहीं कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुकसान पहुंच सकता है। नतीजा क्या हुआ ? फौरन ही एक बहुत दूर कहीं कोने में पड़ी हुई एक जेल में उस जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक किस्म की सजा ही थी।"

कुछ जेलर खासतौर पर खूंख्वार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे। उनको खिताब दिये गये तथा उनकी तरक्की की गई। जेलों में बेईमानी और रिश्वतखोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक-साफ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत से दोस्तों का तजरुबा है कि जेल के कर्मचारियों में वही लोग सबसे ज्यादा बेईमान और रिश्वतखोर होते हैं जो आमतौर पर अनुशासन के बहुत जबरदस्त और सख्त हामी बनते हैं।

मैं खुशकिस्मत रहा हूं कि जेल में और जेल से बाहर और जितने लोगों से मेरा वास्ता पड़ा उन सबने मेरे साथ इज्जत व शराफत का बर्ताव किया, उस हालत

में भी जब कि शायद मैं उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे स्वजनों को बहुत दुःख हुआ। मेरी मां, कमला और मेरी लड़की इन्दिरा इलाहाबाद जिला जेल में मेरे बहनोई रणजित पण्डित से मिलने के लिए गईं और वहां बिना कुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हें जेल से बाहर ढकेल दिया। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बड़ा रंज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय-सरकार का रुख भी इस मामले में अच्छा नहीं है तब भी मुझे भारी धक्का लगा। अपनी मां को जेल-अधिकारियों द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से बचाने के लिए मैंने तय कर लिया था कि किसी से मुलाकात नहीं करूंगा। और करीब सात महीने तक, जबतक मैं देहरादून जेल में रहा, मैंने किसी से मुलाकात नहीं की।

४४

जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममें से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पावे, इस बात का ध्यान रखने के लिए हम लोगों को बरेली में गाड़ी पर नहीं बिठाया गया। बल्कि वहां से ५० मील की दूरी पर एक छोटे-से स्टेशन पर ले जाकर वहां रेल में बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर में ले जाये गये। कई महीने तक अलग जेल में बन्द रहने के बाद रात की उस ठंडी हवा में मोटर के सफर से हमें अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटी-सी घटना हुई, जिसने उस वक्त तो मेरे हृदय पर असर डाला ही था लेकिन अबतक भी वह मेरी याद में तरोताजा है। बरेली-पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो कि एक अंग्रेज था, वहां मौजूद था और ज्योंही मैं कार में बैठा त्योंही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमें, उसने मुझे बताया कि, जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक-पत्रों की कापियां थीं। उसने कहा कि मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे हैं, इसलिए मैं कुछ मासिक-पत्र आपके लिए ले आया हूं। इससे पहले मेरी उसकी मुलाकात कभी नहीं हुई थी और न उस दिन के बाद में आजतक उससे कभी मिला। मैं उसका नाम भी नहीं जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पड़ा और अपने मन में मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी-रात के उस लम्बे सफर में मैं अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों के शासकों और शासितों के, सरकारी और गैर-सरकारी लोगों के, तथा सत्ताधारियों और उनकी आज्ञाओं का पालन करनेवालों के आपसी सम्बन्धों के बारे में तरह-तरह की बातें सोचता रहा। इन दोनों वर्गों के बीच में कैसी गहरी खाई है, और ये दोनों एक-दूसरे पर कितना शक करते हैं तथा एक-दूसरे को कितना नापसन्द करते

हैं! लेकिन इस अविश्वास और अरुचि से भी ज्यादा बड़ी बात एक-दूसरे की बाबत अज्ञान है। इसी अज्ञान की वजह से दोनों एक-दूसरे से डरते हैं और एक-दूसरे की मौजूदगी में हर वक्त चौकन्ने-से रहते हैं। हरेक को दूसरा शख्स कुछ अनमना, खिचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनों में से एक भी यह अनुभव नहीं करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अंग्रेज हिन्दुस्तान पर राज करते हैं और लोगों को सहायता तथा सहारा देने के साधनों की उन्हें कमी नहीं है। इसलिए उनके पास अवसरवादी और नौकरियों की तलाश में गिड़गिड़ाते फिरनेवाले लोगों की भीड़ पहुंचा करती है। हिन्दुस्तान के बारे में अपनी राय वे इन्हीं भद्दे नमूनों को लेकर बनाते हैं। हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेजों को सिर्फ हाकिमों की ही हैसियत से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमें सोलहों आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते हैं जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालों में अपनी रक्षा करने की कोशिश करते समय होते हैं। एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी इच्छा के मुताबिक काम करनेवाले व्यक्ति के बर्ताव में और उस बर्ताव में, जिसे एक शख्स हाकिम की या सेना की एक इकाई की हैसियत से, करता है, कितना फर्क होता है! फौजी जवान तो अकड़कर अटेंशन होते ही अपनी मनुष्यता को दूर धर देता है, और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगों पर निशाना ताककर उन्हें मार गिराता है, जिन्होंने उसका कभी कोई नुकसान नहीं किया। मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफसर का है, जो एक शख्स की हैसियत से बेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही क्षण निरपराध लोगों पर लाठी-चार्ज करा देगा। उस वक्त वह अपने को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखता और न वह उस भीड़ को ही व्यक्तियों की शक्ल में देखता है जिन्हें वह डंडों से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है।

ज्योंही कोई व्यक्ति दूसरे पक्ष को भीड़ या समूह के रूप में देखने लगता है, त्योंही दोनों को जोड़नेवाली मनुष्यता की कड़ी गायब हो जाती है। हम लोग यह भूल जाते हैं कि भीड़ में वही शख्स, मर्द और औरत और बच्चे होते हैं, जिनमें प्रेम और नफरत के भाव होते हैं, तथा जो कष्ट अनुभव करते हैं। एक औसत अंग्रेज अगर साफ-साफ बात कहे तो यह मंजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियों में कुछ आदमी काफी भले भी हैं; लेकिन वे लोग तो अपवाद-स्वरूप हैं, और कुल मिलाकर

तो हिन्दुस्तानी एक घृणास्पद लोगों की भीड़-भर हैं। औसत हिन्दुस्तानी भी यह मंजूर करेगा कि कुछ अंग्रेज जिन्हें वह जानता है तारीफ के काबिल हैं, लेकिन इन थोड़े से लोगों को छोड़कर बाकी अंग्रेज बड़े ही घमंडी, पाशविक और सोलहों आने बुरे आदमी हैं। कैसी अजीब बात है कि हर शख्स दूसरी कौम की बाबत अपनी राय किस तरह बनाता है। उन लोगों के आधार पर नहीं जिनके वह संसर्ग में आता है, बल्कि उन दूसरे लोगों के आधार पर जिनके बारे में या तो वह कुछ नहीं जानता या 'कुछ नहीं' के बराबर ही जानता है।

व्यक्तिगत रूप से तो मैं बड़ा सौभाग्यशाली रहा हूं और लगभग हमेशा ही मेरे प्रति सब लोग सौजन्य दिखाते रहे हैं, फिर चाहे वे अंग्रेज हों या मेरे अपने ही देश-भाई। मेरे जेलरों और पुलिस के उन सिपाहियों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ्तार किया या जो मुझे कैदी के रूप में एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का बर्ताव किया और इस इन्सानियत की वजह से मेरे जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि मेरे अपने देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया, क्योंकि उनमें तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मैं उनमें लोकप्रिय था। पर अंग्रेजों के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, भीड़ में से एक इकाई नहीं। मेरा खयाल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी शिक्षा इंग्लैण्ड में पाई और खासतौर पर इस बात ने कि मैं इंग्लैण्ड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नजदीक ला दिया और इन कारणों से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का सभ्य आदमी समझे बिना नहीं रह सकते थे, फिर चाहे उन्हें मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यों न मालूम पड़ें। जब मैं अपने इस बर्ताव की तुलना उस जिन्दगी से करता हूँ, जो मेरे ज्यादातर साथियों को भोगनी पड़ती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और जिल्लत-सी मालूम होती है।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल तो आखिर जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका दुःखद वातावरण प्रायः असह्य हो उठता था। उसका वातावरण हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतखोरी और झूठ से भरा हुआ था। वहां कोई गालियां देता था तो कोई गिड़गिड़ाता था। नाजुक मिजाज-वाले हर शख्स को वहां लगातार मानसिक-सन्ताप में रहना पड़ता था, कभी-कभी जरा-जरा-सी बातों से ही लोग उखड़ जाते। चिट्ठी में कोई खराब खबर आ-

जाती या अखबार में ही कोई बुरी खबर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फिक्र से बड़े परेशान हो जाते थे। बाहर तो हम लोग हमेशा काम में लगकर अपने दुःखों को भूल जाते थे। वहां तो तरह-तरह की दिलचस्प बातों और कामों की वजह से शरीर और मन का साम्य बना रहता था। जेल में ऐसा कोई रास्ता नहीं था। हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानो हम बोतल में बन्द कर दिये गये हों और दबाकर रख दिए गए हों और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाजिमीतौर पर हमारी राय एकांगी और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी। जेल में बीमारी खासतौर से दुःखदाई होती है।

फिर भी मैंने अपने को जेल-जीवन की दिनचर्य्या का आदी बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपने को ठीक-ठाक रक्खा। काम और कसरत की बाहर कुछ भी कीमत हो, जेल में तो वे लाजिमी थे। क्योंकि उनके बिना वहां कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को कायम नहीं रख सकता। मैंने अपना एक कार्यक्रम बना लिया था, जिसका मैं कड़ाई के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपने को बिलकुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज हजामत बनाता था (हजामत के लिए मुझे सेफ्टी रेजर मिला हुआ था)। मैंने इस छोटी-सी बात का जिक्र इसलिए किया है कि आमतौर पर लोगों ने इन आदतों को छोड़ दिया और वे कई बातों में ढीले पड़ गये थे। दिन-भर कड़ा काम करने के बाद शाम को मैं खूब थक जाता और मजे से नींद का स्वागत करता।

इस तरह दिन-पर-दिन, हफ्ते-पर-हफ्ते और महीने-पर-महीने निकल गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह खत्म ही नहीं होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज और हर शख्स से ऊब जाता, सबपर गुस्सा करता, सबसे खीज उठता, फिर वह चाहे जेल के मेरे साथी हों और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक्त पर मैं बाहर के लोगों पर भी इसलिए खीझ उठता था कि उन्होंने यह काम क्यों किया या यह काम क्यों नहीं किया। ब्रिटिश-सल्तनत से तो हमेशा ही खीझा रहता था। लेकिन ऐसे वक्त पर औरों के साथ-साथ और सबसे ज्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीझ उठता था। इन दिनों मैं बहुत चिड़-चिड़ा भी हो जाता, और जेल की जिन्दगी में होनेवाली जरा-जरा-सी बातों पर बिगड़ उठता था। खुशकिस्मती यह थी कि मेरा मिजाज ज्यादा दिनों तक ऐसा नहीं रहता था।

जेल में मुलाकात का दिन बड़े उल्लास का दिन होता था। हम लोग मुलाकात के दिनों के लिए कैसे तरसते थे। उनके लिए कैसी प्रतीक्षा करते थे तथा दिन गिना करते थे! लेकिन मुलाकात की खुशी के बाद उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया भी होती और फिर सूनेपन और अकेलेपन का राज हमारे दिल में छा जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाकात कामयाब नहीं हुई, इसलिए कि मुझे कोई ऐसी खबर मिली जिससे मैं बिगड़ गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई, तो मैं बाद को बहुत ही दुखी हो जाता था। मुलाकात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली में तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ में कागज और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के करीब-करीब हरेक शब्द को बड़े उत्साह से लिख रहा था। इस बात से मुझे बहुत ही चिढ़ होती थी और ऐसी मुलाकातें बिलकुल बेकार जातीं।

पहले इलाहाबाद-जेल में मुलाकात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ से मेरी मां और पत्नी के साथ जो दुर्व्यवहार हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाकातें करना बन्द कर दिया था। करीब-करीब सात महीने तक मैंने किसी से मुलाकात नहीं की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस रहा और जब इसके बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाकात करना शुरूकर देनी चाहिए और उसके फलस्वरूप जब लोग मुझसे मिलने आये तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहिन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटे से बच्चे को मेरे कन्धों पर चढ़ने की आदत थी। यहां भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढ़ना चाहा तो मेरे भावों का बांध टूट गया। मानवी संसर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मैं अपने को सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाकात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलों से आनेवाले खत (क्योंकि मेरी दोनों बहिनें जेल में थीं) जो हमें हर पन्द्रहवें दिन मिलते थे और भी कीमती हो गए, और मैं उनकी बड़ी उत्सुकता से बाट देखा करता था। निश्चित तारीख को कोई खत न आता तो मुझे बड़ी चिन्ता हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हें खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड़ करता जिस तरह कोई इत्मीनान के साथ आनन्ददायी

चीज के साथ करता हूँ। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कहीं खत में कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दुःख हो। जेल में खतों का आना या जेल में खत लिखना दोनों ही वहां के शान्तिमय और स्थिर-जीवन में बाधा डालते थे। वे मन में भावों को जगाकर बेचैनी पैदा करते थे और उसके बाद एक या दो दिन तक मन अस्तव्यस्त होकर भटकने लग जाता और उसे रोजमर्रा के काम में जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पन्त और काशीपुर के कुंवर आनन्द-सिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड़ दिये गए, क्योंकि उनकी छः महीने की सजा खत्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ के शुरू में मेरे सब साथी चले गये और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के अखीर में जेल से छूटने तक, करीब-करीब आठ महीने तक, देहरादून जेल में मैं बिलकुल अकेला रहता था। हर रोज कुछ मिनट तक किसी जेल-कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मैं बातचीत भी कर सकता। कानून के अनुसार तो यह एकान्त सजा न थी लेकिन उससे मिलती-जुलती ही थी। इसलिए ये बड़ी मनहूसी के दिन रहे। सौभाग्य से इन दिनों मैंने मुलाकात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दुःख कुछ हलका हो गया था। मेरा खयाल है कि मेरे साथ यह खास रिआयत की गई थी कि मुझे बाहर से भेजे हुए ताजे फूल लेने की और कुछ फोटो रखने की इजाजत थी। इन बातों से मुझे काफी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर कैदियों को फूल या फोटो रखने की इजाजत नहीं है। कई मौकों पर मुझे वे फूल नहीं दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियों को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थीं। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पड़ौस की कोठरी में रहता था, अपने शीशे, कंघे वगैरा चीजों को जिस तरह सजाकर रक्खा था उस-पर जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एतराज किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासितापूर्ण' नहीं बना सकते। और वे विलासिता की चीजें क्या थीं?—दांतों का एक ब्रश, दांतों का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर में लगाने के तेल की शीशी, एक ब्रश और कंघी, शायद एक या दो छोटी-छोटी चीजें और।

जेल में हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीजों की कीमत समझने लगे थे। वहां हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढ़ा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीजें ही मंगा सकते थे, इसलिए हम उसे बड़ी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीजों को बटोर कर रखते थे जिन्हें जेल से बाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी में फेंका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास सम्पत्ति के नाम पर रखने की कोई चीज नहीं होती तब भी तो सम्पत्ति जोड़ने की भावना हमारा पीछा नहीं छोड़ती।

कभी-कभी जिन्दगी की कोमल वस्तुओं के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद वातावरण, मित्रों के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा जोर पकड़ उठती थी। किसी अखबार में किसी तस्वीर या फोटो को देखकर पुराना जमाना सामने आ खड़ा होता—उन दिनों की बातें सामने आ जातीं जब जवानी में किसी बात की फिकर न थी। ऐसे वक्त घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड़ लेती और वह दिन बड़ी बेचैनी के साथ कटता।

मैं हर रोज थोड़ा-बहुत सूत काता करता था, क्योंकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमागी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा खास काम लिखना और पढ़ना ही था। मैं जिन-जिन किताबों को पढ़ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नहीं पाती थीं, क्योंकि उनपर रोक थी और वे सेंसर होती थीं। किताबों को सेंसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नहीं होते थे। स्पैंगलर की Decline of the West (पश्चिम का पतन) नामक किताब इसलिए रोक ली गई थी कि उसका नाम खतरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम हुआ था। लेकिन मुझे इस सम्बन्ध की किसी प्रकार की खास शिकायत नहीं करनी चाहिए; क्योंकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी किस्म की किताबें मिल जाती थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मामले में भी मेरे साथ खास रिआयत होती थी, क्योंकि मेरे बहुत से साथियों को, जो 'ए' क्लास में रखे गए थे, सामयिक विषयों पर किताबें मंगाने में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल में तो सरकार का श्वेत-पत्र (White paper) भी नहीं दिया गया, जिसमें खुद सरकार की विधान-सम्बन्धी योजनाएं थीं, क्योंकि उसमें राजनैतिक बातें

थीं। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तकों और उपन्यासों की तहेदिल से सिफारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश-सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर तरह से मजहब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढ़ाती है!

हिन्दुस्तान में जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक स्वतन्त्रता भी छीन ली गई हो तब कैदियों के हकों की बात करना बिलकुल अनुचित मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर गौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को कैद की सजा दे देती है तो क्या उसके मानी यह हैं कि उसका शरीर ही नहीं उसका मन भी जेल में ठूंस दिया जाय? चाहे कैदियों के शरीर भले ही आजाद न रहें पर क्या वजह है कि उनका दिमाग भी आजाद न रहे? हिन्दुस्तान की जेलों का इन्तजाम जिन लोगों के हाथ में है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेंगे; क्योंकि नये विचारों को जानने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति साधारणतया सीमित हो जाती है। यों तो सेंसर का काम हर वक्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपातपूर्ण तथा बेहूदा भी; लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढ़ी हुई पत्र-पत्रिकाओं से भी हमें वंचित रखता है। जब्त की हुई किताबों की सूची बहुत बड़ी है और वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। इन सबके अलावा कैदी को तो एक और सेंसरशिप का भी सामना करना पड़ता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबें तथा अखबार भी नहीं पहुंच पाते जिन्हें वह कानून के मुताबिक बाहर खरीदकर पढ़ सकता है।

कुछ दिनों पहले यह प्रश्न संयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयार्क नगर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले में उठा था। यहां कुछ कम्यूनिस्ट अखबार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग में कम्युनिस्टों के खिलाफ बहुत जोर के भाव हैं, लेकिन यह सब होते हुए भी वहां के जेल के अधिकारी इस बात के लिए राजी हो गए कि जेल-निवासी जिस किताब व अखबार को चाहें मंगाकर पढ़ सकते हैं, चाहे ये अखबार व पत्रिकाएं कम्युनिस्ट मत की ही क्यों न हों? वहां के जेल वार्डन ने सिर्फ व्यंगचित्रों को रोका, जिन्हें वह भड़कानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलों में मानसिक स्वतन्त्रता पर गौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज्यादातर कैदियों

को कोई भी अखबार या लिखने की सामग्री नहीं दी जाती । यहां तो सवाल सेंसरशिप या देख-भाल का नहीं है बल्कि बिलकुल इनकारी का है । कायदों के मुताबिक तो सिर्फ 'ए' क्लास के और बंगाल में पहले डिवीजन के कैदियों को ही लिखने की सामग्री दी जाती है । इनमें से भी सबको रोजाना अखबार नहीं दिया जाता । जो रोजाना अखबार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का । 'बी' और 'सी' क्लास के कैदियों के लिए लिखने के सामान की कोई जरूरत नहीं समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हों या गैर-राजनैतिक । 'बी' क्लास वालों को कभी-कभी बहुत खास रिआयत के तौर पर लिखने का सामान दिया जाता है और यह रिआयत भी अक्सर वापस ले ली जाती है । शायद दूसरे कैदियों की तुलना में 'ए' क्लास के कैदियों की तादाद हजार पीछे एक बैठेगी । इसलिए हिन्दुस्तान में कैदियों की तकलीफों पर गौर करते हुए उनका खयाल न किया जाय तब भी कोई हर्ज नहीं । लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन खास रिआयत-वाले 'ए' क्लास के कैदियों को भी किताबों और अखबारों के मामले में उतने हक नहीं मिले हुए हैं जितने कि ज्यादातर सभ्य देशों में मामूली कैदियों को प्राप्त हैं।

बाकी लोगों को, १००० में ६६६ को, एक वक्त में दो या तीन किताबें ही दी जाती हैं; लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फायदा नहीं उठा पाते । कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढ़ी जाय उसके नोट लेना तो ऐसा खतरनाक मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हें हरगिज न करना चाहिए । मानसिक-उन्नति का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मजेदार बात है । किसी कैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के खयाल से तो उसके दिमाग पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ लगाना उचित है। पढ़ा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए । लेकिन शायद हिन्दुस्तान में जेल के हाकिमों को यह बात सूझी ही नहीं और युक्तप्रान्त में तो उसका खासतौर पर अभाव ही दिखाई देता है । हाल में जेलों में लड़कों और नौजवानों को थोड़ा लिखना-पढ़ना सिखाने की कुछ कोशिशें की गई हैं । लेकिन वे बिलकुल व्यर्थ हैं और जिन लोगों के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य हैं । कभी-कभी यह कहा जाता है कि कैदी लोग लिखना-पढ़ना पसन्द नहीं करते। लेकिन मेरा अपना अनुभव इसके बिलकुल खिलाफ है। कई लोग मेरे पास लिखने-पढ़ने की गरज से आते थे। उनमें मैंने पढ़ने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा।

जो कैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हें हम पढ़ाते थे । वे लोग बड़ी मेहनत से पढ़ते थे, और जब कभी मैं रात में जग पड़ता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमें से एक या दो अपनी बैरक की धुंधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने पाठ को याद कर रहे हैं ।

मैं अपनी किताबों में ही जुटा रहा । कभी एक प्रकार की किताबें पढ़ता तो कभी दूसरे किस्म की । लेकिन आमतौर पर मैं ठोस विषय की किताबें पढ़ता था । उपन्यास पढ़ने से दिमाग में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है । इसलिए मैंने ज्यादातर उपन्यास नहीं पढ़े । जब-कभी पढ़ते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता तब मैं लिखने बैठ जाता । अपनी सजा के दो सालों में तो मैं उस 'ऐतिहासिक पत्रमाला'[1] में लगा रहा, जो मैंने अपनी पुत्री (इन्दिरा) के नाम लिखी । उन्होंने मुझे अपने दिमाग को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी । कुछ हद तक तो मैं उस पुराने जमाने में रहने लगा, जिसकी बाबत मैं लिख रहा था और इसलिए इन दिनों करीब-करीब यह भूल-सा गया कि मैं जेल के भीतर रह रहा हूँ ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मैं हमेशा स्वागत करता था, खासतौर पर पुराने यात्रियों के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनत्सांग, मार्कोपोलो और इब्नबतूता वगैरा । आजकल के यात्रियों की यात्राओं का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडन ने मध्य-एशिया के जंगलों में जो सफर किया उसका और रोरिक को तिब्बत में जो अजीब बातें मिलीं उनका वर्णन । चित्रों की पुस्तकें भी—खासकर पहाड़ों, हिम-प्रपातों और मरुस्थलों की तस्वीरें—अच्छी लगती थीं, क्योंकि जेल में विशाल मैदानों और समुद्र और पहाड़ों को देखने की चाह बढ़ जाती है । मेरे पास माउण्ट ब्लेंक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोंवाली पुस्तकें थीं और अक्सर मैं उन्हें देखा करता था । जब मेरी कोठरी या बैरक की गरमी एक सौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मैं हिम-प्रपातों को एकटक होकर देखता । एटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था । उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातों की याद आ जाती थी—उन जगहों की याद जहां हम हो आये हैं और उन जगहों की भी जहां हम जाना

---

[1]हिन्दी में यह 'विश्व-इतिहास की झलक' के नाम से 'मंडल' से प्रकाशित हो चुकी है । —अनु०

चाहते थे। और कभी-कभी मन में यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनों जिन जगहों को हम देख आये हैं उन्हें फिर देखें। एटलस में बड़े-बड़े शहरों को बताने-वाले जितने निशान हैं वे ऐसे लगते मानो हमको बुला रहे हों और हमें वहां जाने की स्वाभाविक इच्छा होती थी। एटलस में पहाड़ों को और समुद्र के नीले रंग को देखकर भी उनपर चढ़ने और उन्हें पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, परिवर्तनशील मनुष्य-जाति के संघर्षों और संग्रामों को देखने की, और खुद भी इन सब कामों को करने की उमंगें हमको तंग करतीं और हमारा पल्ला पकड़ लेतीं और हम बड़े दुःख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारों को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थीं, और रोजमर्रा के नीरस ढर्रे में जुत जाते।

४५

जेल में जीव-जन्तु

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसी का एक हिस्सा हूं। उसके प्रत्येक अंश से मैं परिचित हो गया। उसकी सफेद दीवारों और खुरदरी फर्श पर हरेक निशान और गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों तक से मैं परिचित हो गया था। बाहर के छोटे-से आंगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था, सो बात नहीं। क्योंकि वहां कितने ही ततैयों और बर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थीं। यदि विचार और भावनाएं भौतिक चीजों पर अपने चिह्न छोड़ सकती हैं, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उस संकरी जगह में जो-जो भी चीजें थीं उन सबपर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरियां तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात म रखे गए थे। लेकिन थी यह अहाते में ही। यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ-दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे। यह विशेष लाभ खास मुझे अकेले ही को नहीं मिला था, बल्कि देहरादून के हरेक 'ए' क्लास के कैदी को मिलता था। इसी तरह जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी, जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे। इसके चारों ओर

कोई दीवार न थी जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वत-श्रेणियों और बाहरी जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन कैदी या दूसरे लोग रखे जाते थे उन्हें भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाजत थी।

केवल एक कैदी ही, जो लम्बे अर्से तक ऊंची-ऊंची दीवारों के अन्दर कैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि जोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहां तो अपने पड़ोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को बढानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशकिस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैंने कोई मुलाकात नहीं की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मैं गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था और जान पड़ता था कि मानो अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही थी।

> पक्षी-गण ये उड़-उड़ ऊंचे निकल गये हैं कितनी दूर !
> जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन ;
> एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्वतशृंग खड़ा है शान्त—
> मैं उसको, वह मुझे देखता दोनों ही हम थके कभी न।[1]

मैं समझता हूं कि इस कविता के रचयिता कवि 'ली ताई पो' की तरह मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं पर्वतराज को देखते हुए कभी नहीं थकता था। फिर भी यह एक असाधारण दृश्य था; और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और

---

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती थी।

देहरादून में बसन्त-ऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिए थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गए थे। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी; आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते गिरा दिए थे और पत्रविहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परन्तु अब बसन्त-ऋतु आई और उसकी जीवनदायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन-सन्देश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल मच गई और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अन्दर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो, और एक दिन सहसा मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोंपलों को उझक-उझक कर झांकते हुए देखकर चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लास-मय और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेजी के साथ उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आए और वे सूर्य की किरणों में चमकने और हवा के साथ अठखेलियां करने लगे। एक अंखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपान्तर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है!

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिए गेहुंए रंग के होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरदऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहां हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इन्द्र देवता की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होते ही पांच हफ्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपने को बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़ कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हां, शरदृऋतु में फिर आनन्द उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठण्डी हवा बह रही

है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और जरा आराम मिले। कभी-कभी बरफ का तूफान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े जोर की आवाज करते, मानों दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे खासतौर पर याद है। वह २४ दिसम्बर १६३२ का दिन था। बड़े जोर की बिजली कड़क रही थी और दिन-भर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख्त कि कुछ मत पूछिए। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गए और जब मैंने देखा कि पर्वतश्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बरफ-ही-बरफ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहां चला गया। दूसरा दिन—बड़ा, दिन—बड़ा मनोरम और स्वच्छ था और बरफ के आवरण में पर्वत-श्रेणियां बहुत-ही सुन्दर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिए गए, तो हमारा ध्यान प्राकृतिक-लीला के दर्शन की ओर ज्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जानेपर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आंगन में हर तरह के जीव-जन्तु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है,और दूसरी ओर उस आंगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले,सरकनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में जरा भी दखल दिए बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुंचाता? लेकिन हां, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हजारों की तादाद में थे। हां, एक बार उनकी-मेरी झड़प हो गई थी, जब कि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोजा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छतों में शायद उनके अंडे थे। आखिर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूंगा। कोई एक साल तक उसके बाद में उन बर्रों और ततैयों

के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हां, चमगादड़ों को मैं पसन्द नहीं करता था; लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे सन्ध्या के अन्धकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अंधेरी नीलिमा में उड़ते दिखाई पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बड़ी नफरत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे के एक इंच दूरी से उड़ते और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटो देखता रहता था। और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके-से पकड़ लेती और अपनी दुम एक अजीब हंसी आने लायक ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं, लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुंह की तरफ से उनको चुपके से झपटकर पकड़ा। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास पेड़ हों तो, झुण्ड-की-झुण्ड गिलहरियां होती थीं; वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ देखती। फिर वह मेरी आंखों की ओर देखती, तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो, वह नहीं हूं। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती, फिर दुबककर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी मां उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको ले जाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हें-नन्हें थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फाउण्टेनपेन के फिलर में जरा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों में जहां-जहां मैं गया कबूतर खूब मिले। और हजारों की तादाद में वे शाम को उड़कर आकाश में छा

जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हां, मैनाएं भी थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नजदीक आकर बैठ जातीं और जोर-जोर से चीं-चीं करके खाना मांगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

नैनी में हजारों तोते थे। उनमें-से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणय-लीला आकर्षक वस्तु होती थी। वह देखने-वाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए जोर की लड़ाई होती। तोती शान्ति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इन्तजार करती और विजेता पर अपनी प्रणयवृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, जोर-जोर से चिंचि-याने, चहचहाने और टें-टें करने से एक अजीब समा बंध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या? बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे; सिर्फ उनकी आवाज सुनाई पड़ती थी, क्योंकि हमारे छोटे-से आंगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊंची उड़तीं और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आतीं और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख भी हमारे सिर पर मंडराया करते थे।

बरेली-जेल में बन्दरों की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फांद, मुंह बनाना आदि हरकतें देखने लायक होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया। वह दीवार की ऊंचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नम्बरदारों और दूसरे कैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बांध दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूं) मां-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से

लाल हो गए। अचानक उनमें से एक बड़ा बन्दर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहां कि वह बच्चा था। निस्सन्देह यह बड़ी बहादुरी का काम था, क्योंकि वार्डर वगैरा सबके पास डण्डे और लाठियां थीं, और वे उन्हें चारों तरफ घुमा रहे थे और उनकी संख्या भी काफी थी। लेकिन साहस की विजय हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डण्डे और लाठियां वहीं पड़ी रह गईं और बन्दर अपना बच्चा छुड़ा ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसी ने भी नहीं काटा, क्योंकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे—मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई उसपर भी। मैंने खास तौर पर एक काले और जहरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियां वगैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोरे से बांधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाय, इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारों ओर उसे ढूंढा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार सांप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे। एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन यों ही काफी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं सांपों को अच्छा समझता हूं या उनका स्वागत करता हूं। मगर हां, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। बेशक, उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी सांप को देखूं तो उससे अपने को बचाऊं भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूं। हां, कनखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफरत होती है। कलकत्ते के अलीपुर-जेल में कोई आधीरात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज मेरे पांव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है।

एकाएक और बड़ी तेजी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे जोर की छलांग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियाएं क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा; या यों कहूं कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए अपरिचित था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया जो एक अजीब जन्तु लिए हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है जो दो फीट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और कुडौल था और बहुत कुछ जीवित था। वह एक अजीब तरह से कुंडलाकार बना हुआ था और लानेवाला उसे एक बांस में पिरोकर बड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'बो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे? तो उसने जोर से हंसकर कहा भुज्जी...सालन—बनायेंगे। वह जंगली आदमी था। बादको एफ० डबल्यू० चेंपियन की 'दि जंगल इन सनलाइट ऐण्ड शैडो' (धूप-छांह में जंगल) पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

कैदियों की, खासकर लम्बी सजावाले कैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली कैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नम्बरदारों को उनसे ज्यादा आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए एतराज नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियां पालते हैं और, सुनकर ताज्जुब होगा कि, नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिए जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफसर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उनका अभाव खलता रहा। हालांकि जेल में कुत्तों की इजाजत नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तिफाक से कुत्तों के साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफसर एक कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वहीं छोड़ गए। बेचारी बे-घर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती थी।

वह प्रायः भूखी मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये मगर तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इसमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०-१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गई और मुझे इस बात का खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरों से मेरा ज्यादा साबका पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल म मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीव-दया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं। यहांतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्ताव नहीं होता। मानो पूजाभाव और दयाभाव दोनों का साथ नहीं हो सकता।

भिन्न-भिन्न देशवालों ने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षिओं को अपनी महत्त्वाकांक्षा या अपने चारित्र्य का प्रतीक बनाया है। उकाब संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और 'बुलडॉग' इंग्लैण्ड का, लड़ते हुए मुर्गे फ्रांस का और भालू पुराने रूस का प्रतीक हैं। सवाल यह है कि ये संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ ले जायंगे? इनमें से ज्यादातर तो आक्रमणकारी, लड़ाकू और शिकारी जानवर हैं। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन-निर्माण करते हैं वे, जान-बूझ कर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, आक्रामक रुख अख्तियार करते हैं, दूसरों पर गुर्राते हैं, गरजते हैं और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू नरम और अहिंसक हैं, क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

४६

संघर्ष

बाहर संघर्ष चलता रहा, और वीर पुरुष और स्त्रियां, यह जानते हुए भी कि वर्तमान में या निकट-भविष्य में सफलता पाना उनके भाग्य में नहीं है, एक ताकतवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुकाबला करते रहे। निरन्तर तथा अधिकाधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमें कोई धोखा-धड़ी नहीं थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ सन्तोष की बात थी। संगीनें कामयाब हुईं, लेकिन एक बड़े योद्धा ने एक बार कहा था कि —"तुम संगीनों से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्हींके ऊपर (आधार पर) बैठ नहीं सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओं को बेचें और आत्मिक व्यभिचार करें, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करें। जेल में हमारा शरीर बेबस था, लेकिन हम समझते थे कि वहां रहकर भी हम अपने कार्य से सेवा ही कर रहे हैं और बाहर रहनेवाले कई लोगों से ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे हैं। तो क्या हमें, अपनी कमजोरी के कारण, भारत के भविष्य का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो सच था कि इन्सान की ताकत और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से बेकार हो गए, या मर गए, या काम से अलग हो गए, गद्दारी तक कर गए, मगर इन बाधाओं के होते हुए भी कार्य आगे बढ़ता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यों-की-त्यों बनी रहती तो हार नहीं हो सकती थी। असली असफलता तो है अपने सिद्धान्तों को छोड़ देना, अपने हक से इन्कार कर देना, और बेइज्जती के साथ अन्याय के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाए हुए जख्म दुश्मन के लगाए हुए जख्मों से ज्यादा देर में अच्छे होते हैं।

कभी-कभी अपनी कमजोरियों पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था, मगर फिर भी हमें जितनी सफलता मिली थी

उसीपर हमें कुछ अभिमान था। क्योंकि हमारे लोगों ने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर सेना में हम भी शामिल हैं, इस खयाल से मन में आनन्द होता था।

सविनय-भंग के उन बरसों में कांग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गई, एक दिल्ली में और दूसरी कलकत्ते में। यह जाहिर था, कि गैरकानूनी संस्था मामूली ढंग और शान्ति से अधिवेशन नहीं कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस के संघर्ष में आना। वस्तुतः दोनों सम्मेलनों को पुलिस ने लाठियों के बल, जबरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत-से लोग गिरफ्तार कर लिये गये। इन सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इन कानून-विरुद्ध सम्मेलनों में प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सों से हजारों की गिनती में लोग आये थे। मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि इन दोनों अधिवेशनों में युक्तप्रान्त के लोगों ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी मां ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन में जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते में मालवीयजी और दूसरे लोगों के साथ, गिरफ्तार कर ली गईं और आसनसोल-जेल में कुछ दिनों तक बन्द रक्खी गईं। उन्होंने जो आन्तरिक उत्साह और जीवन-शक्ति दिखलाई उसे देखकर मैं दंग रह गया, क्योंकि वह कमजोर और बीमार थीं। वह जेल की परवा नहीं करती थीं, वह तो उससे भी ज्यादा कड़ी अग्नि-परीक्षा में से गुजर चुकी थीं। उनका लड़का, उनकी दोनों लड़कियां, और दूसरे भी कई लोग जिन्हें वह बहुत चाहती थीं, जेल में लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और वह सूना घर जिसमें वह रह रही थीं, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गई थी।

जैसे-जैसे हमारी लड़ाई धीमी पड़ने लगी, और उसकी रफ्तार हलकी हो गई, वैसे-वैसे उसमें जोश और उत्साह की कमी आती गई—हां, बीच-बीच में लम्बे अर्से के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे खयालात दूसरे मुल्कों की तरफ ज्यादा जाने लगे, और जेल में जितना भी हो सका, मैं विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। इस विषय की जितनी भी किताबें मुझे मिलीं उन्हें मैं पढ़ता गया, और मैं जितना ही पढ़ता जाता था उतना ही उसकी तरफ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखाई दिया कि, हिन्दुस्तान अपनी खास समस्याओं और संघर्षों को लेकर भी इस जबरदस्त

विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों की उस लड़ाई का, जो कि आज सब राष्ट्रों के अन्दर और सब राष्ट्रों में परस्पर हो रही है, सिर्फ एक हिस्सा ही है। उस लड़ाई में मेरी अपनी सहानुभूति कम्यूनिज्म (साम्यवाद) की तरफ ही ज्यादा-ज्यादा होती गई।

समाजवाद और कम्यूनिज्म की तरफ मेरा बहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे बहुत पसन्द आता था। रूस की बहुत-सी बातें मुझे नापसन्द भी हैं— जैसे सब तरह की विरोधी राय का निरंकुशता से दमन कर देना, सबको सैनिक बना डालना, और अपनी कई व्यवस्थाओं को अमल में लाने के लिए (मेरे मतानुसार) अनावश्यक बल-प्रयोग करना वग़ैरा। मगर पूंजीवादी दुनिया में भी तो बल-प्रयोग और दमन कम नहीं है, और मुझे ज्यादा-ज्यादा यह अनुभव होने लगा कि हमारे संग्रहशील समाज का और हमारी सम्पत्ति का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है। बल-प्रयोग के बिना वह ज्यादा दिन टिक नहीं सकता। जबतक भूखों मरने का डर सब जगह अधिकांश जनता को, थोड़े लोगों की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोड़े लोगों का ही धन-मान बढ़ता जाता है, तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने का भी वास्तव में कुछ अर्थ नहीं है।

दोनों व्यवस्थाओं में बल-प्रयोग मौजूद है। पूंजीवादी व्यवस्था का बल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य-अंग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के बल-प्रयोग का, यद्यपि वह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर अवलम्बित जनता को असली स्वतन्त्रता देनेवाली नई व्यवस्था कायम हो जाय। सोवियट रूस ने कितनी भी भयंकर भूलें की हों, तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयों पर विजय पा चुका है और इस नई व्यवस्था की तरफ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ बहुत आगे बढ़ गया है। जब संसार के दूसरे मुल्क मन्दी में जकड़े हुए थे, कई दशाओं में पीछे की तरफ जा रहे थे, तब सोवियट देश में, हमारी आंखों के सामने, एक नई ही दुनिया बनाई जा रही थी। महान् लेनिन के पदचिह्नों पर चलते हुए रूस की निगाह भविष्य पर थी, और उसे केवल इसी बात का विचार था कि आगे क्या होना है। लेकिन संसार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार से सुप्त हुए पड़े थे, और बीते हुए युग के निरर्थक स्मृति-चिह्नों को अक्षुण्ण रखने में ही अपनी ताकत लगा रहे थे। अपने अध्ययन में मुझपर उन विवरणों का बड़ा असर पड़ा,

जिनमें सोवियट शासन के पिछड़े हुए मध्य-एशियाई प्रदेशों की बड़ी भारी तरक्की का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह से रूस के पक्ष में ही रही; और मुझे सोवियट-तन्त्रों की मौजूदगी और मिसाल अँधेरी और दुःखपूर्ण दुनिया में, एक प्रकाशमय और उत्साह देनेवाली चीज मालूम हुई।

हालांकि कम्युनिस्ट राज्य स्थापित करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप में सोवियट रूस की सफलता या असफलता का बहुत बड़ा महत्व है, फिर भी उससे कम्युनिज्म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नहीं पड़ता। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से बोलशेविक लोग बड़ी-बड़ी गलतियां कर सकते हैं, या असफल भी हो सकते हैं, लेकिन फिर भी कम्युनिज्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस में जो-कुछ हुआ है उसकी अन्धे की तरह नकल करना भी मूर्खता ही होगी, क्योंकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश में उसकी खास परिस्थितियों और उसके ऐतिहासिक विकास की अवस्था पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश बोलशेविकों की सफलताओं से और अनिवार्य गलतियों से भी सबक ले सकता है। शायद बोलशविकों ने जरूरत से ज्यादा तीव्र गति से जाने की कोशिश की, क्योंकि उनके चारों तरफ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हें बाहरी आक्रमण का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो गांवों में हुई बहुत-सी तकलीफें नहीं आतीं। लेकिन प्रश्न यह उठता था, कि क्या परिवर्तन की गति कम कर देने से वास्तव में मौलिक परिणाम निकल भा सकते थे या नहीं ? किसी नाजुक वक्त पर, जबकि आधार-भूत बुनियादी ढांचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधार-वाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद में रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे लेकिन पहला कदम तो ऐसा उठाना ही चाहिए जिससे कि तत्कालीन व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई नाता न रह जाय।

हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारखाने दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का और देश की हर बड़ी समस्या का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के संस्मरणों' में श्री० लॉयड जार्ज कहते हैं—"किसी खाई को दो छलांग में कूदने से बढ़कर कोई गलती नहीं हो सकती।"

रूस को छोड़ भी दें तो मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग

के कई अंधेरे कोनों को प्रकाशित कर दिया। मुझे इतिहास में बिलकुल नया ही अर्थ दिखाई पड़ने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य प्रस्तुत करनेवाला एक नाटक हो गया, जिसके घटनाचक्र की बुनियाद में कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यों न हो। यद्यपि भूतकाल में और वर्तमान समय में समय और शक्ति की भयंकर बरबादी और तकलीफें रही हैं और हैं, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच में कितने ही खतरे आते रहें। मार्क्सवाद में मौलिक रूप से किसी रूढ़-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस में और दूसरे देशों में प्रचलित कम्युनिज्म में बहुत-से रूढ़-मत हैं, और अक्सर, 'काफिरों' यानी मिथ्या-मतवादियों पर संगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह निन्दनीय मालूम हुआ, हालांकि सोवियट प्रदेशों में जब भारी-भारी परिवर्तन बड़ी तेजी से हो रहे हों और विरोधी लोगों के कारण बड़ी मुसीबतों और असफलताओं के हो जाने की आशंका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ में आ सकता है।

संसार-व्यापी महान् संकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेषण सही मालूम हुआ। जबकि दूसरी सब व्यवस्थाएं और सिद्धान्त सिर्फ अपनी अटकल लगा रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ सन्तोषजनक रूप से उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रखा।

जैसे-जैसे मुझ में यह विश्वास जमता गया, वैसे-वैसे मुझ में नया उत्साह भरता गया, और सविनय-भंग की असफलता से पैदा हुई मेरी उदासी बहुत कम हो गई। क्या दुनियां तेजी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य की तरफ नहीं जा रही है? हां, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बड़े-बड़े खतरे मौजूद हैं, लेकिन हर हालत में हम आगे ही बढ़ रहे हैं। हम एक ही जगह में पड़ हुए सड़ नहीं रहे हैं। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बड़े सफर के रास्ते में हमारी राष्ट्रीय लड़ाई तो एक पड़ाव मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लड़ाइयों के लिए तैयार हो रहे हैं और उन विचारों पर गौर करने के लिए मजबूर हो रहे हैं जिससे दुनिया में खलबली मची हुई है। कमजोर लोगों के निकल जाने से हम और भी ज्यादा मजबूत, ज्यादा अनुशासन-युक्त और ज्यादा ठोस बन जायेंगे। जमाना हमारे पक्ष में है।

इस तरह मैंने रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ्रांस, इटली, और मध्य-यूरप में क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और सामूहिक घटनाओं को समझने की कोशिश की। मुसीबत से पार पाने के लिए हरेक देश अलग-अलग और सब मिलकर एकसाथ क्या कोशिशें कर रहे हैं, इसको भी मैंने दिलचस्पी से पढ़ा। राजनैतिक और आर्थिक बुराइयों को दूर करने और निःशस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस की बार-बार असफलता होती देखकर मुझे अपने यहां की साम्प्रदायिक समस्या की—जो कि छोटी-सी लेकिन काफी कष्टप्रद है—बरबस याद आ गई। अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी हम अभी तक इस समस्या को हल नहीं कर सके हैं और यह व्यापक विश्वास होते हुए भी कि अगर हम अपनी समस्याओं को सुलझाने में विफल होंगे तो एक संसार-व्यापी आपत्ति आजायगी, यूरप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ उन्हें हिलमिल कर नहीं सुलझा पाए हैं। दोनों उदाहरणों में समस्या को सुलझाने का तरीका गलत रहा है, और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने से डरते रहे हैं।

संसार की मुसीबतों और संघर्षों का विचार करते हुए, मैं किसी हद तक अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतों को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे इस बात पर बड़ी खुशी होती थी कि संसार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग में मैं भी जीवित हूं। शायद दुनिया के इस कोने में, जहां मैं हूं, मुझे भी उन आनेवाली क्रान्तियों में कुछ थोड़ा-सा हिस्सा लेना पड़ेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया में संघर्ष और हिंसा का वातावरण बड़ा उदास बना देता था। इससे भी खराब यह दृश्य था कि पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और गुलामी को देखते-देखते उसके इतने आदी हो गए हैं कि उनके दिमाग अब कष्ट-सहन, गरीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नहीं करते। दम घोंटनेवाले इस नैतिक वातावरण में अत्यन्त मुखर ओछापन और संगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे हैं। हिटलर की विजय और उसके अनुयायियों के 'आतंकवाद' ने मुझे बड़ा आघात पहुंचाया, हालांकि मैंने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब क्षणिक ही हो सकता है। यह देखकर मन में ऐसी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशिशें बेकार हैं। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमें पहिये का एक छोटा-सा दांत बेचारा क्या कर सकता है?

फिर भी, जीवन-सम्बन्धी कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान से मुझे शान्ति और आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान में कैसे प्रयोग हो सकता है? हम तो अभी तक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नहीं कर पाये हैं, और हमारे दिमागों में राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ भी कूद पड़ें, या इन दोनों को बारी-बारी से हाथ में लें, फिर चाहे इनके बीच में अन्तर कितने ही थोड़े समय का क्यों न हो? संसार की घटनाएं और हिन्दुस्तान के भी वाकयात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे हैं, और मुझे लगा कि अब राजनैतिक आजादी उससे अलग नहीं रखी जा सकती।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आजादी के विरोध में सामाजिक-प्रतिगामी-वर्ग खड़े हो गए हैं। यह अनिवार्य ही था, और हिन्दुस्तान में भिन्न-भिन्न वर्गों और समुदायों के ज्यादा साफतौर पर अलग-अलग दिखाई दे जाने को मैंने पसन्द किया। लेकिन मैं सोचता था कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते हैं? स्पष्ट है कि बहुत लोग नहीं समझते। यह सही है कि कई बड़े शहरों में मुट्ठीभर कट्टर कम्यूनिस्ट लोग हैं, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी हैं और उसकी कड़ी आलोचना करते हैं। खासकर बम्बई में, और कुछ हदतक कलकत्ते में, संगठित मजदूर भी समाजवादी थे मगर ढीले-ढाले ढंग के। उनमें भी फूट पड़ी हुई थी, और वे मन्दी से दुःखी थे। कम्यूनिज्म के और समाजवाद के धुंधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगों में, और समझदार सरकारी अफसरों तक में, फैल चुके हैं। कांग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस और मॉरले, कीथ और मॅजिनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती हैं तो कम्यूनिज्म और रूस पर लिखा साहित्य पढ़ते हैं। मेरठ-षड्यन्त्र-केस ने लोगों का ध्यान इन नये विचारों की तरफ फेरने में बड़ी मदद दी, और संसारव्यापी संकट-काल ने इस तरफ ध्यान देने की मजबूरी पैदा कर दी। हर जगह प्रचलित संस्थाओं के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नई भावना दिखाई देती है। इससे साधारण मनोदशा तो साफ प्रकट हो रही है, लेकिन फिर भी हलका-सा झोंका ही है जिसको अपने आप पर अभी कोई विश्वास नहीं है। कुछ लोग फासिस्ट विचारों के आसपास मंडराते हैं। लेकिन कोई भी साफ और निश्चित आदर्श नहीं है। अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहां की प्रमुख विचार-धारा है।

मुझे यह तो साफ मालूम हुआ, कि जबतक किसी अंश तक राजनैतिक आजादी न मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ी प्रेरकभावना रहेगी। इसी कारण कांग्रेस हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा शक्तिशाली संस्था होने के साथही सबसे आगे बढ़ी हुई संस्था भी रही है, और अब भी (कुछखास मजदूर-क्षेत्रों को छोड़कर) है। पिछले तेरह बरसों में, गांधीजी के नेतृत्व में इसने जनता में आश्चर्यजनक जाग्रति पैदा कर दी है और इसके स्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है। अबतक भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है, और हो भी नहीं सकती, जबतक कि राष्ट्रवादी प्रेरणा की जगह समाजवादी प्रेरणा न आ जाय। भविष्य की प्रगति—आदर्श-सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी कांग्रेस के द्वारा ही होगी, हालांकि दूसरे मार्गों से भी काम लिया जा सकेगा।

इस तरह मुझे कांग्रेस को छोड़ देना, राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे जबरदस्त हथियार को कुन्द कर देना, और एक निरर्थक साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ। लेकिन फिर भी, क्या कांग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव में मौलिक सामाजिक हल का अपना सकेगी? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकड़े हो जांयग, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जांयगे। ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या बुरा न होगा, अगर समस्याएं ज्यादा साफ हो जांय, और कांग्रेस में एक मजबूत-संगठित दल, चाहे वह बहुमत में हो या अल्पमत में हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खड़ा हो जाय।

लेकिन इस समय तो कांग्रेस का अर्थ है गांधीजी। वह क्या करना चाहेंगे? विचार-धारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए रहे हैं, लेकिन फिर भी व्यवहार में वह हिन्दुस्तान में इस वक्त के सबसे बड़े क्रान्तिकारी रहे हैं। वह एक अनोखे व्यक्ति हैं, और उन्हें मामूली पैमानों से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नहीं है। लेकिन चूंकि वह हृदय में क्रान्तिकारी हैं और हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए हैं, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नहीं जाती, तबतक तो वह इसपर अटल रहकर ही अपना काम करेंगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड

कार्य-शक्ति को जगा देंगे, और, मुझे आधी उम्मीद है कि वह खुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ एक-एक कदम आगे बढ़ते चलेंगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई बरसों से गांधीजी और कांग्रेस पर भयंकर हमले करते रहे हैं, और उन्होंने कांग्रेस-नेताओं पर सब तरह की दुर्भावनाओं के आरोप लगाये हैं। कांग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी और बाद की घटनाओं से वह किसी अंश तक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे में कम्यूनिस्टों के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वे साधारण सिद्धान्तों को छोड़कर तफसीलों में आते हैं, और खासकर जब वे देश में कांग्रेस के महत्त्व पर विचार करते हैं, तो वे बुरी तरह भटक जाते हैं। हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्टों की संख्या और असर कम होने का एक कारण यह भी है कि कम्यूनिज्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगों के दिमाग में उसका विश्वास जमाने का कोशिश करने के बदले उन्होंने दूसरों को गालियां देने में ही ज्यादातर अपनी ताकत लगाई है। इसका उन्हीं पर उलटा असर पड़ा है, और उन्हें नुकसान पहुंचा है। इनमें से अधिकांश लोग मजदूरों के हलकों में काम करने के आदी हैं, जहां मजदूरों को अपनी तरफ मिला लेने के लिए सिर्फ थोड़े-से नारे ही काफी होते हैं। लेकिन बुद्धिमान लोगों के लिए तो सिर्फ नारे ही काफी नहीं हो सकते और उन्होंने इस बात को अनुभव नहीं किया है कि आज हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग का पढ़ा-लिखा दल ही सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी दल है। कट्टर कम्यूनिस्टों के इच्छा न करने पर भी कई पढ़े-लिखे लोग कम्यूनिज्म की तरफ आये हैं, लेकिन फिर भी उनके बीच में एक खाई है।

कम्यूनिस्टों की राय के मुताबिक, कांग्रेस के नेताओं का मकसद रहा है, सरकार पर जनता का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूंजीवादियों और जमींदारों के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधाएं पा लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—"किसानों, निम्न मध्यम-वर्ग और कारखानों के मजदूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असन्तोष को उभाड़कर बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालिकों और लखपतियों को लाभ पहुंचाना।" यह खयाल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूंजीपति टट्टी की ओट में कांग्रेस-कार्यसमिति को हुक्म देते हैं कि पहले तो वह सार्वजनिक आन्दोलन चलावे और जब वह

बहुत व्यापक और भयंकर हो जाय तब उसे स्थगित कर दे,या किसी छोटी-मोटी बात पर बन्द कर दे। और, कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेजों का चला जाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी जरूरत है, और मध्यम-वर्ग अपने में यह काम करने की ताकत नहीं मानता।

यह अचरज की बात है कि कम्यूनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर भरोसा रखते हैं। लेकिन चूंकि प्रकट रूप से उनका विश्वास इसी पर है इसीलिए, आश्चर्य नहीं कि, वे हिन्दुस्तान में इतनी बुरी तरह से असफल हुए हैं। उनकी बुनियादी गलती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोपियन मजदूरों के पैमानों से नापते हैं, और चूंकि उन्हें यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मजदूर-नेता मजदूर-आन्दोलन के साथ विश्वासघात करते रहे हैं, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कोई मजदूरों या श्रमिकों का आन्दोलन नहीं है। जैसा कि उसके नाम ही से जाहिर होता है, वह एक मध्यमवर्गी जनता का आन्दोलन है और अभीतक उसका उद्देश्य समाज-व्यवस्था को बदलना नहीं बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह ध्येय काफी दूरगामी नहीं है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के जमाने की चीज कहला सकती है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी प्रणाली को उलट देने की कोशिश ही नहीं करते। इसलिए वे जनता के साथ विश्वासघात करते हैं, क्योंकि उन्होंने ऐसा करने का कभी दावा ही नहीं किया। हां, कांग्रेस में कुछ लोग ऐसे जरूर हैं, और उनकी गिनती बढ़ती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूंजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते हैं, लेकिन वह कांग्रेस के नाम पर नहीं बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूंजीवादी वर्गों ने (बड़े-बड़े जमींदारों या ताल्लुकेदारों ने नहीं) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के प्रचार के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बड़ा फायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाजिमी ही था; क्योंकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देता है, और दूसरों का बहिष्कार कराता है। लेकिन, असल में, बम्बई के मिल-मालिकों ने तो सविनय भंग के चालू रहने के वक्त ही और जब कि हम

ब्रिटिश माल के वहिष्कार का प्रचार करते रहे थे तभी एक गैरवाजिब तरीके से लंकाशायर से एक समझौता करने का भी दुःसाहस कर डाला था। कांग्रेस की निगाह में यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था। बड़ी धारासभा में बम्बई के मिल-मालिकों के प्रतिनिधियों ने, जब कि हममें से ज्यादातर लोग जेल में थे, लगातार कांग्रेस और गरम दल के लोगों की निन्दा की थी।

पिछले कुछ बरसों में कई पूंजीपति-दलों ने हिन्दुस्तान में जो-जो काम किये हैं वे कांग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलंक-रूप हैं। ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगों को फायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धन्धों की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूंजी और कारखानों की ज्यादा अधीनता में आगये। वह समझौता जनता के लिए हानिकार था, और तब किया गया था जबकि हमारी लड़ाई चालू थी और कई हजार लोग जेलों में थे। हर उपनिवेश ने इंग्लैण्ड से अपनी कड़ी-से-कड़ी शर्तें मनवा लीं, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानो उसमें अपने को करीब-करीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया। पिछले कुछ बरसों में कुछ बड़े धनिकों ने हिन्दुस्तान को नुकसान में डालकर भी सोने और चांदी का व्यापार किया है।

और बड़े-बड़े जमींदार ताल्लुकेदार तो गोमेलज-कान्फ्रेन्स में कांग्रेस के बिलकुल खिलाफ ही खड़े हो गये थे, और ठीक सविनय भंग के बीचोंबीच उन्होंने खुले तौर पर और आगे बढ़कर अपने-आपको सरकार के पक्ष का घोषित कर दिया था। इन्हीं लोगों की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में उन दमनकारी कानूनों को पास किया, जो आर्डिनेन्सों में आ जाते थे और युक्तप्रान्त की कौंसिल में ज्यादातर जमींदार मेम्बरों ने सविनय-भंग के कैदियों की रिहाई के विरोध में राय दी थी।

यह खयाल भी बिलकुल गलत है कि, गांधीजी ने १९२१ और १९३० में तीव्र दीखनेवाले आन्दोलन जनता के आग्रह से मजबूर होकर ही किये थे। आम जनता में हलचल बेशक थी। लेकिन दोनों आन्दोलनों में कदम गांधीजी ने ही आगे बढ़ाया था। १९२१ में तो उन्होंने करीब-करीब अकेले ही सारी कांग्रेस को अपने साथ कर लिया और उसे असहयोग के पथ पर ले गये। १९३० में भी अगर उन्होंने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी आक्रामक और

प्रभावशाली आन्दोलन कभी नहीं उठ सकता था।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक्ताचीनी की जाती है, क्योंकि उससे ध्यान असली सवालों से दूसरी तरफ हट जाता है। गांधीजी की ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुकसान होता है, क्योंकि हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियों के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त रूप हैं, और उन्हें जो भी पहचानते हैं, वे जानते हैं कि वह हमेशा सत्य के मार्ग पर चलने के लिए कितने व्याकुल रहते हैं।

हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्टों का ताल्लुक बड़े शहरों के कारखानों के मजदूरों के साथ ही रहा है। देहाती हलकों की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नहीं है। हालांकि कारखानों के मजदूरों का भी एक महत्त्व है, और भविष्य में और भी उनका ज्यादा महत्त्व होगा, लेकिन उनका किसानों के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योंकि हिन्दुस्तान में आज तो किसानों की समस्या ही मुख्य है। इधर कांग्रेसी कार्यकर्त्ता इन देहाती हलकों में सर्वत्र फैल चुके हैं, और समय पर अपने-आप कांग्रेस किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी। अपना निकट-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान कभी भी क्रान्तिकारी नहीं रह जाते और यह मुमकिन है कि भविष्य में किसी समय शहर बनाम देहात और मजदूर बनाम किसान का आम मसला हिन्दुस्तान में भी खड़ा हो जाय।

मुझे कांग्रेस के बहुत-से नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के गहरे सम्पर्क में आने का मौका मिला है, और इनसे ज्यादा अच्छी श्रेणी के स्त्री-पुरुष मुझे और कहीं नहीं मिल सकते थे। लेकिन फिर भी जीवित समस्याओंके सम्बन्धमें मेरा उनसे मतभेद रहा है, और कई बार मैं यह देखकर उकता गया हूं कि जो बात मुझे साफ-सी दिखाई देती है उसकी वे कद्र भी नहीं कर सकते या उसे समझ भी नहीं सकते। इसका कारण समझ की कमी नहीं है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारों की अलग-अलग पगडण्डियों पर चल रहे हैं। मैंने महसूस किया कि इन सीमाओं को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है। इन विभेदों का कारण जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान में विभेद होना है, जिन्हें हम धीरे-धीरे और अनजान में ग्रहण कर लेते हैं। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना बेकार है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओं पर एक खास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की जरूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है। इसी तरह, दूसरे दृष्टि-

कोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान परिस्थितियों के अज्ञात प्रभाव पर निर्भर हैं। जीवन की कठिनाइयों और उसके कड़ुवे अनुभव ही हमें नये रास्तों से चलने को मजबूर करते हैं, और अन्त में यद्यपि यह बहुत कठिन काम है—हमारा दृष्टिकोण बदल देते हैं। सम्भव है इस प्रक्रिया में हम भी थोड़े-सहायक हो सकें और शायद मशहूर फ्रेंच लेखक ला फोंतेन के शब्दों में—

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी रास्ते से पहुंच जाता है जिस पर वह उससे बचने के लिए चलता है।"

४७

धर्म क्या है ?

हमारे शान्त और एक-ढर्रे के जेल-जीवन में सितम्बर १९३२ के बीच में मानो अचानक एक वज्र-सा गिरा। एक खलबली मच गई। खबर मिली कि मि० रेम्जे मैकडॉनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' में यहां की दलित जातियों को अलग चुनाव के अधिकार दिये जाने के विरोध में गांधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगों पर अचानक चोट पहुंचाने की उनमें कितनी अद्भुत क्षमता है! सहसा सभी तरह के विचार मेरे दिमाग में उत्पन्न होने लगे; सब तरह की भावी सम्भावनाओं के चित्र मेरे सामने आने लगे, और उन्होंने मेरे स्थिर चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई दिया, और कोई रास्ता नहीं सूझा। जब मैं गांधीजी के इस काम के कुछ नतीजों का खयाल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरा व्यक्तिगत प्रेम काफी प्रबल था, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मैं उन्हें नहीं देख सकूंगा। इस खयाल से मुझे बहुत ही पीड़ा होती थी। पिछली बार लगभग एक साल से कुछ ज्यादा हुए मैंने उन्हें इंग्लैण्ड जाते समय जहाज पर देखा था। क्या वही मेरा उनका अंतिम दर्शन रहेगा ?

और फिर मुझे उनपर झुंझलाहट भी आई कि उन्होंने अपने अंतिम बलिदान के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आजादी के आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अब, कम-से-कम थोड़े वक्त के लिए ही सही, बड़े सवाल पीछे नहीं पड़ जायंगे ? और, अगर वह अपनी अभी की बात पर कामयाब भी हो जायंगे, और दलित जातियों के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो प्राप्त कर ही लिया गया है, और कुछ दिन तक अब कुछ भी न करना चाहिए ? और क्या उनके इस काम का यह अर्थ नहीं हुआ कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज

को किसी अंश तक मंजूर करते हैं ? क्या यह असहयोग और सविनयभंग से मेल खाता है ? इतने बलिदान और साहसपूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस नगण्य प्रश्न पर आकर अटक जायगा ?

वह राजनैतिक समस्या को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टि से देखते हैं और समय-समय पर ईश्वर को बीच में लाते हैं, यह देखकर मुझे उनपर गुस्सा भी आया। उनके वक्तव्य से तो ऐसी ध्वनि निकलती थी कि शायद ईश्वर ने उन्हें अनशन की तारीख तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना भयंकर होगा।

और अगर बापू मर गये ! तो हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी ? और उसकी राजनीतिक प्रगति का क्या होगा ? मुझे भविष्य सूना और भयंकर दीखने लगा, और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल में एक निराशा छा जाती थी।

इस तरह मैं लगातार इन विचारों में डूबता-उतराता रहा। मेरे दिमाग में गड़बड़ी मच गई, और गुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बड़ी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नहीं सूझता था कि मैं क्या करूं, और सबसे ज्यादा अपने प्रति मैं चिड़चिड़ा और बद-मिजाज हो गया।

और फिर मुझमें एक अजीब तब्दीली हुई। मैं शुरू-शुरू में भावनाओं के एक तूफान में बह गया था, पर अन्त में मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नहीं दिया। बापू में ऐन मौके पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ है, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-बिन्दु से बिलकुल अयोग्य ठहरता था—कोई बड़े नतीजे निकलें, केवल उसी काम के छोटे से सीमित क्षेत्र में नहीं बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक स्वरूपों में भी। और अगर बापू मर भी गये, तो हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई चलती रहेगी। इसलिए, कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए कटिबद्ध और मुस्तैद रहना चाहिए। गांधीजी की मृत्यु तक को बिना हिचकिचाहट के सह लेने का संकल्प करके मैंने शान्ति और धीरज धारण किया, और दुनिया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश में एक भयंकर उथल-पुथल मचने और हिन्दू-समाज

में उत्साह की एक जादूभरी लहर आजाने की खबरें आईं, और मालूम होने लगा कि छुआछूत का अब अन्त ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवडा-जेल में बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है! और लोगों के हृदयों के तारों को झंकृत करना वह कितनी अच्छी तरह जानता है!

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही संदेश था, और इतने लम्बे अर्से के बाद उनका संदेश पाना मुझे बहुत अच्छा लगा। इस तार में उन्होंने लिखा—

"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज्यादा उत्सुक हूं। तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी राय की कितनी कदर करता हूँ! इन्दु और सरूप के बच्चे मिले। इन्दु खुश और कुछ तगड़ी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीड़ा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लड़की और मेरी बहन के बच्चों के आने का जिक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगड़ी हो गई है। उस समय मेरी बहन भी पूना के जेल में थी, और ये सब बच्चे पूना के स्कूल में पढ़ते थे। वह जीवन में छोटी दीखनेवाली बातों को कभी नहीं भूलते, जिनका असल में बड़ा महत्त्व भी होता है।

ठीक उसी वक्त मुझे यह खबर भी मिली कि चुनाव के मामले पर कोई समझौता भी हो गया है। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कृपा करके मुझे गांधीजी को जवाब देने की इजाजत दे दी, और मैंने उन्हें यह तार भेजा:—

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और खुशी हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बड़ी दुविधा पैदा हुई, पर आखिर में आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। दलित वर्गों के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, लेकिन भय है कि कहीं हमारे एक-मात्र लक्ष्य को दूसरी समस्याएं ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूं। यह भी भय है कि दूसरे लोग आपके तरीकों का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूं? सप्रेम।"

पूना में जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगों ने एक समझौते पर दस्तखत किये और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मंजूर कर लिया और उसके अनुसार अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया। अनशन भी तोड़ दिया गया। मैं ऐसे समझौतों और इकरारनामों को बहुत नापसन्द करता हूं, लेकिन पूना के समझौते में क्या-क्या तय हुआ इसका खयाल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना खत्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम में लग गये। हरिजन-आन्दोलन और जेल में से गांधीजी की प्रवृत्तियों की खबरें हमें मिलती रहती थीं। लेकिन उनसे मुझे खुशी नहीं होती थी। इसमें शक नहीं कि छुआछूत के भाव को मिटाने और दुःखी दलित जातियों को उठाने के आन्दोलन को उससे बड़े गजब का बढ़ावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नहीं, बल्कि देशभर में जो एक जिहादी जोश फैल गया था उसके कारण। यह तो अच्छी बात थी। लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी स्पष्ट था कि इससे सविनय भंग आन्दोलन को नुकसान पहुंचा। देश का ध्यान दूसरे सवालों पर चला गया, और कांग्रेस के कई कार्यकर्त्ता हरिजन-कार्य में लग गये। शायद उसमें से ज्यादातर तो कम खतरे के कामों में लगन का बहाना चाहते ही थे, जिनमें जेल जाने, या इससे भी ज्यादा लाठी खाने और सम्पत्ति जब्त कराने का डर न हो। यह स्वाभाविक ही था, और हमारे हजारों कार्यकर्ताओं में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह घोर कष्ट सहने और अपने परिवार के भंग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहें। लेकिन फिर भी हमारे बड़े आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे पतन होना देखकर दिल में दर्द होता था। फिर भी, सविनय भंग तो चलता ही रहा, और मौके-मौके पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-कांग्रेस-जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन हो ही जाते थे। गांधीजी यरवडा-जेल में थे, मगर उन्हें लोगों से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के लिए हिदायतें भेजने की कुछ सुविधाएं मिल गई थीं। कुछ भी हो, इससे उनके जेल में रहने के कारण लोगों के मन में हुई टीस का तीखापन कम हो गया था। इन सब बातों से मुझे बड़ी निराशा हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने फिर अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। पहले तो इसकी खबर से ही मुझे फिर बड़ा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झुंझलाहट आई, जो

उनके उपवास का संकल्प कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का जोर उनपर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं उसके विरोध में जोर की राय देता, लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्त्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह गलत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की कोशिश करे। इस तरह यद्यपि मैं खिन्न था, फिर भी मैंने उसे सहन कर लिया।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूंकि उन्होंने जवाब मांगा था, इसलिए मैंने नीचे लिखा तार भेजा :—

"आपका पत्र मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूं? मैं तो एक विचित्र देश में अपने को खोया हुआ-सा अनुभव करता हूं जहां आप ही एक-मात्र दीपस्तम्भ हैं; अंधेरे में मैं अपना रास्ता टटोलता हूं; लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूं। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"

एक ओर तो मैं उनके कार्य को बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हें चोट न पहुंचाने की भी मेरी इच्छा बलवती थी। मैं इस संघर्ष में पड़ा हुआ था। मैंने अनुभव किया कि मैंने उन्हें प्रसन्नता का सन्देश नहीं भेजा है, और अब जबकि वह अपनी भयंकर अग्नि-परीक्षा में से, जिसमें उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, पार होनेका निश्चय कर ही चुके हैं, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बनसके उतना मैं उन्हें प्रसन्न रखूं। छोटी-छोटी बातों का भी मन पर बड़ा असर होता है, और उन्हें अपना जीवन-दीप बुझने न देने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पड़ेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी हो, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय, तो भी उसे दृढ़ हृदय से सह लेना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें दूसरा तार भेजा :—

"अब तो जब आपने अपना महान तप शुरू कर ही दिया है, मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूं; और मैं आपका विश्वास दिलाता हूं कि अब मुझे यह ज्यादा स्पष्ट दिखाई देता है कि जो कुछ होता

है अच्छा ही होता है, और परिणाम कुछ भी हो आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास सकुशल पूरा हुआ। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छः हफ्तों के लिए सविनय भंग स्थगित कर दिया गया।

मैंने देखा कि उपवास के बीच में देश में भावना का फिर एक उभाड़ आया। मैं अधिकाधिक सोचने लगा कि क्या राजनीति में यह उचित मार्ग है ? मुझे तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीका बिलकुल नहीं ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका अधिकांश श्रद्धा से महात्माजी की तरफ निगाह गड़ाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जांय, अस्पृश्यता का नाश कर दें, और स्वराज्य हासिल कर लें, इत्यादि, और आप कुछ भी न करें। गांधीजी भी दूसरों को विचार करने के लिए बढ़ावा नहीं देते थे, उनका आग्रह पवित्रता और बलिदान पर था। मुझे लगा कि हालांकि मैं गांधीजी पर बड़ी आसक्ति रखता हूं फिर भी मानसिक दृष्टि से मैं उनसे दूर होता जा रहा हूं। अक्सर वह अपनी राजनैतिक हलचलों में अपनी कभी न चूकनेवाली, सहज आत्मप्रेरणा से काम लेते थे। श्रेयस्कर और लाभप्रद काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है; लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है ? कुछ वक्त के लिए तो यह लाभदायक हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा ?

मेरी समझ में नहीं आता था कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी नींव हिंसा और संघर्ष पर है, वह कैसे स्वीकार कर लेते हैं, जैसा कि ऊपर से मालूम पड़ता था। मुझमें जोर से संघर्ष चलने लगा, और मैं दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओं (व्यक्ति-निष्ठा और तत्त्व-निष्ठा) की चक्की में पिसने लगा। मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहारदीवारी से बाहर निकलूंगा, तब भविष्य में मेरे सामने मुसीबत ही खड़ी मिलेगी। मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूं, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देने वाला देश मालूम होने लगा। क्या यह मेरा दोष था कि मैं अपने देशवासियों की भावना और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका ? मुझे मालूम हुआ कि अपने अंतरंग साथियों और मेरे बीच एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी हो गई है, और उसको पार

करने में अपने-आपको असमर्थ पाकर में दुखी हो गया और मन मसोस कर बैठ गया। उन सब को मानों पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचार-धाराओं, पुरानी आशाओं और पुरानी इच्छाओं की दुनिया ने घेर रक्खा था। नई दुनिया तो अभी बहुत दूर थी।

दो लोकों के बीच भटकता
आश्रय की कुछ आस नहीं;
मरी पड़ी है एक, दूसरे में,
उठने की शक्ति नहीं।[1]

हिन्दुस्तान, सब बातों से ज्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिक्ख और दूसरे लोग अपने-अपने मतों का अभिमान रखते हैं, और एक-दूसरे के सिर फोड़कर उनकी सच्चाई का सुबूत देते हैं। हिन्दुस्तान में और दूसरे देशों में मजहब के, और कम-से कम मौजूदा रूप में संगठित मजहब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैंने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड़-मूल से मिटा देने तक की इच्छा की है। मुझे तो लगभग हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्धविश्वास और प्रगतिविरोध, जड़ (प्रमाण-रहित) सिद्धान्त और कट्टरपन, अन्धश्रद्धा और शोषणनीति और (न्याय अथवा अन्याय से) स्थापित स्वार्थों के संरक्षण का ही नाम 'धर्म' है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि धर्म में और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज भी है जो मनुष्यों की गहरी आन्तरिक आकांक्षा भी पूरी करती है। नहीं तो उसका इतनी जबरदस्त शक्ति बनना, जैसा कि बना हुआ है, कैसे सम्भव था, और उससे अनगिनती पीड़ित आत्माओं को सुख और शान्ति कैसे मिल सकती थी? क्या वह शान्ति केवल अन्धविश्वास को शरण देने और शंकाओं पर परदा डालनेवाली ही थी? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र के तूफानों से बचकर किसी बन्दरगाह में मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी? कुछ बातों में तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का संगठित धर्म तो ज्यादातर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तथ्य और तत्त्व नहीं है।

---

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

श्री जी० के० चेस्टरटन[1]ने इसकी (स्वयं अपने विशेष धर्म की नहीं, मगर दूसरों के धर्म की) उपमा भूगर्भ में पाये जानेवाले किसी ऐसे जानवर या प्राणी के पाषाण-खचित ढांचे से दी है जिसके अन्दर से उसका अपना जीवन-तत्त्व तो पूरी तरह से निकल चुका है लेकिन ऊपरी पंजर इसलिए रह गया है कि उसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज भर दी गई थी। और, अगर किसी धर्म में कोई महत्त्वपूर्ण चीज रह भी गई है तो, उसपर और दूसरी हानिकर चीजों का लेप चढ़ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वीय धर्मों में, और पश्चिमी धर्मों में भी, हुई है। चर्च आफ इंग्लैण्ड ऐसे धर्मों का एक स्पष्ट उदाहरण है, जो किसी भी अर्थ में मजहब नहीं है। किसी हद तक, यही बात सारे संगठित प्रोटेस्टेण्ट, धर्मों के बारे में सही है; लेकिन इसमें सबसे आगे बढ़ा हुआ चर्च आफ इंग्लैण्ड ही है, क्योंकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[2]

---

[1] यह कैथलिक सम्प्रदाय का था। —अनु०

[2] हिन्दुस्तान में चर्च आफ इंग्लैण्ड तो प्रायः सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊंचे सरकारी नौकर साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक हैं उसी तरह (हिन्दुस्तान के खजाने से) सरकार की तरफ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी हैं। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढ़िवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आमतौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और संस्कृति से आमतौर पर बिलकुल नावाकिफ होते हैं और वे यह जानने की जरा भी तकलीफ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे गैरईसाइयों के पापों और कमजोरियों को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊंचे अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्डरूज से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा मित्र नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमड़ती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई थी। पूना के क्राइस्ट सेवा-संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज हैं जिनके मजहब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और वे अपनी सारी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

उसके बहुत-से अनुयाइयों का चारित्र्य बेशक ऊंचे-से-ऊंचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उद्देश्य को पूरा किया है, और पूंजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस धर्म ने एशिया और अफ्रीका में अंग्रेजों की लुटेरी रीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेजों म एक असाधारण और ईर्ष्या करने योग्य भावना भर दी है कि हम हमेशा ठीक और सही काम करते हैं। इस बड़प्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह खुद उससे पैदा हुई है, यह मैं नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैण्ड के बराबर भाग्यशाली नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज मक्कार हैं। "विश्वासघाती इंग्लैण्ड" यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलजाम तो अंग्रेजों की कामयाबी से उत्पन्न हुई ईर्ष्या से लगाया जाता है, और निश्चय ही कोई दूसरा देश भी इंग्लैण्ड के दोष नहीं निकाल सकता क्योंकि उसके भी कारनामे इतने ही खराब हैं। जो राष्ट्र जान-बूझकर मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-संग्रह नहीं रह सकता, जैसा कि अंग्रेजों ने

---

१२ दिसम्बर १९३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १९१९ के माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-सुधारों की प्रस्तावना का जिक्र किया था और कहा था कि "कभी-कभी मुझे खयाल होता है कि यह महान् घोषणा कुछ जल्दबाजी से कर दी गई, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता का प्रदर्शन कर दिया गया है, लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस नहीं लिया जा सकता।" यह गौर करने लायक बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति के बारे में ऐसा अनुदार दृष्टिकोण रखता है। जो चीज भारतीय लोकमत के अनुसार बिलकुल ही नाकाफी समझी गई, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद की तमाम घटनाएं हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारता का' प्रदर्शन कहते हैं। इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोष-प्रद सिद्धान्त है, और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, जो कि अविवेक की हद तक पहुंच जाता है, उनके अन्दर सन्तोष की एक सात्विक ज्योति जगाये बिना न रहता होगा।

बार-बार कर दिखलाया है; और इसमें उनके खास तरह के 'धर्म' ने, स्वार्थ-साधन के समय नीति-अनीति की चिन्ता करने की भावना कुंठित करके, मदद पहुंचाई है। दूसरी जातियों और राष्ट्रों ने अक्सर अंग्रेजों से भी बहुत खराब काम किये हैं, लेकिन अंग्रेजों के बराबर वे अपना स्वार्थ साधनेवाले कार्यों को सत्कार्य समझने में सफल नहीं हुए हैं। हम सभी के लिए यह बहुत आसान है कि हम दूसरों के जर्रे के बराबर दोष को 'पहाड़' के बराबर बता दें और खुद अपने 'पहाड़' के बराबर दोष को 'जर्रे' के बराबर समझें लेकिन शायद इस करतब में भी अंग्रेज ही सबसे ज्यादा बढ़कर हैं।[1]

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नई परिस्थिति के अनुकूल बन जाने की कोशिश की, और लोक-परलोक दोनों का ही ज्यादा-से-ज्यादा फायदा उठाना चाहा। जहांतक इस दुनिया का सम्बन्ध था वहांतक तो वह खूब ही सफल रहा, लेकिन धार्मिक दृष्टि से वह संगठित धर्म के रूप में 'न घर का रहा न घाट का।' और धीरे-धीरे धर्म की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन कैथलिक मत इस दुष्परिणाम से बच गया। क्योंकि वह पुरानी जड़ को ही पकड़े रहा, और जबतक वह जड़ कायम रहेगी तबतक वह भी फूलता-फलता रहेगा। पश्चिम में आज वही एक अपने सीमित अर्थ में 'जीवित धर्म' रह गया है। एक रोमन कैथलिक मित्र ने जेल में मेरे पास कैथलिक-मत पर कई पुस्तकें और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैंने उन्हें बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा था। उन्हें पढ़ने पर मुझे मालूम हुआ कि लोगों पर उसका कितना बड़ा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म

---

[1] चर्च आफ इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी एक मिसाल हाल ही में मेरे देखने में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेंस में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डेविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट के राजभक्त रहें, जो कि हमारे धर्म के 'संरक्षक' हैं।" लाजिमी तौर पर इसका अर्थ हुआ हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस, और समस्त प्रस्ताविक विधान के बारे में, इंग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगों की इस राय के साथ भी अपनी सहानुभूति प्रकट की थी कि इससे हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन खतरे में पड़ सकते हैं।

की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से राहत मिल जाती है और भावी जीवन के बारे में एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

मगर, मेरी समझ में इस तरह की सुरक्षा चाहना मेरे लिए तो असम्भव है। मैं खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हूं, जिसमें चाहे जितनी आंधियां और तूफान हों। मुझे परलोक की या मृत्यु के बाद क्या होता है इसके बारे में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस जीवन की समस्याएं ही मेरे दिमाग को व्यस्त करने के लिए काफी मालूम होती हैं। मुझे तो चीनियों की परम्परा से चली आई जीवन-दृष्टि, जो कि मूल में नैतिक है लेकिन फिर भी अधार्मिकता या नास्तिकता का रंग लिये हुए है, पसन्द आती है, हालांकि जिस तरह वह व्यवहार में लाई जा रही है, वह मुझे पसन्द नहीं है। मुझे तो 'ताओ' यानी जिस मार्ग पर चलना चाहिए और जीवनकी जो पद्धति होनी चाहिए उसमें रुचि है; मैं चाहता हूं कि जीवन को समझा जाय, उसको त्यागा नहीं बल्कि उसको अंगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम धार्मिक दृष्टिकोण इस लोक में नाता नहीं रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योंकि वह सिर्फ कुछ स्थिर और न बदलनेवाले मतों और सिद्धान्तों को बिना चूं-चपड़ किये स्वीकार कर लेने पर ही नहीं, बल्कि भावुकता और मनोवेग पर भी आधारित है। मैं जिन्हें आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बातें समझता हूं, उनसे वह बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान में इस डर से कि शायद वास्तविकता पूर्व-निश्चित विचारों से मेल न खाय, वास्तविकता से भी आंखें बन्द कर लेता है। वह संकीर्ण है, और अपने से भिन्न रायों या विचारों को सहन नहीं करता। वह स्वार्थपरता और अहंकार से पूर्ण है, और अक्सर स्वार्थी और अवसरवादी लोगों को अपने से अनुचित फायदा उठाने देता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मभीरु व्यक्ति अक्सर ऊंचे-से-ऊंचे नैतिक और आध्यात्मिक कोटि के लोग नहीं हुए हैं, या अभी भी नहीं हैं। लेकिन इसका यह अर्थ जरूर है कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरे लोक के पैमाने से न नापकर इसी लोक के पैमाने से नापना हो तो धार्मिक दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रों की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में सहायता नहीं देता, बल्कि अड़चन तक डालता है। आमतौर पर, धर्म ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या

व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और धर्मभीरु व्यक्ति समाज की भलाई की अपेक्षा अपनी मुक्ति की ज्यादा फिक्र करने लगता है। रहस्यवादी अपने अहंकार से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश में अक्सर अहंकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है। नैतिक पैमानों का सम्बन्ध समाज की आवश्यकताओं से नहीं रहता, बल्कि पाप के अत्यन्त गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर वे आधारित रहते हैं। और, संगठित धर्म तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाजिमी तौर पर वह परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी (प्रतिगामी) शक्ति होता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनों में ईसाई मजहब ने गुलाम लोगों को अपना सामाजिक दर्जा उठाने में मदद नहीं दी थी। ये गुलाम ही यूरप के मध्यकालीन युग में, आर्थिक परिस्थितियों के कारण भू-स्वामियों के क्रीतदास बन गए। मजहब का रुख दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ तक) क्या रहा था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशों के दास-स्वामियों को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र से मालूम पड़ सकता है।[1]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरिक सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धों से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यों में जरा भी तबदीली नहीं आती; वरन् इन मामलों में 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' में रहते हैं जिस अवस्था में वह पहले थे। ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनुष्यों के 'काम', 'विचार' और तीव्र 'वासना' के बन्धन से है। मगर, उनकी बाहरी हालत, बपतिस्मा—'ईसाई-धर्म की दीक्षा'—दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले, जैसी गुलामी या आजादी की थी, उसमें वह किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं करता।"

आज कोई भी संगठित धर्म इतने साफ ढंग से अपने खयालात जाहिर न करेगा, लेकिन सम्पत्ति और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख खास कर यही होगा।

---

[1] यह पत्र राईन-होल्ड नाईबर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) में उद्धृत हुआ है। यह किताब बड़ी ही रोचक और विचारप्रेरक है।

इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बड़ा जबरदस्त असर पड़ता है। मगर, इसके साथ ही यह भी साफ है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पड़ता है। दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते हैं कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशों में आन्तरिक विकास की अपेक्षा बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता, जैसाकि पूर्वीय देशों के कई लोग शायद समझते हैं, कि चूंकि हम कल-कारखानों के उद्योग में पीछे हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज्यादा हो गया है। यह एक भ्रम है, जिससे हम अपने को तसल्ली दे लेते हैं, और अपनी हीनता की भावना को दाबने की कोशिश करते हैं। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थितियों और हालतों से ऊपर उठ सकें, और ऊंचे आन्तरिक विकास पर पहुंच सकें। लेकिन बड़े-बड़े दलों और राष्ट्रों के लिए तो, आन्तरिक विकास हो सकने से पहले किसी अंश तक बाहरी विकास का होना आवश्यक है। जो आदमी आर्थिक परिस्थितियों का शिकार है, और जो जीवन-संघर्ष के बन्धनों और बाधाओं से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊंची कोटि की आत्म-चेतना प्राप्त कर सके। जो वर्ग पद-दलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नहीं कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से पराधीन है और बन्धनों में पड़ा परिस्थितियों से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति में सफल नहीं हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आजादी और अनुकूल परिस्थिति की जरूरत होती है। इस बाहरी आजादी को पाने, और परिस्थिति ऐसी बनाने के लिए, कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें दूर हो जांय, यह आवश्यक है कि साधन ऐसे मिलें जिनसे असली उद्देश्य ही न मिट जाय। मैं समझता हूं कि जब गांधीजी कहते हैं कि उद्देश्य से साधन ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं, तो उसका भाव कुछ ऐसा ही जान पड़ता है। मगर साधन ऐसे जरूर होने चाहिएं जो उस उद्देश्य तक पहुंचा दें, नहीं तो सारा प्रयत्न व्यर्थ होगा, और उसके फलस्वरूप शायद, भीतरी और बाहरी दोनों दृष्टि से, और अधिक पतन हो जाय।

गांधीजी ने कहीं लिखा है—"कोई भी आदमी धर्म के बिना जीवित नहीं रह सकता। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी बुद्धि के घमंड में कहते हैं कि हमें धर्म से

कोई सम्बन्ध नहीं है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी सांस तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नहीं है।" एक दूसरी जगह कहते हैं—"सत्य के प्रति मेरी तपस्या ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खींचा है। और मैं बिना किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूं, कि वे लोग जो यह कहते हैं कि 'धर्म' का राजनीति से कोई नाता नहीं है, यह समझते ही नहीं कि 'धर्म' का क्या अर्थ है।" यदि वह यों कहते कि वे लोग जो जीवन और राजनीति में से 'धर्म' को निकाल डालना चाहते हैं, 'धर्म' शब्द का मेरे आशय से बहुत भिन्न कोई दूसरा ही आशय समझते हैं,तो शायद यह अधिक सही होता। यह स्पष्ट है कि गांधीजी 'धर्म' शब्द को उसके भाष्यकारों से भिन्न अर्थ में, शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक ले रहे हैं। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में इस तरह प्रयोग करने से एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

धर्म की एक बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि धर्मभीरु व्यक्ति सहमत न होंगे, प्रोफेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय में धर्म "वह चीज है जो लोक-जीवन के खण्ड-खण्ड और परिवर्तनशील दृश्यों को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है"; या फिर "जो प्रवृत्ति व्यक्तिगत हानि होने की आशंका होने पर भी, और बाधाओं के विरोध में भी, किसी आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए जारी रक्खी जाती है, और जिसके पीछे यह विश्वास हो कि वह सामान्य और स्थायी उपयोगिता वाली है वही स्वरूप में धार्मिक है।" अगर धर्म यही चीज है,तब तो निश्चय ही उसपर किसीको भी कुछ एतराज नहीं हो सकता।

रोमां रोलां ने भी धर्म का ऐसा अर्थ निकाला है जिससे शायद संगठित मजहब के कट्टर लोग भयभीत हो जायंगे। अपने 'रामकृष्ण परमहंस' के जीवन-चरित्र में वह लिखते हैं—

"........बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं जो सभी तरह के धार्मिक विश्वासों से दूर हैं, या उनका खयाल है कि वे दूर हैं, लेकिन वास्तव में उनमें एक अति-बौद्धिक चेतना व्याप्त रहती है, जिसे वे समाजवाद,साम्यवाद, मानवहितवाद,राष्ट्रवाद या बुद्धिवाद भी कहते हैं। विचार का लक्ष्य क्या है, इसकी अपेक्षा विचार किस कोटि का है, यह देखकर हम निर्णय कर सकते हैं कि वह धर्म-प्रसू है या नहीं। अगर वह विचार हर तरह की कठिनाई सहकर एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की

तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ निर्भयतापूर्वक ले जाता है, तो मैं उसे धर्म ही कहूंगा। क्योंकि धर्म के अन्दर यह विश्वास शामिल है कि मानवीय पुरुषार्थ का ध्येय मौजूदा समाज के जीवन से ऊंचा, बल्कि सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊंचा है। नास्तिकता भी, जब वह सर्वांशतः सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है, और जब वह निर्बलता की नहीं बल्कि शक्ति की एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के प्रयाण में शामिल हो जाती है।''

मैं नहीं कह सकता कि मैं रोम्यां रोलां की इन शर्तों को पूरा करता ही हूं, लेकिन इन शर्तों पर तो इस महान् सेना का एक तुच्छ सैनिक बनने को मैं तैयार हूं।

४८

ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुखी' नीति

यरवडा-जेल से, और बाद में बाहर से, गांधीजी के नेतृत्व में हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश का प्रतिबन्ध दूर करने के लिए बड़ा भारी आन्दोलन खड़ा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली (बड़ी धारासभा) में भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया कि कांग्रेस के एक बड़े नेता दिल्ली में असेम्बली के मेम्बरों के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश बिल के पक्ष में मत दिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। खुद गांधीजी ने भी उनके द्वारा असेम्बली के मेम्बरों के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय-भंग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे। कांग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमें से निकलकर चले आये थे। जो मेम्बर वहां बच गए थे, उन्होंने और उन लोगों ने जो खाली हुई जगहों में आगये थे, इस संकट-काल में कांग्रेस का विरोध करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सों की असाधारण धाराओं को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी कानून के रूप में पास कर देने में इन लोगों के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होंने ओटावा का समझौता पचा लिया था; और दिल्ली, शिमला और लन्दन में महाप्रभुओं के साथ दावतें उड़ाई थीं। वे हिन्दुस्तान में अंग्रेजों की हुकूमत की प्रशंसा करने में शामिल हो गए थे, और हिन्दुस्तान में 'दो-रुखी' नीति की विजय की उन्होंने प्रार्थना की थी।

उस समय की परिस्थिति में गांधीजी के अपील निकालने पर मैं अचम्भे में पड़ गया। और इससे भी ज्यादा मैं राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशों से चकित हुआ, जोकि कुछ ही हफ्ते पहले कांग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामों से सविनय-भंग को धक्का पहुंचा, लेकिन मुझे तो नैतिक दृष्टि से ज्यादा चोट पहुंची। मेरी निगाह में गांधीजी या किसी भी कांग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुत-से लोग जेल में थे या

लड़ाई चला रहे थे, उनके साथ करीब-करीब विश्वासघात ही था। लेकिन मैं जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस समय और बाद में मन्दिर-प्रवेश-बिल के साथ सरकार का रुख आंखें खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थकों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयां डालीं। वह उसको स्थगित करती चली गई, और उसके विरोधियों को प्रोत्साहन देती गई, और अखीर में उसपर अपना विरोध जाहिर करके उसका खात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान में सामाजिक सुधार के सभी प्रयत्नों की तरफ किसी-न-किसी अंश में उसका यही रुख रहा है, और धर्म में हस्तक्षेप न करने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की जरूरत नहीं कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयों की नुक्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरों को बढ़ावा देने से बाज नहीं आई। एक इत्तिफाक से ही शारदा-बाल-विवाह-विरोधक बिल कानून बन गया था, लेकिन इस अभागे कानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज्यादा यह मालूम हो गया कि इस तरह के कानूनों की पाबन्दी कराने में सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातों-रात आर्डिनेंस पैदा कर सकती थी, जिसमें अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गए थे और एक के कुसूरों के लिए दूसरों को सजाएं दी जा सकती थीं और उन आर्डिनेंसों को भंग करने के कारण वह हजारों लोगों को जेल भेज सकती थी, वही सरकार 'शारदा-एक्ट' सरीखे अपने कायदे के कानून की पाबन्दी कराने से स्पष्टत: दुबकने लगी। इस कानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ़ गई। क्योंकि लोगों ने छः महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि कानून में बहुत ही बेवकूफी से रख दी गई थी, फायदा उठाने की एकदम जल्दी की। और फिर तो यह मालूम हो गया कि कानून तो बहुत कुछ एक मजाक ही है, और आसानी से उसका भंग हो सकता है और सरकार उसमें कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ से उसके प्रचार की जरा भी कोशिश नहीं की गई, और देहात के ज्यादातर लोगों को यह भी पता न लगा कि यह कानून क्या है? उन्होंने हिन्दू और मुसलमान प्रचारकों से, जो खुद भी हकीकत शायद ही जानते हों, उसका तोड़ा-मरोड़ा हुआ हाल सुना।

स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक बुराइयों के प्रति सहिष्णुता की जो यह असाधारण प्रवृत्ति ब्रिटिश सरकार ने दिखाई है, वह उन बुराइयों के लिए

भारतीय महिला-संघ की तरह जनाने तरीके से ही, काम करती थीं, और उनमें उग्र प्रचार की वृत्ति नहीं थी। इसके अलावा, वे भी आर्डीनेंसों और उनके बाद के कानूनों द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के भयंकर दमन के कारण निष्प्राण होकर कुछ भी नही कर सकती थीं। फौजी कानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही यह सहृदयता को और अत्यन्त सभ्य प्रवृत्तियों को भी निर्जीव-सा कर देता है।

मगर कांग्रेस और दूसरे गैर-सरकारी संगठन क्यों ज्यादा सामाजिक सुधार नहीं कर सकते, इसका मूल कारण और भी गहरा है। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसीमें हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जबतक हमें राजनैतिक आजादी न मिलेगी तबतक वह उसी में लगता भी रहेगा। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने कहा है—"पराजित राष्ट्र नासूर के रोगी की तरह होता है; वह और किसी बात का खयाल नहीं कर सकता"। वास्तव में किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रीय आन्दोलन से बढ़कर कोई अभिशाप नहीं होता, जोकि स्वाभाविक प्रवृत्ति के दमन का एक दुःखदाई लक्षण मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड़ में पीछे रह जाते हैं, क्योंकि वे इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों से छुटकारा पाने की कोशिश करें।"

पिछला अनुभव हमें बताता है कि चुने हुए मिनिस्टरों के हाथ में जाहिरा तौर पर कुछ महकमों के दिये जाने पर भी वर्तमान परिस्थिति में प्रायः हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नहीं कर सकते। सरकार की जबरदस्त अकर्मण्यता रूढ़ि-प्रेमियों के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढ़ियों से ब्रिटिश सरकार ने लोगों के नये काम शुरू करने की शक्ति को कुचल दिया है, और वह सर्वाधिकारी की तरह, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, मां-बाप की तरह हुकूमत करती है। गैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा किसी भी बड़े व्यवस्थित काम का किया जाना वह पसन्द नहीं करती, और उसमें छिपे हुए इरादों का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के संगठनकर्त्ता, यद्यपि उन्होंने हर तरह सावधानी से काम लिया है, समय-समय पर सरकारी कर्मचारियों के संघर्ष में आ ही गए हैं। मुझे तो यकीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज्यादा इस्तेमाल करने का भी राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये तो वह भी कई जगहों पर सरकार के संघर्ष में आ जायगा।

मेरी समझ में अगर सरकार सामाजिक सुधार के प्रश्न को हाथ में ले ले, तो जनता के मत को उसके मुआफिक बना लेना मुश्किल नहीं है। मगर विदेशी हाकिमों पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरों को अपनी राय का बनाने में वे ज्यादा सफल नहीं हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जांय, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बड़े सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

लेकिन जेल में हमारे दिमागों में सामाजिक सुधार और शारदा-कानून और हरिजन-आन्दोलन के विचार नहीं भरे हुए थे, सिवा इसी हद तक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय भंग के रास्ते में आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ़ गया था। मई १९३३ के शुरू में सविनय भंग छः हफ्तों के लिए स्थगित कर दिया गया था। और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता में हम थे। इसके स्थगित होने से तो आन्दोलन पर आखीरी प्रहार ही हो गया; क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ आंखमिचौनी का खेल नहीं खेला जा सकता, न वह जब मन आवे तब चालू और जब मन आवे तब बन्द ही की जा सकती है। स्थगित होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व में बहुत ही कमजोरी और प्रभाव-हीनता आगई थी। कई छोटी-छोटी कान्फ्रेंसें हो रही थीं, और तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थीं, जिनसे सक्रिय कार्य होने में रुकावट पड़ती थी। कांग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेंट बड़े सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लड़ाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज्यादती करना था। उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये हैं और इस कठिन स्थिति से निकलना चाहते हैं। इस अस्थिरता और अनिश्चय के खिलाफ ऊंचे हलकों में कुछ असन्तोष था, लेकिन उसको संगठित रूप से जाहिर नहीं किया जा सकता था, क्योंकि सभी कांग्रेसी संस्थाएं गैर-कानूनी थीं।

इसके बाद गांधीजी का इक्कीस दिन का उपवास करना, उनका जेल से छूटना, और छः हफ्ते तक सविनय भंग का रोक लेना, यह सब हुआ। उपवास समाप्त हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फिर अच्छे हुए। जून के मध्य में सविनय भंग के स्थगित होने की अवधि छः हफ्ते के लिए और बढ़ा दी गई। इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान के टापुओं में राजनैतिक कैदी (बंगाल में जिन्हें क्रान्तिकारी हिंसा के लिए सजा दी गई थी, वे वहां भेजे गये थे) जेल-बर्ताव के प्रश्न पर भूख-हड़ताल कर रहे थे, और उनमें से एक या दो

तो भूखे रह-रहकर मर भी गए थे। कई मृत्युशय्या पर थे। हिन्दुस्तान में जिन लोगों ने, अण्डमान में जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओं में भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ्तार कर लिये गए और उन्हें सजाएं दे दी गई। हम (कैदी) केवल कठिनाइयां ही नहीं सहें, लेकिन हम शिकायत भी न करें, चाहे हम भूख-हड़ताल को छोड़कर विरोध बतलाने का दूसरा उपाय न मिलने पर भूख की भयंकर अग्नि-परीक्षा में मर भी जांय! कुछ महीने बाद, सितम्बर १९३३ में (जबकि मैं जेल से बाहर था), एक अपील निकली थी, जिसमें अण्डमान के कैदियों के साथ ज्यादा मनुष्योचित बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान की जेलों में बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ० एण्डरूज और दूसरे कई मशहूर लोगों के भी दस्तखत थे, जिनमें अधिकांश कांग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग ही थे। इस वक्तव्य पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बड़ी नाराजगी जाहिर की, और कैदियों के साथ सहानुभूति बतलाने के लिए उसपर दस्तखत करनेवालों की बड़ी कड़ी समालोचना की। बाद में, जहां तक मुझे याद आता है, बंगाल में ऐसी हमदर्दी जाहिर करना भी एक जुर्म करार दे दिया गया।

सविनय भंग छः हफ्ते स्थगित करने की दूसरी अवधि पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल में, हमें खबर मिली कि गांधीजी ने पूना में एक अनियमित कान्फ्रेंस बुलाई है। वहां दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गांधीजी की सलाह से सामूहिक सविनय भंग बिलकुल स्थगित कर दिया गया, किन्तु व्यक्तिगत सविनय भंग की छूट दी गई, और सब तरह की गुप्त प्रवृत्तियां बन्द कर दी गईं। ये निश्चय कोई बहुत स्फूर्तिदायक नहीं थे, लेकिन इनके स्वरूप को देखते हुए मुझे उनपर खास एतराज नहीं हुआ। सामूहिक सविनय भंग को बन्द करना तो मौजूदा हालत को स्वीकार कर लेना और स्थिर कर देना ही था; क्योंकि वास्तव में उन दिनों सामूहिक सविनय भंग था ही नहीं। और, गुप्त काम भी इस बात का एक बहाना-मात्र था कि हम अपना काम जारी रख रहे हैं, और अक्सर उससे अपने आन्दोलन के रूप को देखते हुए साहस-हीनता भी पैदा होती थी। किसी हद तक तो, हिदायतें भेजने और सम्पर्क बनाये रखने के लिए वह जरूरी भी था, लेकिन खुद सविनय भंग तो गुप्त कैसे रक्खा जा सकता था।

मुझे जिस बात से अचरज और दुःख हुआ, वह यह थी, कि पूना में मौजूदा

परिस्थिति और हमारे लक्ष्य के बारे में कोई असली चर्चा नहीं हुई। कांग्रेसवाले करीब दो साल की भीषण लड़ाई और दमन के बाद एक जगह इकट्ठे हुए थे, और इस बीच सारी दुनिया में और हिन्दुस्तान में बहुत-सी घटनाएं हुई थीं, जिनमें श्वेत पत्र ('व्हाइट पेपर') का प्रकाशित होना भी शामिल था, जिसमें ब्रिटिश सरकार की वैधानिक सुधार-सम्बन्धी योजना थी। इस अर्से में हमें तो मजबूरन चुप रहना पड़ा था, और दूसरी तरफ असली सवालों को छिपाने के लिए लगातार झूठा प्रचार होता रहा था। न सिर्फ सरकार के हिमायतियों ने ही, बल्कि लिबरलों और दूसरे लोगों ने भी, कई बार यह कहा था कि कांग्रेस ने अपना स्वाधीनता का लक्ष्य छोड़ दिया है। मेरी समझ में हमें कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि हम अपने राजनैतिक ध्येय पर जोर देते, उसे फिर स्पष्ट कर देते, और अगर हो सकता हो तो उसके साथ सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य भी जोड़ देते। इसके बदले बहस शायद सिर्फ इसी बात पर होती रही कि सामूहिक सविनय भंग अच्छा है या व्यक्तिगत, गुप्त रखना ठीक है या नहीं। सरकार से 'सुलह' करने की भी कुछ विचित्र चर्चा हुई थी। जहांतक मुझे याद है, गांधीजीने वाइसराय से मुलाकात करने के लिए एक तार भेजा, जिसके जवाब में वाइसराय की तरफ से 'नहीं' आया, और फिर गांधीजी ने एक दूसरा तार भेजा जिसमें 'सम्मान-युक्त सलाह' की कोई बात कही गई थी। लेकिन जिस मायाविनी सुलह को लोग चाहते थे वह थी कहां, जबकि सरकार राष्ट्र को कुचलने में विजयिनी हो रही थी और अण्डमान में लोग भूखे रहकर अपनी जानें दे रहे थे? लेकिन मैं जानता था, कि नतीजा कुछ भी हो, गांधीजी का यह तरीका रहा है कि वह हमेशा अपनी ओर से समझौते का पूरा मौका देते हैं।

दमन पूरे जोरों पर चल रहा था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियों को दबानेवाले सारे विशेष कानून लागू थे। फरवरी १९३३ में मेरे पिताजी की सालाना याद-गार में की जानेवाली एक सभा पुलिस ने रोक दी, हालांकि वह गैर-कांग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करनेवाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे सुप्रसिद्ध मॉडरेट। और मानों भविष्य में मिलनेवाले उपहारों की झांकी हमें श्वेत-पत्र में दी जा रही थी।

यह एक अनोखा 'पत्र' था, जिसको पढ़कर चकित रह जाना पड़ता था। इसके अनुसार हिन्दुस्तान एक बड़ी-चढ़ी हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जायगी,

और 'संघ' में देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों का ही ज्यादा बोलबोला रहेगा लेकिन खुद रियासतों में कोई भी बाहरी हस्तक्षेप बरदाश्त न किया जायगा, और पूरी तरह से एकतन्त्री सत्ता वहां जारी रहेगी। साम्राज्य की असली कड़ियां, कर्जे की जंजीरें, हमें हमेशा लन्दन शहर के साथ बांधे रहेंगी, और एक रिजर्व बैंक के मार्फत मुद्रा सम्बन्धी एवं आर्थिक नीति भी बैंक आफ इंग्लैण्ड के नियन्त्रण में रहेगी। सब स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए अटूट दीवारें खड़ी हो जांयगी, और भी नये स्थापित स्वार्थों की सृष्टि हो जायगी। इन स्थापित स्वार्थों के लाभ के लिए हमारी सारी-की-सारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रेहन रक्खी जायगी। हमें स्वशासन की अगली किस्तों के योग्य बनाने के लिए साम्राज्य के ऊंचे पदों पर, जिनको हम इतना चाहते हैं, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा, उन्हें हम छू भी न सकेंगे। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था में रखनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबसे ऊपर रहेगा सबसे बड़ा डिक्टेटर वाइसराय, जिसे जो मन में आवे सो करने और जिस बात को चाहे उसे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशों की हुकूमत के लिए अंग्रेज शासकवर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नहीं दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी खूब तारीफ कर सकते हैं, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी हसरत की निगाह से देख सकते हैं।

ऐसा विधान उपजाकर भी, जिसमें हिन्दुस्तान के हाथ-पांव अच्छी तरह से बांध दिये गए थे, उसमें 'खास जिम्मेदारियां' और 'संरक्षण' के रूप में कुछ और जंजीरें बांध दी गई थीं, जिससे यह अभागा राष्ट्र एक ऐसा कैदी हो गया जो जरा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री० नेवाई चेम्बरलेन ने कहा था, "उन्होंने सारी ताकत लगाकर योजना में ऐसे सब 'संरक्षण' रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग में आ सकती थी।"

इसके बाद, हमें यह भी बतलाया गया कि इन उपहारों के लिए हमें भारी खर्चा देना पड़ेगा—शुरू में एकदम कुछ करोड़ और फिर सालाना कुछ रकम। हमें स्वराज का तोहफा काफी रकम दिये बिना कैसे मिल सकता था? हम तो इस धोखे में ही पड़े हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्र देश है और अब भी उसपर बहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और उसे कम करने के लिए ही हम आजादी की तलाश में थे। आजादी के लिए जनता इसी प्रेरणा

से तैयार हुई थी। लेकिन अब मालूम हुआ कि वह बोझा ता और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हल हमें सच्ची अंग्रेजों-जैसी शालीनता के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे शासक कितने उदार-हृदय हैं। किसी भी साम्राज्यवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी प्रजा के लिए अपनी खुशी से ऐसे अधिकार और अवसर नहीं दिये हैं। और इंग्लैण्ड में इसके देनेवालों में और इसपर आपत्ति उठानेवालों में, जो इस भारी उदारता से डर रहे थे, बड़ा भारी वादविवाद हुआ। तीन साल तक हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के बीच बारबार बहुत लोगों के आने और जाने का, तीन गोलमेज-कान्फ्रेंसों का, और अनगिनती कमिटियों और मशविरों का यह नतीजा हुआ!

मगर, इग्लैंड की यात्राएं तो अब भी खत्म नहीं हुई थीं। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमेटी श्वेतपत्र पर फैसला देने के लिए बैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमें असेसर या गवाह बनकर गए। लन्दन में और भी कई तरह की कमेटियां बैठ रही थीं, और इन कमेटियों की मेम्बरी, जिसका अर्थ था इंग्लैंड जाने और साम्राज्य के हृदय (लन्दन) में ठहरने का मुफ्त खर्चा, जिसके लिए भीतर-ही-भीतर बड़ी भद्दी छीना-झपटी हुई थी। बड़े-बड़े पराक्रमी लोगों ने, जिनके हौसले श्वेतपत्र की निराशापूर्ण तजवीजों से भी ठण्डे नहीं पड़ते थे, अपनी सारी वक्तृत्त्व-कला और लोगों को लुभा लेने की शक्ति से श्वेतपत्र की तजवीजों को बदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा के संकटों को और लन्दन शहर में ठहरने के और भी ज्यादा जोखिमों को सहने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे कि प्रयत्न में कुछ दम तो दिखाई नहीं देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले नहीं थे, और चाहे हमारी कोई न सुने तो भी हम अपनी बात तो बराबर कहते ही रहेंगे इसमें विश्वास करनेवाले थे। उनमें से एक व्यक्ति. जोकि प्रति-सहयोगियों के एक नेता थे, सबके चले आने पर भी ठेठ अन्त तक टिके ही रहे, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहते हैं, वह लन्दन के सत्ताधीशों से मुलाकात-पर मुलाकात करते रहे, और उनके साथ दावत-पर-दावत उड़ाते रहे। और आखिर-कार जब वह अपने देश में लौटे तब प्रतीक्षा करनेवाले लोगों से उन्होंने कहा कि "मराठों की सुप्रसिद्ध दृढ़ता के साथ मैंने अपना काम-धंधा

छोड़ा नहीं और बिलकुल अन्त तक अपनी बात कह लेने के लिए मैं लन्दन में डटा रहा।"

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि उनके प्रति-सहयोगी मित्रों में मजाक का माद्दा नहीं है। अपनी कुछ विनोद-भरी बातों पर, जो प्रति-सहयोगियों को बिलकुल पसन्द नहीं आती थीं, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियों से) अक्सर झगड़ा हो जाता था, और फिर उन्हें उनको समझाना पड़ता था और तसल्ली देनी पड़ती थी। यह बड़ा थका देनेंवाला काम था। मैंने सोचा कि मराठों में लड़ने की कितनी तीव्र भावना रही है, जो सिर्फ भूतकाल में ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी हमारी राष्ट्रीय लड़ाइयों में प्रकट हो रही है; और महान् तथा निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आई, जो टुकड़े-टुकड़े भले ही हो जांय लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल श्वेतपत्र को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान में दिन-पर-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नहीं करते थे, और कभी-कभी, हालांकि बहुत कम बार, उन्होंने इसका विरोध भी किया था; लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि हम कांग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते हैं। सरकार को मौके-बे-मौके वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह अमुक कांग्रेसी नेता को जेल से रिहा कर दे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियों को जानते थे उन्हींके विषय में सोच सकते थे। लिबरलों और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूंकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई खतरा नहीं है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए और अगर फिर भी वह व्यक्ति अनुचित काम करे तो सरकार उसको गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक उचित माना जायगा। इंग्लैण्ड में भी कुछ भले लोग इसी दलील पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरों या खास व्यक्तियों की रिहाई की पैरवी करते थे। जब हम जेलों में पड़े हुए थे तब हमारे मामलों में जिन्होंने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमें यह भी महसूस होता था कि अगर इन भले आदमियों से हम बचे ही रहें तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना में हमें शक न था, लेकिन यह जाहिर था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा ही ग्रहण कर रक्खी थी और उनके और हमारे बीच बहुत चौड़ी खाई थी।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह लिबरलों को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हें दुःख होता था लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे ? सरकार के खिलाफ कोई भी कारगर कदम उठाने की तो वे कल्पना तक नहीं कर सकते थे। सिर्फ अपने समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हें जनता से और उसके बीच काम करनेवाले लोगों से दूर-ही-दूर हटना पड़ा; उन्हें नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पड़ा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा में फर्क जानना मुश्किल हो गया। तादाद में कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लड़ाई में कोई फर्क न पड़ सका। मगर उनमें कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी व्यक्तिगतरूप से इज्जत होती थी। लेकिन इन्हीं नेताओं ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलों ने भी सामूहिक रूप से सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन संकट के समय में ब्रिटिश सरकार की अमूल्य सेवा की। प्रभावकारी आलोचनाएं न होने और समय-समय पर लिबरलों के द्वारा दी गई मान्यता और समर्थन से सरकार को दमन और अनीति में प्रोत्साहन मिला। इस तरह ऐसे समय में जब कि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व दमन को मुनासिब बताना मुश्किल मालूम हो रहा था, उसको लिबरलों और प्रति-सहयोगियों ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेतागण कहते थे कि श्वेतपत्र खराब है—बहुत ही खराब है; लेकिन अब उसके लिए करें क्या ? अप्रैल १९३३ में कलकत्ता में लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमें श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने, जोकि लिबरलों के सबसे प्रमुख नेता हैं, समझाया कि वैधानिक परिवर्तन कितने भी असन्तोषजनक क्यों न हों, हमें उनको काम में लाना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि "यह ऐसा वक्त नहीं है, जबकि हम एक ओर खड़े रहें और अपने सामने सब कुछ योंही हो जाने दें।" जाहिर है कि, उनके खयाल में सिर्फ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम में लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होंने कहा—"अगर हममें समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को कायल करने और चुपचाप असर डालने की शक्ति और वास्तविक कार्यदक्षता है—अगर हममें ये गुण हैं, तो उन्हें पूरी तरह दिखलाने का यही अवसर है।" इस भावपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बड़े 'सुन्दर शब्द' थे।

श्री० शास्त्री हमेशा भावपूर्ण भाषण देते हैं, और वक्ताओं की तरह सुन्दर शब्दों और उनके अलंकारपूर्ण उपयोग का उन्हें शौक है। मगर वह अपने उत्साह में बह भी जाते हैं, और शब्दों का जो मोहक जाल वह खड़ा करते हैं उससे उनका मतलब दूसरों के लिए और शायद खुद उनके लिए भी धुंधला हो जाता है। उन्होंने अप्रैल १६३३ में, कलकत्ता में सविनय भंग के चालू रहते हुए, यह जो अपील की थी उसपर विचार कर लेना सार्थक होगा। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दें, तो भी उसमें दो बातें ध्यान देने योग्य दिखाई देती हैं। पहली बात तो यह है कि कुछ भी क्यों न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारा कितना भी अपमान, दमन और शोषण क्यों न होता हो, हमें उसको सह लेना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नहीं बनाई जा सकती जिसके बाहर हम हरगिज न जावें। एक जरा-सा कीड़ा भले ही एक बार मुकाबला करने पर उतारू हो जाय, लेकिन श्री शास्त्री की सलाह पर चलें तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नहीं कर सकते। उनकी राय के मुताबिक इसके सिवा कोई रास्ता ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि जहांतक उनका ताल्लुक है, ब्रिटिश सरकार के फैसले के सामने झुक जाना और उसे मंजूर कर लेना उनका धर्म (अगर मैं इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूं) हो गया है। यह हमारी किस्मत में बदा है, और उसे हम चाहें या न चाहें, लेकिन उसके सामने हमें सिर झुकाना ही चाहिए।

यह गौर करने की बात है कि वह किसी निश्चित और ज्ञात परिस्थिति पर अपनी राय नहीं दे रहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालांकि सबको यह स्पष्ट मालूम था कि वे बहुत बुरे होंगे। अगर उन्होंने यह कहा होता कि, "यद्यपि श्वेतपत्र की तजवीजें खराब हैं, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हीं को कानून का रूप दे दिया जाय तो मैं उनको काम में लाने के हक में हूं," तो उनकी सलाह चाहे अच्छी हो या बुरी, पर मौजूदा घटनाओं से सम्बद्धता होती। लेकिन श्री० शास्त्री तो बहुत आगे बढ़ गये और उन्होंने कहा कि भावी वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोष-जनक हों, फिर भी मेरी सलाह तो यही होगी। राष्ट्र की दृष्टि में जो सबसे ज्यादा महत्व की बात थी, उसके बारे में वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना जरा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी सिद्धान्त या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल

खाली न हो और शासकों के फरमानों की हमेशा तांबेदरी करना ही उसका ध्येय और नीति न हो, तबतक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है ?

दूसरी जिस बात की तरफ मेरा ध्यान जाता है, वह है शुद्ध शक्ति-कौशल की। नये सुधारों के कानून बनने की लम्बी मंजिल में 'श्वेतपत्र' तो सिर्फ एक सीढ़ी ही था। सरकार की निगाह में वह एक जरूरी सीढ़ी थी, लेकिन अभी तो कई सीढ़ियां बाकी थीं, और मंजिले-मकसूद तक जाते-जाते सम्भव था उसमें आगे, अच्छी या बुरी, कई तबदीलियां हो जातीं। इन तबदीलियों का आधार स्पष्ट ही यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना दबाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी में यह कल्पना हो सकती थी कि सरकार शायद हिन्दुस्तान के लिबरलों को अपनी तरफ मिलाने की इच्छा करे और वह उन योजनाओं को शायद कुछ और उदार बना दे या कम-से-कम उन सुधारों में कोई कमी तो न करे। लेकिन नये सुधारों की मंजूरी या नामंजूरी, या उन्हें काम में लाने या न लाने का सवाल उठने से बहुत पहले ही श्री शास्त्री की जोरदार घोषणा ने सरकार को यह साफ बता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिबरलों की परवा नहीं करनी चाहिए। अब उन्हें अपनी तरफ मिलाने का सवाल ही नहीं रहा। चाहे उन्हें धक्का देकर भी बाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोड़ेंगे। इस मामले में, भरसक लिबरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री० शास्त्री का कलकत्तेवाला भाषण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक और लिबरल-पक्ष के हितों के लिए हानिकर था।

मैंने श्री० शास्त्री के पुराने भाषण पर इतना ज्यादा इस कारण नहीं लिखा है कि वह भाषण या लिबरल फेडरेशन का जलसा कोई महत्त्वपूर्ण था, लेकिन इसलिए कि मैं लिबरल नेताओं की मनोवृत्ति और उनके विचार समझना चाहता था। वे सुयोग्य और आदरणीय व्यक्ति हैं, फिर भी (उनके लिए जितना भी सद्भाव हो सकता है उतना होते हुए भी) मैं यह नहीं समझ पाया हूं कि वे ऐसे काम क्यों करते हैं। श्री० शास्त्री के एक और भाषण का भी, जिसे मैंने जेल में पढा था, मुझपर बहुत बुरा असर पड़ा। यह भाषण उन्होंने जून १९३३ में पूना में भारत-सेवक-समिति (सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी) के जलसे पर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने वहां संकेत किया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अंग्रेजी

प्रभाव हट जाय, तो यह खतरा हो सकता है कि राजनैतिक आन्दोलनों में एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सतावे और उसपर जुल्म करे। इसके विपरीत ब्रिटिश राजनैतिक जीवन में सदा से सहिष्णुता की विशेषता रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य जितना ही अधिक ब्रिटेन के साथ सहयोग से बनाया जायगा, उतनी ही अधिक हिन्दुस्तान में सहिष्णुता बनी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल में रहने के कारण श्री० शास्त्री के भाषण का जो सारांश कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पड़ता है। 'स्टेट्समैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त है, और हम देखते हैं कि डाक्टर मुंजे के भाषणों में भी यही भाव रहा है।' कहा जाता है कि श्री० शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी में भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहां बड़ी अमानुषिकता और जंगलीपन से काम लिया जाता है।

जब मैंने यह भाषण पढ़ा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटेन के किसी 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री० शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनों में तफसील के बारे में बेशक फर्क है, लेकिन मूलतः विचार-धारा एक ही है। श्री० विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासों का किसी प्रकार अतिक्रमण न करते हुए, ठीक ऐसी ही भाषा में अपने विचार प्रकट कर सकते थे। फिर भी श्री० शास्त्री लिबरल-पार्टी में उग्र विचार के समझे जाते हैं, और उसके सबसे ज्यादा-योग्य नेता हैं।

श्री० शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या संसार के प्रश्नों पर उनकी राय से मैं सहमत नहीं हूं, खासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने में मैं बिलकुल असमर्थ हूं। शायद कोई विदेशी भी, अगर वह अंग्रेज नहीं है, तो उससे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारों के कई अंग्रेज भी उनकी राय को न मानेंगे। अंग्रेजी शासकों के रंगीन चश्मों से दुनिया और अपने देश को देखना, उनकी एक विशेषता है। फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि पिछले अठारह महीनों से जो असाधारण घटनाएं हिन्दुस्तान में रोजाना हो रही थीं और जो उनके भाषण के वक्त भी हो रही थीं उनका उन्होंने इसमें जिक्र तक नहीं किया। उन्होंने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश में ही जो भयंकर दमन और स्वतन्त्रता का अपहरण हो रहा था उसको वह एकदम नज़रअन्दाज कर गए। मुमकिन है उन्हें वे सारी भयानक घटनाएं मालूम न हुई

हों जो सीमा-प्रान्त में और बंगाल में हुई थीं—जिनको राजेन्द्र बाबू ने हाल में कांग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गए भाषण में 'बंग-भूमि पर बलात्कार' कहा है—क्योंकि सेन्सर के घने परदे ने सब घटनाओं को छिपा रक्खा था। लेकिन क्या उन्हें भारत-भूमि का दुःख और जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले में हिन्दुस्तान के लोग जीवन और स्वतन्त्रता की जो लड़ाई लड़ रहे थे वह भी याद न रही ? क्या उन्हें पुलिस-राज का, जो बड़े-बड़े हिस्सों में छाया हुआ था, फौजी कानून जैसी परिस्थिति का, आर्डिनेन्सों, भूख-हड़तालों और जेल के दूसरे कष्टों का हाल मालूम न था ? क्या वह यह महसूस नहीं करते थे कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में कुचल डाला है ?

वह कांग्रेस से सहमत थे या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं। उन्हें कांग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख्तियार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देश-वासी स्त्री और पुरुष जो अद्भुत साहस और बलिदान का भाव दिखा रहे थे, उसके प्रति उनके क्या विचार थे ? जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के कलेजे पर छुरी चला रहे थे, तब क्या उन्हें वेदना और कष्ट नहीं मालूम होता था ? लाखों आदमी एक घमण्डी साम्राज्य की पाशविक शक्ति के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा के कुचल जाने के बदले अपने शरीरों का कुचला जाना, अपने घर-बार का बरबाद हो जाना, और अपने प्रियजनों का कष्ट उठाना ज्यादा पसन्द कर रहे थे। क्या वह इसका महत्त्व कुछ भी नहीं समझते थे ? हम जेलों में और बाहर हिम्मत न हारे थे, हम मुसकराते थे और हंसते थे, लेकिन अक्सर हमारी मुसकराहट तो आंसुओंमें झलकती थी और हमारा हंसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अंग्रेज श्री० वेरियर एलविन हमें बताते हैं कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे में वह कहते हैं कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमागी बन्धनों को दूर कर रहा था, और अपना सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लड़ाई में ज्यादातर कांग्रेसी स्वयं-सेवकों ने आश्चर्यजनक अनुशासन दिखाया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ की है...।"

श्री० श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य सहृदय आदमी हैं। उनकी देश में बड़ी इज्जत है, और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लड़ाई में उनके भी ऐसे ही विचार न हों और उन्हें भी अपने देशवासियों से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियों के दमन की निन्दा में अपनी आवाज उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज्यादा दबाये गए प्रान्तों—बंगाल और सीमा-प्रान्त—में खुद जाते, इसलिए नहीं कि किसी भी तरह कांग्रेस या सविनय-भंग में मदद दें, बल्कि अधिकारियों और पुलिस की ज्यादतियों को जाहिर करने और इस तरह उन्हें रोकने के लिए। दूसरे देशों में आजादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते हैं। लेकिन, ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के नर-नारियों को पैरों तले रौंद रही थी, और जब उसने रोजमर्रा की आजादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनाएं घट रही हैं, कम-से-कम यही छान-बीन करने के बजाय, उन्होंने ठीक ऐसे वक्त में अंग्रेजों को सहिष्णुता और आजादी का प्रमाण-पत्र दे दिया जबकि हिन्दुस्तान के अंग्रेजी शासन में ये दोनों गुण बिलकुल ही नहीं रह गये थे। उन्होंने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य में उसका हौसला बढ़ाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यकीन है कि उनका यह तात्पर्य नहीं रहा होगा, या उन्हें यह खयाल नहीं रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा, इसमें तो शक नहीं हो सकता। तो, उन्हें इस तरह से विचार और कार्य क्यों करना चाहिए था।

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नहीं मिला है कि लिबरल नेताओं ने अपने-आपको अपने देशवासियों और समस्त आधुनिक विचारों से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढंग की किताबों को वे पढ़ते हैं, उन्होंने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमें एक तरह से अपनी ही खूबियों पर फिदा होने की आदत पैदा हो गई है। हम लोग जेलों में गये और हमारे शरीर कोठरियों में बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग आजाद फिरते थे और हमारा हौसला दबा नहीं था। लेकिन उन्होंने तो अपने ढंग का दिमागी कैदखाना खुद ही बना लिया था, जहां वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा

करते थे और उससे निकल नहीं सकते थे। वे 'मौजूदा हालत' की रट लगाया करते थे; और जब मौजूदा हालात बदल गये, जैसा कि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास; उनके दिमाग और शरीर दोनों ही बेकार हो गये, न उनके पास आदर्श रहे, न नैतिक नाप। इन्सान को या तो आगे जाना पड़ेगा या पीछे हटना पड़ेगा। हम इस प्रगतिशील संसार में एक ही जगह खड़े नहीं रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण, लिबरल अपने आस-पास के तूफानों को देखकर भयभीत हो गये; हाथ-पैरों से कमजोर होने के कारण आगे न बढ़ सके; और इसलिए वे लहरों में इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हें मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गए; 'तरह-तरह के विचारों की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड़ गये; हमेशा सन्देह, हिचकिचाहट और अनिश्चय में पड़े रहे।'

ओ ईर्ष्यारत दुष्ट ! मेल का समय कहां अब;
लगा सदा मैं रहा ठीक ही करने में सब ! [१]

'सर्वेण्ट आफ इण्डिया' नामक एक लिबरल अखबार ने सविनय भंग-आन्दोलन के बाद के दिनों में कांग्रेसी लोगों पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते हैं, और जब वहां पहुंच जाते हैं तब फिर बाहर आना चाहते हैं। उसने कुछ चिढ़ते हुए कहा था कि एकमात्र यही कांग्रेस की नीति है। स्पष्ट ही इनके बदले में लिबरलों का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियो की सेवा में इंग्लैण्ड डेपुटेशन भेजना, या इंग्लैण्ड में शासकदलों के परिवर्तन का इन्तजार करना और उनके लिए दुआएं मांगना।

---

[१] शेक्सपियर के 'हेमलेट' नाटक की मूल अंग्रेजी की इन पंक्तियों का यह अनुवाद है—

"The time is out of joint O cursed spite !
That ever I was born to set it right."

निरन्तर तर्कग्रस्त, कार्य में असमर्थ हेमलेट की मध्यम-मार्गियों से तुलना की गई है ! स्वयं हेमलेट कहता है कि—मुझ जैसे कुकर्मी को सुधारने में इसे कैसे सफलता मिली ?

—अनु०

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनों कांग्रेस की नीति खासकर यही थी कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी कानूनों को तोड़ा जाय, और इसकी सजा जेल थी। यह भी सच था कि कांग्रेस और राष्ट्र, लम्बी लड़ाई के बाद थक गए थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नहीं डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नग्न बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा था, शासकों के लिए बड़ा खर्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दुःखदाई और घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते हैं कि अन्त में इससे उनकी नींव कमजोर पड़ जाती है। इससे जनता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप बराबर प्रकट होता रहता है। इसकी बनिस्बत वह यह बहुत ज्यादा पसन्द करते हैं कि अपने फौलादी पंजे को छिपाने के लिए हाथ पर मखमली दस्ताना पहने रहें। जो लोग सरकार की इच्छाओं के सामने झुकना नहीं चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुकाबला करने से बढ़कर रोषोत्पादक और अन्त में हानिकर बात किसी भी शासन के लिए दूसरी नहीं है। इसलिए दमनकारी कानूनों का कभी-कभी भंग होते रहना भी एक महत्त्व रखता था। उससे जनता की ताकत बढ़ती थी, और सरकार के नैतिक बल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर 'थोरो' ने लिखा है कि, "ऐसे समय में जबकि स्त्री और पुरुष अन्याय-पूर्वक जेल में डाले जाते हों, न्यायी स्त्री-पुरुषों का स्थान भी जेल में ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगों को न जंचे, लेकिन हममें से कई लोग ऐसा महसूस करते हैं कि मौजूदा हालत में, जबकि सविनय भंग के अलावा भी, हमारे कितने साथी हमेशा जेल में रक्खे जाते हैं, और जबकि सरकार का दमन-यन्त्र निरन्तर हमारा दमन और अपमान कर रहा है और हमारे लोगों के शोषण में मदद दे रहा है, तब किसी के लिए नैतिक जीवन बिताना सम्भव नहीं है। अपने ही देश में हम संदिग्ध की भांति आते-जाते हैं। हम पर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दों को नोट किया जाता है कि वे कहीं राजद्रोह के व्यापक कानून को तो नहीं तोड़ते हैं, हमारा पत्र-व्यवहार खोला और पढ़ा जाता है, और हमेशा यह सम्भावना बनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह

का बन्धन लगा देगी या हमें गिरफ्तार कर लेगी। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—या तो सरकारी ताकत के आगे हमारे सिर बिलकुल झुक जांय, हमारा आत्मिक-पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उसकी उपेक्षा कर दी जाय, और जिन प्रयोजनों को हम बुरा समझते हैं उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो; या फिर उसका मुकाबला किया जाय; और उसका जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख्स यों ही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नहीं चाहता। मगर, अक्सर दूसरे रास्तों की बनिस्बत जेल जाना ही ज्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है—

"जीवन में सबसे दुःखदायी बात तो सिर्फ यही है कि जिन उद्देशों को हम सब निन्दनीय समझते हैं उन्हींके लिए स्वार्थी लोगों द्वारा मनुष्य का उपयोग किया जाता है। इसके सिवा और जो कुछ है वह अधिक-से-अधिक बदकिस्मती या मृत्यु है। यही तो मुसीबत, गुलामी और दुनिया का नरक है।"

४६

लम्बी सजा का अन्त

मेरी रिहाई का वक्त नजदीक आ रहा था। साधारणत: मुझे 'नेकचलनी' की जितनी छूट मिलनी चाहिए थी उतनी मिल गई और इससे मेरी दो साल की मियाद में से साढ़े तीन महीने कम हो गए थे। मेरी मानसिक शान्ति या यों कहिए कि जेल-जीवन से जो मानसिक जड़ता पैदा हो जाती है उसमें रिहाई का खयाल खलल डाल रहा था। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी खुशी कम कर दी। लेकिन वह भी एक क्षणिक भाव था, और लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता मेरे अन्दर फिर उमड़ने लगी और मैं बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त में एक बहुत ही दुःखद और बेचैनी पैदा करनेवाली खबर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु हो गई। हम दोनों कई साल तक कार्य-समिति में सिर्फ अन्तरंग साथी ही नहीं रहे थे; उनसे मेरा सम्बन्ध मेरे केम्ब्रिज में पढ़ने के शुरू के दिनों से ही था। दोनों सबसे पहले केम्ब्रिज में ही मिले थे——मैं तो नया दाखिल हुआ था और उन्होंने उसी समय अपनी डिग्री पाई थी।

सेनगुप्त का देहान्त उनकी नजरबन्दी की हालत में हुआ। १९३२ के शुरू में जब वह यूरप से लौटे थे, तो बम्बई में जहाज पर ही वह राजबन्दी बना लिये गए थे। तभी से वह नजरबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती खराब हो गई। सरकार ने उन्हें कई तरह की सहूलियतें दीं लेकिन वह बीमारी की रफ्तार को न रोक सकीं। कलकत्ता में उनकी अन्त्येष्टि के समय जनता ने खूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया; ऐसा दिखाई देता था कि बंगाल की एक लम्बे अर्से से कैद और कष्ट पाती हुई आत्मा को, कम-से-कम थोड़ी देर के लिए, अपने को व्यक्त करने का मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त चल बसे। दूसरे राजबन्दी सुभाषबोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसों की नजरबन्दी से बरबाद हो गई थी, आखिरकार सरकार ने इलाज के लिए यूरप जाने की इजाजत दे दी। विट्ठलभाई पटेल भी यूरप में रोग-शय्या पर थे। और भी कितने ही लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलों के फलस्वरूप शारीरिक थकावट को सहन न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे,या मर चुके थे। और कितने लोगों में हालांकि ऊपर से बड़ी तबदीली दिखाई न देती थी, लेकिन जेलों में उन्हें जो असाधारण जीवन बिताना पड़ा था, उसके फलस्वरूप उनके दिमाग गड़बड़ा गए थे और उनमें अनेक मानसिक अव्यवस्था और विषमताएं पैदा हो गई थीं।

सेनगुप्त की मृत्यु ने बहुत साफतौर पर दिखा दिया कि सारे देश में कितना भयंकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मैं निराश और उदास-सा हो गया। यह सब किस लिए हो रहा है ? आखिर किस लिए ?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में मैं खुशकिस्मत था, और कांग्रेस के कार्य में भारी मेहनत पड़ने और अनियमित जीवन बीतने पर भी मैं कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे खयाल से, इसका कुछ कारण तो यह भी था कि जन्म से ही मैं हृष्ट-पुष्ट था, और दूसरे मैं अपने शरीर की संभाल रखता था। एक तरफ बीमारी और कमजोरी और दूसरी तरफ ज्यादा मुटापे से भी मुझे नफरत थी, और काफी कसरत, ताजी हवा और सादे भोजन की आदत रहने से मैं दोनों बातों से बचा रहा। मेरा अपना तजरुबा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की बहुत-सी बीमारियां तो गलत भोजन से होती हैं। वह तरह-तरह के पक्वान्न, और सो भी अधिक मात्रा में, खाते हैं। (यह बात उन्हीं पर लागू होती है जिनकी ऐसी फजूलखर्च आदतें रखने की हैसियत होती है) लाड़-प्यार करनेवाली माताएं बच्चों को मिठाइयां और दूसरी बढ़िया कही जानेवाली चीजें ज्यादा खिला-खिलाकर जिन्दगीभर के लिए उनकी बदहजमी की पक्की नींव डाल देती हैं। बच्चों पर कपड़े भी बहुत से लाद दिये जाते हैं। हिन्दुस्तान में अंग्रेज लोग भी बहुत ज्यादा खाते हैं, हालांकि उनके खाने में इतने पक्वान्न नहीं होते। शायद उन्होंने पिछली पीढ़ी की अपेक्षा, जो गरम-गरम और गरिष्ट भोजन अधिक मात्रा में किया करती थी, अब कुछ सुधार कर लिया है।

मैंने भोजन-सम्बन्धी शौकिया प्रयोग करनेवाले लोगों की तरफ कोई ध्यान

नहीं दिया है, और सिर्फ अधिक परिमाण में भोजन करने और पक्वान्नों से बचता रहा हूं। करीब-करीब सभी काश्मीरी ब्राह्मणों की तरह हमारा परिवार भी मांसाहारी परिवार था, और बचपन से मैं हमेशा मांस खाता रहा था, हालांकि मुझे उसका बहुत शौक कभी नहीं रहा। पर १६२० में असहयोग के समय से मैंने मांस छोड़ दिया, और मैं शाकाहारी बन गया। इसके छः साल बाद यूरप जाने पर मैं फिर मांस खाने लगा था पर हिन्दुस्तान आने पर फिर शाकाहारी हो गया, और तब से मैं बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूं। मांसाहार मुझे ठीक-ठीक मुआफिक पड़ता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है, और उसे खाने में कुछ कठोरता की भावना मन में पैदा होती है।

अपनी बीमारियों के समय में,खासकर १६३२ में जेल में, जबकि कई महीनों तक रोजाना मुझे हरारत हो आया करती थी, मैं झुंझला उठता था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुंचती थी। मुझमें असीम जीवन-शक्ति और स्फूर्ति है, अपनी इस सदा की धारणा के विरुद्ध,मैं पहली बार सोचने लगा कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूं, और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा खयाल है कि मैं मौत से डरता नहीं हूं। लेकिन शरीर और मस्तिष्क का धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर जरूरत से ज्यादा था और मैं नीरोग होने और अपने शरीर पर अधिकार कर लेने में सफल होगया। जाड़े में बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपने को तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी कोट और दुशाले में लिपटे हुए कांपा करते थे, मैं खुले बदन धूप में बैठकर गरमी का आनन्द लिया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज होती है।

अपनी कसरतों में मुझे खासकर शीर्षासन—पंजे बांधकर हथेलियों से सिर के पिछल हिस्से को सहारा देते हुए कुहनियों को धरती पर टिकाए हुए सिर के बल उल्टा खड़ा होने में...बहुत आनन्द आता था। मेरी समझ में शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और इसका मानसिक प्रभाव भी मेरे ऊपर अच्छा पड़ता था, जिससे मैं इसे और पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ विनोदपूर्ण आसन से मेरी तबीयत खुश हो जाती, और इसने जीवन की विचित्रताओं के प्रति मुझे अधिक सहनशील बना दिया।

उदासी के क्षणों को, जो कि जेल-जीवन में लाजिमीतौर पर होते ही हैं; दूर करने में मेरी आमतौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और तन्दुरुस्त होने की शारीरिक अनुभूति ने मेरी बड़ी सहायता की। इन दोनों बातों से मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे हैं, जिनसे उस वक्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी प्रकृतिस्थ हो जाता था। मेरी राय में, मेरी मूलभूत संयमित तथा स्वस्थ प्रकृति का एक सबूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नहीं हुआ और न मुझे कभी नींद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियों से और आंख की कमजोरी से भी बच गया हूं, हालांकि मैं पढ़ने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की खराब रोशनी में भी आंखों से बहुत ज्यादा काम लेता रहा। पिछले साल एक आंख के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-शक्ति पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना बहुत गलत निकला, और मैं अब भी बगैर ऐनक के अच्छी तरह काम चला रहा हूं। हालांकि इन बातों से मैं संयमी और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूं, लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि मैं उन लोगों से बहुत खौफ खाता हूं जो जब देखो तब हमेशा ही गम्भीर बने रहते हैं और उनकी मुख-मुद्रा पर कभी कोई परिवर्तन नहीं लक्षित होता।

जब मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तजार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय-भंग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गांधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फैसला किया, और अधिकारियों को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह एक अगस्त को गुजरात के किसानों में सविनय-भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फौरन गिरफ्तार कर लिये गए, उन्हें एक साल की सजा दे दी गई और वह यरवडा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गए। मुझे खुशी हुई कि वह वापस वहां चले गए। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गांधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें मांगी जो उन्हें पहले मिली थीं। सरकार ने उन्हें देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गांधीजी ने फिर इसी बात पर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी जबरदस्त कार्रवाई के लिए हमें वह बहुत ही छोटा कारण मालूम

हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नहीं कर सकते थे। असमंजस में पड़े हुए हम यह सब देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते बाद उनकी हालत तेजी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुंचा दिये गए, लेकिन वह कैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियतें देने के मामले में न झुकी। उन्होंने अपने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासों में कायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नजदीक दीखने लगा। उन्होंने आसपास के लोगों से बिदाई ले ली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीजों को भी इस-उसको बांट देने का इन्तजाम कर लिया, जिसमें से कुछ नर्सों को भी दे दीं। लेकिन सरकार यह नहीं चाहती थी कि उनकी मौत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गए। इससे वह मरते-मरते बच गए। एक दिन और बीत जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवत: श्री० सी० एफ० एण्ड्रूज को है जो गांधीजी के मना करने पर भी जल्दी से हिन्दुस्तान आ गए थे।

इस बीच (२३ अगस्त को) मैं देहरादून-जेल बदल दिया गया, और दूसरे जेलों में करीब-करीब डेढ़ साल रहने के बाद फिर नैनी-जेल में आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की खबर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मैं नैनी से रिहा कर दिया गया; क्योंकि मेरी मां की हालत गम्भीर समझी गई। मामूली तौर पर मैं अपनी मियाद खतम होने पर ज्यादा-से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

५०

गांधीजी से मुलाकात

जेल से रिहा होते ही मैं अपनी मां की रोगशय्या के पास लखनऊ पहुंचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मैं काफी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था और मुझे लगा कि मैं आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग-सा हो गया हूं। मैंने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा जैसा कि आमतौर पर होता है, कि जब मैं जेल में पड़ा-पड़ा सड़ रहा था, तो दुनिया आगे बढ़ती जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लड़कियां और लड़के बड़े होते जा रहे थे, शादियां, पैदाइशें और मौतें हो रही थीं। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दुःख और सुख सब चल रहा था। जीवनमें दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बातें हो गई थीं, बातचीत के विषय नए हो गए थे; मैं जो कुछ देखता और सुनता था, सब पर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाड़ी में छोड़कर जिन्दगी का जहाज कितना आगे बढ़ गया था! यह भावना कुछ खुश करनेवाली नहीं थी। जल्दी ही इस स्थिति के अनुकूल मैं अपने को बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नहीं होती थी। मेरे दिल ने कहा कि "जेल के बाहर सैर करने का तुम्हें यह थोड़ा-सा मौका मिला है और जल्दी ही फिर तुम्हें जेल में जाना पड़ेगा; इसलिए जिस जगह से जल्दी ही चल देना है, उसके अनुकूल अपने को बनाने की झंझट क्यों मोल ली जाय?"

राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान कुछ शान्त था। सार्वजनिक प्रवृत्तियों का ज्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ्तारियां कभी-कभी हो जाया करती थीं। मगर हिन्दुस्तान की उस वक्त की खामोशी बहुत महत्त्व रखती थी। वह वैसी ही मनहूस खामोशी थी जैसी कि भयंकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; वह खामोशी अक्सर बहुत वाचाल होती है, लेकिन उसे दमन करनेवाली सरकार उसे नहीं सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामों में

पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी। जाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के मुआफिक न हो, दबा दी जाती थी और देश-भर में खुफिया और छिपे कारिन्दों की बड़ी भारी फौज फैली हुई थी। लोगों में आमतौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारों ओर आतंक छा गया था। कोई भी राजनैतिक कार्य, खासकर गांवों में, फौरन कुचल दिया जाता था और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारें म्युनिसिपैलिटियों और लोकल बोर्डों में से ढूंढ़-ढूंढ़कर कांग्रेसवालों को निकालने की कोशिश कर रही थीं। हर शख्स, जो सविनय कानून-भंग करके जेल गया था, सरकार की राय में म्युनिसिपल स्कूलों में पढ़ाने या म्युनिसिपैलिटी में और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटियों आदि पर बड़ा भारी दबाव डाला गया और धमकियां दी गईं कि अगर कांग्रेसवाले निकाले न जायंगे तो सरकारी मदद बन्द कर दी जायगी। इस बल-प्रयोग की सबसे बदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन में देखने में आई। मेरा खयाल है कि आखिरकार सरकार ने एक कानून ही बना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियों को नौकर नहीं रख सकता जो राजनैतिक अपराधों में सजा पा चुके हों।

जर्मनी में नाजियों की ज्यादतियों की खबरों का हिन्दुस्तान के ब्रिटिश अफसरों और उनके अखबारों पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। उन्हें उन ज्यादतियों से हिन्दुस्तान में उन्होंने जो कुछ किया था, उन सबको उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होंने मानो अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमें बताया, कि अगर यहां नाजियों की हुकूमत होती तो हमारा हाल कितना ज्यादा खराब हुआ होता। नाजियों ने तो बिलकुल नये पैमाने कायम कर दिये हैं, और नये कारनामे कर दिखाये हैं और उनका मुकाबला करना निश्चय ही आसान नहीं था। सम्भव है कि हमारा हाल ज्यादा खराब हुआ होता; लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योंकि पिछले पांच वर्षों में हिन्दुस्तान में क्या-क्या हुआ, इसके सारे हालात मेरे पास नहीं हैं। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार इस नीति में विश्वास रखती है कि बायें हाथ से जो पुण्य-काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जांच कराने की हर तजवीज को नामंजूर कर दिया, हालांकि ऐसी जांचों का पलड़ा हमेशा सरकारी पक्ष की तरफ झुका रहता है। मेरे खयाल से, यह सच है कि औसत अंग्रेज बर्बरता

से नफरत करता है और मैं कल्पना नहीं कर सकता कि अंग्रेज लोग नाजियों की तरह "ब्रूतैलितात" (बर्बरता) शब्द को खुले तौर से गौरवपूर्ण मानकर उसे प्रेम से दोहरा सकते हैं। जब वे कोई बर्बर काम कर भी डालते हैं, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा होते हैं। लेकिन चाहे जर्मन हों, अंग्रेज हों या हिन्दुस्तानी हों, मेरा खयाल है कि सभ्यतापूर्ण व्यवहार का हमारा आवरण इतना पतला है कि जब हमें रोष चढ़ आता है तो वह भंग हो जाता है, और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नहीं लगता। महायुद्ध ने मनुष्यजाति को भयंकर रूप से पाशविक बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के बाद भी जर्मनी का भयंकर घेरा डाला जाकर उसे भूखों मारा गया। एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित अत्याचार था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ की घटनाएं हिन्दुस्तान भूला नहीं है। जब हमारे स्वार्थ खतरे में पड़ जाते हैं, तब हम अपने सारे सभ्य-व्यवहार और सारी शराफत भूल जाते हैं और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, बर्बरता ही 'वैज्ञानिक दमन' और 'कानून और व्यवस्था' की स्थापना बन जाती है।

यह किन्हीं व्यक्तियों या किसी खास जाति का दोष नहीं है। वैसी ही परिस्थितियों में थोड़ा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान में, और विदेशी शासन के अधीन हर देश में, शासन करनेवाली शक्ति के खिलाफ हमेशा एक गुप्त चुनौती रहती है और समय-समय पर वह अधिक प्रकट और तेज होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग में हमेशा फौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते हैं। पिछले कुछ सालों में हिन्दुस्तान में हमें इन फौजी गुण-दोषों का दृश्य बहुत ही ज्यादा अंश में देखने को मिला, क्योंकि हमारी चुनौती जोरदार और कारगर हो गई थी। लेकिन हिन्दुस्तान में हमें तो हमेशा ही फौजी मनोवृत्ति (या उसके अभाव) को सहन करना पड़ता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनों पक्षों का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज्यादा सूक्ष्म है; संकट-काल में वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदकिस्मती से दोनों तरह का पतन भोगना पड़ता है।

जेल में मुझे ऊंचे-ऊंचे अफसरों के भाषण, असेम्बली और कौंसिलों में उनके

जवाब और सरकारी बयान पढ़ने की काफी फुरसत मिली। पिछले तीन सालों में, मैंने देखा कि उनमें एक स्पष्ट तबदीली हो रही है, और यह तबदीली अधिकाधिक प्रकट होती गई है। उसमें डराने और धमकाने का रुख ज्यादा-से-ज्यादा बढ़ता गया है और वह रुख ऐसा हो गया था मानों कोई सार्जेण्ट-मेजर अपने मातहतों से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १६३३ में, शायद बंगाल के मिदनापुर डिवीजन के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणों में "पराजितों का सत्यानाश हो! हम विजयी हैं, हम जो चाहें सो करेंगे" की भावना लगातार रहती थी। गैर-सरकारी यूरोपियन तो, खासकर बंगाल में, सरकारी लोगों से भी आगे बढ़ जाते हैं और अपने भाषणों और कार्यों दोनों में उन्होंने बहुत निश्चित फासिस्ट मनोवृत्ति दिखाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नंगी मिसाल थी, हाल में ही सिन्ध में कुछ अपराधी पाये गये व्यक्तियों को खुली तौर पर फांसी देना। क्योंकि सिन्ध में जुर्म बढ़ रहे थे, इसलिए अधिकारियों ने तय किया कि इन मुजरिमों को सबके सामने फांसी दी जाय, ताकि दूसरों पर भी इसका आतंक छा जाय। इस भयंकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सहूलियतें दी गईं और, कहा जाता है कि, इसे देखने कई हजार लोग गये भी थे।

तो जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन किया और मुझे उन्हें देखकर जरा भी उत्साह नहीं मालूम हुआ। मेरे कई साथी जेल में थे, नई गिरफ्तारियां जारी थीं, सारे आर्डिनेन्स अमल में आ रहे थे, सेंसर से अखबारों का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफी अहमद किदवई को अपने पत्रों के बुरी तरह सेन्सर किये जाने पर बड़ा गुस्सा आया। उनके खत रोक लिये जाते थे, देर से आते थे या गुम हो जाते थे और इससे उनके काम-काज में बड़ी रुकावट हो जाती थी। वह सेन्सर से अपने पत्रों के बारे में ज्यादा एहतियात से काम लेने की अपील करना चाहते थे, लेकिन वह लिखते किसको? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नहीं था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफसर था, जो अपना काम गुप्तरूप से करता था, जिसका अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मंजूर भी नहीं किया गया था। रफी अहमद ने इस मुश्किल को खास तरह हल किया। उन्होंने 'सेन्सर' के नाम एक खत लिखा, लेकिन उस पर

खुद अपना पता लिखकर डाक में डाल दिया। निश्चय ही खत अपने ठीक मुकाम पर पहुंच गया और बाद में रफी अहमद के पत्रव्यवहार के बारे में कुछ सुधार हो गया।

मैं फिर जेल जाना नहीं चाहता था। उससे मेरा मन काफी भर गया था। लेकिन मुझे यह नहीं सूझता था कि मैं उससे कैसे बच सकता था, जबतक कि मैं सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड़ दूं। ऐसा करने का तो मेरा इरादा नहीं था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के संघर्ष में आना ही पड़ेगा। किसी वक्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मैं कोई खास काम न करूं, और मेरी सारी प्रकृति किसी खास काम के लिए मजबूर किये जाने के खिलाफ बगावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगों को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मैं लाचार था और बड़े क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मैं व्यक्तिगत रूप से डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

वापस जेल जाने से पहले मैं कुछ कामों को निबटा भी डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी मां की बीमारी की तरफ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधर रही थी; इतनी धीरे कि कोई एक साल तक वह चारपाई पर ही रहीं। मैं गांधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जोकि पूना में अपने हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। दो साल से ज्यादा हुए मैं उनसे नहीं मिला था। मैं अपने सूबे के अधिक-से-अधिक साथियों से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि संसार की परिस्थिति पर, और उन सब विचारों पर भी बातचीत करूं, जो मेरे दिमाग में भरे हुए थे। उस वक्त मेरा खयाल था कि दुनिया बड़ी तेजी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ जारही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों को बनाते वक्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घरू मामलों की तरफ भी मुझे ध्यान देना था। अभी तक मैंने उनकी तरफ कतई ध्यान नहीं दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके कागज-पत्रों की देख-भाल भी नहीं की थी। हमने अपना खर्चा बहुत कम कर दिया था, फिर भी वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। लेकिन हम जबतक उस मकान में रहते हैं, तबतक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नहीं रख रहे थे; क्योंकि उसका खर्च हम उठा नहीं सकते थे, और एक सबब

यह भी है कि सरकार उसे कभी भी जब्त कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयों के बीच, मेरे पास आर्थिक सहायता मांगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिंच जाता था। (सेन्सर इन पत्रों का ढेर-का-ढेर मेरे पास भेज देता था।) एक बड़ा आम और गलत खयाल, खासकर दक्षिण भारत में, यह फैला हुआ था कि मैं कोई बड़ा धनी आदमी हूं।

मेरी रिहाई के बाद फौरन ही मेरी छोटी बहन कृष्णा की सगाई हो गई और मैं चिन्तित था कि जल्दी ही शादी हो जाय—मुझे फिर कहीं जेल न चला जाना पड़े इस खयाल से। कृष्णा खुद भी एक साल तक जेल काटकर कुछ महीने पहले छूटी थी।

जैसे ही मां की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मैं गांधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालांकि वह कमजोर थे, लेकिन वह अच्छी रफ्तार से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीतें हुईं। यह साफ जाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोण में काफी फर्क था, लेकिन मैं उनका कृतज्ञ हूं कि उनसे जहांतक बना उन्होंने उदारता-पूर्वक मेरे दृष्टिकोण के अधिक-से-अधिक नजदीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार में, जो बाद में प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग में भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया था, और हालांकि उनका जिक्र कुछ गोलमोल भाषा में हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य-भेद साफ दीखता था। मुझे खुशी हुई कि गांधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थों को हटा देना चाहिए, हालांकि उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्तन से होना चाहिए। चूंकि मेरे खयाल से, उनके हृदय-परिवर्तन के कुछ तरीके नम्रता और विचार-पूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न नहीं हैं, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक्त, पहले की ही तरह मेरी उनके विषय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया करते, तो भी घटनाओं के तर्कपूर्ण परिणामों को देखकर, धीरे-धीरे करके, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता मान लेंगे। वह एक विचित्र व्यक्ति हैं। श्री० वेरियर एल्विन के शब्दों में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओं के ढंग के आदमी हैं'—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी हैं और हिन्दुस्तान के किसानों की नब्ज हमेशा

उनके हाथ में रहती है। संकट-काल में वह किस दिशा में मुड़ जांयगे यह कहना मुश्किल है; लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जबरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह गलत रास्ते जावें लेकिन हमेशा वह रास्ता सीधा ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर आवश्यकता हो, तो अलग-अलग रास्तों से भी जाना पड़ेगा।

उस वक्त मेरा खयाल था कि अभी तो यह सवाल नहीं उठता। हम अपनी राष्ट्रीय लड़ाई के मध्य में थे। अभी तक सविनय भंग ही सिद्धान्ततः कांग्रेस का कार्यक्रम था, हालांकि व्यक्तियों तक ही उसकी सीमा बांध दी गई थी। हमारी लड़ाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगों में और खासकर राजनैतिक दृष्टि से अधिक जाग्रत कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में फैलाने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौका आवे तो हम काफी आगे कदम बढ़ाने को तैयार मिलें। इस बीच कांग्रेस तो गैर-कानूनी संगठन थी ही और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमें उस हमले का सामना करना था।

गांधीजी के सामने जो खास समस्या थी वह थी व्यक्तिगत। उन्हें खुद क्या करना चाहिए? वह बड़ी उलझन में थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतों का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करें। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-बिल्ली वाली नीति के सामने उन्होंने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा "अगर मुझे उन सहूलियतों के लिए उपवास करना पड़ा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रक्खूंगा।" इसका अर्थ था आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सजा की मियाद तक (जिसमें से अभी साढ़े दस महीने बाकी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवायें और सिर्फ हरिजन-कार्य में ही अपने-आपको लगा दें; लेकिन साथ ही, उनका कांग्रेस-कार्यकर्ताओं से मिलते रहना, और जब जरूरत हो तब उन्हें सलाह भी देना जरूरी ही था।

उन्होंने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जांय और उसे (उनके ही शब्दों में) 'नई पीढ़ी' के हाथों में छोड़ दें।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममें से कोई भी सिफारिश नहीं कर सकता था। तीसरा रास्ता भी, जबकि कांग्रेस एक गैरकानूनी संस्था थी, ठीक मालूम नहीं हुआ। इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय-भंग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फौरन वापस ले ली जाती और फिर कानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पड़ता या कांग्रेस गैरकानूनी होकर और सबसे, अब तो गांधीजी तक से, विलग होकर सरकार-द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक गैर-कानूनी संस्था पर, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नहीं कर सकती थी, किसी दल का कब्जा कर लेने का कोई सवाल ही नहीं उठता था। इस तरह और रास्तों को छोड़ते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममें से ज्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय-भंग को एक भारी आघात पहुंचेगा। अगर नेता ही लड़ाई में हट जायगा, तो यह सम्भव नहीं था कि उत्साही कांग्रेसी-कार्यकर्ता लोग आग में कूद पड़ेंगे; लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसी के अनुसार गांधीजी ने अपनी घोषणा कर दी।

गांधीजी और मैं, दोनों इस बात पर सहमत थे, हालांकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय-भंग को वापस लेने का अभी वक्त नहीं आया है और चाहे आन्दोलन धीरे-धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए। और, कुछ भी हो, मैं लोगों का ध्यान समाजवादी सिद्धांतों और संसार की परिस्थिति की ओर भी खींचना चाहता था।

लौटते हुए मैंने कुछ दिन बम्बई में बिताये। खुशकिस्मती से उदयशंकर उन दिनों वहीं थे। मैंने उनका नृत्य देखा। मैंने इस मनोरंजन से, जिसका पहले से कोई खयाल नहीं था, बड़ा आनन्द उठाया। नाटक, संगीत, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्राडकास्टिंग—यह सब पिछले कई वर्षों से मेरी पहुंच के बाहर थे, क्योंकि स्वतन्त्र रहने के वक्त भी मैं दूसरे कार्यों में बहुत ज्यादा लगा रहता था। अभी तक मैं सिर्फ एक बार ही टॉकी देख पाया हूं, और बड़े-बड़े अभिनेताओं के मैं सिर्फ नाम ही सुनता हूं। मुझे नाटक देखने का अभाव खासतौर पर अखरता है और विदेशों में नये-नये खेलों के तैयार होने का वर्णन मैं बड़े रश्क से पढ़ता रहता हूं। उत्तर हिन्दुस्तान में, जेल से बाहर होने की हालत में भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौका न था, क्योंकि मैं मुश्किल से उनतक पहुंच पाता था। मेरा खयाल है

कि बंगाली, गुजराती और मराठी नाटक साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंगमंच ने—जोकि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योंकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नहीं मालूम—कुछ भी प्रगति नहीं की। मैंने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फिल्म, मूक और सवाक्, दोनों में कला का प्रायः अभाव ही रहता है। उनमें आमतौर पर सुरीले गानों या गजलों की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणों में से लिया होता है।

मेरे खयाल से, उनमें वह सब चीज मिल जाती है जिसकी शहर के लोग कद्र करते हैं। इन भद्दे और दुःखदाई प्रदर्शनों में और देश में अब भी बचे-खुचे लोक-गीतों, नृत्य और देहाती नाटकों तक की कला में अन्तर साफ दिखाई देता है। बंगाल में, गुजरात में और दक्षिण में कभी-कभी यह देखकर बड़ा आश्चर्य और आनन्द होता है, कि मूलतः लेकिन अनजान में, देहात के लोग कितने कलामय हैं। लेकिन मध्यमवर्ग वालों का हाल ऐसा नहीं है। वे मानो अपनी जड़ों से टूट गये हैं, और उनके पास सौन्दर्य या कला की कोई परम्परा नहीं रही है। जिससे वे चिपके रहें। वे जर्मनी और आस्ट्रिया में बहुतायत से बने हुए रास्ते और वीभत्स चित्रों को रखने में ही अपनी शान समझते हैं, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते हैं। संगीत में उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज-सरकार के प्रारम्भिक कामों में एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे।) लेकिन दुःखदाई, भद्देपन और कला के सब सिद्धान्तों की अवहेलना की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों के घरों में दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने का पैसा होता है और दिखावे की इच्छा; और वे ऐसा ही करते भी हैं, और जो लोग उनके यहां जाते हैं, उन्हें उनकी इस इच्छा-पूर्त्ति का दुःखी गवाह बनना पड़ता है।

हाल में ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है; लेकिन जबकि देश के लोगों पर तरह-तरह की रुकावटें और बन्धन हैं, उन्हें दबाया जाता है और वे आतंक के वातावरण में रहते हैं, तब कोई भी कला किसी बड़े पैमाने पर कैसे फल-फूल सकती है?

बम्बई में मैं कई दोस्तों और साथियों से मिला, जिनमें से कुछ तो हाल में ही जेल से निकले थे। समाजवादी लोगों की तादाद वहां ज्यादा थी और कांग्रेस के ऊंचे हल्कों में जो हाल में घटनाएं घटी थीं उनपर उन्हें बड़ा रोष था। गांधीजी राजनीति में जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख्त आलोचना हो रही थी। अधिकांश आलोचना से मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ राय थी कि हमारी उस वक्त की परिस्थिति में और कोई चारा न था और हमें अपना काम जारी ही रखना था। सविनय-भंग को वापस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमें भी हमें कोई राहत न मिलती, क्योंकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत में पहुंच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पड़ता, वरना ब्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पड़ती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत में आ गया था कि जब उसका हमेशा ही गैर-कानूनी करार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन, चाहे सविनय-भंग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, अब पीछे नहीं जा सकता था। असल में, सविनय-भंग के जारी रहने से कोई फर्क नहीं पड़ता था, असली महत्त्व नैतिक विरोध का था। लड़ाई के बीच नये विचारों का फैलाना उस वक्त की बनिस्वत आसान था, जबकि लड़ाई बन्द करदी गई हो और लोगों का हौसला पस्त पड़ने लगा हो। लड़ाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ यही था कि ब्रिटिश ताकत के साथ समझौते की मनोवृत्ति रक्खी जाय और कौंसिलों में जाकर वैध काम किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूंढ़ना आसान न था। अपने साथियों के मानसिक संघर्षों को मैं समझ सकता था,क्योंकि खुद मुझे भी उनका सामना करना पड़ा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान में दूसरी जगह भी पाया गया है, वहां मुझे ऐसे भी लोग दिखाई दिये, जो ऊंचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ भी नहीं करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ़ होती थी कि जो लोग खुद कुछ न करें, वे उन दूसरे लोगों को, जिन्होंने सब प्रकार के कष्ट सहते हुए लड़ाई का सारा भार उठाया,प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करें। ये आराम-कुरसीवाले समाजवादी लोग गांधीजी पर खासतौर पर जोर का वार करते हुए उन्हें प्रतिगामियों का सिरताज बताते हैं और ऐसी-ऐसी दलीलें देते हैं, जिनमें तर्क की दृष्टि से कोई कसर नहीं रहती है; लेकिन सीधी-सी बात तो यह

है कि यह 'प्रतिगामी' व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान-हिन्दुस्तान का करीब-करीब मूर्तिमान् स्वरूप बन गया है और इसने इस तरह हिन्दुस्तान को हिला दिया है जैसा क्रान्तिकारी कहे जानेवाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं किया है। उनके सबसे ताजे हरिजन-सम्बन्धी कार्यों ने भी, हलके-हलके लेकिन अबाध रूप से हिन्दू कट्टरता कम कर दी है और उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर-पन्थी लोग उनके खिलाफ उठ खड़े हुए हैं और उन्हें सबसे खतरनाक दुश्मन समझते हैं, हालांकि वह उनके साथ सोलहों आना शिष्टता और सौजन्य ही का व्यवहार करते हैं। अपने खास ढंग से जबरदस्त ताकतों को जागृत कर देने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है,जो कि पानी की लहरों की तरह चारों ओर फैल जाती है और लाखों आदमियों पर अपना असर डालती है। चाहे वह प्रतिगामी हों या क्रान्तिकारी,उन्होंने हिन्दुस्तान का स्वरूप बदल दिया है। उस जनता में,जो हमेशा हाथ जोड़ती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्रबल भर दिया है। उन्होंने आम लोगों में शक्ति और चेतना पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या संसार की समस्या बना दी है। इस बात को दूर रखते हुए कि अहिंसात्मक असहयोग या सविनय-भंग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या हैं,यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और संसार के लिए उनकी एक अद्वितीय और शक्तिशाली देन है और इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए खासतौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे खयाल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करें और अपनी समस्याओं पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद कर सकें, करें। दुर्भाग्य से गांधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हद तक इस प्रकार के वाद-विवाद में रुकावट पड़ गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्हीं पर छोड़ देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टत: यह गलत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यों और साधनों को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही आगे बढ़ सकता है और जब इन्हीं के आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो, आलोचना से परे नहीं होना चाहिए; लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का आश्रयरूप बन जाती है, तो उसमें कुछ-न-कुछ बिगाड़ समझना चाहिए। इस प्रकार की आलोचनाएं करने पर समाजवादी लोग जनता की निन्दा के पात्र बन जायंगे,

क्योंकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामों के स्वप्नों के ऊपर वर्तमान के कठिन कामों को करना छोड़ देता है, वह अवसरवादी बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका तात्पर्य है असली वास्तविक जीवन में इस समय होनेवाली घटनाओं पर अपना आधार रखने में विफल होना, और स्वप्नों के नाम पर उनसे अलग पड़ जाना।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने विचार अधिकतर औद्योगिक मजदूर-वर्ग-सम्बन्धी साहित्य से बनाते हैं। कुछ खास हल्कों में, जैसे बम्बई या कलकत्ते के पास, कारखानों के मजदूर बड़ी तादाद में हैं, लेकिन हिन्दुस्तान का बाकी हिस्सा तो किसानों का ही है और कारखानों के मजदूरों के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नहीं मिल सकता। यहां तो राष्ट्रीयता और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं और यूरप के समाजवाद का इनसे शायद ही कुछ सम्बन्ध हो। रूस में महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहां तो बहुत ही असाधारण घटनाएं हो गईं और वैसी ही घटनाएं फिर दूसरी जगह होंगी यह उम्मीद करना बेवकूफी होगी। लेकिन इतना मैं जरूर जानता हूं कि कम्यूनिज्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने में मदद मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है; लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह जबरदस्ती और बेइन्साफी होगी कि उसे वस्तुस्थिति और परिस्थिति का मुनासिब खयाल न रखते हुए आंख मूंदकर हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बड़ी जटिल समस्या है और जीवन के संघर्षों और विरोधों से कभी-कभी आदमी निराश-सा हो जाता है। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लोगों में मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओं को एक ही दृष्टिकोण से देखते हैं, अलग-अलग नतीजों पर पहुंचें; लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमजोरी को बड़े-बड़े वाक्यों और ऊंचे-ऊंचे उसूलों के पर्दे में छिपाता है, जरूर सन्देह का पात्र बन सकता है। जो शख्स सरकार को इकरारनामे और वादे लिखकर या और किसी सन्देहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरों की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुकसान पहुंचाने की सम्भावना पैदा करता है।

बम्बई बड़ा शहर है और उसमें सब जगह के और सब तरह के लोग रहते हैं।

लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक,आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में बड़ी मार्के की सर्वग्रहणशीलता दिखाई। मजदूर की हैसियत से वह समाजवादी थे; राजनीति में वह आमतौर पर अपने को डिमोक्रेट (लोकतन्त्र वादी) कहते थे? हिन्दू-सभा भी उन्हें बहुत चाहती थी। उन्होंने वादा किया कि मैं पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों की रक्षा करूंगा और उनमें कौंसिल को दखल न देने दूंगा, मगर चुनाव के वक्त में वह सनातनियों की तरफ से उम्मीद-वार हुए, जोकि प्राचीनता के महान् पुजारी हैं। इन विविध और सतत परिवर्तन शील प्रवृत्तियों से भी जब वह न थके, तो उन्होंने अपनी शेष शक्ति कांग्रेसकी आलो-चना करने और गांधीजी को प्रतिगामी बताने में लगाई। कुछ और लोगों के सहयोग से उन्होंने कांग्रेस डिमोक्रेटिक (लोकतन्त्रात्मक) पार्टी खड़ी की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो कांग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती थी कि उस महान् संस्था पर दोषारोपण करे। और भी नये-नये क्षेत्रों में विजयी होने की आकांक्षा से, वह मजदूरों के प्रतिनिधि बनकर जेनेवा मजदूर-कान्फ्रेन्स में भी शरीक हुए। इससे किसी के मन में यह खयाल हो सकता है कि शायद वह इंग्लैण्ड की परम्परा पर हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधानमन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे हैं।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और कार्यों का अनुभव बहुत ही थोड़े लोगों को होगा। फिर भी कांग्रेस के समालोचकों में ऐसे कई लोग थे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रयोग किया था, और जो हर जगह अपनी टांग अड़ाते थे। इनमें से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

५१

लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मैं पूना गया था, तो एक दिन शाम को मैं उनके साथ 'सर्वेण्ट्स ग्राफ इण्डिया सासाइटी' के भवन में चला गया। करीब एक घण्टे तक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवाल करते रहे ग्रौर वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक्त वहां श्री श्रीनिवास शास्त्री थे ग्रौर न पण्डित हृदयनाथ कुंजरू ही, जो शायद बाकी के सदस्यों में सबसे ज्यादा काबिल हैं, लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममें से कुछ लोग, जो उस वक्त वहां उपस्थित थे, बड़े ग्रचरज से सब कुछ सुनते रहे, क्योंकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाग्रों के बारे में पूछे जा रहे थे। वे ज्यादातर गांधीजी की वाइसराय से मुलाकात की पुरानी दरख्वास्त ग्रौर वाइसराय के इन्कार के बारे में थे। क्या ऐसे समय में जबकि खुद उनका ही देश ग्राजादी की ग्रच्छी करारी लड़ाई लड़ रहा था ग्रौर सैकड़ों संस्थाएं गैर-कानूनी करार दी जा रही थीं, ग्रनेक समस्याग्रों से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था—किसान नाजुक वक्त से गुजर रहे थे ग्रौर ग्रौद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बंगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भयंकर घटनाएं घट रही थीं; विचार, भाषण, लेखन ग्रौर सभाग्रों की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं मौजूद थीं। लेकिन सवाल सिर्फ महत्त्वशून्य घटनाग्रों तथा, यदि गांधीजी वाइसराय से मिलना चाहें तो वाइसराय ग्रौर भारत-सरकार पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, तक सीमित रहे।

मुझे बड़े जोरों से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानो मैं किसी धर्म-मठ में ग्रा घुसा हूं, जिसके निवासियों का ग्रर्से से बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा है। फिर भी हमारे दोस्त क्रियाशील राजनीतिज्ञ थे, और उनके साथ सार्वजनिक सेवा और कुर्बानी की लम्बी सूची जुड़ी थी। वे तथा

कुछ और लोग लिबरल पार्टी के मेरुदंड थे। पार्टी के बाकी लोग तो अस्पष्ट विचारों वाले चित्र-विचित्र आदमी थे, जो राजनीतिक हलचल में भाग लेने की अनुभूति का कभी-कदास उपभोग कर लेना चाहते थे। इनमें से कुछ लोग तो-खासकर बम्बई और मद्रास में—ऐसे थे, जिनमें और सरकारी अधिकारियों में फर्क ही नजर नहीं आता था।

जिस तरह का प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हद तक उसकी राजनैतिक प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नहीं पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलों की सीटों के बंटवारे पर अपना वक्त, अपनी ताकत और अपना मिजाज बिगाड़ा करते हैं, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियां बनाया करते हैं और उसपर फिजूल का इतना वाद-विवाद करते हैं कि उससे जरूरी सवाल ही छूट जाते हैं, उसी हदतक हमारी पिछड़ी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गांधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में जो-जो सवाल पूछे गये थे, उनमें उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक सिद्धान्त हैं, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसों के दीवानखानों या दरबारों की-सी चीज दिखाई देती थी। मानो उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती थी कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे, या क्या नहीं करेंगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्कों में और खासकर इंग्लैण्ड में, इस शब्द से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आजादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं के एक खास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इंग्लैण्ड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार में आजादी और राजा के एकाधिकारों और मनमाने टैक्सों से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलों का ऐसा कोई आधार नहीं है। मुक्त व्यापार में उनका विश्वास नहीं; क्योंकि वे करीब-करीब सभी संरक्षणवादी हैं और जैसा कि हाल की घटनाओं ने बता दिया है वे नागरिक स्वतन्त्रताओं का भी कोई महत्त्व नहीं समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों से उनका

गहरा सम्बन्ध और सामान्यरूप से समर्थन साबित करता है कि वे यूरोपियन ढंग के लिबरलों से बहुत भिन्न हैं। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नहीं हैं, या वे सिर्फ दिखावे के लिबरल हैं। वे ठीक-ठीक क्या हैं, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारों का कोई एक निश्चित दृढ़ आधार नहीं है, और हालांकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस में भी उनके विचार जुदा-जुदा हैं। वे नकारात्मक रूप में ही दृढ़ता दिखाते हैं। हर जगह उन्हें गलती-ही-गलती दिखाई देती है। उससे बचने की वे कोशिश करते रहते हैं और आशा यह करते हैं कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेंगे। उनकी निगाह में सचाई सिर्फ दो पराकाष्ठाओं के बीच ही हुआ करती है। हर ऐसी चीज की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते हैं, वे समझते हैं कि वे निष्ठावान, मध्यम-मार्गी और नेक आदमी हैं। इस तरीके से वे विचार करने के कष्ट-प्रद और कठिन कार्य से तथा रचनात्मक विचारों को पेश करने की आफत से बच जाते हैं। उनमें से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते हैं कि पूंजीवाद यूरप में पूरी तरह कामयाब नहीं हुआ है और संकट में पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ, समाजवाद तो जाहिरा तौर पर ही खराब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थों पर हमला होता है। शायद भविष्य में कोई रहस्यवादी हल, कोई मध्यममार्ग मिल ही जायगा, इस बीच, स्थापित स्वार्थों की रक्षा होनी चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि पृथ्वी चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनों ही पराकाष्ठाओं के विचारों की निन्दा करेंगे और थोड़ी देर को यही सुझायेंगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार होगी।

बहुत छोटे-छोटे और महत्त्वशून्य मामलों पर भी वे बहुत भड़क जाते हैं और इतना हो-हल्ला और शोर-गुल मचा देते हैं कि कुछ पूछिए नहीं। जानमें या अनजान में वे मौलिक सवालों को हाथ नहीं लगाते, क्योंकि ऐसे सवालों के लिए तो मौलिक उपायों की, और साहसपूर्ण विचार और कार्यक्रम की जरूरत होती है। इसलिए लिबरलों की विजय या पराजय का कोई नतीजा नहीं होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नहीं होता। इस पार्टी की बड़ी विशेषता और खास लक्षण अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात में नरम रहना। यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"मॉडरेट होने में ही हम फूले नहीं समाते हैं,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते हैं !"[1]

लेकिन मॉडरेट-वृत्ति कितनी भी प्रशंसनीय क्यों न हो, वह कोई तेजोमय गुण नहीं है। यह वृत्ति तेज-हीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदकिस्मती से एक 'तेज-हीन-दल' बन गये हैं— वे चेहरे से गुरु-गम्भीर, लेखों और बातचीत में तेजोहीन और विनोद-प्रियता से खाली होते हैं। निश्चय ही इनमें कुछ अपवाद भी हैं और एक सब से बड़े अपवाद हैं सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही नीरस और विनोद-रहित नहीं है, बल्कि वे अपने विरुद्ध किये गये मजाक में भी रस लेते हैं। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही का साकार रूप है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने, जो प्रमुख लिबरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख में लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बड़े और असाधारण लोगों ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतों में डाला है। इसलिए उसकी राय थी कि मामूली मध्यम दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते हैं। बड़े सुन्दर और साफ ढंग से इस अखबार ने मध्यता के ऊपर अपना झंडा गाड़ दिया है।

'नरमी', रूढ़ि-प्रियता और खतरों तथा अचानक परिवर्त्तनों से बचने की इच्छा बुढ़ापे की अनिवार्य साथी हैं। ये बातें नौजवानों को बिलकुल नहीं शोभा देतीं। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढ़ा है; कभी-कभी इसके बच्चे भी कमजोर और थके हुए पैदा होते मालूम होते हैं और उनमें तेज-हीनता और बुढ़ापे के चिह्न होते हैं। लेकिन परिवर्तन की शक्तियों से यह बूढ़ा देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले लोग घबरा-से गये हैं। पुरानी दुनिया गुजर रही है, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्तापूर्ण काम करने की मीठी सलाह दें, उससे कोई फर्क नहीं पडता। तूफान या बाढ़ या भूकम्प को समझा-बुझा कर कहीं रोका जा सकता है? उनकी पुरानी धारणाएं काम नहीं देतीं और नये-नये तरह के विचार और काम करने की उनमें हिम्मत नहीं। यूरोपियन परम्परा के बारे में डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा में पड़ी है कि हर पीढ़ी बहुत-कुछ परिस्थितियों

[1] एलेक्जेण्डर पोप के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

में जीवन बितायेगी, जिनमें उनके पुरखों के जीवन का निर्माण हुआ था, और वही परिस्थितियां आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तानों का जीवन-निर्माण करेंगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे प्रथम युग में रह रहे हैं। जिसके लिए यह धारणा बिलकुल गलत है।" डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण में थोड़ी नरमी दिखलाने की गलती की है, क्योंकि शायद वह धारणा हमेशा ही गलत रही है। अगर यूरप की परम्परा रूढ़िवादी रही है, तो हमारी परम्परा तो और भी अधिक रही है। लेकिन जब परिवर्तन का युग आता है तब इतिहास इन परम्पराओं की तरफ जरा भी ध्यान नहीं देता। हम लाचारी से देखते रह जाते हैं और अपनी योजनाओं की असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ़ देते हैं। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते हैं, "सबसे विनाशकारी यही भ्रम है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की गलती से नहीं बल्कि किसी दूसरे के जानबूझ कर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयंकर भ्रम के शिकार हम सभी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि गांधीजी भी इससे बरी नहीं हैं। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही हैं, जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते हैं और तजर्बे और गलतियों के जरिये भी हम कभी-कभी इस भ्रम का भान कर लेते हैं, और लुढ़कते हुए भी किसी तरह आगे बढ़ते तो जाते हैं, लेकिन लिबरल सबसे ज्यादा दुःख उठाते हैं। क्योंकि इस डर से कि कहीं हमसे कोई गलत काम न हो जाय, वे काम ही नहीं करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे कदम ही नहीं बढ़ाते। जनता के साथ वे हार्दिक सम्पर्क स्थापित करने से दूर ही रहते हैं, और अपने ही विचारों की तंग कोठरियों में मोहित और समाधिस्थ-बैठे रहते हैं। डेढ़ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने संगी-साथी लिबरलों को चेतावनी दी थी कि उन्हें चुपचाप खड़े देखते न रहना चाहिए और सब कुछ योंही गुजरने न देना चाहिए। उस चेतावनी में वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कहीं ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इस बात का ही हमेशा विचार करते रहने का कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ इशारा कर रहे थे, जिन्हें भिन्न-भिन्न सरकारी कमेटियां बना रही थीं। लेकिन लिबरलों की बदकिस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ़ रहे थे, तब वे चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को योंही गुजरने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते

थे और हमारे शासकों से तिनका तोड़ने के बजाय उन्होंने इन आम लोगों से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही देश में अजनबी से बन गये। दुनिया आगे बढ़ गई और उन्हें वहीं-का-वहीं छोड़ गई। जब लिबरलों के देशवासी जिन्दगी और आजादी के लिए भयंकर लड़ाइयां लड़ रहे थे, तब इसमें कोई शक नहीं रह गया था कि लिबरल किस पक्ष में खड़े हैं। प्रतिपक्षी की तरफ जाकर वे हमें नेक सलाहें देते थे और बड़ी-बड़ी नैतिक बातें करते थे। गोलमेज-कान्फ्रेंसों और कमेटियों में जो सहयोग उन्होंने सरकार को दिया, वह उसके हक में बड़ी महत्त्वपूर्ण नैतिक लाभ की चीज थी। अगर यह सहयोग नहीं दिया जाता, तो बड़ा फर्क पड़ जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ्रेंस में ब्रिटिश मजदूर-पार्टी तक अलग रही, लेकिन हमारे लिबरल लोग तो उससे भी अलग नहीं रहे और कुछ अंग्रेज सज्जनों ने उनसे न जाने की अपील की, तो भी वे वहां चले ही गये।

यों तो अपने जुदे-जुदे उद्देश्यों के लिहाज से हम सब नरम या गरम हैं। फर्क सिर्फ मात्रा का है। जिस बात के बारे में हमें अधिक चिन्ता हो उसके विषय में हमारी भावना भी उतनी ही तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध में 'गरम' हो जाते हैं; नहीं तो हम उदारतापूर्ण सहनशीलता धारण कर लेते हैं, एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता ग्रहण कर लेते हैं, जोकि, असल में कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है। मैंने नरम-से-नरम मॉडरेटों को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थों को उड़ा देने की बात रक्खी गई। हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनीमानी और समृद्ध लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वराज के लिए उन्हें बहुत दिनों तक इन्तजार करना पुसा सकता है और इससे उसके लिए उन्हें व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की जरूरत नहीं। लेकिन जहां कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमें खलबली मची। तब वे न तो उसके विषय में मॉडरेट ही रह जाते हैं और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही कायम रहती है। इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे हैं, कि यदि वे काफी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस आचरण के पुरस्कार में उनकी बात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नहीं सकते। 'ब्ल्यू बुक' (सरकारी रिपोर्ट)

उनके गम्भीर अध्ययन की वस्तु होती है। अर्स्किन मे की 'पर्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐमी ही किताबें उनकी जीवन-संगिनी होती हैं। नई सरकारी रिपोर्ट उनके तैश और तर्कवितर्क का विषय बनती है। इंग्लैण्ड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल की विभूतियों के कारनामों के बारे में रहस्यमय वक्तव्य देते रहते हैं, क्योंकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलों, प्रतिसहयोगियों और ऐसे ही दूसरे दलों की दृष्टि में वैकुण्ठ है! पुराने जमाने में यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलों की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदीवारी का चक्कर लगाती रहती है।

यहां लिखा तो मैंने लिबरलों के बारे में है, लेकिन यही बात बहुतेरे कांग्रेसियों पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियों पर तो और भी ज्यादा लागू होती है; क्योंकि नरमी में तो उन्होंने लिबरलों को भी मात कर दिया है। औसत दर्जे के लिबरल और औसत दर्जे के कांग्रेसी में बड़ा फर्क है। मगर इस सम्बन्ध में विभाजक रेखा न तो साफ ही है, न निश्चित ही। जहांतक विचार-धारा से सम्बन्ध है, आगे बढ़े हुए लिबरल और नरम कांग्रेसी में कोई ज्यादा फर्क मालूम नहीं होता। मगर भला हो गांधीजी का, जो हरेक कांग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगों के साथ थोड़ा-बहुत सम्पर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसीकी बदौलत वह एक धुंधली और अधूरी विचार-धारा के परिणामों से बच गया है। मगर लिबरलों की बात ऐसी नहीं है। उन्होंने पुराने और नये दोनों ही विचार के लोगों से अपना नाता तोड़ लिया है। एक दल के रूप में वे उन लोगों के प्रतिनिधि हैं, जो मिटते जा रहे हैं।

मैं खयाल करता हूं कि हममें से बहुतों की वह पुरानी अन्धश्रद्धा तो नष्ट हो चुकी है; लेकिन नई अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है। न तो हमें समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[१] के दर्शन सुलभ हैं और न हमारे कान बूढ़े ट्रायटन[२] की पुष्पमाला-

---

[१] **प्रोटियस--प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपना मनचाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति के लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।**

[२] **ट्रायटन--प्रोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और**

षेत शृंगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते हैं । हममें से बहुत कम लोग इतने
ाशाली हैं जो—

"पिंड में ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन में स्वर्ग-शोभा देखते;
अंजली में बांधते निस्सीम को,
एक पल से नापते चिरसीम को ।"[1]

दुर्भाग्य से, हममें से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से, उसका स्वर अपने कानों के पास सुनने से तथा उसके स्पर्श के मधुर कम्पन का सुख ने से अब दूर हैं । वे दिन अब चले गये । लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह ति की दिव्यता का दर्शन न कर सकें, तो भी मानवजाति के गौरवपूर्ण तथा ग इतिहास में, उसके बड़े-बड़े स्वप्नों और आन्तरिक तूफानों में, उसकी पीड़ाओं : विफलताओं में, उसके संघर्षों और विपत्तियों में, और इन सबसे बढ़कर महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा में तथा उन महत्त्वाकांक्षाओं की प्राप्ति में ो उसका दर्शन करने का प्रयत्न किया है। और जो कष्ट और क्लेश इस खोज में उठाने पड़े हैं, उसका पुरस्कार हमें इसी प्रयत्न में मिल गया है । इस खोज मय-समय पर हमें जीवन की तुच्छता से ऊंचा उठाया है । लेकिन बहुतों ने शोध का प्रयत्न ही नहीं किया; उन्होंने अपने को पुराने मार्ग से तो अलग कर ा है, लेकिन वर्तमान में चलने के लिए उनके पास कोई मार्ग ही नहीं है । ो उनकी भावनाएं ही ऊंची हैं, न कुछ वे करते ही हैं । वे फ्रांस की महान् राज्य- न्ति या रूसी राज्यक्रान्ति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नहीं समझते । काल से दबी हुई मानवी अभिलाषाओं के जटिल, तेज और निठुर विस्फोटों ायभीत हो जाते हैं । उनके लिए बेस्तील (फ्रांस) के किले का अभी पतन हुआ है ।

बड़े रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि "देश-भक्ति का ठेका कुछ ेसवालों ने ही नहीं ले रक्खा है ।" यही शब्द बार-बार दोहराये जाते हैं, जिनमें

-मत्स्य था । इसका खास काम शंख-ध्वनि द्वारा सागर-तरंगों को कम- ादा करते हुए उनपर नियन्त्रण रखना था ।

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद । अनु०

कोई नवीनता नहीं रह गई है, जिससे कुछ-कुछ दुःख होता है। मैं समझता हूं, अपने लिए इस भावना के एक अंश का भी कभी किसी कांग्रेसी ने दावा नहीं किया होगा। अवश्य ही, मैं नहीं समझता कि कांग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है। और मैं बड़ी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेंट करने को तैयार हूं। यह तो अवसरवादियों और सुखी एवं निश्चिन्त जीवन की कामना करनेवालों के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियों, स्वार्थों और वर्गों के अनुकूल इसके कई रूप हैं। अगर आज जूडस[1] जीवित होता तो वह भी, इसमें कोई शक नहीं, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफी नहीं है; अब तो हमें कोई उससे ज्यादा ऊंची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज चाहिए।

और नरमी स्वतः ऐसी कोई चीज नहीं है, जो काफी समझी जाय। हां, संयम एक अच्छी चीज है और वह हमारी संस्कृति का एक पैमाना है; मगर कोई चीज भी तो हो, जिसपर हम संयम और निग्रह करें। मनुष्य सदा से पंचतत्त्वों पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गांठता आ रहा है, लपलपाती आग और वेगवान जलधारा को अपने काम में लाता रहा है और अब भी लाता है; लेकिन उसके लिए इन सबसे ज्यादा मुश्किल हुआ है अपने को खा डालनेवाले मनोविकारों का निग्रह करना या उनपर संयम रखना। जब तक वह इन्हें अपने नियन्त्रण में नहीं कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत पूरी तरह नहीं पा सकता। पर क्या हम उन पैरों को रोक रक्खें जो हिलते ही नहीं हैं या उन हाथों को, जिन्हें लकवा मार गया है?

इस प्रसंग पर मैं रॉय केम्पबेल की चार पंक्तियां देने का लोभ नहीं रोक सकता, जो उन्होंने दक्षिण अफ्रीकाके किसी उपन्यासकार के सम्बन्ध में लिखी थीं :

"लोक आपके दृढ़ संयम का गाता है यश-गान
मैं भी उसमें देता उसका साथ आज, मतिमान!
खूब जानते आप खींचना और मोड़ना बाग,
पर कमबख्त कहां वह घोड़ा, है इसका कुछ ध्यान?"[2]

---

[1] ईसा के मुख्य बारह शिष्यों में एक था जिसने दगा करके ईसा को यहूदियों के हाथ पकड़ा दिया था। —अनु०

[2] केम्पबेल के अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते हैं कि वे सर्वोत्तम सँकरे मध्यम मार्ग पर चलते हैं और एक तरफ कांग्रेस और दूसरी तरफ सरकार दोनों की पराकाष्ठाएं बचाकर अपना रास्ता निकालते हैं। वे दोनों की कमियां बतानेवाले मुंसिफ बनते हैं और इस बात के लिए अपने मुंह मियां मिट्ठू बनते हैं कि वे इन दोनों की बुराइयों से बरी हैं। मेरी समझ में वे न्यायमूर्ति की तरह हाथ में तराजू लिए हुए आंख बन्द कर या पट्टी बांधकर निष्पक्ष बनने की कोशिश करते हैं। कहीं यह मेरी खब्तही तो नहीं है जो, आज मेरे कानों में सदियों पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"हे धर्मशास्त्रियो और कर्मठो! ओ अन्धे पथ-प्रदर्शको, तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज करते हो!"[1]

---

[1] बाइबिल का प्रसिद्ध वाक्य। —अनु०

५२

औपनिवेशिक स्वराज और आजादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमें से ज्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हों, चाहे कांग्रेसी, आये सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियों में उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनकी रहन-सहन, उनके मेल-मुलाकाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे हैं और शुरू में जिन दो किस्मों के मध्यमवर्गी और आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहने लायक अन्तर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदों ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे अलग-अलग दिशाओं में देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगों—ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगों—की तरफ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियों की तरफ। विचार-धारा अब भी दोनों की एक-सी थी और ध्येय में भी कोई फर्क नहीं था। लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब गरीब, साधारण पेशेवर और बेकार पढ़े-लिखे लोगों का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमें वह अदब और नम्रता न रही, बल्कि वह कठोर और आक्रामक हो गया। कारगर ढंग से काम करने की ताकत तो थी नहीं, सो कड़ी जबान में उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर डर के मारे मॉडरेट लोग कांग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने में ही उन्होंने अपने को सुरक्षित समझा। फिर भी ऊपरी मध्यमवर्गियों का कांग्रेस में जोर था, हालांकि, तादाद में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता थी। वे अपने राष्ट्रीय संग्राम में महज कामयाबी की इच्छा से ही नहीं आये थे; बल्कि इसलिए कि उस संग्राम में ही उन्हें सच्चा सन्तोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने नष्ट गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यों तो एक राष्ट्र-वादी के मन में सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालांकि सभी के मन में उठती है, तो भी यहीं से नरम और गरम दोनों की स्वभावगत भिन्नता सामने

आगई। धीरे-धीरे कांग्रेस में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानों ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यों-ज्यों कांग्रेस ग्रामीण जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई त्यों-त्यों उसके और लिबरलों के बीच की खाई और-और चौड़ी होती गई, यहां तक कि लिबरलों के लिए कांग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी कदर करना नामुमकिन हो गया। उच्चवर्ग के दीवानखाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोंपड़े को समझना आसान नहीं है। फिर भी, इन मतभेदों के रहते हुए भी, दोनों की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फर्क था वह मात्रा का था, प्रकार का नहीं। कांग्रेस में अखीर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो गरम-दल में बड़े मजे से खपते और रहते।

कई पीढ़ियों से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने खास मौज व आराम का घर समझते आये हैं। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक, उसके अच्छे हिस्सों पर अपना कब्जा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियों के हवाले नौकरों की कोठरियां, सामान-घर और रसोई-घर वगैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह यहां भी नौकरों के कई दर्जे बंधे हुए थे—खानसामा, जमादार, रसोइया कहार, वगैरा-वगैरा; और उनमें छोटे-बड़े का पूरा-पूरा खयाल रखा जाता था। लेकिन मकान के ऊपर और नीचे के हिस्सों में एक ऐसी जबरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड़ लगा दी गई थी जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा नहीं सकता था। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्थाको हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नहीं है मगर यह जरूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममें से बहुतों ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग बना लिया। कभी-कभी हमारी बड़ी इज्जत कर दी जाती है—दीवानखाने में चाय का एक प्याला हमें दे दिया जाता है। हमारी सबसे ऊंची महत्त्वाकांक्षा सम्मानीय बनने तथा व्यक्तिगत रूप से ऊंचे दर्जे में चढ़ा दिये जाने की थी। सचमुच हथियारों और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय से ब्रिटिशों की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कहीं बढ़कर है। पुराने समझदारों ने कहा है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है।'

अब जमाना बदल गया और अब न इंग्लैण्ड में और न हिन्दुस्तान में मालिक

और नौकर वाली वह सभ्यता राजी-खुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हममें ऐसे लोग हैं जो उन्हीं नौकरों की कोठरियों में पड़े रहने की ख्वाहिश रखते हैं और अपनी सुनहरी चपरासों, पट्टों, वर्दियों और बिल्लों पर नाज करते हैं। दूसरे कुछ लोग लिबरलों की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यों-का-त्यों कायम रहने देना चाहते हैं, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते हैं, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक हैं कि धीरे-धीरे उसके मालिकों की जगह खुद उन्हें मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते हैं। उनके लिए शासकों का रंग बदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा में कभी नहीं सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी हैं—और सब बातें ज्यों-की-त्यों चलती रहें, सिर्फ उसका काला रंग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें वे या उनके जैसे लोग सूत्र-संचालक रहें और अंग्रेज हाकिमों की जगह ले लें—जिसमें कि उसी तरह की नौकरियां, महकमे, धारा-सभाएं, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहें। राजा-महाराजा अपनी जगह सुरक्षित रहें, कभी-कभी भड़कीली पोशाक और जवाहरात से सजधज कर रिआया पर रौब गांठते हुए दर्शन दिया करें, जमींदार एक तरफ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहें और दूसरी तरफ काश्तकारों को परेशान करते रहें, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो जमींदार और काश्तकार दोनों को तंग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहें और ईश्वर अपने स्वर्गधाम में विराजता रहे।

उनका दृष्टिकोण मुख्यतया इसी बात पर टिका है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तबदीलियां वे चाहते हैं वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते हैं; और वे इन परिवर्तनों को ब्रिटिशों की सद्भावना से धीरे-धीरे करके कराना चाहते हैं। उनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य के स्थिर और दृढ़ रहने पर है। वे देखते हैं कि इस साम्राज्य की नींव हिल नहीं सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, इसलिए वे उसके मुआफिक अपने को बनाते हैं और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचार-धारा को ही ग्रहण करते हैं, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शों को भी अपनाते हैं, जोकि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गये हैं।

लेकिन कांग्रेस का रुख मूल से ही भिन्न है; क्योंकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसकी स्पष्ट धारणा एक औसत कांग्रेसी के दिमाग में आज नहीं है और इसके बारे में रायें भी अलग-अलग हो सकती हैं। मगर कांग्रेस में शायद मॉडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते हैं, कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर, कि मौजूदा अवस्था और तरीके कायम नहीं रह सकते और न रहने चाहिए और बुनियादी तबदीलियां लाजिमी हैं। यही फर्क है डोमीनियन स्टेट्स (औपनिवेशिक स्वराज) और पूर्ण स्वाधीनता में। पहला उसी पुराने ढांचे को दृष्टि में रखता है, जो हमें ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनों से बांधे हुए हैं, और दूसरा हमें अपनी परिस्थितियों के अनुकूल एक नया ढांचा खड़ा करने की स्वतन्त्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इंग्लैण्ड या अंग्रेज लोगों से अटल शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नहीं है। परन्तु जो कुछ हो चुका है उसके बाद अगर इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में वैमनस्य रहे तो यह स्वाभाविक होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि "सत्ता की कुरूपता ताले की कुंजी तो बिगाड़ देती है और फिर उसकी जगह गेंती से काम लेती हैं।" हां, हमारे दिलों की कुंजी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और गेंतियों का जो भरपूर उपयोग हम पर किया गया है उसने हमें अंग्रेजों का तरफदार नहीं बनाया। लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितों की सेवा करने का दावा करते हैं, तो हम अपने को क्षणिक विकारों में नहीं बहने दे सकते। और यदि हम उन क्षणिक विकारों की तरफ झुकें भी तो गांधीजी ने १५ साल तक हमको जो कड़ी तालीम दी है वह हमें रोक लेगी। यह मैं एक ब्रिटिश जेलखाने में बैठकर लिख रहा हूं, महीनों से मेरा दिमाग चिन्ताकुल है और इधर मुझपर जेल में जो कुछ बीती है, उससे कहीं ज्यादा कष्ट मैंने इस तनहाई में सहा है। कई घटनाओं पर विरोध और नाराजगी से मेरा दिल अक्सर भर गया है, लेकिन फिर भी यहां बैठा हुआ जब मैं अपने दिल और दिमाग की गहराई को टटोलता हूं तो उसमें कहीं भी इंग्लैण्ड या अंग्रेजों के प्रति रोष या द्वेष नहीं दिखाई पड़ता। हां, मैं ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता हूं और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मैं नाराज हूं।

मुझे पूंजीवादी प्रणाली नापसंन्द है। ब्रिटेन के शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे हैं, उसे मैं जरा भी पसन्द नहीं करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मैं कुल मिलाकर इंग्लैण्ड या अंग्रेजों को इसके लिए जिम्मेदार नहीं ठहराता, और अगर मैं ऐसा करूं भी तो उससे कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि सारी जाति पर नाराज होना या उसकी निन्दा करना बेवकूफी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियों के शिकार बन गये हैं जैसे कि हम।

मैं खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इंग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूं; इतना कि उसके प्रति जरा भी परायेपन का भाव नहीं रख सकता। और मैं चाहे जितनी कोशिश करूं, लेकिन मैं अपने मनके उन संस्कारों से और दूसरे देशों तथा सामान्य-तया जीवन के बारे म विचार करने की उन पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैण्ड के स्कूल और कालेजों में प्राप्त किये हैं, मुक्त नहीं हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड़ दें, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैण्ड और अंग्रेज लोगों की ओर दौड़ता है, और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूं तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिसपर एतराज करते हैं और जिसके साथ हम कभी राजी-खुशी से समझौता नहीं कर सकते वह अंग्रेजों का शासन है, आधिपत्य है, न कि अंग्रेज लोग। हम शौक से अंग्रेजों से और दूसरे विदेशियों से घनिष्ट सम्पर्क बांधें। हम हिन्दुस्तान में ताजी हवा चाहते हैं, नवीन और चेतनामय विचार और स्वास्थ्यकर सहयोग चाहते हैं; क्योंकि हम जमाने से बहुत पीछे पड़ गये हैं। लेकिन अगर अंग्रेज शेर बन कर यहां आते हैं, तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नहीं रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहां प्राण-पण से मुकाबला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पड़ा है। जंगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना सम्भव हो सकता है लेकिन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को, जबकि ये दोनों मिलकर एक अभागे देश पर टूट पड़े हैं, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नहीं है।

किसी का यह कहना कि वह या उसका देश किसीसे समझौता नहीं करेगा, एक तरह से बेवकूफी की बात है; क्योंकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है। और जब दूसरे देश या वहां के लोगों पर यह बात लागू की जाती है तब तो यह बिलकुल ही बेवकूफी की बात हो जाती है। लेकिन तब यह किसी प्रणाली

या किन्हीं खास हालतों के लिए कहा जाता है तो उसमें कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा में समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनों परस्पर बेमेल हैं और न तो फौजी कानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपड़ी बातें ही उन्हें एक साथ मिला सकती हैं। सिर्फ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थाएं पैदा हो सकेंगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया में स्वाधीनता एक संकुचित ध्येय है; क्योंकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए पूर्ण स्वाधीनता की मांग करके हम घड़ी का कांटा पीछे घुमा रहे हैं। लिबरल और शान्तिवादी, यहांतक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, यह दलील पेश करके हमें अपने संकुचित उद्देश्य पर लताड़ते हैं और यह कहते हैं कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-संघ' में से होकर गुजरता है। यह अजीब-सी बात है कि इंग्लैण्ड में तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शान्तिवाद, समाजवाद वगैरा, साम्राज्य को कायम रखने की ओर ही ले जाते हैं। ट्राटस्की कहता है—"शासक राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को कायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' के श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है; ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोड़ने की अभिलाषा आसानी से शान्तिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह मैकडानल्ड गांधी के आगे ऐसा महसूस करता है मानो वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।"

मैं नहीं जानता हूं कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आजाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा ? लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूं कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी हैं, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती हैं। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ नहीं है, लेकिन बहुतेरे आगे बढ़े हुए कांग्रेसी, जो समाजवादी नहीं हैं, अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्के उपासक हैं। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे कटकर अलग-अलग रहनेकी ख्वाहिश है। इसके विरुद्ध हम तो बिलकुल राजी हैं, कि और देशों के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड़ दें जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम

कितना ही बड़ा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती।

इधर हाल में जो घटनाएं हुई हैं उन्होंने सारी दुनिया को बता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियां स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सबसे जुदा कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती के बजाय हम उसका उलटा ही देख रहे हैं। इसके कारणों को खोजना मुश्किल नहीं है। वे मौजूदा अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई कमजोरी जाहिर करती हैं। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहां वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज्यादा सहयोग पैदा करती है वहां दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सों से अपने को अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्बन्धी तथा दूसरे निर्णयों से यह देख लिया है कि दूसरे देशों से हमारा सम्पर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धों के आश्रित हो रहे हैं और, इससे कई बातों में जो तात्कालिक नुकसान हुए हैं उनको अलग रख दें, तो भी इस नीति से पैदा होनेवाले खतरे स्पष्ट हैं। इस प्रकार 'डोमीनियन स्टेट्स' हमें व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की ओर ले जाने के बजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त दुनिया को और खास करके खुद अपने देश को असली नीले रंग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते हैं। इस बात को समझने की कोशिश किये बगैर ही कि कांग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यों कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते हैं कि औपनिवेशिक स्वराज की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कहीं संकीर्ण और नैतिक उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नजदीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी व्हाइट-हॉल होते हैं; क्योंकि उनको दूसरे देशों का तो कुछ पता ही नहीं है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक्कत है; मगर उससे भी ज्यादा कठिनाई यह है कि उनकी उपेक्षा करने में ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी किस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के खिलाफ हैं। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओं को, अगर दूसरे देशों में ये तरीके अख्तियार किये जांय, तो कोई एतराज नहीं होता। वे दूर रहकर ही

उनकी कदर और इज्जत कर सकते हैं और पश्चिमी देशों के कुछ मौजूदा डिक्टे-टरों की तो वे मन-ही-मन प्रशंसा करते हैं।

नामों से धोखा हो सकता है, मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान में तो असली सवाल है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते हैं, या सिर्फ एक नया शासक-मण्डल बनाना चाहते हैं। लिबरलों का जवाब स्पष्ट है। वे नये शासक-मण्डल से अधिक कुछ नहीं चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रमशः प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'औपनिवेशिक स्वराज्य' (डोमिनियन स्टेट्स) का जिक्र अबतक कई बार किया गया है, मगर वे अपना असली उद्देश्य फिलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व'—इन गूढ़ शब्दों में प्रकट करते हैं। सत्ता, स्वाधीनता, आजादी, स्वतन्त्रता आदि जोरदार शब्द उनके लिए नहीं हैं। उन्हें तो ये खतर-नाक मालूम होते हैं। एक वकील की भाषा और तरीके उन्हें ज्यादा जंचते हैं—चाहे भले ही जन-समाज को वे उत्साहित न करते हों। इतिहास में ऐसी अन-गिनती मिसालें मिलती हैं जहां व्यक्तियों और समूहों ने अपने सिद्धान्तों और अपनी आजादी के लिए खतरों का मुकाबला किया है और अपनी जान जोखिम में डाली हैं। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे कानूनी शब्दों के लिए कोई जान-बूझकर एक बार खाना छोड़ देगा या अपनी नींद हराम करेगा।

यह तो है उनका लक्ष्य, और इसको भी पाना है 'सीधे हमले' या और किसी उग्र उपाय से नहीं, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—"समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्य-दक्षता" का परिचय देकर। यह आशा की जाती है कि अपने सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त में अपने शासकों को इस बात के लिए राजी कर सकेंगे कि वे अपने अधिकार छोड़ दें। दूसरे शब्दों में वे आज हमारा विरोध इसीलिए करते हैं कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढ़े हुए हैं या उन्हें हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनों कारणों से। साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है। मगर प्रोफेसर आर० एच० टॉनी नामक एक विद्वान् अंग्रेज लेखक ने क्रम-क्रम से और शासकवर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार के सम्बन्ध में बहुत उचित और हृदयाकर्षक भाषा में अपने भाव प्रकाशित किये हैं। उन्होंने तो ब्रिटिश लेबरपार्टी को ध्यान में रखकर लिखा है, लेकिन

उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज्यादा लागू होते हैं; क्योंकि इंग्लैण्ड में कम-से-कम लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं तो हैं जहां बहुमत की इच्छा, सिद्धान्तरूप में तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफेसर टॉनी लिखते हैं—

"प्याज का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है, लेकिन आप एक जिन्दा शेर के एक-एक पंजे की खाल नहीं उतार सकते। चीड़-फाड़ करना उसका काम है और खाल को पहले उतारने वाला वह होता है·······

"अगर कोई ऐसा देश है कि जहां के विशेषाधिकार पाये हुए वर्ग निरे बुद्धू हों तो कम-से-कम इंग्लैण्ड वह नहीं है। यह खयाल गलत है कि लेबरपार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इससे वे धोखे में आ जायंगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते-पुरजे कानून-दां को झांसा देकर उस मिलकियत को हथिया लेना, जिसका कि हक-नामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही में ऐसे व्यवहार-प्रिय, चालाक, प्रभावशाली, आत्मविश्वासी, और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की परवा न करनेवाले लोग हैं, जो अच्छी तरह जानते हैं कि रोटी पर किधर से घी चुपड़ा जाता है और वे अपने चुपड़ने के घी में कभी-कमी होने देना नहीं चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशंका होती है तो वे शतरंज के हरेक राजनैतिक और आर्थिक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते हैं। हाउस आफ लार्ड्स, राजदरबार, अखबार, फौज, आर्थिक प्रणाली—इनमें से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये बिना वे न रहेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें भी पैदा कर सकते हैं और जैसा कि १९३१ में पौण्ड की विनिमय दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओं से साबित होता है, वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राज-नैतिक भगोड़ों की तरह अपनी जेब की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते हैं।"

ब्रिटिश लेबरपार्टी का संगठन जोरदार है। उसके पीछे कई मजदूर संस्थाएं जिनके लाखों चन्दा देनेवाले मेम्बर हैं, सहयोग-समितियों का एक बहुत समुन्नत संगठन तथा पेशेवर वर्गों के बहुत-से मेम्बर और हमदर्द लोग हैं। ब्रिटन में बालिग मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोक-तन्त्री पार्लमेण्टरी संस्थाएं हैं और वहां बरसों से नागरिक स्वतन्त्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी मि० टॉनी की यह राय है—और हाल की घटनाओं ने उसको

सही साबित कर दिया है—कि लेबर पार्टी खाली मुस्कराकर और समझा-बुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नहीं कर सकती, हालांकि इन दोनों साधनों का प्रयोग लाभप्रद और वांछनीय जरूर है। टॉनी साहब तो यहां तक कहते हैं कि अगर कॉमन-सभा में मजदूर-दल का बहुमत हो जाय तो भी विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों के मुकाबले में वह कोई भी आमूल परिवर्तन नहीं कर सकेगा; क्योंकि उनके हाथ में आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फौजी तथा राजस्व-सम्बन्धी जबरदस्त ताकतें अपनी हिफाजत के लिए हैं। यह बताने की जरूरत नहीं है कि हिन्दुस्तान में परिस्थितियां बिलकुल दूसरी तरह की हैं। न तो यहां लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं ही हैं और न ऐसी परम्पराएं ही। उसके बजाय, यहां आर्डिनेन्सों और तानाशाही हुकूमत का, और बोलने, लिखने, सभा करने और अखबारों की आजादी को कुचलने का खासा रिवाज पड़ा हुआ है, और न लिबरलों का यहां कोई खास मजबूत संगठन है। ऐसी हालत में उन्हें अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है।

लिबरल लोग अवैध या 'गैरकानूनी' कार्रवाइयों के सख्त खिलाफ हैं, लेकिन जिन देशों का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहां 'वैध' शब्द का व्यापक अर्थ होता है। वहां विधान कानून बनाने पर नियन्त्रण करता है, वह स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश में रखता है, उसके अन्दर राजनैतिक और आर्थिक ढांचे में परिवर्तन करने के लिए लोकतन्त्रात्मक साधनों की गुंजाइश रहती है। लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा कोई विधान नहीं है, और इस तरह की कोई बातें नहीं हैं।[1] उसका यहां इस्तेमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान में कोई जगह नहीं है। और आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि यहां 'वैध' शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मनमाने कार्यों

---

[1] श्री० सी० वाई० चिन्तामणि ने, जोकि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान सम्पादक हैं, युक्तप्रान्तीय कौन्सिल में पार्लमेण्टरी ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए खुद इस बात पर जोर दिया था कि हिन्दुस्तान में किसी भी किस्म के वैध शासन का अभाव है—"भविष्य में अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज्यादा अवैध सरकार को मंजूर करने की बनिस्बत तो बहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिए बैठे रहें।"

के समर्थन में किया जाता है। या दूसरी तरह उसका 'कानूनी' के भाव में व्यवहार किया जाता है। इससे तो यह कहीं बेहतर है कि हम कानूनी और गैरकानूनी शब्दों का ही व्यवहार करें, हालांकि वे काफी गोलमोल हैं, और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है।

नये-नये आर्डिनेन्स या नये-नये कानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है, इसी तरह साइकिल पर सवार होना, खास किस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना, पुलिस को रोज अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के कुछ हिस्से में जुर्म समझी जाती हैं। एक काम देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जा सकता है और दूसरे में नहीं। जब एक गैर-जिम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे कानून थोड़े-से-थोड़े नोटिस पर बना दिये जा सकते हैं, तब 'कानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकता है? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राजी से चाहे बेमन से, क्योंकि उसके भंग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख्स का यह कहना कि मैं सदा ही उनका पालन करता रहूंगा, मानो तानाशाही या गैरजिम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को बेच देना है और अपने कार्यों से कभी आजादी पाना असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतन्त्रात्मक देश में महज इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तन्त्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं या नहीं? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नहीं हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम में लाने होंगे। लेकिन जहांतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा कोई वैधानिक साधन ही नहीं है जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्तन करा सकें। यदि श्वेत-पत्र या वैसी ही कोई चीज कानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओं में वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा में सिवा क्रान्ति या गैरकानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नहीं रह जाता। तब हमें करना क्या चाहिए? क्या परिवर्तन की सब आशाओं को तिलांजलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहें?

हिन्दुस्तान में तो आज परिस्थिति और भी विषम होगई है। कार्यकारिणी

हर किस्म के सार्वजनिक कामों पर रोक या बन्दिश लगा सकती है और लगाती है। उसकी राय में जो भी काम उसके लिए खतरनाक है, वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी हैं तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और इस स्थिति को सह लेना किसी तरह मुमकिन नहीं है।

कोई यह नहीं कह सकता कि वह हमेशा और बिला नागा कानून के मुताबिक ही काम करेगा। लोकतन्त्रीय-राज्य में भी ऐसे मौके पैदा हो सकते हैं जब किसीको उसकी अन्तरात्मा उस कानून के खिलाफ चलने के लिए मजबूर करदे। फिर उस देश में तो, जहां स्वेच्छाचारी या निरंकुश शासन हो, ऐसे मौके और भी बारबार आ सकते हैं। वास्तव में ऐसे राज्य में कानून के लिए कोई नैतिक आधार नहीं रह जाता है।

लिबरल लोग कहते हैं—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से, और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते हैं उन्हें सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का गलत सोचना और गलत लिखना हुआ। बाज वक्त सीधा हमला—जैसे मजदूरों की हड़ताल—भी कानूनी हो सकता है। मगर यहां उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी में, जहां कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या गैरकानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहां लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम तो लिया करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके पास फटकने तक की इच्छा नहीं रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बड़े लिबरल नेता हैं, मई, १९३४ में कहा था—"विधान-निर्मात्री सभा की पैरवी करते हुए कांग्रेस जन-समूह की समझदारी पर जरूरत से ज्यादा भरोसा रखती है और उन लोगों की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम न्याय करती है,जिन्होंने भिन्न-भिन्न गोलमेज-कान्फ्रेंसों में भाग लिया है। मुझे तो इस बात में बड़ा शक है कि विधान-निर्मात्री सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-सम्बन्धी धारणा 'जन-समूह' से कुछ अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामजद 'सच्चे और

योग्य' लोगों के जमघट में ज्यादा अच्छी तरह समा जाती है। आगे चलकर वह श्वेतपत्र को अपना आशीर्वाद देते हैं; क्योंकि, यद्यपि वह उससे "पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हैं", "तो भी देश को उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नहीं दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

कांग्रेस के द्वारा सविनय-भंग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलों की ओर से होना स्वाभाविक ही था। और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है जो वे इस बात में अपनी समझदारी मानें कि उन्होंने इस "मूर्खतापूर्ण और गलत आन्दोलन" से अपने को अलग रक्खा। वे हमसे कहते हैं—"हमने पहले ही ऐसा कहा था न?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योंकि जब हम कमर कसकर खड़े हुए, एक करारी लड़ाई लड़ी और हम गिर पड़े; इसलिए हमें यह नसीहत दी जाती है कि खड़ा होना ही गलत था। पेट के बल रेंगना ही सबसे अच्छी और निरापद बात है। क्योंकि, उस पड़े रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिलकुल नामुमकिन है।

५३

हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और अनिवार्य बात थी कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहुसंख्यक पढ़े-लिखे लोग १९ वीं सदी के अन्त तक जान में या अनजान में, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श में विश्वास करते थे। वही आदर्श उनकी दलीलों का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी लक्षणों पर ही वे नुक्ताचीनी करके सन्तुष्ट हो जाते थे। स्कूलों और कॉलेजों में इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढ़ाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमें हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयों और अंग्रेजों के सद्गुणों और उज्ज्वल भविष्य पर जोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोड़े-मरोड़े वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कहीं हमने उसका सहज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमें से निकल ही नहीं सकती थी; क्योंकि हमारे पास न तो दूसरी घटनाएं थीं और न दलीलें। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कोई जाति हमसे बढ़कर नहीं है। हमने अपने दुर्भाग्य और पतन पर इस बात से सन्तोष कर लिया कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नहीं है तो भी अन्दर की वास्तविक चीज है जो उससे कहीं ज्यादा कीमती और रखने लायक निधि है। विवेकानन्द और दूसरों ने तथा पश्चिमी विद्वानों ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रों में जो दिलचस्पी ली उसने हमें कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रति अभिमान का जो भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध में अंग्रेजों के बयानों पर हमें शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। मगर तब भी हम उसी ब्रिटिश विचार-श्रेणी के घेरे में ही सोचते और काम करते

ं। अगर कोई चीज खराब होती तो यह अ-ब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अंग्रेज ने हिन्दुस्तान में खराब बर्ताव किया तो वह उसका कुसूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नहीं। लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन-सम्बन्धी जो आलोचनात्मक सामग्री हाथ लगी उसने, लेखकों का दृष्टि-कोण माडरेट रहते हुए भी,एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्र-वाद को राजनैतिक और आर्थिक पाये पर खड़ा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (भारत में गरीबी और अब्रिटिश शासन) और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्बी आदि की किताबों ने हमारे राष्ट्रीय विचारों के विकास में एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो बहुत प्राचीन काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगों का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बड़े सन्तोष के साथ उन्हें पढ़ते हैं। हमें यह भी पता लगा कि अंग्रेजों के लिखे इतिहासों से हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के कारनामों के बारे में हमारे मन में जो धारणा बन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे हैं।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत में उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके वर्णनों को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हींकी विचारधारा के घेरे में करते थे। उन्नीसवीं सदी के अखीर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्र-वाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलों का और कुछ नरम कांग्रेसियों का भी, जो भावुकता में कभी-कभी आगे बढ़ जाते हैं, लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी उन्नीसवीं सदी में रह रहे हैं, यही हाल है। यही सबब है कि एक लिबरल हिन्दुस्तान की आजादी के भाव ग्रहण करने में असमर्थ है; क्योंकि ये दोनों चीजें मूलतः अनमेल हैं। वह सोचता है कि कदम-ब-कदम मैं ऊंचे पदों पर पहुंचता चला जाऊंगा और बड़ी-बड़ी तथा महत्त्व की फाइलों पर कार्रवाई करूंगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ वह उसका एक धुरा बन जायगा और ब्रिटिश फौज जरूरत के वक्त उसकी रक्षा करने के लिए, बिना ज्यादा दखल दिये, किसी कोने में पड़ी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमीनियन स्टेटस) से उसका यही मतलब है। यह एक बिलकुल वाहियात बात है जो कभी पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि अंग्रेजों-द्वारा रक्षित होने की कीमत है हिन्दुस्तान की गुलामी।

यदि यह मान भी लिया जाय कि गुलामी एक महान देश के आत्म-सम्मान को गिरानेवाली नहीं है तो भी हम दही और मही दोनों एक साथ नहीं खा सकते। सर फ्रेडरिक व्हाइट, जिन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नहीं कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ्यूचर आफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' (पूर्व तथा पश्चिम का भविष्य) में लिखते हैं—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयेगा तो इंग्लैण्ड उसके और सर्वनाश के बीच में आकर खड़ा हो जायगा, और जबतक वह इस धोखे में है तबतक वह खुद अपने स्वराज की भी बुनियाद नहीं डाल सकता।" जाहिर है कि उनकी मंशा उन लिबरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढंग के हिन्दुस्तानियों से है जिनसे उनका साबका हिन्दुस्तान की असेम्बली के अध्यक्ष की हैसियत से पड़ा होगा। कांग्रेस का ऐसा विश्वास नहीं है। तब और आगे बढ़ी हुई दूसरी जमातों का तो जरूर ही नहीं हो सकता। मगर हां, वे सर फ्रेडरिक की इस बात से सहमत हैं कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है और हिन्दुस्तान अपने सर्वनाश का सामना करने के लिए अकेला नहीं छोड़ दिया जाता, यदि सर्वनाश ही उसके भाग्य में बदा है—तबतक वह आजाद नहीं हो सकता। जिसदिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फौज का नियन्त्रण पूर्णरूप से हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आजादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि १९वीं सदी के पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव में आ जांय, लेकिन बड़े ताज्जुब की बात तो यह है कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों और दिल दहला देनेवाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम में पड़े हुए हैं। १९वीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनियां के उन उच्च वर्गों में था, जिनके पास काफी धन-दौलत, हुकूमत और सफलताएं थीं। इस लम्बी सफलता और शिक्षा ने उनमें कुछ श्रीमन्तशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात से अपने को सान्त्वना दे सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुंचने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हें काफी मदद की। वे अपने को—जैसा कि कितनी ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाड़ले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दर्जे और रुतबे को मानते रहे और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी खातिर करेंगे, बशर्ते कि

उससे उनका कुछ नुकसान न हो। लेकिन उनका विरोध करना मानो ईश्वरीय व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आंद्रे सीगफ्रीद ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मजेदार प्रकाश डाला है—

"परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पड़ी हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो रईसाना था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य जाति समझने के भावों का एक अजीब-सा रंग पड़ा हुआ है। यहांतक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दिये जाने पर भी यह ढंग वास्तव में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। सदी के अन्त का नवयुवक समुदाय शुरू से ही यह विश्वास करने लगा कि यह सफलता उसका हक है।

"घटनाओं (के रहस्य) को समझने के इस ढंग पर जोर देना इसलिए दिलचस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, खासकर इस नाजुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियाएं स्पष्ट हो जाती हैं। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज जाति इन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं में ही ढूंढ़ने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरुआत सदा किसी दूसरे के कुसूर से होती है और अगर यह (कुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राजी हो जाय तो इंग्लैण्ड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त कर ले··· (अंग्रेज जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि खुद तो न बदलें, लेकिन दूसरे बदल जांय।"

सारे जगत् के प्रति अंग्रेजों का यदि यह आम रवया है तो हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा प्रकट है। अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान के मसलों को जिस तरह हल करना चाहते हैं, वह कुछ आकर्षक तो है, मगर है भड़कानेवाला। शान्ति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी जिम्मेदारी बहुत योग्यता के साथ निबाही है, अपनी जाति की भवितव्यता और अपने तर्ज के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिकों और पापियों पर क्रोध और घृणा—इन भावों की तह में एक किस्म का धार्मिक जोश दिखाई देता था।

मध्यकालीन रोमन कैथलिक धर्म-विचारकों की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए हमारे उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार में रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ,देश को ब्रिटिश योजनाओं के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश सांचे में ढालना हो गया। जितना ही ज्यादा हम ब्रिटिश आदर्शों और ध्येयों को मानते जांयगें उतना ही ज्यादा हम स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जांयगे। ज्योंही हम इस बात की गारंटी दे दें और यह दिखला दें कि हम अंग्रेजों की इच्छा के अनुसार ही अपने को मिली हुई आजादी का उपयोग करेंगे, त्योंही आजादी हमारे पास आ जायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के इस कच्चे चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज एक मत न होंगे। और शायद यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफसर, यहांतक कि भारतमन्त्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खींचते हैं और ऐसी बातें कहते हैं जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नहीं होती, तो एक बड़ा धक्का लगता है। यह कितने असाधारण आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगों को छोड़कर अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान के बारे में बेखबर हैं। जबकि हकीकतें ही उनकी पहुंच के बाहर हैं तब हिन्दुस्तान की आत्मा तो उनकी पहुंच के कितने परे होगी ? उन्होंने हिन्दुस्तान के शरीर पर अधिकार कर तो लिया पर वह अधिकार बलात्कार का था। वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। उन्होंने कभी उसकी आंख से आंख नहीं मिलाई। वह मिलाते भी कैसे ? क्योंकि उनकी तो आंखें फिरी हुई थीं और उसकी शर्म व जिल्लत से झुकी हुई थीं। सदियों के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते हैं, तो अब भी अजनबी-से बने हुए हैं और दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए हैं।

घोर अध:पतन और दरिद्रता होते हुए भी हिन्दुस्तान में काफी शालीनता और महानता है। और हालांकि वह पुरानी परम्परा और मौजूदा मुसीबतों से काफी दबा हुआ है और उसकी पलकें थकान से कुछ भारी मालूम होती हैं, फिर भी "अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके

अणु-परमाणु में अद्भुत विचारों, स्वच्छन्द कल्पनाओं और उत्कृष्ट मनोभावों की झलक दिखाई देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर में अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा में वह कई युगों से होकर गुजरा है, और रास्ते में उसने बहुत ज्ञान और अनुभव संचित किया है, दूसरे देशवासियों से देन-लेन किया है, उन्हें अपने बड़े कुटुम्ब में मिला लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे हैं, बड़ी-बड़ी जिल्लतें उठाई हैं, महान् दुःख झेले हैं और कई अद्भुत दृश्य देखे हैं; लेकिन अपनी इस सारी लम्बी यात्रा में उसने अपनी अति प्राचीन संस्कृति को नहीं छोड़ा है। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगों को उसका स्वाद भी चखाया है। घड़ी के कांटे की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारों से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुंचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये हैं और उसे नरक-कुण्ड में गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दुःखदाई अन्धविश्वासों और पतनकारी रस्म-रिवाजों के बावजूद, जोकि उसमें घुस आये हैं और जिन्होंने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस आदर्श को अपने हृदय से कभी नहीं भुलाया जो उसकी कुछ ज्ञानी सन्तानों ने इतिहास के उषा-काल में उसके लिए उपनिषदों में संचित कर दिया था। उसके ऋषियों की कुशाग्रबुद्धि सदा खोज में लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध में व्याकुल रहती थी। वह जड़ सूत्रों को पकड़कर नहीं बैठी रही और न लुप्तप्राय विधि-विधानों, ध्येय-वचनों और निरर्थक कर्म-काण्डों में ही डूबी रही। न तो उन्होंने इस लोक में खुद अपने लिए कष्टों से छुटकारा चाहा, न उस लोक में स्वर्ग की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश मांगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा; मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा; मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[1] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री-मन्त्र—में जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते हैं, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालांकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकड़े-टुकड़े होते रहे हैं, लेकिन

---

[1] 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-मान्य संस्कृति की रक्षा की है और उसकी विविधताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है।[१] सभी पुराने देशों की तरह इसमें भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पड़ता था; लेकिन सड़ायन्ध जाहिर थी और सूरज की कड़ी और निठुर धूप ने उसे दुनिया के सामने प्रकट कर दिया।

इटली और भारतवर्ष में कुछ समता है। दोनों प्राचीन देश हैं और दोनों की संस्कृति भी पुरानी है, हालांकि हिन्दुस्तान के मुकाबले में इटली जरा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनों के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं। लेकिन इटैलियनों की यह भावना कि हम 'इटैलियन' हैं, हिन्दुस्तानियों की तरह कभी नहीं मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधों में एकता ही मुख्य रही। इटली में वह एकता अधिकांश रोमन एकता थी, क्योंकि उस विशाल नगर का उस देश में बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का श्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान में ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नहीं रहा। हालांकि काशी को पूर्व की मोक्षपुरी कह सकते हैं—हिन्दुस्तान के ही लिए नहीं बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी; लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर में पड़ने की कोशिश नहीं की। सारे हिन्दुस्तान में भारतीय संस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को संस्कृति का केन्द्र नहीं कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय में अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारिका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारों का प्रचार था और यदि

---

[१] "हिन्दुस्तान में सबसे बड़ी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समाई हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती, क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बांधने के रूप में इतिहास में उसने अपने को प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह कुबूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ्यूचर आफ ईस्ट और वेस्ट' में सर फ्रेडरिक व्हाइट।

किसी एक जगह में विचारों का विरोध होता तो उसकी प्रतिध्वनि देश के दूर-दूर
हिस्सों तक पहुंच जाती थी।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी यूरप को धर्म और संस्कृति की भेंट दी, उसी
प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को संस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालांकि
चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब,
जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित पड़ गया था, उसी की संस्कृति
का यूरप में बोलबाला था।

मेटर्निख[1] ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है; कितने ही
भावी मेटर्निखों ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह
भी एक अजीब-सी बात है कि दोनों देशों की भौगोलिक स्थिति में भी समता है।
लेकिन इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है। क्योंकि
बीसवीं सदी के इंग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवीं सदी के मगरूर, हठी और प्रतापी
उस आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ों ने उसे ताकत
दी थी वे सिकुड़ रही थीं और उस जबरदस्त वृक्ष में पतन के कीटाणु घुसकर उसे
खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को मानव-रूप में मानने की प्रवृत्ति को कोई
रोक ही नहीं सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड़ गई है और पहले के संस्कार
भी ऐसे ही हैं। भारत 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही
वृद्ध होते हुए भी देखने में युवती, जिसकी आंखों में दुःख और शून्यता भरी हुई,
विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और प्रपीड़ित और अपने पुत्र-पुत्रियों
को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र
हजारों लोगों की भावनाओं को उभाड़ देता और उनको कुछ करने और कुर्बान
हो जाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यतः उन किसानों

---

[1] मेटर्निख १८०७ से १८४८ तक आस्ट्रिया का प्रधान मन्त्री था। यह
प्रगति-विरोधी और अराष्ट्रीयता की प्रत्यक्ष मूर्ति था और अपनी चाणक्य-नीति
से जर्मनी और इटली को आस्ट्रिया के पंजे में इसने बहुत दिनों तक रखा था।
नेपोलियन के पतन के बाद कोई २० साल तक मेटर्निख का डंका यूरप में बजता
था। १८४८ में जब जगह-जगह बलवे हुए तब उसका अन्त हुआ।

और मजदूरों का देश है, जिनका चेहरा खूबसूरत नहीं है, क्योंकि गरीबी खूबसूरत नहीं होती। क्या वह सुन्दर स्त्री जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नंगे बदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतों और कारखानों में काम करनेवाले किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करती है ? या वह उन थोड़े से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से जनता को कुचला और चूसा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये हैं और उनमें से बहुतों को अछूत तक करार दे दिया है ? हम अपनी काल्पनिक सृष्टि से सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत से अपने को बचाकर सपने की दुनिया में विचरने का प्रयत्न करते हैं।

मगर इन अलग-अलग जात-पांत और उनके आपसी संघर्षों के होते हुए भी उन सबमें एक ऐसा सूत्र था जो हिन्दुस्तान में सब को एक साथ बांधे हुए था, और उसकी दृढ़ता और शक्ति देखकर दांतों अंगुली दबानी पड़ती है। इस शक्ति का क्या कारण था ? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जड़ता और परम्परा का प्रभाव ही नहीं था, हालांकि यों तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नहीं थी। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व था, क्योंकि उसने जोरदार बाहरी प्रभावों का सफलता-पूर्वक प्रतिकार किया है और जो-जो भीतरी ताकतें उसके मुकाबले के लिए उठ खड़ी हुईं उन्हें आत्मसात् कर लिया। और फिर भी, इस सारी ताकत के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को कायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका। ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बातें इतना परिश्रम करने योग्य नहीं जान पड़ीं। उनके महत्त्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इससे हमें बड़ी हानि उठानी पड़ी है। सारे इतिहास में भारत के प्राचीन आदर्श में कहीं भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नहीं किया गया। वह धन-सम्पत्ति को और धन कमानेवाले वर्गों को घृणा की दृष्टि से देखता था; सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनों एक साथ नहीं रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त में, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए।

यों तो पुरानी संस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफानों और बवण्डरों में भी अपने को जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप कायम रख छोड़ा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और

जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्तिमान् प्रतिद्वन्द्विनी पश्चिम की बनिया संस्कृति से लड़ रही है। वह इस नवागन्तुक संस्कृति से परास्त हो जायगी, क्योंकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखों भूखों को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयों का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सब के हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त। यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नहीं है; लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, वर्गों और समूहों को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नहीं) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिबास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिबास तो चिथड़े-चिथड़े हो गया है, तो उसे उसमें इस तरह काटछांट करनी पड़ेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थाएं और पुराने विचार दोनों का मेल साध सके। जिन विचारों को वह ग्रहण करे वे अवश्य उसकी भूमि के समरस हो जाने चाहिएं।

नियों को पहुंचाई जानेवाली बड़ी-से-बड़ी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा बरसों में हिन्दुस्तान में जो परिवर्तन हुए हैं वे संसारव्यापी हैं, और वे पूर्व और पश्चिम के अधिकांश देशों में समान रूप से हुए हैं। पश्चिमी यूरप में, और इसके बाद बाकी के देशों में भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ़ एकछत्र राज्य-सत्ता का उदय हुआ। अंग्रेज लोग इस बात का श्रेय ले सकते हैं कि उन्होंने पहली बार भारतवर्ष का द्वार पश्चिम के लिए खोला और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया। परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोंटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज आने के लिए उन्हें मजबूर नहीं कर दिया। हिन्दुस्तान तो पहले ही दो संस्कृतियों का सम्मिलन-क्षेत्र था; एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की संस्कृति और दूसरी स्वयं उसकी पूर्वी संस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी। और सुदूर पश्चिम से एक तीसरी और अधिक जोरदार लहर आई, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारों का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया। इसमें शक नहीं कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालों को हल कर देती, लेकिन अंग्रेजों ने, जो खुद इस लहर को लाने में सहायक हुए थे, इसकी प्रगति रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने हमारी औद्योगिक उन्नति रोक दी और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति में बाधा डाल दी, और जितनी पुरानी मांडलिकशाही या दूसरी पुरानी रूढ़ियां उन्हें यहां मिलीं उन सबका उन्होंने पोषण किया। उन्होंने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हदतक प्रगतिशील, कानूनों और रिवाजों तक को भी जिस स्थिति में पाया उसी स्थिति में जमा दिया और हमारे लिए उनकी जंजीरों से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया। हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग का उदय कोई इन लोगों की सद्भावना या सहायता से नहीं हुआ। परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणों का प्रचार करने के बाद वे परिवर्तन की गति को बन्द नहीं कर सके; वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने में ही समर्थ हुए और इससे उन्हें स्पष्ट रूप से लाभ हुआ।

"भारतीय-शासन की शाही इमारत इसी पुख्ता नींव पर खड़ी की गई है और बड़े निश्चय के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से, जबकि ईस्ट-

इण्डिया कम्पनीके सारे प्रदेश पर सम्राट की हुकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-सम्बन्धी और भौतिक उन्नति उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।"[1] लेकिन यह बात इतनी सही नहीं मालूम होती जैसी कि ऊपर से मालूम होती है और यह बार-बार कहा गया है कि अंग्रेजी राज्य का उदय होने से साक्षरता में तो दरअसल कमी आगई है। लेकिन यह कथन बिलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युगकी प्राचीन युगों से तुलना करना। विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के करीब-करीब सभी देशों में, पिछली सदी में, बहुत अधिक शिक्षा-सम्बन्धी और भौतिक उन्नति हुई है, और ऐसे किसी भी देश के बारे में यह यकीनन् कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।" हालांकि शायद उस देश का इतिहास भारत के इतिहास से पुराना हो। अगर हम यह कहें कि इस तरह की उन्नति हमको इस औद्योगिक युग में ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फिजूल का ही झगड़ा या जिद है? और सचमुच में अगर हम बहुत-से दूसरे देशों की हालत से अपनी हालत का मुकाबला करें तो क्या हम यह कहने का साहस न करें कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा होती? क्योंकि हमें अंग्रेजों के उस प्रयत्न का भी तो सामना करना पड़ा है जो उन्होंने इस उन्नति का गला घोंटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि अंग्रेजी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नहीं माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूंकि अंग्रेज लोग संयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमें उनका अहसानमन्द होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास खासतौर पर ब्रिटिश राज्य को मजबूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसें और नाडियां थीं जिनमें होकर राष्ट्र के खून को बहना चाहिए था, जिससे व्यापार की तरक्की होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाई जाती, और करोड़ों मनुष्यों को नई जिन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि अखीरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलता हो, लेकिन

[1] ज्वाइण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी (१९३४) की रिपोर्ट।

इन्हें जमाने और काम में लाने का मकसद ही दूसरा था—साम्राज्य के पंजे को मजबूत करना और अंग्रेजी माल का बाजार पर कब्जा जमाना—जिसके पूरा करने में ये लोग कामयाब भी हो गये। मैं औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीकों के बिलकुल पक्ष में हूं, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान में सफर करते हुए, मुझे यह जीवनदाई रेल भी लोहे के बन्धनों के समान मालूम पड़ी हैं, जो भारतवर्ष को जकड़े और बन्दी बनाये हुए हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजों ने अपने शासन का आधार पुलिस-राज्य की कल्पना पर रक्खा है। शासन का काम तो सिर्फ सरकार की रक्षा करना था और बाकी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और कर्ज के ब्याज से था। नागरिकों की आर्थिक जरूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितों पर कुर्बान कर दी जाती थी। जनता की सांस्कृतिक और दूसरी आवश्यकताएं, कुछ थोड़ी-सी को छोड़कर, सब ताक पर रख दी जाती थीं। सार्वजनिक स्वराज की परिवर्तनशील धारणाएं, जिनके फलस्वरूप अन्य देशों में निःशुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और जर्जर व्यक्तियों का पालन, श्रमजीवियों की बीमारी, बुढ़ापे तथा बेकारी के लिए बीमा आदि बातें जारी हुईं, लगभग सरकार की कल्पना से बाहर की बातें थीं। वह इन खर्चीले कामों में नहीं पड़ सकती थी, क्योंकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा अधिक आमदनीवालों की बनिस्बत कम आमदनीवालों से अनुपात में अधिक कर वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक खर्च था कि यह करीब-बरीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेजी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ ऐसी ही बातों पर ध्यान दिया जाय जिनसे मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक कब्जा मजबूत हो। बाकी सब बातें गौण थीं। अगर उन्होंने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-दल की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते हैं, लेकिन भारतवासी इनके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सकें। एकता चीज अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बड़ा भारी बोझ बन सकता है; और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओं में

निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगों की वह रक्षक मानी जाती है, उन्हींके खिलाफ खड़ी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बर्ट्रेण्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना यूनान की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही में लिखा है—"हमारी सभ्यता के मुकाबले यूनान की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चंगुल से बचा सकते थे।"

भारत में अंग्रेजों के आधिपत्य से हमें शान्ति मिली है। हिन्दुस्तान को मुगल-साम्राज्य के भंग होने के पश्चात् होनेवाले कष्टों और संकटों के बाद शान्ति की जरूरत भी थी, इसमें शक नहीं। शान्ति एक बड़ी मूल्यवान वस्तु है, जो किसी भी तरह की उन्नति के लिए आवश्यक है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसके मूल्य की भी एक सीमा होनी चाहिए। अगर वह किसी भी मूल्य पर खरीदी जायगी तो हमें जो शान्ति मिलेगी वह स्मशान-शान्ति होगी। और उसके जरिये हमें जो हिफाजत मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलखाने की हिफाजत। या वह शान्ति ऐसे लोगों की विवश निराशा हो सकती है जो अपनी उन्नति करने के काबिल न रहे हों। विदेशी विजेता की स्थापित की हुई शान्ति में वे विश्रामप्रद और सुख-दायक गुण मुश्किल से पाये जाते हैं जो सच्ची शान्ति में होते हैं। युद्ध बड़ी भयंकर चीज है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणों को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, संगठन, शक्ति, दृढ़ता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, शोधक-बुद्धि, मितव्ययता, शारीरिक आरोग्य और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूपान्तर तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयंकरता के बिना ही किसी जाति में इन गुणों को उत्तेजना दे। अगर उन्हें असहयोग और सविनय-भंग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शान्तिमय रूपान्तर मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओं पर विचार करना फिजूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान यूरप के सम्पर्क में आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बड़ी भारी देन है और हिन्दुस्तान में इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर

भी शायद सिर्फ जोर-जोर की लगातार टक्करें ही हमें गहरी नींद से जगा सकती थीं। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेण्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्ली-सेक्सन अंग्रेज लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योंकि अन्य पश्चिमी जातियों की बनिस्बत उनमें और हमारे में बहुत ज्यादा फर्क था और वे हमें अधिक जोर की टक्कर लगा सकते थे।

उन्होंने हमें राजनैतिक एकता दी, जो एक वाञ्छनीय वस्तु थी, पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढ़ती ही और इस प्रकार की एकता का तकाजा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख्तलिफ रियासतों में बंटा हुआ है जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि हैं। लेकिन उन सबमें एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड़ रही है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियां उसके मार्ग में बाधक न हों तो राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा है, इन शक्तियों का इरादा यही रहता है कि झगड़ालू प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्याएं पैदा कर दी जांय जिससे राष्ट्रीयताका जोश ठंडा पड़ जाय और कुछ अंश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष पंच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की वृद्धि के घुणाक्षर न्याय से प्राप्त हुई है। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्यको चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और साम्प्रदायिकता के जान-बूझकर बढ़ाये जाने के दृश्य आने लगे जो हमारी भावी उन्नति के मार्ग में जबरदस्त रोड़े हैं।

अंग्रेजों को यहां आये हुए कितना लम्बा अर्सा हो गया, उन्हें अपना प्रभुत्व स्थापित किये पौने दो सौ वर्ष हो गये! स्वेच्छाचारी शासकों की भांति वे मन-चाही करने में स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्जी के मुताबिक ढालने का उनके पास काफी सुन्दर मौका था। इन वर्षों में संसार इतना बदल गया है कि पहचाना नहीं जा सकता—इंग्लैण्ड, यूरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये हैं। अठारहवीं सदी के अटलाण्टिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान्, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान में सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये हैं, जापान में थोड़े से ही समय में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है, रूस के विशाल प्रदेश में, जहां अभी कल

तक ही जार के शासन का फौलादी पंजा सब प्रकार की उन्नतियों का गला दबा रहा था, आज नवजीवन लहलहा रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खड़ी हो गई है। हिन्दुस्तान में भी बड़े भारी परिवर्तन हुए हैं और अठारहवीं शताब्दी की अपेक्षा आज का देश उससे बहुत भिन्न है—रेलें, नहरें, कारखाने, स्कूल और कॉलेज, बड़े-बड़े सरकारी दफ्तर आदि बन गये हैं।

और फिर भी, इन परिवर्तनों के बावजूद आज हिन्दुस्तान की क्या अवस्था है? वह एक गुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजड़े में बन्द कर दी गई है, जो खुलकर सांस लेने की भी हिम्मत नहीं कर सकता, जो बहुत दूर रहनेवाले विदेशियों द्वारा शासित है; जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोड़ी उम्र में मरनेवाले और रोगों तथा महामारियों से अपने-आपको बचाने में असमर्थ हैं, जहां अशिक्षा चारों ओर फैली हुई है, जहां के बहुत बड़े-बड़े प्रदेश हर तरह की सफाई या चिकित्सा के साधनों से रहित हैं, जहां मध्यमवर्ग और सर्वसाधारण दोनों में बड़े भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि 'स्वाधीनता', 'जनसत्तावाद', 'समाजवाद', 'साम्यवाद' आदि अव्यावहारिक आदर्शवादियों, सिद्धान्तवादियों अथवा धोखेबाजों की पुकार है, असली कसौटी तो समस्त जनता की भलाई होनी चाहिए। यह वास्तव में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कसौटी है, लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशों में बेकारी कम करने तथा कष्टों को दूर करने की बड़ी-बड़ी योजनाओं की बातें पढ़ते हैं, लेकिन हमारे यहां के करोड़ों बेकारों और चारों ओर स्थायी रूप से फैले हुए घोर कष्टों को कौन पूछता है? हम दूसरे देशों की गृह-योजनाओं के विषय में भी सुनते हैं लेकिन हमारे यहां के करोड़ों मनुष्यों के पास, जो कच्ची झोंपड़ियों में रहते हैं या जिनके पास रहने तक को जगह नहीं, मकान कहां हैं? क्या हमें दूसरे देशों की हालत से ईर्ष्या न होगी जहां शिक्षा, सफाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सांस्कृतिक सुविधाएं, और पैदावार बड़ी शीघ्रता से उन्नति कर रही है, जब कि हम लोग जहां थे वहीं खड़े हुए हैं या बड़ी दिक्कत के साथ चींटी की तरह रेंग रहे हैं? रूस ने बारह साल के थोड़े-से समय में ही आश्चर्यजनक प्रयत्नों से अपने विशाल देश की अशिक्षा का करीब-करीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की एक सुन्दर और आधुनिक प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछड़े हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में देश-

व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग में बहुत लम्बा कदम बढ़ाया है। फासिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ में ही जोरों से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेण्टाइल ने आवाज उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोड़ा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सड़ा रहा है, गरम लोहे से दाग दिया जाना चाहिए।" ड्राइंग रूम में बैठकर बातें करने में ये शब्द भले ही कठोर मालूम हों, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह में रहनेवाली दृढ़ता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र हैं और बहुत चिकने-चुपड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हम लोग खूब फूंक-फूंककर कदम रखते हैं और अपनी तमाम शक्तियों को कमीशनों और कमेटियों में बरबाद कर देते हैं।

हिन्दुस्तानियों पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बातें तो बहुत ज्यादा करते हैं पर काम जरा भी नहीं। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अंग्रेजों की ऐसी कमेटियों और कमीशनों की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करें जिनमें से हरेक, बड़े परिश्रम के बाद एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—'एक महान् सरकारी खरीता"—तैयार करता है, जो बाकायदा तारीफ किये जाने के बाद दाखिल-दफ्तर कर दी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढ़ाने का, प्रगति का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वहीं-के-वहीं हैं। सम्मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते हैं। दूसरे देश यह सोचते हैं कि किस तरह आगे बढ़ें; हम रुकावटों, अटकावों और संरक्षणों का विचार करते हैं कि कहीं जरूरत से ज्यादा तेज न चलने लगें।

"शाही शान-शौकत रिआया की गरीबी का पैमाना बन गई"—मुगल साम्राज्य के बारे में यह बात हमको (ज्वाइण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी १९३४ के द्वारा) बतलाई जाती है। यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम में नहीं ला सकते? आज यह वाइसराय की शान-शौकत और तड़क-भड़क सहित नई दिल्ली और प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की गरीबी। यह परस्पर विरोध दिल को चोट पहुंचाता है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बर्दाश्त कर सकते हैं। तमाम शाही-वैभव के पीछे आज हिन्दुस्तान में एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय दृश्य है। शाही शान-शौकत पेबन्द लगाकर दिखावट के लिए खड़ी कर दी गई है, लेकिन इसके

पीछे निम्न मध्यमवर्ग के दुखी लोग हैं, जो जमाने की हालतों से पिसते ही चले जा रहे हैं। इनके भी पीछे मजदूर लोग हैं, जो पीस डालनेवाली गरीबी में कम-बख्ती की जिन्दगी बसर कर रहे हैं और इनके बाद जो हिन्दुस्तान के प्रतीक—किसान लोग हैं जिनके भाग्य में "अनन्त अन्धकार में रहना" ही लिखा है।

"आह ! पीठ पर ले कितनी सदियों का भारी भार,
झुका खड़ा अपने हल पर धरती को रहा निहार !!
युग-युग का सूनापन उसके ही मुंह पर लो देख,
सिर पर उसके और बोझ बन बैठा है संसार !!!

× × ×

झांक रही ठठरी से युग-युग की पीड़ा दुर्दान्त,
झुकना है या महाकाल का यह इतिहास दुखान्त
रोती है स्रष्टा से दुखड़ा—यही भविष्यद्वाक् !
ठगी-लुटी, पीड़ित-अपमानित मानवता आक्रान्त !"[१]

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफों का दोष अंग्रेजों के सिर मढ़ना ठीक नहीं होगा। इसकी जिम्मेदारी तो हमको अपने ही कन्धों पर लेनी पड़ेगी और उससे हम बच भी नहीं सकते; अपनी कमजोरी के अनिवार्य परिणामों के लिए दूसरों को दोष देना अच्छा नहीं मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, खासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली जरूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टि-कोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवकों की सबसे उत्तम प्रवृत्तियों—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, तेजस्विता—को पीस डालना, और काम से जी चुराना, लकीर के फकीर बने रहना और अफसरों की कदमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्व-जनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नहीं होती; यह तो ऐसे लोगों को छांट लेती है जिनमें सेवा के भाव बहुत कम हों और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से जिन्दगी बसर करना हो। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज लोग कैसे व्यक्तियों

---

[१]अमेरिका के कवि ई० मारखम "The man with the Hoe" **(फावड़ेवाला आदमी) नामक कविता के एक अंश का भावानुवाद।**

को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इनमें से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक होते हैं। ये लोग दूसरी जगह मौका न मिलने के कारण सरकारी या अर्द्ध सरकारी नौकरियों में पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते हैं और उस बड़ी मशीन के पुर्जेमात्र बन जाते हैं; उनके दिमाग काम के सुस्त ढर्रे में क़ैद हो जाते हैं। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का खूब अच्छा ज्ञान और दफ्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते हैं। सावजनिक सेवा में ज्यादा-से-ज्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहां न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य में यह सम्भव ही नहीं है।

लेकिन इनके अलावा, अधिकतर छोटे-मोटे अफसर भी किसी तारीफ के काबिल नहीं होते, क्योंकि उन्होंने तो सिर्फ अपने बड़े अफसरों की कदमबोसी करना और अपने मातहतों को डांटना ही सीखा है। इसमें उनका कुसूर नहीं है। यह शिक्षा तो उन्हें शासन-प्रणाली से मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारों के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमें ताज्जुब ही क्या है? नौकरी में उनका कोई आदर्श नहीं रहता; उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखों मरने के डर का भूत लगा रहता है, और उनकी खास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी से चिपके रहें और अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए और दूसरी नौकरियां प्राप्त करें। जहां भेदिया, और सबसे ज्यादा घृणित जीव, मुखबिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते हैं, वहां लोगों में अधिक वाञ्छनीय गुणों की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओं ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोंवाले व्यक्तियों के लिए सरकारी नौकरी में घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती ही नहीं और वे भी उससे उस समय तक घनिष्ट सम्बन्ध रखना नहीं चाहते जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जांय।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरों पर है, कालों पर नहीं। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरियां और उनके विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए संरक्षणों की हमारे यहां भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब हैं हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊंची नौकरियों के स्पष्ट हितों और उन्नति के साथ बंधा हुआ है। हमसे कहा जाता

है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊंचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तजामी और रिश्वतखोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिजर्व की हुई नौकरियां कम कर दी गईं तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए खतरनाक" हो जाती है! और हां, अगर फौजों में अंग्रेजों की संख्या पर हाथ लगाया गया तो दुनियाभर के भयंकर खतरे हमारे सामने आ जाते हैं।

मेरा खयाल है कि इस बात में कुछ सचाई है कि अगर ऊंचे अफसर यकायक चले गये और अपने महकमों को मातहतों के भरोसे छोड़ गये तो इन्तजाम में कमी जरूर आयेगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बनाई गई है, और मातहत लोग किसी हालत में भी कोई बहुत लायक नहीं हैं, न उनके कन्धों पर कभी जिम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान में अच्छी सामग्री बहुतायत से पड़ी हुई है और वह थोड़े ही समय में मिल भी सकती है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम में लाये जांय। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ होता है एक नई राज्य व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान में चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आवें, हमारी देखरेख करनेवाला और हमें आश्रय देनेवाला बड़ी-बड़ी नौकरियों का मजबूत ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढ़तम रहस्यों को जानने और दूसरों को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उसकी रक्षा करेंगे और अनधिकारी लोगों को उस पवित्र प्रांगण में न घुसने देंगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपने को उसके योग्य बनाते जांयगे, वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे परदे हमारे सामने से उठाते जांयगे, और इस तरह अन्त में किसी सुदूर भविष्य में अन्तर्कपाट खुलेंगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धायुक्त आंखों के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खड़ी दिखाई देगी।

इन शाही नौकरियों में सबसे ऊंचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या लानत ज्यादातर इसी को मिलनी चाहिए। हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक गुण बतलाये जाते हैं। साम्राज्य की योजना में इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा बन गया है। हिन्दुस्तान में इसकी सर्वमान्य अधिकारपूर्ण स्थिति और उससे उत्पन्न

स्वेच्छाचारिता और पर्याप्त परिमाण में मिलनेवाली तारीफ और वाहवाही, ये सब किसी भी व्यक्ति या समुदाय के दिमागको स्थिर रखने के लिए बहुत अच्छी चीजें नहीं हो सकतीं। इस सर्विस के लिए प्रशंसा के भाव रखते हुए भी मुझे संकोच के साथ स्वीकार करना पड़ता हैं कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही तरह, यह उस पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी, अपनी महत्ता के उन्माद की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की इच्छाओं से इन्कार करना फिजूल है, क्योंकि हमें इनको भूलने ही नहीं दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे में इतनी निरर्थक बातें कही गईं और कही जाती हैं कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोड़ी-सी कलई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेबलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गों को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे खयाल से, इण्डियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियों को भी 'सुरक्षित नौकरियां' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा। यह एक बड़ी खर्चीली ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर रह चुके हैं और हिन्दुस्तान के मामलों में बहुत दिलचस्पी लेते हैं, कुछ दिन हुए, 'माडर्न-रिव्यू' में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने बताया था कि "अभीतक इस बात पर किसीने आपत्ति नहीं की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार कारगर चीज है।" चूंकि इसी प्रकार की बातें इंग्लैण्ड में अक्सर कही जाती हैं और उन पर विश्वास किया जाता है, इसलिए इसकी परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही में काटे जा सकें, हमेशा खतरनाक होता है और मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल गलत है कि इस बात पर कभी किसी ने एतराज नहीं किया। इसको तो बार-बार चुनौती दी गई है और ठीक नहीं माना गया है, और काफी अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में बहुत-सी कडुवी बातें कही थीं। औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—वह कांग्रेसमैन हो या न हो—मेजर ग्रैहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नहीं हो सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनों कुछ अंश तक ठीक हों और भिन्न-भिन्न गुणों को दृष्टि में रखकर सोचते हों। आखिर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मजबूत बनाये रखने और देश को

चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस जरूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और अब भी ज्यादा जाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढंग के लिहाज से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फर्ज है और दरअसल जिसके ह्रास से इसकी इतनी लम्बी-चौड़ी तनख्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आमतौर पर इस सर्विस ने अपना एक खास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालांकि वह स्टैण्डर्ड लाजिमी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले हैं। ऐसी किसी सर्विस से ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती। इसके अन्दर लाजिमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को लिये हुए इंग्लैण्ड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी (हालांकि इण्डियन सिविल सर्विसके बहुत-से अफसर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं)। हालांकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के खास गुण रोजमर्रा के नीरस काम-काजों में, और कुछ इस डर में कि कहीं दूसरों से भिन्न न नजर आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवाके भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कहीं दूसरे नम्बर में आता था। जिस तरह की तालीम उन्हें मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ ऐसा ही कह सकते थे। चूंकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक खास स्टैण्डर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तकाजा था। और चूंकि उनको मनमानी करने के खूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज होते थे और उसे बड़ा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और गैर-जिम्मेदार राज्य-शासकों के बहुत-से दुर्गुण उनके अन्दर भरते जाते थे। वे अपने ही में सन्तुष्ट रहते और किसी दूसरे की कुछ आवश्यकता नहीं समझते

थ। उनके दिमाग संकीर्ण और गढ़े-गढ़ाये थे, जो परिवर्तनशील संसार में भी अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्यता और बुद्धि रखनेवाले व्यक्ति हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो ये लोग नाराज होते, उन्हें खरी-खोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोड़े अटकाते। जब यूरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्तनों ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न कर दी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने-आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और संकीर्ण शिक्षा ने उन्हें ऐसी संकटापन्न और नवीन परिस्थितियों के योग्य नहीं बनाया था। लम्बे अर्से तक गैर-जिम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड़ चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको करीब-करीब बिलकुल निरंकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिस पर सिर्फ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमें बिगाड़ देती है, और पूर्णप्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड़ देती है।"

मामूली तौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे में विश्वासपात्र अफसर होते थे, जो अपना रोजमर्रा का काम काफी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमें प्रवीणता नहीं होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक होजानेवाली घटना उन्हें घबरा देती थी। हालांकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी कायदे के साथ काम करने की आदतें और उनकी आन्तरिक एकता उनको तात्कालिक कठिनाइयों पर विजय पाने में सहायता देती थी। मेसोपोटामिया में दी गई मशहूर गड़बड़ ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जड़ता का भण्डा-फोड़ कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गड़बड़ें जाहिर ही नहीं होने पाती हैं। सविनय-भंग के प्रति इन्होंने जो वृत्ति दिखलाई वह कुढंगी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोड़ी देर के लिए दुश्मनों से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नहीं होता। और श्रेष्ठता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसी की जड़ पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होंने एक बढ़ने वाले और तेज-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुकाबला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योंकि साम्राज्यों का आधार हिंसा ही है और विरोध का मुकाबला करने के लिए उन्हें दूसरा तरीका ही नहीं सिखाया

था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल काबू नहीं रहा था, और में वह आत्म-संयम और निग्रह नहीं रह गया था जो साधारण अवस्थाओं में में रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक तव्यों में भी फिजूल बकवास नजर आती थी। और बहुत दिनों तक रहनेवाला रा विश्वास जाता रहा था। खतरा बड़ी बेरहमी से हम सब की पोल खोल देता है र हमारी अन्दरूरी कमजोरियों का भंडाफोड़ कर देता है। सविनय-भंग एक सा ही खतरा और ऐसी ही परीक्षा थी और लड़नेवाले दोनों दलों—कांग्रेस या रकार—में से कोई भी इस परीक्षा में पूरा नहीं उतरा। मि० लायड जार्ज हते हैं कि खतरे के समय में ऊंचे दर्जे की दिमागी ताकत रखनेवाले पुरुष और त्रयों की संख्या बहुत कम मिलती है, और "बाकी लोगों की खतरे में कोई गिनती हीं। छोटी-छोटी पहाड़ियां, जो सूखे मौसम में उभरी हुई-सी दिखाई पड़ती हैं, र की बाढ़ में फौरन डूब जाती हैं, जबकि सिर्फ उससे ऊंची चोटियां ही पानी ो सतह के ऊपर नजर आती हैं।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इण्डियन सिविल सर्विस के लोग दिल और माग से तैयार न थे। उनमें से बहुतों की आरम्भिक शिक्षा पुराने जमाने की थी, सकी वजह से उनमें कुछ संस्कृति और कुछ व्यवहार-प्रियता बनी हुई थी। नका पुरानी दुनिया का रुख था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन ाधुनिक अवस्थाओं में उसका कोई स्थान न था। वे लोग स्वनिर्मित एक संकुचित र परिमित 'ऐंग्लो इण्डियन' संसार में निवास करते थे, जो न इंग्लैण्ड था और हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज में जो शक्तियां काम कर रही थीं उनकी कदर कर ही नहीं सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की पनी मजेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे में कुछ नहीं जानते थे, और नये ग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे में तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियों ी योग्यता का अन्दाजा उन चापलूसों और नौकरी के उम्मीदवारों से करते थे ो उनको घेरे रहते थे, और बाकी लोगों को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज हकर उड़ा देते थे। लड़ाई के बाद होनेवाले संसार-व्यापी और खासकर आर्थिक ेत्र के परिवर्तनों का उन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक में फंसे ए थे कि परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बना नहीं सकते थे।

वे इस बात को महसूस नहीं करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतों में पुरानी पड़ चुकी थी, और वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस श्रेणी के निकट पहुंच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० ईलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' (खोखला आदमी) नामक पुस्तक में किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जबतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तबतक कायम रहेगा और यह अभीतक काफी शक्तिशाली है और अब भी उसमें योग्य और कुशल नेता हैं। भारत में अंग्रेजी-राज्य एक सड़ते हुए दांत के समान है जो अभी तक मजबूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नहीं जा सकता। यह दर्द सम्भवतः जारी रहेगा और बढ़ता भी रहेगा, जबतक कि दांत निकाला न जाय या खुद गिर न पड़े।

पब्लिक स्कूल टाइप के लोगों के दिन इंग्लैण्ड में भी पूरे हो गये और अब उनकी वैसी प्रतिष्ठा नहीं है जैसी पहले थी, हालांकि सार्वजनिक मामलों में वे अब भी प्रमुख हैं। हिन्दुस्तान में तो ये और भी ज्यादा अनुपयुक्त हैं और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उनका मेल बैठ सकता है और न उनके साथ सहयोग ही हो सकता है; सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस में अनेक बढ़िया आदमी भी हैं, अंग्रेज भी और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली कायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों को पूरा करने में खर्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियों को कुछ फायदा नहीं है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफसर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने गुलाम हैं कि वे अपने को सम्राट् से भी ज्यादा राजभक्त समझते हैं। मुझे याद है कि मेरी मुलाकात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफसर से हुई थी जो अपने लिए बड़ी ऊंची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मैं सहमत नहीं हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत से गुण गाये और अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में यह ला-जवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चंगेजखां तथा तैमूर के साम्राज्यों से बेहतर नहीं है ?

इण्डियन सिविल सर्विसवालों की मुख्य भावना यह है कि वे अपना कर्त्तव्य बड़ी होशियारी के साथ पूरा करते हैं, इसलिए वे अपने दावों पर जोर दे सकते

हैं, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के हैं। अगर हिन्दुस्तान गरीब है तो यह कुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजों का, महाजनों और रुपया उधार देनेवालों का, और सबसे ज्यादा उसकी बड़ी भारी आबादी का है। लेकिन सबसे बड़ी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे में वे क्या करना चाहते हैं यह मैं नहीं जानता, क्योंकि अकालों, महामारियों और आमतौर पर बड़ी तादाद में मौतों से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहां की आबादी अभीतक बहुत ज्यादा है। संतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मैं तो यद्यपि बिलकुल इसके पक्ष में हूं कि संतति-निग्रह के ज्ञान और तरीकों का प्रचार किया जाय, लेकिन खुद इन तरीकों का प्रयोग ही जनता की रहन-सहन का एक काफी ऊंचा ढंग, कुछ हद तक साधारण शिक्षा और सारे देश में असंख्य चिकित्सालयों की अपेक्षा रखता है। मौजूदा हालत में संतति-निग्रह के तरीके साधारण जनता की पहुंच से बिलकुल बाहर हैं। मध्यमवर्ग के लोग इनसे फायदा उठा सकते हैं और मैं समझता हूं कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण में फायदा उठा भी रहे हैं।

लेकिन जरूरत से ज्यादा जन-वृद्धि सम्बन्धी यह दलील और भी गौर किये जाने के काबिल है। आज सारी दुनिया में सवाल यह नहीं है कि खाने की या दूसरी जरूरी चीजों की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालों की, या दूसरे शब्दों में, कमी है उन लोगों में खाना वगैरा खरीदने की शक्ति की जो भूखों मर रहे हैं। हिन्दुस्तान में भी खाने की कोई कमी नहीं है, और हालांकि आबादी बढ़ गई है, फिर भी खाने का सामान भी बढ़ गया है, और आबादी के मुकाबले में ज्यादा परिमाण में बढ़ाया जा सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की वृद्धि का जिस कदर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवा पिछले दस वर्षों के) ज्यादातर पश्चिमी देशों से बहुत कम है। यह सच है कि भविष्य में यह फर्क बढ़ता जायगा, क्योंकि पश्चिमी देशों में आबादी की वृद्धि को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियां काम कर रही हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की वृद्धि को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति में होगा कि वह अपने को जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे जरूर अपने सबसे अच्छे पुत्रों और पुत्रियों की आवश्यकता होगी। उंचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बड़ी

मुश्किल से मिलते हैं और हिन्दुस्तान में तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योंकि हमें ब्रिटिश राज्य में उन्नति करने का मौका ही नहीं मिला। हमें सार्वजनिक कार्यों के अनेक विभागों में विदेशी विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होगी, खासकर ऐसे कामों के लिए, जिनमें खासतौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत हो। जो लोग इण्डियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियों में रह चुके हैं उनमें बहुत-से हिन्दुस्तानी और विदेशी होंगे जिनकी जरूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यकीन है कि जब तक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियों में सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी, तबतक हिन्दुस्तान में किसी नई व्यवस्था की रचना नहीं की जा सकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और इसका साथ-साथ निबाह नहीं हो सकता। या तो यह मनोवृत्ति स्वतन्त्रता को पीस डालने में सफल होगी, या स्वयं उखाड़ फेंकी जायगी। सिर्फ एक तरह की राज्य-प्रणाली में इसकी दाल गल सकती है, और वह है फासिस्ट-प्रणाली। इसलिए मुझे यह बहुत जरूरी मालूम देता है कि पहले सिविल सर्विस और इस तरह की दूसरी शाही सर्विसों का अन्त हो जाना चाहिए और इसके बाद ही नई व्यवस्था का वास्तविक कार्य शुरू हो सकेगा। इन सर्विसों के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरियों के लिए राजी हों और योग्य हों, खुशी के साथ आवें, लेकिन सिर्फ नई शर्तों पर। यह तो कल्पना ही नहीं की जा सकती कि उनको वही फिजूल की मोटी-मोटी तनख्वाहें और भत्ते मिलेंगे जो आज उन्हें दिये जा रहे हैं। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्त्ताओं की सेवाएं चाहिएं जिन्हें अपने कार्य में लगन हो, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हों, और जो बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के लोभ से नहीं, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हों। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना होगा। विदेशी सहायकों की बहुत ज्यादा जरूरत पड़ेगी, लेकिन मेरे खयाल से औद्योगिक ज्ञान न रखनेवाले सिविलियनों की जरूरत सबसे कम होगी; ऐसे आदमियों का तो हिन्दुस्तान में जरा भी अभाव न होगा।

मैं पहले लिख चुका हूं कि भारत के नरम दलवालों और उनके समान अन्य दलवालों ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय में अंग्रेजी विचार प्रणाली को स्वीकार कर लिया है। सर्विसों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी साफ जाहिर हो

जाती है, क्योंकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसों के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना में आमूल परिवर्तन के लिए नहीं। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नहीं सकता, क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता न केवल ब्रिटिश फौज और सर्विसों के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है, बल्कि उसके लिए उनके दिमागों में घुसी हुई स्वेच्छाचारी-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख्वाहों और रिआयतों को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल में संरक्षणों की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित में रक्खे जांय, तो उनमें दूसरी बातों के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वगैरा के वर्तमान रूप का तथा उनको मिली हुई शक्तियों और विशेष अधिकारों का अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फौजी सर्विसों का हाल तो और भी रहस्यमय और भयंकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते हैं, न उनके बारे में कुछ कह ही सकते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में हम समझते ही क्या हैं? हमारा काम तो बिना कोई चीं-चपड़ किये सिर्फ मोटी-मोटी तनख्वाह चुकाते रहने का है। कुछ दिन हुए (सितम्बर १९३४ में,) हिन्दुस्तान के प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ) सर फिलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-आफ-स्टेट में बोलते हुए चुभती हुई फौजी भाषा में हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञों से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खें, हमारे काम में दखल न दें। किसी प्रस्ताव पर एक संशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह खयाल करते हैं कि बहुत-सी लड़ाइयां जीती हुई और रणपटु अंग्रेज-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के जोर से जीता है और तलवार के ही जोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुर्सियां तोड़नेवाले आलोचकों से सीखेगी?" उन्होंने और भी बहुत-सी मजेदार बातें कही थीं, और कहीं हम यह खयाल न करने लगें कि उन्होंने तैश में आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमें बतलाया गया था कि उन्होंने अपना भाषण बड़े विचारपूर्वक लिखा था; उसी हस्तलिपि को पढ़कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फौजी मामलों पर एक प्रधान सेनापति से भिड़

पड़ना दरअसल गुस्ताखी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोड़नेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ में आ सकती है कि जिन्होंने साम्राज्य को तलवार के जोर से कब्जे में कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हुआ हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक-दूसरे से भिन्न हों। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फौज हिन्दुस्तान के हितों अथवा साम्राज्य के हितों के लिए काम में लाई जाय और इन दोनों हितों में भिन्नता ही नहीं बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोड़नेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवों के बाद भी प्रमुख सेनानायकों का यह दावा कि उनके कामों में दखल न दिया जाय कहां तक जायज है। उस समय उनको बहुत अंशों तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहां तक मालूम हुआ है, उन्होंने सारी अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, आस्ट्रियन और रूसी सेनाओं में करीब-करीब तमाम बातों में एक बड़ी भयंकर गड़बड़ पैदा कर दी थी। मशहूर अंग्रेज फौजी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडैल हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड वार' (विश्वव्यापी युद्ध का इतिहास) में लिखा है कि महायुद्ध में एक समय जब अंग्रेज सिपाही दुश्मनों से लड़ रहे थे, उसी समय अंग्रेज फौजी अफसर आपस में लड़ रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय संकट के वक्त में भी लोग विचारों और कार्यों में एकता न ला सके। वह फिर लिखते हैं, "महायुद्ध ने, अपने आराध्यदेवों के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावों को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नहीं होते जिसके साधारण मनुष्य होते हैं। नेताओं की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यों की तरह हैं, हमको उनसे बहुत ज्यादा आशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के खतरों से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० लॉयड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमॉयर्स' (महायुद्ध की स्मृतियां) नामक पुस्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायकों की गलतियों का—ऐसी गलतियों का, जिनके कारण लाखों आदमियों की जानें गईं—बड़ा भयंकर चित्र खींचा है। इंग्लैण्ड और उसके सहायकों ने महायुद्ध में विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रंजित प्रहार था"। ऊंचे अफसरों द्वारा फौजों और लड़ाइयों के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त संचालन ने इंग्लैण्ड

को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी तथा उसके मित्रों की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओं की अविश्वसनीय मूर्खताओं के कारण हुई। इंग्लैण्ड के महायुद्ध के समय के महान् प्रधानमन्त्री इस प्रकार लिखते हैं और वह बतलाते हैं कि किस प्रकार उन्हें लार्ड जेलीको के दिमाग में कुछ बातें बिठाने के लिए, खासकर व्यापारी जहाजों के संरक्षण के लिए साथ में जंगी जहाज भेजने के प्रस्ताव के बारे में, उनके साथ माथापच्ची करनी पड़ी थी। फ्रांसीसी मार्शल जॉफर के बारे में तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उसका सबसे बड़ा गुण उसकी दृढ़ मुखमुद्रा थी जो हृदय में शक्ति की भावना को पैदा करती थी। "यही चीज है जो त्रस्त लोग संकट के समय में खोजते हैं। वे यह समझने की भूल करते हैं कि बुद्धिमत्ता किसी की ठोड़ी में निवास करती है।"

लेकिन मि० लॉयड जार्ज का मुख्य आरोप तो खास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ फील्ड-मार्शल हेग पर है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि किसी प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख्वामख्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञों इत्यादि की बातें सुनने से इन्कार करके खास ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल से ही महत्त्वपूर्ण बातों को छिपाया, जिसके कारण फ्रांस में अंग्रेजी फौज को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी और इतने पर भी, जबकि असफलता सामने नजर आ रही थी, वे अखीर तक अपनी जिद पर अड़े रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैस्शण्डेल तथा कैम्ब्राई की भयंकर दलदलों में कई महीने तक चलाते रहे, यहांतक कि सत्रह हजार तो अफसर ही वहां काम आ गये और चार लाख वीर अंग्रेज सिपाही हताहत हो गये। सन्तोष की बात इतनी ही है कि आज भी 'अज्ञात सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, जब कि उसके जीवन-काल में उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नहीं थी।

अन्य लोगों की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर गलतियां करते हैं, लेकिन जन-सत्तावादी राजनीतिज्ञ को जनता के रुख और घटनाओं पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पड़ता है और वे आमतौर पर अपनी गलतियों को स्वीकार करके उन्हें दुरुस्त करने की कोशिश करते हैं। पर सिपाही का निर्माण एक भिन्न वातावरण में होता है, जहां हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए वह दूसरों की सलाह से बुरा मानता है और अगर वह गलती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस गलती को किये ही जाता

है। उसके लिए दिल और दिमाग की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान में हमें एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौका मिला है, क्योंकि स्वयं नागरिक शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण में पला और निवास करता है और इस कारण बहुत अंशों तक फौजी रौबदाब आदि विशेषताएं उसमें मौजूद हैं।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढ़ाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक वर्षों में एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान में पैदा हो जाय। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा बरसों में भारतीय-करण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि खतरे के समय में इंग्लैण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से में ही लाखों की फौज खड़ी कर दी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए हैं, तो शायद वह बड़ी चौकसी और होशियारी से फूंक-फूंककर आगे कदम बढ़ाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा में इस शिक्षित सेना के तैयार होने के बहुत पहले ही युद्ध खत्म हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओं का भी विचार आता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनों के ही अकस्मात् तैयार होगईं और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओं से लोहा लेती हुईं उन्हें हराने लगीं। आज इन सेनाओं की संसार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियों में गणना की जाती है। इनके पास तो सलाह देने के लिए 'संग्राम में लड़े हुए और युद्ध-प्रवीण' सेनापति नहीं थे!

हमारे यहां देहरादून में एक फौजी शिक्षणालय है, जहां शिक्षार्थियों को फौजी अफसर बनने की तालीम दी जाती है। कहा जाता है कि वे बड़ी चतुरता से परेड करते हैं और बेशक वे बड़े अच्छे अफसर बनकर निकलेंगे। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता है कि इस तालीम से क्या फायदा है जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय। पैदल और घुड़सवार सेनाएं आज-कल उतने ही काम की हैं जितनी रोमन फौजें होतीं; और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैंक और प्रचण्ड तोपों के युग में बन्दूक, तीर-कमान से ज्यादा कारगर नहीं है। इसमें शक नहीं कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य का इतिहास कैसा रहा है? हम उसकी खामियों के बारे में शिकायत करनेवाले होते कौन हैं, जबकि ये खामियां हमारी ही कम-जोरियों के फलस्वरूप हैं? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड़ दें और

दलदल में फंस जांय, एकांगी और स्वयं-सन्तोषी बन जांय और शुतुर्मुर्ग की तरह अपने चारों ओर की घटनाओं से आंख मूंद लें, तो इसमें हमारा ही नुकसान है। अंग्रेज लोग हमारे यहां संसार-सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियों को लाये जिनका खुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफान की शिकायत करें जो हमें उखाड़कर इधर-उधर फेंक देता है, या उस ठंडी हवा की जो हमें कंप-कंपा देती है ? हमें तो भूतकाल और उसके झगड़े-टंटों को तिलांजलि ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुकाबला करना चाहिए। हमें एक महान् भेंट के लिए अंग्रेजों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नों को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बर्दाश्त करना मुश्किल है जो उन्होंने देश के झगड़ालू, प्रतिक्रियावादी, विरोधक जातिगत तथा अवसरवादी लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए किये। शायद यह भी हमारे लिए एक जरूरी परीक्षा और चुनौती है, और इसके पहले कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पड़ेगा जो शुद्ध और दृढ़ बनाती है और जो दुर्बल, पतित और आचार-भ्रष्टों को जलाकर खाक कर देती है।

५५

अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच में करीब एक हफ्ता बम्बई और पूना में रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी मां अभीतक अस्पताल में थी, और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ में, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने में लगी थी। हर सप्ताह के अखीरी दिनों में मेरी बहिनें भी इलाहाबाद से आती रहती थीं। लखनऊ में मैं दो-तीन हफ्ते रहा। वहां इलाहाबाद के मुकाबले में ज्यादा फुरसत मिली थी। मेरा खास काम दिन में दो बार अस्पताल जाना था। मैंने अपना यह फुरसत का समय अखबार के लिए लेख लिखने में लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अखबारों में छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफी ध्यान गया। इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिन्दुस्तान की परिस्थिति के साथ उनके सम्बन्ध को ध्यान में रखकर विचार किया था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि इन लेखों का फारसी तर्जुमा तेहरान और काबुल में भी छापा गया था। आजकल के पश्चिमी विचारों और हलचलों से जानकारी रखनेवालों के लिए इन लेखों में कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नहीं थी। मगर हिन्दुस्तान में लोग अपने घरेलू मामलों में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि दूसरी जगह क्या हो रहा है इसपर वे ज्यादा ध्यान नहीं दे सकते। मेरे लेखों का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारों से मालूम पड़ा कि लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत हो रहा है।

माताजी अस्पताल में पड़ी-पड़ी ऊबती जा रही थीं, इसलिए हमने उन्हें इलाहाबाद वापस ले जाने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारणों में से एक कारण मेरी बहिन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्हीं दिनों में पक्की की गई थी। हम चाहते थे कि मेरे फिर से जेल चले जाने से पहले जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय। मुझे कुछ पता न था कि मैं कितने समय तक बाहर

रहने दिया जाऊंगा। क्योंकि सविनय-भंग कांग्रेस का बाकायदा कार्यक्रम था और खुद कांग्रेस और दूसरी बीसियों संस्थाएं ग़ैर-कानूनी थीं।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद में विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक होनेवाला था। मैं इस बात से खुश था, हालांकि सच पूछो तो इसके सिवा हमारे पास और कोई उपाय भी न था, क्योंकि वह विवाह दो भिन्न जातियों, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, में होनेवाला था, और ब्रिटिश भारत के मौजूदा कानून के अन्तर्गत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक विधि से क्यों न किया जाय, जायज नहीं हो सकता। खुश किस्मती से उन्हीं दिनों में पास हुआ 'सिविल मैरिज एक्ट' हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो कानून थे, जिनमें से दूसरा कानून, जिससे मेरी बहिन की शादी हुई, हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म से सम्बन्ध दूसरे मतवालों के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू में से कोई एक भी जन्मतः या बाद में धर्म परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा कानून उसपर लागू नहीं होता। ऐसी हालत में पहले कानून का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस पहले कानून के अनुसार दोनों को सभी मुख्य धर्मों का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममें से कोई किसी भी धर्म को नहीं मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक परित्याग बड़ा वाहियात है। बहुत-से ऐसे लोगों को भी, जिनका कि मजहब की तरफ कोई रुझान नहीं है, इस बात पर एतराज है और इस तरह वे इस कानून से फायदा नहीं उठा सकते। जुदे-जुदे मजहबों के कट्टर लोग ऐसे सब परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे अन्तर्जातीय विवाहों के होने में आसानी हो। इससे जो लोग इस कानून के अन्तर्गत विवाह करना चाहें, उन्हें या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालों को उसके मुताबिक अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमें से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। मैं स्वयं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना पसन्द करूंगा; लेकिन उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय या नहीं, ऐसी अनुमति देनेवाले एक अन्तर्जातीय-विवाह-कानून का बनना तो निहायत जरूरी है जो आमतौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हें धर्म छोड़ने या बदलने की जरूरत न पड़े।

मेरी बहिन की शादी में कोई धूमधाम नहीं हुई; सारा काम बड़ी सादगी

से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहों में जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौरपर, वह मुझे पसन्द भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भंग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलों में पड़े सड़ रहे थे, दिखावे के रूप में कोई भी बात करना था भी बिलकुल अनुचित। इसलिए सिर्फ थोड़े रिश्तेदारों और स्थानीय मित्रों को ही निमन्त्रित किया गया। पिता जी के बहुत से पुराने मित्रों को इससे सदमा भी पहुंचा, क्योंकि उन्हें यह लगा, हालांकि वह था गलत, कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लेटिन अक्षरों व हिन्दुस्तानी भाषा में छपाया गया था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अब तक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आमतौर पर नागरी या फारसी लिपि में ही लिखे जाते थे। फौज या ईसाई मिशनवालों के सिवा कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरों में नहीं लिखी जाती थी। मैंने रोमन लिपि का इस्तेमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्तलिफ किस्म के लोगों पर क्या असर होता है। इसे कुछ ने पसन्द किया कुछ ने नहीं। ज्यादा संख्या नापसन्द करनेवालों की ही थी। बहुत कम लोगों के पास यह निमन्त्रण भेजा गया था, और, अगर ज्यादा लोगों के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गांधीजी ने भी इसे पसन्द नहीं किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तेमाल नहीं की थी कि मैं उसके पक्ष में हो गया था, हालांकि उसने मुझे बहुत दिनों से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीलें हैं उसमें काफी वजन है, फिर भी मैं भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष में नहीं हो गया था। अगर मैं उसके पक्ष में हो भी जाता तो भी मैं अच्छी तरह जानता था कि वर्तमान भारत में उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, धार्मिक, हिन्दू, मुस्लिम, नये, पुराने सब दलों की ओर से इसका बहुत सख्त विरोध होता, और यह मैं मानता हूं कि यह विरोध महज भावुकतावश ही नहीं होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका प्राचीन काल उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बड़ी क्रान्ति है, क्योंकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ

और ही शब्द-चित्र नजर आयेंगे, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जांयगे। पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खड़ी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा में लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना चाहिए, जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान में तो मैं ऐसे रद्दो-बदल का खयाल भी नहीं कर सकता हूं, क्योंकि हमारा साहित्य केवल सम्पन्न और अमूल्य ही नहीं, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा नाता रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नहीं है। मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला कदम होना चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदरा—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती—भाषाओं के लिए एक-सी लिपि बनाना। इन चारों भाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही है और इसमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि ढूंढ़ निकालने में कोई खास दिक्कत न होनी चाहिए। इससे ये चारों भाषाएं एक-दूसरे के नजदीक आ जांयगी।

हमारे अंग्रेजी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो दन्तकथाएं संसारभर में फैला रक्खी हैं, उसमें से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में कई-सौ भाषाएं बोली जाती हैं। मुझे उनकी ठीक तादाद याद नहीं है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कई-सौ भाषाओं के देश में सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अंग्रेज एक भाषा से भी मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं। इन सब भाषाओं को 'वर्नाक्युलर' के नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा (लैटिन 'वर्ना' का अर्थ घर में पैदा हुआ गुलाम है)। हममें से बहुतों ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी जिन्दगी इस देश में रहकर भी अंग्रेज लोग यहां की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते हैं। अपने खानसामा व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्णकटु काम-चलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचड़ी भाषा ईजाद कर ली है, जिसको वे असली भाषा समझ बैठे हैं। जैसे वे

भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरों व जी-हुजूरों से मालूम करते हैं, उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में अपने विचार अपने उन घरू नौकरों से बनाते हैं जो 'साहब लोगों' से अपनी इस 'काम-चलाऊ खिचड़ी भाषा' में ही बोलते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि वे और कोई भाषा समझेंगे भी नहीं। वे इस बात से बिलकुल अपरिचित मालूम पड़ते हैं कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओं का साहित्य बहुत ऊंचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान में दो सौ या तीन सौ भाषाएं हैं, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहां पर भी लगभग ५०-६० भाषाएं हैं। मुझे खयाल नहीं कि कभी किसी ने इसके कारण ही जर्मनी में असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी में सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओं का भी जिक्र किया जाता है, चाहे इन भाषाओं के बोलनेवाले कुछ हजार ही व्यक्ति क्यों न हों, और अक्सर थोड़ा-थोड़ा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए बोलियों को अलग-अलग भाषा मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी थोड़ी भाषाओं का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। यूरप के इतने भाग को लेकर मुकाबला करें तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान में इतने भेद नहीं मिलेंगे। लेकिन हिन्दुस्तान में आम जनता में शिक्षा का प्रसार न होने के कारण यहां भाषाओं का समान स्टैण्डर्ड नहीं बन पाया और कई बोलियां बन गईं। बरमा को छोड़कर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषाएं ये हैं—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू जिसकी दो किस्में हैं), बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगू, मलायलम और कन्नड़। इसमें अगर आसामी, उड़िया, सिन्धी, पश्तो और पंजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाड़ी और जंगली हिस्सों को छोड़कर सारे देश की भाषाएं इनमें आ जाती हैं। इनमें से भारतीय आर्य भाषाएं जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में प्रचलित हैं, आपस में बहुत मिलती-जुलती हैं और दक्षिणी द्राविड़ी भाषाएं भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफी प्रभावित हुई हैं और उनमें संस्कृत शब्दों की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओं में पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषाएं देश के काफी बड़े हिस्से में बोली जाती है। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से देखें तो ये भाषाएं संसार की प्रमुख

भाषाओं में आ जाती हैं। बंगला बोलनेवालों की संख्या साढ़े पांच करोड़ है। जहांतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहां आंकड़े नहीं; लेकिन मेरे खयाल में वह अपने सभी रूपों सहित १८ करोड़ भारतवासियों में बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान-भर के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते हैं।[1] साफतौर पर ऐसी भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक है, वह संस्कृत की मजबूत नींव पर जमी हुई है और फारसी का भी उसपर काफी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षों से वह अंग्रेजी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविड़ी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहां हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नजर आती है लेकिन वहां के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। दो बरस पहले १९३२ में, मैंने एक संस्था के आंकड़े देखे थे। यह संस्था दक्षिण में हिन्दी-प्रचार

---

[1] हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आंकड़े पेश करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि ये संख्याएं १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक हैं या १९२१ की। मेरे खयाल में तो १९२१ की गणना के मुताबिक हैं। इसलिए १९३१ की संख्या तो जरूर इससे कहीं ज्यादा होगी।

१ हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, और राजस्थानी शामिल हैं)	१३,९३,००,०००
२ बंगला	४,९३,००,०००
३ तेलुगू	२,३६,००,०००
४ मराठी	१,८८,००,०००
५ तामिल	१,८८,००,०००
६ कन्नड़	१,०३,००,०००
७ उड़िया	१,०१,००,०००
८ गुजराती	९६,००,०००
	२७,९८,०००००

पश्तो, आसामी, बरमी आदि कुछ भाषाएं जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज से बिलकुल अलग हैं, इस सूची में शामिल नहीं की गई हैं।

करने के लिए कुछ मित्रों ने खोली थी। उसका काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ वर्षों में, अकेली उस संस्था की कोशिश से मद्रास प्रांत में लगभग ५५,००० लोगों ने हिन्दी सीख ली है। एक ऐसी संस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नहीं मिलती यह सफलता अनोखी है। वहां हिन्दी सीखनेवालों में से अधिकतर स्वयं इस कार्य के प्रचारक बन जाते हैं।

मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोजमर्रा के काम-काज के लिए वह एक बड़ी हदतक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वादविवाद ने इसकी तरक्की को रोक दिया है और दोनों दलों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खड़ी कर दी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते हैं कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं मालूम होता कि दोनों लिपियों को अधिकारी रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमें से किसी को भी काम में लाने की छूट दे दी जाय। संस्कृत व फारसी के शब्दों को ज्यादा काम में लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पड़ी है, उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए, और सामान्य व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने आप ऐसा होता जायगा। इस समय मध्यम श्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंगसे बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्तनवादी हैं। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को, भारत की दूसरी बड़ी भाषाओं बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि में, न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषाएं तो अब भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क हैं और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारों के लिए अधिकारी रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिएं। सिर्फ इन्हीं के जरिये साधारण जनता में शिक्षा और संस्कृति तेजी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगों का खयाल है कि बहुत करके अंग्रेजी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो जायगी लेकिन ऊंचे दर्जे के गिने-चुने पढ़े-लिखों को छोड़कर साधारण जनता इसे अपनायेगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती है। साधारण जनता की शिक्षा और संस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नहीं है। यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हदतक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और व्यापारी कामों में, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में, अंग्रेजी ज्यादा काम में आने लगे। इसमें से बहुतों के लिए विदेशी भाषाओं का सीखना व जानना बहुत जरूरी है, ताकि संसार के विचारों व प्रगतियों से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं तो पसन्द करूंगा कि हमारी यूनीवर्सिटियों में अंग्रेजी के अलावा फ्रेंच, जर्मन, रशन, स्पेनिश और इटैलियन भाषाएं सीखने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नहीं है कि अंग्रेजी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमें संसार की हलचलों को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमें अपने को अंग्रेजी सीखने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। केवल अंग्रेजी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को एकांगी और संकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारों का एक ही दृष्टि और विचार-धारा की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाजा लगा सकते हैं कि अपने देश के सम्बन्ध में उनके दृष्टि-बिन्दु पर अंग्रेजी विचार-धारा का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओं को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यों न दें, बाहरी दुनिया में हमारा सम्बन्ध अंग्रेजी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमें कोई हर्ज भी नहीं है। हम कई पीढ़ियों से अंग्रेजी सीखने की कोशिश कर रहे हैं और इसमें हमें काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफी होगी। इतने अर्से की मेहनत से हमें लाभ उठाना चाहिए। निस्संदेह अंग्रेजी आज संसार की सबसे ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओं पर वह अपना सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम बन जाय, बशर्ते कि 'अमेरिकन' उसकी जगह न ले ले। इसलिए हमें अंग्रेजी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना चाहिए। अंग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सकें उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको इसकी जरूरत नहीं मालूम होती कि अंग्रेजी की

बारीकियों को सीखने में हम लोग अपना वक्त लगायें, जैसा कि आजकल हममें से बहुत-से करते हैं। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते हैं,लेकिन बहुसंख्यक लोगों के सामने इस बात को आदर्श रूप में रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओं में प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनों से 'बेसिक अंग्रेजी'[1] (Basic English) ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेजी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अंग्रेजी तो विशेषज्ञों तथा कुछ खास विद्यार्थियों के लिए छोड़ देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता में इस बेसिक अंग्रेजी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मैं खुद इस बात को पसन्द करूंगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओं से बहुत-से शब्द अपने में ले लें। इस बात की जरूरत है,क्योंकि आजकल जो नई-नई चीजें निकलती हैं हमारी भाषा में उनके अर्थ-द्योतक शब्द नहीं मिलते, इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत, फारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढ़ने के बजाय हम उन्हीं सुप्रचलित शब्दों को काम में लावें। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तेमाल का विरोध करते हैं, लेकिन मेरा खयाल है कि वे गलती करते हैं। वास्तव में किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीका यही है कि वह इतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओं के भाव और शब्द उसमें शामिल होकर उसीके हो जांय।

अपनी बहिन की शादी के बाद ही मैं अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस गया। गुप्तजी एक बरस से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल में थे, अचानक उनको लकवा मार गया और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे थे। बनारस की इस यात्रा के अवसर पर मुझे हिन्दी साहित्य की एक छोटी-सी संस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहां उसके सदस्यों से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौका मिला। मैंने

---

[1] 'बेसिक अंग्रेजी' का 'मूल अंग्रेजी' अर्थ होने के अलावा एक और भी अर्थ है, वह है पांच प्रकार की भाषाओं का--BASIC [British (अंग्रेजी), American (अमेरिकन), Scientific (वैज्ञानिक), International (अन्तर्राष्ट्रीय) और Commercial (व्यापारिक)] का–सम्मिश्रण।—अनु०

उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर उसके विशेषज्ञों से बोलते हुए मुझे हिचक होती है; लेकिन फिर भी मैंने उन्हें थोड़ी-सी सूचनाएं दीं। आजकल हिन्दी में जो क्लिष्ट और अलंकारिक भाषा इस्तेमाल की जाती है, उसकी मैंने कुछ कड़ी आलोचना की। उसमें कठिन,बनावटी और पुरानी शैली के संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है। मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोड़े-से लोगों के काम में आनेवाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी लेखकों को यह कोशिश करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा में लिखें जिसे लोग समझ सकें। आम जनता के संसर्ग से भाषा में नया जीवन और असली सच्चापन आ जायगा। इससे स्वयं लेखकों को जनता की भाव-व्यजनाशक्ति मिलेगी और वे अधिक अच्छा लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारों व साहित्य का अध्ययन करें तो उससे उन्हें बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि यूरप की भाषाओं के पुराने साहित्य और नवीन विचारों के ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बंगला और मराठी साहित्य इन बातों में आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षों में हिन्दी की अपेक्षा बंगला में कहीं अधिक रचनात्मक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयों पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मैं चला आया। मुझे इस बात का जरा भी खयाल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अखबारों में दे दिया जायगा, लेकिन वहां उपस्थित लोगों में से किसीने हमारी उस बातचीत को हिन्दी पत्रों में प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखबारों में मुझपर और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी इस धृष्टता पर खासतौर से हमले शुरू हुए कि मैंने हिन्दी को वर्तमान बंगला, गुजराती और मराठी से हलका क्यों कहा। मुझे अनजान—इस विषय में मैं सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मेरे विचारों का टीका में बहुत कठोर शब्द काम में लाये गये। मुझे तो इस वाद-विवाद में पड़ने की फुरसत ही न थी, लेकिन मुझे बताया गया है कि यह झगड़ा कई महीनों चलता रहा—उस समय तक जबतक कि मैं फिर जेल में नहीं चला गया।

यह घटना मेरे लिए आंख खोलनेवाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी

के साहित्यिक और पत्रकार कितने ज्यादा तुनकमिजाज हैं। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नहीं थे। साफ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी तह में अपने को छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी में पूरी कमी है, और आलोचना का स्टैण्डर्ड बहुत ही नीचा है। एक लेखक और उसके आलोचक के बीच एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज होना हिन्दी में कोई असाधारण बात नहीं है। यहां का सारा दृष्टिकोण बहुत संकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हों। उन्हें आम जनता और उसके हितों से मानो कोई सरोकार ही नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमें इन त्रुटियों का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी-लेखकों का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा गौरवमय रहा है, लेकिन वह सदा के लिए उसीके बल पर तो जिन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यकीन है कि उसका भविष्य भी काफी उज्ज्वल है, और मैं यह भी जानता हूं कि किसी दिन देश में हिन्दी के अखबार एक जबरदस्त ताकत बन जायंगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियों व बन्धनों से अपने-आपको बाहर नहीं निकालेंगे और आम जनता के लिए लिखना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

५६

साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहिन की शादी के करीब, यूरप से श्री० विट्ठलभाई पटेल की मृत्यु का खबर आई। वह बहुत दिनों से बीमार थे और स्वास्थ्य खराब होने की वजह से ही वह यहां की जेल से छोड़े गये थे। उनकी मृत्यु एक दुःखद घटना थी। हमारे बुज़ुर्ग नेताओं का इस तरह हमारे बीच से लड़ाई के बीच में ही, एक-के-बाद एक उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धाञ्जलियां दी गईं जिनमें से ज्यादातर में उनके कुशल पार्लमेण्टेरियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेण्ट की हैसियत से उन्होंने पाई थी, जोर दिया गया था। यह बात थी तो बिलकुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिड़-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान में कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगों की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ सुशोभित कर सकें? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक़ वकालत की शिक्षा ने हमें बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई में और भी कहीं अधिक गुण थे। वह हिन्दुस्तान की आजादी की लड़ाई के एक महान् और निडर योद्धा थे।

जब नवम्बर में मैं बनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैंने बड़ी खुशी से इस निमन्त्रण को मंजूर कर लिया और एक बड़ी सभा में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने साम्प्रदायिता के बारे में बहुत-कुछ कहा और जोरदार शब्दों में उसकी निन्दा की, खासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैंने कड़ी निन्दा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले से ही इरादा रहा हो सो बात नहीं; बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फिरकों के सम्प्रदायवादी लोगों की बढ़ती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग में गुस्सा भरा

हुआ था और जब मैं अपने विषय पर जरा जोश से बोलने लगा तो इस गुस्से का कुछ भाग उफन कर बाहर निकल पड़ा। मैंने जान-बूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओं के दकियानूसीपन पर जोर दिया, क्योंकि हिन्दू श्रोताओं के सामने मुसलमानों पर टीका-टिप्पणी करने का कोई अर्थ नहीं था। उस वक्त यह बात तो मेरे ध्यान ही में नहीं आई कि जिस सभा के सभापति मालवीयजी बहुत दिनों हिन्दू-महासभा के स्तम्भ रहे हों उसमें हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत मुनासिब न था। पर उस समय मैंने इस बात का विचार ही नहीं किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनों से हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नहीं था और करीब-करीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओं ने मालवीयजी —जैसे व्यक्ति के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ में रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकानेवाली नहीं थी। लेकिन कुछ दिनों से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यकीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होगा, बल्कि उन्होंने उसको नापसन्द भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात जरा अनुचित तो थी ही कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति अटपटी हो, निमन्त्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफसोस भी हुआ।

एक और मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसका मैं शिकार हो गया था। किसी ने हमको डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नकल भेजी जो अजमेर में हिन्दू-युवकों की एक सभा में पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण में जिक्र किया था। असल में ऐसा प्रस्ताव किसी संस्था द्वारा पास ही नहीं हुआ था और हमें चकमा ही दिया गया था।

मेरे बनारस के भाषण की रिपोर्ट संक्षेप में प्रकाशित हुई। इसपर बड़ा हो-हल्ला मचा। हालांकि मैं ऐसे हमलों का आदी था, फिर भी, हिन्दू-महासभा के नेताओं के जबरदस्त हमलों से मैं चकित हो गया। ये हमले ज्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्राय: सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से खुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कह लेने का मौका मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीनों से, यहां तक

कि जेल में भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता था कि उस विषय को किस तरह छेड़ूं । वह एक बर्र का छत्ता था और हालांकि मुझे बर्र के छत्ते में हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादों में पड़ना पसन्द नहीं था जो बाद में तू-तू मैं-मैं पर आ जावें । लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं रह गया और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक तर्कपूर्ण लेख लिखा, जिसमें मैंने यह बताया कि दोनों ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदायिकता नहीं थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण में ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनैतिक संकीर्णता थी । इत्तिफाक से मेरे पास कई अखबारों के कटिंग थे जो मैंने जेल में इकट्ठे किये थे। इनमें साम्प्रदायिक नेताओं के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे । मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मैं किस तरह एक लेख में उसका उपयोग करूं ।

मेरे इस लेख की हिन्दुस्तान के अखबारों में खूब प्रसिद्धि हुई । यद्यपि उसमें हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायवादियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ बातें थीं, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनों की ओर से कोई उत्तर न मिला । हिन्दू-महासभा के जितने नेताओं ने मुझे बड़ी जोरदार और तरह-तरह की भाषा में आड़े हाथों लिया था, वे भी बिलकुल चुप्पी साधे रहे । मुसलमानों की तरफ से सर मुहम्मद इकबाल[1] ने गोलमेज-परिषद् सम्बन्धी मेरी बातों में सुधार करने की कोशिश की; लेकिन मेरी दलीलों के सम्बन्ध में तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा । उनको दिये गये अपने जवाब ही में मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधानसभा (कन्स्टीटयूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों विषयों का निर्णय होना चाहिए । इसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे ।

इन लेखों का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियों पर प्रकट रूप से जो कुछ उनका प्रभाव पड़ा, उससे मेरा उत्साह बहुत कुछ बढ़ गया । असल में मैंने इस बात का तो अनुमान ही नहीं किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह में जो जोश छिपा रहता है मैं उसे हटा सकूंगा । मेरा उद्देश्य तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के घोर प्रतिक्रिया-

---

[1] २१ अप्रैल १९३८ को इनका देहावसान हो गया । --अनु०

वादी फिरकों से मिले रहते हैं और वे असल में राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी होते हैं। उनकी सभी मांगों का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनका उद्देश्य यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलों का भला हो जाय।

मेरा इरादा था कि इस तर्क और पूर्ण हमले को जारी रक्खूं, लेकिन जेल ने फिर मुझे खींच लिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए आये दिन जो अपील होती रहती है, उसके निस्सन्देह फायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल ही फिजूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणों को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगों का यह खयाल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बार-बार रटने से अन्त में एकता जादू की तरह आ टपकेगी।

सन् १८५७ के गदर से अब तक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेजों की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नजर डालना दिलचस्प बात होगी। मूलतः और अनिवार्य रूप से ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चलें, और आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहें। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमें ताजी थी। इस वजह से अंग्रेज उनको ज्यादा उग्र, लड़ाकू और खतरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियों में भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणों से अंग्रेज लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं ने अंग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरियों को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अंग्रेजों को ये ज्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अंग्रेजी पढ़े-लिखे शिक्षितों में हुआ। इस भावना का हिन्दुओं तक सीमित रहना स्वाभाविक ही था, क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज से बहुत पिछड़े हुए थे।

यह राष्ट्रीयता बड़ी विनम्र और दीन भाषा में प्रकट की जाती थी, फिर भी सरकार को यह सहन नहीं हुई और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानों की पीठ ठोंकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रक्खा जाय। मुसलमानों के लिए तो अंग्रेजी शिक्षा का न होना ही एक काफी रुकावट थी।

लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाजिमी था। अंग्रेजों ने बड़ी दूरंदेशी से आगे के लिए इन्तजाम कर लिया और इस काम में उन्हें सर सैयद अहमदखां की जोरदार हस्ती से बहुत बड़ी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दुःखी थे कि उनकी जाति पिछड़ी हुई है, खासकर शिक्षा के क्षेत्र में, और इस बात से उनके दिल में दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अंग्रेजों की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नजरों में मुसलमानों का कुछ प्रभाव ही था। उस जमाने के बहुत-से दूसरे लोगों की तरह वह भी अंग्रेजों के बहुत बड़े प्रशंसक थे और मालूम होता है कि उनपर यूरप-यात्रा का और भी जबरदस्त असर पड़ा था।

उन्नीसवीं सदी के अखीरी जमाने में यूरप, या यों कहो कि, पश्चिमी यूरप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्द था। यूरप उस समय संसार का एकछत्र अधिपति था और उसमें वे सब गुण भलीभांति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित समझते थे और उसे बढ़ा रहे थे, क्योंकि उनको यह डर नहीं था कि कोई उनसे मुकाबला करके कामयाब हो सकेगा। वह सुधारवाद का युग था, जिसे अपने उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं की जो हिन्दुस्तानी यूरप गये वे वहां का शानदार नजारा देख कर मोहित हो गये। शुरू-शुरू में हिन्दू लोग ही ज्यादा गये, और वे यूरप और इंग्लैण्ड के प्रशंसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तड़क-भड़क और चमक-दमक के आदी हो गये और जो ताज्जुब पहले पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयद अहमद को पहली ही बार वहां की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ जाहिर है। वह सन् १८६९ में इंग्लैण्ड गये थे। उस समय उन्होंने घर जो पत्र लिखे, उनमें उन्होंने वहां के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे। इनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालांकि अंग्रेज लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नहीं करत और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हलका, नीच और घृणित समझते हैं इसके लिए उनको मुआफ नहीं किया जा सकता; फिर भी मेरा खयाल है कि वे इस तरह का बर्ताव इसीलिए करते हैं कि वे हम लोगों को समझ नहीं पाते हैं। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पड़ती है कि उन्होंने जो राय हमारे बारे में कायम की है

वह ज्यादा गलत नहीं है। मैं अंग्रेजों की झूठी तारीफ नहीं कर रहा हूं, यदि मैं सचमुच यह कहूं कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊंचे हों या नीच, बड़े व्यापारी हों या छोटे दूकानदार, पढ़े-लिखे हों या अपढ़, अंग्रेजों की तालीम, तमीज और ईमानदारी के मुकाबले में ऐसे हैं जैसे किसी काबिल और खूबसूरत आदमी के मुकाबले में एक गन्दा जानवर। अंग्रेज लोग अगर हम हिन्दुस्तानियों को निरा जंगली समझें तो उनके पास इसकी वजह है।....मैं जो-कुछ देख रहा हूं और रोजमर्रा देख रहा हूं वह एक हिन्दुस्तानी की समझ के बिलकुल बाहर की बात है.... परलोक की और इस लोक की सारी सुन्दर वस्तुएं, जो इन्सान में होनी चाहिएं, खुदा ने यूरप को, खासकर इंग्लैण्ड को बख्श दी हैं।"[१]

कोई भी आदमी अंग्रेजों की और यूरप की इससे ज्यादा तारीफ नहीं कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होंने ऐसी जोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियों को गाढ़ी नींद से जगाने और उनको आगे कदम बढ़ाने के लिए उकसाने की नीयत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह कदम पश्चिमी शिक्षा की तरफ बढ़ना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज्यादा पिछड़ती और कमजोर होती जायगी। अंग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियां, हिफाजत, दबदबा और इज्जत। इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताकत इस तालीम के लिए लगा दी और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके जैसे खयाल के हो जावें। मुसलमानों की सुस्ती और झिझक का दूर करना बड़ा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नहीं चाहते थे कि उनके रास्ते में कहीं बाहर से कोई बाधा या रुकावटें आवें। मध्यम-वर्ग के हिन्दुओं-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होंने इस प्रकार की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होंने इसका विरोध किया। शिक्षा में ५० वर्ष आगे बढ़े हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना खुशी से कर सकते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में सरकार की पूरी सहायता पर आंखें गड़ा रक्खी थीं और वे कोई ऐसा जल्दबाजी का काम नहीं करना चाहते थे जिसमें उन्हें इस मार्ग में

[१] यह उद्धरण हेन्स कोन की "हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट" (पूर्वी राष्ट्रीयता का इतिहास) से लिया गया है।

जोखिम उठाना पड़े। इसलिए उन्होंने नवजात राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को धता बताया। ब्रिटिश-सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोंकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष जोर देने का सर सैयद का निर्णय बेशक बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगों के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण में कारगर हिस्सा ले सकना असम्भव था और उनको लाजिमी तौर पर हिन्दुओं के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही रहना पड़ता, क्योंकि हिन्दुओं में शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी आर्थिक दशा भी ज्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनमें हिन्दुओं की तरह कोई मध्यमवर्ग नहीं बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयां ऊपर से भले ही नरम दीखती हों, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रान्ति की ओर ले जानेवाली थीं। मुसलमान अभी तक प्रजातन्त्र विरोधी जागीरदाराना विचारों से जकड़े हुए थे, जबकि प्रगतिशील मध्यमश्रेणी के हिन्दू अंग्रेजी प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियों के-से विचार रखने लग गये थे। दोनों ठेठ नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम-नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम-नीति थी, जिसमें मुट्ठीभर धनवान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओं की नरम-नीति थी उस होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम-नीति जो उद्योग-धन्धों और व्यापार में धन लगाने का साधन ढूंढ़ता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञों की नजर हमेशा इंग्लैण्ड के उदार दल के सुविख्यात रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानों ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इंग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशंसक थे। टर्की और आरमीनियनों के कत्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूंकि डिसरैली का टर्की की तरफ कुछ ज्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव में वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलों में दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयद के कुछ व्याख्यानों को अगर आज पढ़ा जाय तो बड़े अजीब-से मालूम होंगे। सन् १८८७ के दिसम्बर में उन्होंने लखनऊ में उस अवसर पर

एक भाषण दिया था जब कांग्रेस का सालाना जलसा वहां हो रहा था। उसमें उन्होंने कांग्रेस की बहुत नरम मांगों की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होंने कहा था—"अगर सरकार अफगानिस्तान से लड़े या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नहीं है। सरकार ने कानून बनाने के लिए कौंसिल बना रक्खी है। उस कौंसिल के लिए वह सभी प्रान्तों से उन अधिकारियों को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाकिफ हैं, और कुछ रईसों को भी चुनती है जो समाज में अपने ऊंचे रुतबे की वजह से असेम्बली में बैठने के काबिल हैं। कुछ लोग पूछ सकते हैं कि उनका चुनाव इसलिए क्यों किया जाय कि वे रुतबेवाले हैं, काबलियत का खयाल क्यों न रक्खा जाय?... मैं आपसे पूछता हूं, क्या आप के मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेंगे कि छोटी जाति और ओछ खानदान के लोग, चाहे बी० ए० या एम० ए० ही क्यों न हों और जरूरी योग्यता रखते हों, उनपर हुकूमत करें और उनकी जानो-माल से सम्बन्ध रखनेवाले कानून बनाने की ताकत रक्खें? कभी नहीं। वाइसराय ऐसा कभी नहीं कर सकता कि सिवा ऊंचे खानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी कबूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतों में निमन्त्रण दे जिनमें उसे इंग्लेण्ड के अमीर-उमरा (ड्यूक और अर्ल) के साथ दस्तरख्वान पर बैठना पड़ता हो।....क्या हम कह सकते हैं कि कानून बनाने के लिए जो तरीके सरकार ने अख्तियार किये हैं, वे लोगों की मर्जी का खयाल रक्खे बिना ही किये गये हैं? क्या हम कह सकते हैं कि कानून बनाने में हमारा कुछ भी हाथ नहीं है? बेशक हम ऐसा नहीं कह सकते।"[1]

ये थे शब्द उस व्यक्ति के जो भारत में 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमें शक है कि अवध के ताल्लुकेदार या आगरा, बिहार या बंगाल प्रान्त के बड़े-बड़े जमीदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेंगे। लेकिन सर सैयद में ही यह निरालापन हो सो बात नहीं है। कांग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढ़े जांय तो ऐसे ही अजीब मालूम होंगे, लेकिन यह तो साफ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से साधनसम्पन्न मध्यम-श्रेणी

---

[1] हेन्स कोन का 'हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट' से उद्धृत।

के (हिन्दू) लोगों का पुराने ढंग का कुछ जागीरदार-वर्ग (मुसलमान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था। हिन्दू-जमींदारों का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यमवर्ग को मांगों के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनसे सहानुभूति रखते थे और इन मांगों के बनाने में भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज लोग हमेशा की तरह जमींदारों का साथ देते थे। दोनों ओर की साधारण जनता और निम्नश्रेणी के मध्यम-वर्ग की ओर तो किसी का कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद के प्रभावशाली और जोरदार व्यक्तित्व का मुसलमानों पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़-कॉलेज उनकी उम्मीदों और ख्वाहिशों का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। संक्रमणकाल में अक्सर ऐसा होता है कि प्रगति की तरफ ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मकसद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते हैं कि कांग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही हैं और हम लोग, जो बाद में उसमें शामिल हुए है सिर्फ दालभात में मूसरचन्द हैं। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते हैं कि दुनिया बदलती रहती है और कांग्रेस की वह पुरानी परम्परा काल के गर्भ में विलीन होकर अब सिर्फ एक यादगार भर रह गई है। इसी तरह सर सैयद की आवाज भी उस जमाने के लिए मौजूं और जरूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नहीं हो सकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढ़ी और रहे होते तो उन्होंने खुद ही अपने सन्देश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सन्देश नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदलती हुई हालत के मुआफिक बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुड़ी रह गई उसने दूसरों के लिए पुरानी लकीर को छोड़ देना मुश्किल कर दिया। दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसलमानों में ऐसी ऊंची काबलियत के लोगों का बहुत बुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ़-कॉलेज ने बड़ा अच्छा काम किया और उसने एक बड़ी तादाद में अच्छे काबिल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानों का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन जिस सांचे में वह ढाला गया था उससे वह न निकल सका—उसके ऊपर जमींदारी विचारों का असर बना ही

रहा, और उसके एक औसत विद्यार्थी का उद्देश्य सिर्फ सरकारी नौकरी ही रहा। साहस के साथ जीवन-संग्राम में उतरने या किसी ऊंचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नहीं थी। उसे तो अगर कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गई तो इसीमें अपने को धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ इस बात की याद दिलाने से सन्तुष्ट हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अंग है। इस भाईचारे के प्रमाणस्वरूप वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फैज कहते हैं और जिसको खुद तुर्कों ने ही बाद में बिलकुल उतार फेंका। अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास कर लेने के बाद—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—वह फिर इस बात के सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नहीं।

यह संकीर्ण दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही सीमित न था। हिन्दू विद्यार्थियों में भी—जो स्वभाव से ही खतरों से घबराते थे—यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बहुतों को इस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी संख्या तो थी बहुत ज्यादा और मिलनेवाली नौकरियां थीं बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इस वर्गहीन विचारशील युवकों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयद के राजनैतिक सन्देश के दम घोंटनेवाले असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के (जो उस समय तक काफी जोर पकड़ चुका था) बीच खाई चौड़ी करने में सहायक हो गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १६१० में 'इण्डियन अनरेस्ट' (भारत में अशान्ति) नामक पुस्तक में लिखा था—"यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिकरूप से कभी अपने हितों और आकांक्षाओं को ब्रिटिश राज के संगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्टता से नहीं मिलाया।" राजनीति की दुनिया में भविष्यवाणी करना खतरनाक होता है। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पांच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे

बढ़ने से रोक रही थीं, तोड़कर कांग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्त्वपूर्ण थे। इन्हीं दस बरसों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ और खत्म भी हो गया और अपनी विरासत में एक नष्ट-भ्रष्ट संसार छोड़ गया।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजों पर पहुंचे जाहिरा तौरपर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे। आगाखां मुसलमानों के नेता के रूप में प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफी सबूत थी कि मुसलमान लोग अभी तक अपनी जागीरदारी परम्परा से चिपके हुए थे; क्योंकि आगाखां कोई मध्यमवर्ग के नेता नहीं थे। वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे। ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ट सम्बन्ध रखने के कारण, अंग्रेजों के लिए वह अपने आदमी बन गये थे। बड़े शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाड़ी की तरह ज्यादातर यूरप में ही पड़े रहनेवाले। इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मजहबी या फिरकेवाराना मामलों में संकीर्ण विचारों से बहुत दूर थे। उनका मुसलमानों का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम जमींदार और बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जांय; साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने जोरों के साथ जाहिर की जाती थी। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आगाखां ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "वंग-भंग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के बारे में मुसलमानों की क्या राय है ताकि जल्दबाजी में हिन्दुओं को कहीं ऐसी राजनीतिक सुविधाएं न दे दी जांय जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दें, क्योंकि यह बहुमत ब्रिटिश राज की दृढ़ता और मुस्लिम अल्पमत के हितों के लिए, जिसकी राजभक्ति में किसीको सन्देह नहीं हो सकता था, समान रूप से खतरनाक था।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार का इस प्रकार ऊपरी तौर से समर्थन करनेवालों के सिवा और दूसरी शक्तियां भी काम कर रही थीं। नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मोजूदा परिस्थिति से दिन-दिन अनिवार्य रूप से असन्तुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ खिचता जा रहा था। आगाखां को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना पड़ा और उन्हें अंग्रेजों को एक खास ढंग की चेतावनी भी

देनी पड़ी। जनवरी १९१४ (युरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा, जिसमें सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय, और दोनों सम्प्रदायों के नरम खयाल के लोगों को एक झंडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे तरुण भारत की हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय। इसलिए यह साफ है कि आगाखां हिन्दुस्तान की राजनैतिक तब्दीली को रोकने में जितनी ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानों के साम्प्रदायिक हितों में उतनी नहीं।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानों की अनिवार्य प्रगति को न तो आगाखां और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। संसारव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही-वैसे आगाखां का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहांतक कि अलीगढ़-कांग्रेस का भी रुख बदल गया। नये नेताओं में सबसे अधिक जोरदार अली-बन्धु निकले; ये दोनों ही उस कॉलेज से निकले हुए थे। डॉक्टर मुख्तार अहमद अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानों के राजनैतिक मामलों में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह, लेकिन कुछ कम परिमाण में, श्री मुहम्मद अली जिन्ना भी भाग लेते थे। गांधीजी ने इनमें से अधिकांश नेताओं (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आमतौर से मुसलमानों को भी अपने असहयोग-आन्दोलन में घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनों में इन लोगों ने हमारी लड़ाई में प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनों कौमों के साम्प्रदायिक और पिछड़े हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र से बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो था, पर बराबर चलती रही। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की, खासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह कांग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्थाएं मुस्लिम जनता में अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अंश तक फिर प्राप्त करने में अधिक सफल रहीं। फिर भी मुस्लिम नेताओं का एक जबरदस्त दल सदा कांग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं को, जो राजनैतिक दष्टि से

पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने में कोई कसर नहीं रक्खी। इन प्रतिक्रिया-वादियों की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुंह में भी पानी आ गया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया में इनके साथ होड़ लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोंवाले बहुत से लोग या तो निकाल दिये गये या खुद ही निकल गये, और मध्यमश्रेणी के उच्च-वर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनों ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलों को सीटों के बारे में बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सर-कारी क्षेत्रों में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए नौकरियों की लड़ाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियां इतनी तो हो ही नहीं सकती थीं जो सबको मिल जातीं, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदाय-वादी इन्हींके बारे में लड़ते-झगड़ते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फिक्र में थे, क्योंकि ज्यादातर नौकरियां उन्होंने घेर रक्खी थीं और मुसलमान लोग सदा 'और-और' की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियों की लड़ाई के पीछे एक और भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो साम्प्रदायिक तो नहीं थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड़ जरूर रहा था। पंजाब, सिन्ध और बंगाल में हिन्दू लोग सब तरह से ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तों के मुसलमान गरीब, कर्जदार और देहाती थे। इसलिए इन दोनों की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता था। पिछले महीनों में प्रान्तीय धारा-सभाओं में पेश किये गये देहाती कर्ज के भार को घटानेवाले कई बिलों पर, खासकर पंजाब में, जो बहसें हुई हैं उनसे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है। हिन्दू महासभा के प्रतिनिधियों ने इन बिलों का दृढ़ता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानों की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को जाहिर है कि मुस्लिम संस्थाओं ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि

वह राष्ट्रीयता का नकली चोगा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौका तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो जिससे उच्च श्रेणी के हिन्दुओं का हित-विरोध होता हो और वह उसका विरोध न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौके आये हैं, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा में बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितों के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओं के खिलाफ हिन्दुओं ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनों ही दलों के सम्प्रदायवादियों द्वारा राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियों का सबसे अजीब प्रदर्शन तो गोलमेज कान्फ्रेंन्स में हुआ। ब्रिटिश-सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानों को नामजद करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आगाखां के नेतृत्व में तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही नहीं बल्कि सभी प्रगतिशील सम्प्रदायों की दृष्टि से सबसे खतरनाक व्यक्तियों तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आगाखां और उनके गिरोह का लार्ड लॉयड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध एक बड़ी असाधारण-सी बात थी। इतना ही नहीं, इन लोगों ने गोलमेज परिषद् में गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियों तक से समझौता कर लिया था। यह बड़े दुःख और निराशा की बात थी, क्योंकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और जोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होंने, खासकर पंजाब के लिए, स्वतन्त्रता के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रतिबन्धों की मांग की जो अंग्रेजों के हक में 'संरक्षण' थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नों में मुसलमानों को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नहीं, उलटे अपने पक्ष को ही उन्होंने नुकसान पहुंचाया और स्वतन्त्रता के साथ विश्वासघात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग में कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियों के पास तो यह भी न था।

मुझे तो स्पष्ट बात यह मालूम पड़ती है कि दोनों तरफ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नहीं हैं। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए

दुरुपयोग करते हैं और उससे बेजा फायदा उठाते हैं। दोनों ओर आर्थिक प्रश्नों को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नों को दबाया जा सकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनों दलों के साम्प्रदायिक नेता निस्सन्देह आगाखां की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायेंगे कि नरम विचारोंवालों को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब यह बात जाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहें, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहों में सरकार को राष्ट्र-विरोधी कानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनों ही मिल जाते हैं। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनों को एकसाथ ला मिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मजेदार बात भी ध्यान में रखने की है कि आगाखां का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है। १६३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी लीग के सहभोज में, जिसके सभापति लार्ड लॉयड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहां आपने लार्ड लॉयड के उन प्रस्तावों का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होंने ब्रिस्टल की कंजरवेटिव कान्फ्रेंस में ब्रिटिश जहाजी बेड़े की शक्ति को और अधिक मजबूत बनाने की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की रक्षा और इंग्लैण्ड की हिफाजत के लिए इतने चिन्तित थे कि वह इंग्लैण्ड की फौजी ताकत बढ़ाने के काम में मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ़ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जा रहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर!

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १६३४ में, यह खबर लगी कि लन्दन में खानगी तौर पर, एक फिल्म दिखलाई गई है, जिसका उद्देश था 'मुसलमानों को अंग्रेजी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र में बांध देना'। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आगाखां और लार्ड लॉयड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि शाही मामलों में आगाखां और लार्ड लॉयड दोनों इस तरह एक जान दो देह हैं, जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में सर तेजबहादुर सप्रू और मि० एम० आर० जयकर। यह बात भी गौर करने

के काबिल है कि इन महीनों में, जबकि ये दोनों एक-दूसरे से इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक्त लार्ड लॉयड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओं के विरुद्ध इसलिए एक अत्यन्त कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होंनें हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमजोरी दिखलाई थी।[1]

इधर पिछले दिनों कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओं के व्याख्यानों और वक्तव्यों में एक मजेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नहीं है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगों की शायद राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गई है। हिन्दुस्तान में 'मुस्लिम राष्ट्र' 'मुस्लिम संस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों की घोर असम्बद्धता पर खूब जोर दिया जा रहा है। इसका परिणाम लाजिमी तौर से यही निकलता है (हालांकि वह इतने खुले तौर पर नहीं रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनों संस्कृतियों में बीच-बिचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का अनन्तकाल तक बना रहना बहुत जरूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा में बह रहे है, फर्क सिर्फ इतना ही है कि उन्हें यह आशा है कि चूंकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त में उन्हींकी 'संस्कृति' का बोलबाला होगा।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृतियां' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनोमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं! हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी संगठित नहीं बल्कि बिखरा हुआ और अनिश्चित। राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है, आर्थिक दृष्टि से शेखचिल्ली जैसा है; ध्यान देने लायक भी नहीं है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके जरिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है। मध्यवर्ती युग में, और उनके बाद भी ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस में न मिल सकने-

---

[1] अभी हाल ही में कुछ अंग्रेज लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनाई है, जिसका उद्देश्य इन दोनों घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और मजबूत करना है।

वाली जातियां एक साथ मिलकर रहती थीं। टर्की के मुसलमानों के आरम्भ-काल में भी कुस्तुन्तुनिया में ऐसी हरेक 'जाति'—लैटिन ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वगैरा—अलग-अलग रहती थीं और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थीं। यह उस देशेतर भावना[1] की शुरुआत थी जो, अब से कुछ ही काल पहले, बहुत से पूर्वी देशों का हौवा बन गई थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज नहीं है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा में) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताया जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज अख्तियार करलें। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार। अन्ततोगत्वा इसका अर्थ मन की भावुकता और असलियतों खासकर आर्थिक असलियतों का सामना न करने की ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा और कुछ नहीं है। भावुकता कभी-कभी तर्क का भी तख्ता उलट देती है और हम उसे सिर्फ इस बिना पर दरगुजर नहीं कर सकते कि वह हमें इतनी तर्करहित मालूम होती है। मगर यह मुस्लिम राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियों की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अखबारों में इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने में भी न आती। भले ही बहुत से लोग इसमें विश्वास रखते हों, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह गायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृति' की भावना भी इसी किस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओं का भी जमाना तेजी के साथ जा रहा है और सारा संसार एक सांस्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनों तक अपनी-अपनी विशेषताओं, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोड़ें, और शायद बहुत काल तक छोड़ेंगे भी नहीं, मगर मशीनों का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वगैरा हैं—इन विशेषताओं को अधिकाधिक एकरूप बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नहीं कर सकता और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला

---

[1] अपनी या किसी भी देश की भौगोलिक सीमा के बाहर रहनेवालों पर उनका जाति या धर्म के कारण राजनैतिक अधिकार होना। —अनु०

संसार-व्यापी विप्लव ही इसको रोक सकता है। हिन्दुओं और मुसलमानों के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारों में जरूर काफी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनों की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करें, तो यह मत-भेद करीब-करीब लुप्त हो जाता है, क्योंकि इस दृष्टि-कोण में और परम्परागत विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान में इस समय असली झगड़ा हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति का नहीं, बल्कि इन दोनों तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक संस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम संस्कृति' की, जैसी कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें हिन्दू-संस्कृति से घबराने की जरूरत नहीं, लेकिन उन्हें पश्चिमी दैत्य का मुकाबला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं मालूम होता है कि हिन्दुओं या मुसलमानों के आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल साबित होंगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफसोस न होगा। जिस समय रेल वगैरा ने हमारे यहां प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयद अहमद ने भी अलीगढ़-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानों के लिए जोरों से इसी मार्ग को चुन लिया था। लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवा ऐसी चीज को पकड़ने के और कोई चारा नहीं रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल में हममें से किसी के लिए उसके सिवा और कोई मार्ग न था।

यह 'मुस्लिम संस्कृति' आखिर चीज क्या है? क्या यह अरबी, फारसी, तुर्की वगैरा लोगों के महान् कार्यों की कोई जातीय स्मृति है? या भाषा है? या कला और संगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नहीं पड़ता कि किसीने आधुनिक मुस्लिम कला या संगीत का जिक्र किया हो। हिन्दुस्तान में मुस्लिम विचार-धारा पर अरबी और फारसी दो भाषाओं का, और खासकर फारसी का प्रभाव पड़ा है। लेकिन फारसी के प्रभाव में धर्म का कोई निशान नहीं है। फारसी भाषा और बहुत-सी फारसी रीति-रस्म और परम्परायें हजारों वर्षोंके समय में हिन्दुस्तान में आईं और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका जोरदार असर पड़ा। फारसी तो पूर्व का फ्रांस था, जिसने अपनी भाषा और संस्कृति अपने पास-पड़ोस के सब देशों में फैला दी। यह हम सब भारतीयों की एक समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान जातियों और देशों के पुराने कारनामों का गर्व मुसलमानों को एक साथ बांधनेवाले सूत्रों में शायद सबसे अधिक मजबूत सूत्र है। क्या किसी को इन जातियों के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानों से डाह है; जबतक वे इन कारनामों को याद करें और दिल से उनका पोषण करना चाहें, तबतक कोई भी इन्हें उनसे छीन नहीं सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभी के लिए समान रूप से गौरव की चीज है, क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि यूरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बांध देनेवाली यही चीज हैं। मैं जानता हूं कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड[1] के वक्त अरब लोगों के साथ हुए झगड़ों का हाल पढ़ा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों से रही है। मैं निष्पक्ष होने की कोशिश करता हूं पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूं, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आखिर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज? लेकिन मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इसमें सफल नहीं हुआ। मैं देखता हूं कि उत्तरी हिन्दुस्तान में ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानों और हिन्दुओं की एक नगण्य-सी संख्या है जिन पर फारसी भाषा और परम्पराओं की छाप पड़ी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिह्न नजर आते हैं। एक खास तरह का पायजामा न ज्यादा लम्बा न ज्यादा छोटा; डाढ़ी का बढ़ाया जाना और मूछों के बनाने का एक खास तरीका; और एक खास तरहका टोंटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढंग के रस्मोरिवाज हैं। धोती पहनना; चोटी रखना और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये फर्क भी ज्यादातर शहरी हैं और अब कम होते जा रहे हैं। मुसलमान किसान और मजदूर और हिन्दू किसान और मजदूरों में कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। मुसलमानों के

---

[1] मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है। —अनु०

शिक्षित-वर्ग में डाढ़ी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालांकि अलीगढ़ में लाल रंग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब भी पसन्द की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालांकि तुर्कों ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखा है !) ; मुसलमान स्त्रियां साड़ी को अपनाने लगी हैं और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही हैं। मेरी अपनी रुचि तो इनमें से कुछ तौर-तरीकों को पसन्द नहीं करती और डाढ़ी, मूंछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है; लेकिन मैं अपनी रुचि को दूसरों के गले नहीं मढ़ना चाहता। हां, डाढ़ियों के विषय में मैं यह मानता हूं कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उड़ाना शुरू किया था तो मुझे बड़ी खुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पड़ता है कि उन हिन्दुओं और मुसलमानों को देखकर मुझे बड़ी दया आती है जो हमेशा पुराने जमाने का रोना रोया करते हैं और उन चीजों को पकड़ने की कोशिश करते रहते हैं जो उनके हाथ से खिसकती जा रही हैं। मैं प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूं और न उसे बिलकुल छोड़ ही देना चाहता हूं, क्योंकि हमारे अतीत में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो सुन्दरता में अनुपम हैं। ये सदा रहेंगी, इसमें मुझे सन्देह ही नहीं है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओं को तो नहीं पकड़ते, बल्कि ऐसी चीजों को पकड़ने दौड़ते हैं जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती हैं।

पिछले कुछ वर्षों में मुसलमानों को बार-बार धक्के पहुंचे हैं और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। इस्लाम के बानी, टर्की ने खिलाफत को ही खत्म नहीं कर दिया, जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० में बड़ी बहादुरी से लड़े थे, बल्कि वह तो मजहब से भी दूर-दूर कदम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान में एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई खाम-खयाली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ में कहा था—"विधान में यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रखी गई है और पहला मौका मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होंने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिस्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और अपनी राजनीति को मजहब से बिलकुल अलग रखे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे हैं, सिवा खास अरब के, जो बहुत पिछड़ा हुआ है। फारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व मुस्लिम काल की याद कर रहे हैं। हर जगह मजहब पीछे हटता

जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप में प्रकट हो रही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' हैं जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों को लिये हुए हैं। तो फिर 'मुस्लिम राष्ट्र' और 'मुस्लिम संस्कृति' का क्या होगा? भविष्य में क्या ये केवल कल्याणकारी ब्रिटिश राज्य का गुणगान करनेवाले उत्तर भारत के लोगों में ही पाये जायंगे?

यदि प्रगति का यही अर्थ है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे, तो यह कहना पड़ेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियों का और हमारी सरकार का भी उद्देश्य, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी संकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

५७

दुर्गम घाटी

दुबारा गिरफ्तार होने और सजा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेन्स वगैरा का दौरदौरा था, और कांग्रेस भी गैर-कानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी। ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख अख्तियार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा था उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहनेवाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पड़े बिना न रहा। मैं जमकर कोई काम नहीं कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना-कुछ हो सके कर डालूं।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नहीं थी और जहां तक हो सकता था मैं ऐसी कार्रवाइयों से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियों का कारण बनें। अपने प्रान्त में और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहों से बुलावे आ रहे थे। मैंने सबसे इन्कार कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि कोई भी व्याख्यानों का दौरा आन्दोलनकारी हलचल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता था, और वह हलचल सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नहीं सकता था। जब कभी मैं किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता—जैसे गांधीजी या वर्किंग-कमेटी के सदस्यों से सलाह-मशवरा करने के लिए—तो मैं सार्वजनिक सभाओं में भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर में एक बहुत बड़ी सभा हुई और बड़ा शानदार जलूस निकाला गया; दिल्ली की सभा में तो इस कदर भीड़ थी जितनी मैंने पहले कभी वहां देखी ही नहीं। और इन सभाओं की सफलता से यह स्पष्ट-सा हो चला था कि सरकार ऐसी सभाओं का बार-बार होना कभी सहन नहीं करेगी। दिल्ली में, सभा के बाद ही, बड़े जोरों की अफवाह फैली कि मेरी गिरफ्तारी होनेवाली है; लेकिन मैं बच गया और

इलाहाबाद लौट आया। रास्ते में मैं अलीगढ़ ठहरा, जहां मैंने मुस्लिम यूनि-वर्सिटी के विद्यार्थियों की सभा में एक भाषण दिया।

ऐसे समय में जबकि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामों को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नहीं था कि राजनीति से इतर कार्यों में भाग लिया जाय। कांग्रेसवालों में मुझे एक जोरदार प्रवृत्ति नजर आई, उग्र राजनैतिक कार्यों से बचकर ऐसे मामूली कामों में पड़ जाने की, जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।

अक्तूबर १९३३ के बीच में हमने इलाहाबाद में, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चित करने के लिए, युक्तप्रान्त के कांग्रेसी कार्य-कर्ताओं की बैठकें कीं। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी एक गैर-कानूनी संस्था थी, और चूंकि हमारा उद्देश कानून की अवज्ञा करने का नहीं बल्कि आपस में मिलने का था, इसलिए हमने इस कमेटी को बाकायदा नहीं बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यों को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्ताओं को खानगी तौर पर विचार-विनिमय की इच्छा से बुलाया था। हमारी मीटिंग खानगी तो होती थीं, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। इसलिए अखीरी दमतक हमें इस बात का पता नहीं लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नहीं। इन मीटिंगों में हम लोग संसार की स्थिति—घोर मन्दी, नाजीवाद, साम्यवाद वगैरा पर बहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ हो रहा है, उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखें। इस कान्फ्रेंस ने अन्त में एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमें भारतवासियों के लक्ष्य का बयान और सविनय-भंग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देशव्यापी सविनय-भंग की कोई सम्भावना नहीं है और व्यक्तिगत सविनय-भंग भी या तो शीघ्र ही खत्म हो जानेवाला है या एक बहुत ही संकुचित रूप में जारी रह सकता है। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता था, क्योंकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो जारी ही था। इसलिए बाकायदा सविनय-भंग जारी रखने का जो निश्चय

हमने किया, वह कहने ही मात्र के लिए था। असल में तो हमारे कार्यकर्ताओं को यह आदेश था कि जान-बूझकर ऐसा काम न करें कि व्यर्थ ही गिरफ्तार हों। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहें और अगर काम के दौरान में गिरफ्तारी हो जाय तो उसे खुशी के साथ मंजूर कर लें। उनसे खासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करें और यह जानने की कोशिश करें कि लगान में छूट और सरकार की दमन-नीति—इन दोनों के परिणामस्वरूप किसानों की क्या अवस्था है ? उस वक्त लगानबन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना-कान्फ्रेंस के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जा चुका था और यह साफ जाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमें वस्तुतः कोई गैर-कानूनी बात नहीं थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इससे गिरफ्तारियां तो होंगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्ता गांवों में पहुंचते, वे गिरफ्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा अभियोग लगाया जाता और सजा दे दी जाती। अपने बहुत-से साथियों की गिरफ्तारियों के बाद मेरा इरादा भी था कि मैं इन देहाती क्षेत्रों में जाऊं। लेकिन कई और जरूरी कामों में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पड़ा, और बाद में तो इसके लिए मौका ही न रहा।

इन महीनों में वर्किंग-कमेटी के सदस्य सारे देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमेटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था—इसलिए नहीं कि वह गैरकानूनी थी, लेकिन इसलिए कि पूना के बाद, गांधीजी के आदेश से, सारी कांग्रेस कमेटियां और कांग्रेस दफ्तर अस्थायी तौर पर बन्द कर दिये गये थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी; क्योंकि जेल से छूटकर आने पर मैंने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य में था। उस समय न तो कोई ठीक दफ्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति; और गांधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बड़े भारी

अखिल-भारतीय दौरे में लगे थे। हमने उनको दौरे के बीच में जबलपुर और दिल्ली में पकड़ पाया और वर्किंग कमेटी के मेम्बरों के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरों ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरों के मतभेद को साफतौर से सामने लाकर रख दिया। बस, यहीं गाड़ी अटक गई और कोई ऐसा रास्ता नहीं नजर आता था जो सबको पसन्द हो। दोनों पक्षों, सत्याग्रह जारी रखने-वालों और बन्द करनेवालों के बीच गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य हो सकता था। और चूंकि वह बन्द करने के पक्ष में नहीं थे इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वह चलती रही।

कांग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ने के प्रश्न पर भी कांग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालांकि इस समय वर्किंग कमेटी के सदस्यों की इस तरफ कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नहीं था; इसके लिए अभी समय भी नहीं आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल तक कार्यान्वित होनेवाले ही नहीं थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई जिक्र ही न था। अपनी निजी राय में तो मुझे चुनाव लड़ने में सिद्धान्तरूप से कोई आपत्ति नहीं थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पड़ेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दो-लन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायंगे और समझौते की प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेंगे।

इस बीच में लगातार लेख और वक्तव्य अखबारों में भेजता रहा। कुछ हदतक मुझे अपने लेखों को नरम करना पड़ता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे तरह-तरह के कानूनों का घातक जाल दूर तक फैला था। मैं कुछ खतरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी अखबारों के मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। यों तो सब अखबार वाले मेरे लिए भले थे और बहुत-सी बातों में मेरे हक में रिआयत भी कर जाते थे, लेकिन हमेशा नहीं। कभी-कभी कोई लेखांश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बड़ी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही नहीं होने पाया। जनवरी सन् १९३४ में जब मैं कलकत्ते में था तो एक प्रमुख दैनिक पत्र के सम्पादक मुझसे मिलने आये।

उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रों के सम्पादक-शिरोमणि के पास राय के लिए भेज दिया गया था, और चूँकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामंजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय को छोड़कर और कोई नहीं थे।

अखबारों को दी गई कुछ मुलाकातों और वक्तव्यों में मैंने कई दलों और व्यक्तियों की बड़ी कड़ी आलोचना करने की धृष्टता की थी। इससे लोग बहुत नाराज हुए। इस नाराजगी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति—जिसके प्रसार में गांधीजी का भी हाथ था। खुद गांधीजी ने इसका उदाहरण पेश किया था और प्रमुख कांग्रेसियों ने भी कुछ कम-बढ़ मात्रा में उनके मार्ग का अनुसरण किया, हालांकि हमेशा नहीं होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावना भरे वाक्यों का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचकों को गलत तर्क और अवसरवादी चालों को काम में लाने का मौका मिल जाता था। असली प्रश्नों को दोनों दल उखाड़ देते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-खरोश के साथ ऐसा वादविवाद शायद ही कभी होता, जैसा कि उन देशों को छोड़कर, जहां कि फासिज्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशों में होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं कद्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यों की तेजी पर उनको थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ—इसलिए कि मैं करीब-करीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओं पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब भग्न आशाओं को लिये बैठे हैं। व्यक्तिगत रूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का खयाल नहीं होता था, क्योंकि खुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नहीं हो रही थी। जबसे गांधीजी मेरे राजनैतिक मानस-क्षितिज पर आये, मैंने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामों के डर से अपने दिल के भावों को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने राजनैतिक क्षेत्र में पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रों में इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और खतरनाक हो जाना सम्भव

है)—मुझे अक्सर कठिनाई में डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ सन्तोष भी प्रदान किया है। मैं समझता हूं, केवल इसी कारण हममें से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावों से बरी रहे हैं। यह खयाल भी, कि लोगों की एक बहुत बड़ी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सान्त्वना पहुंचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय-भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरों से भुला दिये जाने का खयाल, मैं समझता हूं, सब खयालों से ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दुःखमय संसार में मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है? कितनी ही बार हरेक बात बिगड़ती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढ़ते जाते हैं फिर भी, जब हम अपने चारों ओर रहनेवाले लोगों को देखते हैं तो तरह-तरह की शंकाएं आ घेरती हैं। विविध घटनाओं और परिवर्तनों, यहांतक कि व्यक्तियों और दलों पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और खीज हो जाती है। और पिछले कुछ दिनों से तो मैं ऐसे लोगों पर बहुत ज्यादा भिन्नाने लगा हूं जो जीवन की समस्याओं पर संजीदगी से विचार नहीं करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भूल जाते हैं और उनका जिक्र करना भी बेजा समझते हैं; क्योंकि इन प्रश्नों का असर उनके पैसों या उनकी चिरपोषित धारणाओं पर पड़ता है। लेकिन मैं समझता हूं कि इस रोष, इस पराजय, और इस खिसियाहट के बावजूद मैंने निज की और दूसरों की बेवकूफियों पर हंसने की अपनी सहज प्रवृत्ति नहीं खोई है।

परमात्मा की कृपालुता में लोगों की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है। किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की परीक्षा मान ली जाती है। जेरार्ड हॉपकिन्स की ये सुन्दर पंक्तियां अनेक हृदयों में गूंजती हैं—

> "सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूं विवाद;
> किन्तु नाथ मेरी भी है यह न्याय युक्त फरियाद।
> और फूलते-फलते हैं क्यों पापी कर कर पाप?
> मुझे निराशा देते हैं क्यों सभी प्रयत्न—कलाप?

हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहां वे मद्य और विषयों के दास,
भोग रहे हैं पड़े मौज में वे जीवन के विभव-विलास !
और, यहां मैं तेरी खातिर जीवन काट रहा हूं नाथ !
हां, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओं के साथ ।"[1]

प्रगति में, शुभकार्यों में, आदर्शों में, मानवी सज्जनता में और मानव भविष्य की उज्ज्वलता में विश्वास । क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नहीं हैं ? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहें तो तुरन्त हम कठिनाई में पड़ जायंगे । पर हमारे अन्तस्तल में कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है; अन्यथा इनके बिना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान हो जाय ।

मेरे समाजवादी विचारों के प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमेटी के कुछ सह-योगियों तक को घबरा दिया । वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते,जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहे थे; लेकिन अब तो ऐसा खयाल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मैं स्थापित स्वार्थों को भड़का रहा हूं, और मेरी गति-विधि अहानिकर नहीं कही जा सकती थी । मैं जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नहीं हैं,लेकिन मैं यह हमेशा खयाल करता रहा कि कांग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत से मुझे, बिना कांग्रेस को उसमें घसीटे, समाजवादी विचारों का प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है । जब मैंने यह महसूस किया कि वर्किंग कमेटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । मैं उनको एक विकट परिस्थिति में डाल रहा था और इसपर उन्होंने अपनी नारा-जगी जाहिर की । लेकिन मैं करता भी तो क्या ? जिस चीज को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग समझता था उसे छोड़ देने के लिए मैं कभी तैयार नहीं था । अगर दोनों में विरोध होता तो मैं वर्किंग कमेटी से इस्तीफा दे देना इससे कहीं बेहतर समझता । लेकिन जब कि कमेटी गैर-

---

[1]अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद ।

कानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मैं उससे इस्तीफा क्या देता ?

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आई। मेरा खयाल है, यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गांधीजी ने मद्रास से मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होंने मेरे पास 'मद्रास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमें उनकी दी हुई एक इंटरव्यू का वर्णन था। इंटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय में प्रश्न किये थे और उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने मेरे कार्य-कलाप पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ़ आशा प्रकट की थी; और यह भी कहा था कि मैं कांग्रेस को इन नये मार्गों में नहीं घसीटूंगा। अपने बारे में इस तरह का जिक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—इसी इंटरव्यू में आगे दी हुई—जमींदारी प्रथा के लिए गाँधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत जरूरी अंग है। इसने मुझे बड़ी हैरत में डाल दिया, क्योंकि बड़ी-बड़ी जमींदारियों या ताल्लुकेदारियों की तरफ़-दारी करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे संसार में ये प्रथाएं नष्ट हो चुकी हैं और हिन्दुस्तान में भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं कि इनका अन्त दूर नहीं है। खुद ताल्लुकेदार और जमींदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफी मुआवजा मिल जाय।[1] यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापों के बोझ से डूबी जा रही है। लेकिन फिर भी गांधीजी इसके पक्ष में थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बातें करते थे। मैंने

---

[1]अखिल-बंगाल जमींदार कान्फ्रेंस की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी० एन० टैगोर ने, २३ दिसम्बर १९३४ को, अपने भाषण में कहा था—"निजी तौर पर मुझे उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन जमींदारों को पर्याप्त मुआवजा देकर उनकी जमीन का राष्ट्रीकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लेण्ड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) के मातहत होने के कारण बंगाल के जमींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली जमानों के जमींदारों से ज्यादा सम्पन्न हैं।" राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टैगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।

फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मैं ताज्जुब करने लगा कि भविष्य में मैं कहांतक उनके साथ सहयोग कर सकूंगा। क्या मैं वर्किंग कमेटी का सदस्य बना रहूं ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही नहीं था, और कुछ हफ्तों बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासंगिक ही हो गया।

घरेलू झगड़ों में मेरा बहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी मां का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभी तक रोगशय्या पर पड़ी थीं, पर उनके जीवन को कोई खतरा नहीं मालूम होता था। मैंने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलों की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनों से परवा नहीं की गई थी और जो बड़ी गड़बड़ में पड़ गये थे। हम लोग अपने बूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे और खर्च कम करने की जाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नजर नहीं आती थी। मुझे घर का खर्च चलाने की तो कोई खास फिक्र न थी। मैं तो करीब-करीब उस वक्त के इन्तजार में था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान संसार में धन और सम्पति बड़ी उपयोगी चीजें हैं, लेकिन जिस मनुष्य को लम्बी यात्रा पर जाना हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप बन जाती हैं। धनवान आदमियों के लिए ऐसे कामों में हाथ डालना बहुत कठिन हो जाता है जिनमें कुछ खतरा हो; उनको सदा अपने धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्जी के मुताबिक उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे जब्त कर सकती हो ? इसलिए जो थोड़ा-बहुत मेरे पास था उससे भी छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यकताएं बहुत थोड़ी थीं और मुझे जरूरत के मुताबिक कमा लेने की अपनी शक्ति में विश्वास था। मुझे सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन के इन अन्तिम दिनों में तकलीफ न उठानी पड़े या उनके रहन-सहन के ढंग में कोई खास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फिक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका यूरप में रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। अथवा, इस तरह का हम खयाल करते थे, क्योंकि हमें उसका कभी अभाव तो था नहीं। मुझे यकीन है कि जब ऐसा समय आयेगा कि हमारे पास रुपये की कमी पड़ेगी तो हमें दुःख ही होगा।

किताबें खरीदने की खर्चीली आदत का छोड़ना मेरे लिए शायद मुश्किल होगा।

उस वक्त की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के गहने, हमारी सोने-चांदी की चीजें और छोटा-मोटा बहुत-सा सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने जेवर बेचने का खयाल पसन्द नहीं आया, हालांकि करीब १२ साल से उसने उन्हें नहीं पहना था और वे बैंक में पड़े हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लड़की को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद जिले के गांवों में हमारे कार्यकर्ता कोई गैर-कानूनी कार्रवाइयां नहीं कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ्तारियां हो रही थीं। इन गिरफ्तारियों का तकाजा था कि हम लोग उनका अनुकरण करें और उन गांवों में जांय। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी के हमारे महान् प्रभावशाली मन्त्री रफी अहमद किदवई भी गिरफ्तार हो चुके थे। २६ जनवरी—स्वतन्त्रता-दिवस नजदीक आ रहा था। उसे दरगुजर नहीं किया जा सकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने में, आर्डिनेन्सों और पाबन्दियों के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जा रहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता? मेरे सिवा आल इंडिया कांग्रेस-कमेटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप से कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो करीब-करीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए; लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय कायम न हो सकी। मुझे आमतौर पर लोगों में ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नजर आई जिनके फल-स्वरूप बहुत-से लोग पकड़े जा सकते थे। आखीरकार मैंने स्वतन्त्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी-सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढंग हर जगह के लोगों के निश्चय पर छोड़ दिया। इलाहाबाद में हमने सारे जिले में काफी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा खयाल था कि इस स्वतन्त्रता-दिवस के संयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायंगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बंगाल का एक दौरा करना चाहता था। इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियों से मिलना था, पर

असल में यह बंगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षों की असाधारण मुसीबतों के लिए श्रद्धाञ्जलि थी। मैं भलीभांति जानता था कि मैं उनकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज की दवा नहीं थे, मगर फिर भी इसका स्वागत ही किया गया था—और खासकर बंगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था। और इस बात से दुःखी हो रहा था कि जरूरत के वक्त बाकी हिन्दुस्तान ने उसे छोड़ दिया। यह भावना न्यायोचित तो नहीं थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरों से उसकी बीमारी के बारे में सलाह लूं। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनों ने कुछ हदतक इसे दरगुजर करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते में या किसी और जगह बहुत दिनों तक ठहरना पड़े। जेल से मेरे बाहर रहने के थोड़े समय में हम दोनों यथासम्भव एक साथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा था कि जब मैं जेल चला जाऊंगा तो उसे इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूंकि गिरफ्तारी नजदीक नजर आ रही थी, इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते में कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाकी बातें बाद में भी तय की जा सकती थीं।

इसलिए हम दोनों ने—कमला ने और मैंने—१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतन्त्रता-दिवस की सभाओं से पहले ही हम लौट आना चाहते थे।

५८

भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद में अपने मकान के बरामदे में खड़ा किसानों के एक गिरोह से मैं कुछ बातें कर रहा था। माघ-मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहां मिलने-जुलनेवालों का तांता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और अपने को सम्हालना मुश्किल हो गया। मैंने पास के एक खम्बे का सहारा ले लिया। दरवाज़ों के किवाड़ भड़भड़ाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, खड़खड़ाहट की आवाज आने लगी। मुझे भूकम्पों का कुछ अनुभव नहीं था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैं जल्दी ही समझ गया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानों से बातचीत जारी रक्खी और उन्हें भूचालों के बारे में बतलाने लगा। मेरी बूढ़ी मौसी ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझे मकान के बाहर दौड़ आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल भद्दा मालूम हुआ। मैंने भूकम्प को कोई गम्भीर बात नहीं समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मंजिल में अपनी माता को बिस्तर पर पड़ी हुई, और वहीं अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बांध रही थी, छोड़ देने और अपने को बचा लेने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द हो गये। उन्होंने चन्द मिनटों की बातचीत के लिए एक मसाला पैदा कर दिया पर लोग उसे जल्दी ही करीब-करीब भूल-से गये। उस वक्त हम नहीं जानते थे, और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे, कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानों के लाखों आदमियों के लिए कितने घातक साबित हुए होंगे।

उसी शाम को कमला और मैं कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाड़ी में बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-पीड़ित प्रदेश के

दक्षिण हिस्से में होकर गुजरे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प से हुए घोर अनर्थ के बारे में हमें कोई ख़बर नहीं मिली। दूसरे दिन इधर-उधर से कुछ समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास होने लगा।

हम अपने कलकत्ता के प्रोग्राम में लग गए। कई डाक्टरों से बार-बार मिलना पड़ा और अन्त में यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ता आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अर्से से नहीं मिले थे। चारों तरफ दमन के कारण लोगों के दिलों में जो डर बैठ गया था उसका, जब तक मैं वहां रहा, मुझे काफी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कहीं उनपर आफत न आ जाय; वे बहुत आफतें झेल चुके थे। वहां के अखबार भी, अन्य प्रान्तों के अखबारों से अधिक, फूंक-फूंककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय में भी वैसी ही शंका और उलझनें थीं, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागों में। वास्तव में यह शंका ही थी, भय उतना नहीं, जो सब प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यों में बाधा डाल रही थी। फासिस्ट प्रवृत्तियां बहुत जोरों से उदय हो रही थीं, और सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तियां कुछ-कुछ ऐसे अस्पष्ट रूप में और आपस में इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थीं कि इन दलों में भेद-निर्णय करना कठिन था। आतंकवादी आन्दोलन के बारे में, जिसकी तरफ सरकारी हलकों का बहुत ज्यादा ध्यान खिंचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध में उसकी ओर से खूब विज्ञापन किया जा रहा था, ज्यादा पता लगाने की न तो मुझे फुरसत थी और न कोई मौका ही। जहांतक मुझे मालूम हुआ, इसमें कोई राजनैतिक महत्ता नहीं रह गई थी और न आतंकवादी दल के पुराने सदस्यों की इसमें कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही बदल गई थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियों का संयम छुड़ा दिया था और बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनों तरफ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतंकवादियों की तरफ से तो यह काफी स्पष्ट था। सरकार की तरफ से भी यही रुख ज्यादातर प्रकट हो रहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लड़ाई जारी रक्खी जाय; बजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुकाबला करके उसे रोका जाय। आतंकवादी कार्यों से साबका पड़ने पर कोई भी सरकार उनका

मुकाबला किये बिना और उनको दबाने की कोशिश किये बिना नहीं रह सकती। लेकिन शान्ति और गम्भीरता के साथ नियन्त्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की बात है, बनिस्बत ऐसे अत्याचारों के जो अपराधियों और निरपराधियों पर अंधाधुन्धी से किये जांय—खासकर निरपराधों पर, क्योंकि इनकी संख्या जरूर ही बहुत ज्यादा होती है। शायद ऐसे खतरे के समय में गम्भीर और धीर रहना आसान नहीं है। आतंकवादी घटनाएं बहुत कम होती जा रही थीं, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी; और यह बात उन लोगों के धैर्य को डावांडोल करने के लिए काफी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनाएं खुद कोई बीमारी नहीं हैं, बल्कि बीमारी का एक लक्षण है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणों का उपचार करना बिलकुल बेकार है।

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियां, जिनका आतंकवादियों से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित हो जाते हैं। साहसी नवयुवकों का झुकाव हमेशा गुप्त मन्त्रणा और खतरे की तरफ हो जाता है; उनकी इच्छा जानकर बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते हैं कि यह सब हल्ला-गुल्ला किसलिए है और इन मामलों की तह में कौन-कौन लोग हैं? दुनियां में कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा का यह तकाजा है। इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नहीं होती—आतंकवादी कार्य करने की तो किसी हालत में भी नहीं—लेकिन इनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देहपात्र बना देने के लिए काफी होता है। अगर इनकी किस्मत में कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इसकी तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नजरबन्दों की जमात में या नजरबन्दों की किसी जेल में धर दिये जांय।

यह कहा जाता है कि न्याय और व्यवस्था भारत में ब्रिटिश-राज्य की गौरवपूर्ण सफलताओं में गिने जाते हैं। मैं खुद भी सहज स्वभाव से उनका समर्थक हूं। मुझे जीवन में अनुशासन पसन्द है और अराजकता, अशान्ति और अयोग्यता नापसन्द। लेकिन कडुवे अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय में मेरे दिल में शंका पैदा कर दी है जिनको राज्य और सरकारें

जनता पर जबरन लाद देती हैं। कभी-कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, और न्याय तो केवल प्रबल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतंक का प्रतिबिम्ब। कभी-कभी तो, जो चीज न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना ज्यादा ठीक मालूम होता है। कोई सफलता, जो चारों ओर छाये हुए आतंक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और जो इसके बिना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फौजी शासन के समान है, कानूनी शासन नहीं। कल्हण कवि के हज़ार वर्ष पुराने 'राजतरंगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य में न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बराबर काम में आये हैं और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे हैं 'धर्म' और 'अभय'। न्याय सिर्फ कानून से कुछ बेहतर चीज थी और व्यवस्था लोगों की निर्भयता थी। आतंकित जनता पर 'व्यवस्था' लादने की बनिस्बत उसे निर्भयता सिखलाने की यह भावना अधिक जरूरी है।

हम साढ़े तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से में मैंने तीन सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ता में किया था, इस बार भी आतंकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियां बतलाई, और इसके बाद मैं उन तरीकों पर भी बोला जो सरकार ने बंगाल में अख्तियार किये थे। मैं काफी जोश के साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के विवरणों से मैं बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुंचाई, वह थी; वह तरीका जिसके जरिये सारी जनता का अंधाधुंध दमन कर मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद में, कलकत्ता में मुझपर जो मुकदमा चला उसमें मेरे यही तीनों भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सजा इन्हीं का परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुंचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नजदीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार जाना था, और वह इस

स्थान को देखने खासतौर पर आई थी, क्योंकि हम अपनी बेटी को वहां भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनों बाद मैट्रिक की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमें परेशान कर रहा था। मैं इसके बिलकुल खिलाफ था कि वह सरकारी या अर्ध-सरकारी यूनीवर्सिटियों में दाखिल हो: क्योंकि मैं उन्हें नापसन्द करता था। इनके चारों ओर का वातावरण सरकारी, और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमें से पहले भी ऊंचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियां निकली हैं और आगे भी निकलती रहेंगी। पर ये थोड़े-से अपवाद यूनीवर्सिटियों को नौजवानों की उदात्त प्रवृत्तियों को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नहीं बचा सकते। शान्तिनिकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहां इस घातक वातावरण से बचा जा सकता था। इसलिए हमने उसे वहीं भेजने का निश्चय किया, हालांकि कुछ बातों में वह दूसरी यूनीवर्सिटियों की तरह बिलकुल अप-टू-डेट और सब तरह के साधनों से पूर्ण नहीं थी।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के प्रश्न पर विचार करनें के लिए पटना ठहरे। वह अभी जेल से छूटकर आये ही थे और लाजिमी तौर पर उन्होंने पीड़ितों की सहायता के गैर-सरकारी काम में सबसे आगे कदम रक्खा। हमारा यहां पहुंचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योंकि हमारा कोई भी तार उन्हें नहीं मिला था। कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह खंडहर हो गया था; पहले वह ईंटों की एक बड़ी भारी दुमंजिला इमारत थी। इसलिए और बहुत-से लोगों की तरह हम भी खुले में ही ठहरे।

दूसरे दिन मैं मुजफ्फरपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे, पर अभी तक सिवा कुछ खास रास्तों के, कहीं भी मलवा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। इन रास्तों को साफ करते वक्त बहुत-सी लाशें निकली थीं। इनमें कुछ तो विचित्र भावमयी अवस्थाओं में थीं, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हों। इमारतों के खंडहरों का दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फौरन

प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो कांग्रेस में थे वे भी, और जो नहीं थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमें जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जांय। लेकिन दूसरे साथियों को, और मुझे भी कोई कारण नहीं नजर आता था कि भूकम्प से भी हमारे प्रोग्राम में क्यों खलल पड़े ? बहुत-से लोगों का खयाल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाजी और गिरफ्तारियां कर बैठे और उसकी तरफ से कुछ मामूली दस्तन्दाजी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहां के कुछ गांवों में और कुछ दूसरे शहरों में गिरफ्तारियां हुईं।

बिहार से लौटने के कुछही दिन बाद मैंने भूकम्प के सम्बन्ध में एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त में धन के लिए अपील की गई थी। इस सम्बन्ध में मैंने भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिनों तक बिहार-सरकार की अकर्मण्यता की आलोचना की थी। मेरा इरादा भूकम्प-पीड़ित इलाके के अफसरों की आलोचना करने का नहीं था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा था जिससे बड़े-से-बड़े दिलेरों के भी दिल दहल जाते और मुझे इसका अफसोस हुआ कि कुछ शब्दों से ऐसा आशय निकाला जा सकता था; लेकिन मैंने यह तो बड़े जोरों-से जरूर महसूस किया कि शुरू में बिहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियों ने कुछ ज्यादा कारगुजारी दिखलाई होती, खासकर मलवा हटाने में तो बहुत-सी जानें बच जातीं। खाली मुंगेर शहर में ही हजारों की जानें गईं, और तीन हफ्ते बाद भी मैंने देखा कि मलवे का पहाड़-का-पहाड़ ज्यों-का-त्यों पड़ा था, हालांकि कुछ ही मील दूर जमालपुर में हजारों रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प के पीछे कुछ-ही घंटों में इस काम में लगाया जा सकता था। भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी जिन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तजाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दबे पड़े थे उनकी जान बचाने में उसने सरगरमी नहीं दिखाई। इन इलाकों में म्युनिसिपैलिटियां तो रही ही नहीं थीं।

मैं समझता हूं कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद में मुझे पता लगा कि भूकम्प-पीड़ित इलाके के ज्यादातर लोग मुझसे सहमत थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गई थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नहीं बल्कि उसको तेजी से काम करने के लिए प्रेरित

करने की नीयत से की गई थी। इस बारे में किसीने भी सरकार पर यह दोष
नहीं लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई गलत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई
करने में आनाकानी की। यह तो एक अजीब और निराश कर देनेवाली परिस्थिति
थी और इसमें होनेवाली भूलें क्षम्य थीं। जहांतक मुझे मालूम है (क्योंकि मैं जेल
में हूं), बिहार सरकार ने बाद में भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बड़ी
तेजी और मुस्तैदी से काम किया।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज हुए, और तुरन्त कुछ-ही दिनों बाद
बिहार के कुछ लोगों ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार
की प्रशंसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध
रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य करीब-करीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गई।
यह बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गई, इसलिए
राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए। हिन्दुस्तान में
फैले हुए उस रवैये का यह एक मजेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना
को—पश्चिमी देशों में यह एक बहुत मामूली चीज समझी जाती है—पसन्द
नहीं करता। यह फौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नहीं कर सकती।
सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश-सरकार और उसके ऊंचे हाकिम-हुक्काम
कोई गलती नहीं कर सकते! ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राज-
द्रोह है!

इसमें विचित्रता यह है कि शासन में असफलता और अयोग्यता का आरोप
कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने की बनिस्बत बहुत ज्यादा बुरा समझा
जाता है। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल में डाल दिया जाय,
मगर सरकार इसकी आदी हो गई है और असल में इसकी परवा भी नहीं करती।
आखिर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह करीब-करीब एक वाहवाही
की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक और कमजोर कहा जाना उसके
आत्म-सम्मान की जड़ पर कुठाराघात करता है; इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज
हाकिमों की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है।
ये लोग उस अंग्रेज पादरी की तरह हैं जो ईसाई धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप
को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार हो जाता है लेकिन अगर उसे कोई
बेवकूफ या नालायक कहे तो वह गुस्सा होकर मारने को दौड़ता है।

अंग्रेज लोगों में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानो कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन में कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश प्रभाव कम हो जाय या निकल जाय, तो यहां का शासन और भी ज्यादा खराब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास को रखते हुए, उग्रमतवादी और उन्नतिशील विचारोंवाले अंग्रेज यह कहते हैं कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नहीं हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे में गिरना ही चाहते हैं तो उनको गिरने दिया जाय। मैं नहीं जानता कि ब्रिटिश प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इसपर बहुत-कुछ निर्भर है कि अंग्रेज लोग किस तरह से निकलकर जांय और उस समय भारत में किसका अधिकार हो; इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बातें और भी हैं। अंग्रेजों की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की मैं अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूं जो आगे की हालत से कहीं अधिक बदतर और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमें मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होंगे और गुण एक भी नहीं। इससे भी ज्यादा आसानी से मैं उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूं जो, भारतवासियों के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक अच्छी और लाभकारी होगी जिसकी हमें आज सम्भावना हो सकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की मशीन इतनी कारआमद न हो और शासन-विधान इतना भड़कदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आदर्श को ऊंचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होंगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मैं स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नहीं हूं। स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव में जनता के लिए सु-राज हो। चूंकि मेरा विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश सरकार, भूतकाल में उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मैं महसूस करता हूं कि भारत में उसकी उपयोगिता जो कुछ थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्वतन्त्रता का सच्चा औचित्य इसीमें है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊंची हो, उसकी औद्योगिक और सांस्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो

विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम है। ब्रिटिश सरकार और इंडियन सिविल सर्विस भारत में मनमानी करने की ताकत भले ही रखती हो, पर वह भारत के तात्कालिक प्रश्नों को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मी है, भविष्य के प्रश्नों के लिए तो और भी ज्यादा। क्योंकि उसके मूल सिद्धान्त और धारणाएं बिलकुल गलत हैं और वास्तविकता से उसका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया योग्य नहीं है या जो पतनशील समाज-व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज्यादा दिनों तक मनमानी नहीं कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायक-समिति ने मुझे भूकम्प-पीड़ित इलाकों में जाने के लिए और वहां भूकम्प-पाड़ितों की सहायता के लिए जो ढंग अख्तियार किया गया था, उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मैं अकेला ही फौरन चल पड़ा और दस दिन तक उन व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट इलाकों में घूमा। इस दौरे में बड़ी मेहनत करनी पड़ी और इन दिनों मुझे सोने को भी बहुत कम समय मिला। सुबह के पांच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे—कभी दरारोंवाली टूटी फूटी सड़कों पर मोटर में जा रहे हैं, तो कभी छोटी-छोटी डोंगियों के द्वारा ऐसे स्थानों में उतर रहे हैं जहां पुल गिरे पड़े थे या जहां जमीन की सतह में फर्क आ जाने से सड़कें पानी में डूब गई थीं। शहरों में ढेर-के-ढेर खंडहरों और टूटी हुई, या मानो किसी दैत्य के द्वारा मरोड़ी हुई, या दोनों ओर के मकानों की कुर्सी से ऊपर उठी हुई सड़कों का दृश्य बड़ा हृदयस्पर्शी था। इन सड़कों की बड़ी-बड़ी दरारों में से पानी और रेत जोर से निकले थे जिससे असंख्य मनुष्य और जानवर बह गये थे। इन शहरों से भी ज्यादा उत्तर बिहार के मैदानों पर—जिनको बिहार का बाग कहा जाता था—उजड़ेपन और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलों तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बड़े-बड़े तालाब और विशालकाय दरारें और छोटे-छोटे असंख्य ज्वालामुखी के-से मुंह बन गये थे जिनमें से बालू-रेत और पानी निकला था। इस इलाके के ऊपर हवाई-जहाज में बैठकर उड़नेवाले कुछ अंग्रेज अफसरों ने कहा था कि यह नजारा लड़ाई के जमाने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रांस के युद्धक्षेत्र से कुछ-कुछ मिलता-जुलता था।

यह एक बड़ा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प पहले अगल-बगल की गति से जोरों से शुरू हुआ, जिससे खड़े हुए मनुष्य गिर पड़े। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियां हुईं और एक ऐसी गड़गड़ाहट और गूंजती हुई भयंकर आवाज

हुई जैसे तोपें चल रही हों या आकाश में सैकड़ों हवाई जहाज उड़ रहे हों। अनगिनती स्थानों पर बड़ी-बड़ी दरारों और गड्ढों में से पानी फट निकला और उसकी धारें दस-बारह फुट तक ऊंची उछलतीं। यह सब शायद तीन या चार मिनट में हो गया होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयंकर थे। जिन लोगों ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नहीं यदि उन्हें यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरों में मकानों के गिरने का शोर था, पानी बड़े जोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमण्डल में धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीजें भी नजर नहीं आती थीं। देहातों में इतनी धूल नहीं थी और दूर तक दिखलाई देता था, लेकिन वहां कोई शान्ति से देखनेवाले ही नहीं थे। जो लोग जिन्दा बचे वे भयंकर त्रास के कारण जमीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढ़कने लगे।

एक बारह बरस का लड़का (मेरे खयाल से, मुजफ्फरपुर में) भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बड़ा चकित था। टूट-टूटकर गिरनेवाले ईंट-चूने ने जब उसे नीचे गिराकर दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही जिन्दा बचा है।

मुजफ्फरपुर में ही ऐन भूकम्प के मौके पर, जबकि मकान गिर रहे थे और चारों तरफ सैकड़ों आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनों की जानें बच गईं और वे मजे में थे। भूकम्प की यादगार में बच्ची का नाम 'कम्पो-देवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आखीरी शहर मूंगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके और करीब-करीब नेपाल की सीमा तक पहुंच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वंस देखने के आदी हो गये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुंगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाशपूर्ण हालत को देखा तो उसकी भयंकरता से हमारा दम फूलने लगा और हमें कंपकंपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाकों में, क्या शहरों और क्या देहात में, वहां के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नजर आया। शायद शहरों

के मध्यम-वर्ग में इसका सबसे अधिक अभाव था—वे लोग इस इन्तजार में थे कि कोई सरकारी या गैरसरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हें सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होंने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगों पर हुक्म चलाना। यह निस्सहाय्य की भावना कुछ तो निस्संदेह भूकम्प के आतंक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सों और दूसरे प्रान्तों से बड़ी संख्या में आनेवाले मददगारों का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना में एक बिलकुल अलग ही चीज नजर आती थी। इन नवयुकों और नवयुवतियों की मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पड़ता था। और हालांकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक संस्थाएं काम कर रही थीं, फिर भी इनमें आपस में बहुत कुछ सहयोग था।

मुंगेर में खोदने और मलवा हटाने की स्वावलम्बी भावना को प्रोत्साहन देने के लिए मैंने एक नाटक-सा किया। इसे करने में मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई पर इसका परिणाम बड़ा सफलतापूर्ण निकला। सहायक संस्थाओं के तमाम अगुआ टोकरियां और फावड़े ले-लेकर निकले और उन्होंने दिनभर खुदाई की और हमने एक लड़की की लाश बाहर निकाली। मैं तो उस दिन मुंगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियों ने उसे बड़ी सफलतापूर्वक किया।

जितनी गैर-सरकारी सहायक संस्थाएं थीं उन सबमें सेन्ट्रल रिलीफ कमेटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रबाबू थे, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कांग्रेसी संस्था नहीं थी। शीघ्र ही यह बढ़कर भिन्न-भिन्न दलों और दानदाताओं की प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल-भारतीय संस्था बन गई। इससे सबसे बड़ा लाभ यह था कि देहात की कांग्रेस कमेटियों की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्तप्रान्त के कुछ जिलों को छोड़कर कहींके कांग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानों के इतने अधिक सपर्म्क में नहीं थे जितने यहां के। दरअसल ये कार्यकर्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे। बिहार भारत का सब से मुख्य कृषक-प्रदेश है और उसके मध्यम-वर्ग तक का किसानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी-कभी, जब मैं कांग्रेस के मन्त्री की हैसियत से बिहार-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर का

निरीक्षण करने जाता था तो मैं वहां नजर आनेवाले निकम्मेपन और दफ्तर के काम में ढील-ढाल की बड़े कड़े शब्दों में आलोचना किया करता था। वहां खड़े रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी। दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ्तरों में सबसे अधिक साधनहीन था, क्योंकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौरपर जरूरी चीजों के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ्तर की आलोचना के बावजूद, मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि कांग्रेस के लिहाज से यह प्रान्त देश के सबसे ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तों में से था। यहां की कांग्रेस में ऊपरी तड़क-भड़क नहीं थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक रूप से उसके पीछे था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में भी बिहार के प्रतिनिधियों ने शायद ही कभी किसी मामले में उग्र रुख अख्तियार किया हो। वे तो अपने-आपको वहां देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भंग के दोनों आन्दोलनों में बिहार ने बड़ा शानदार नमूना पेश किया। यहांतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भंग के आन्दोलन में भी उसने अच्छा काम कर दिखाया।

रिलीफ-कमेटी ने किसानों तक पहुंचने के लिए इस सुन्दर संगठन से लाभ उठाया। देहात में कोई भी साधन, यहांतक कि सरकारी भी, इतने उपयोगी नहीं हो सकते थे। रिलीफ-कमेटी और बिहार कांग्रेस कमेटी दोनों के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने में एक किसान के समान, बिहार भूमि के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्रबाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज और निष्कपट आंखों और गम्भीर मुख-मुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू में देखने पर कुछ प्रभावशाली नहीं मालूम पड़ता। वह मुद्रा और वे आंखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनमें होकर सच्चाई आपकी ओर झांकती है और उनपर आप सन्देह कर ही नहीं सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद जरा सीमित है और नई रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं। पर उनकी ज्वलन्त योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, य ऐसे गुण हैं जिन्होंने उनको अपने ही प्रान्त का नहीं बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसा सर्वमान्य नेतृत्व राजेन्द्रबाबू को बिहार में प्राप्त है वैसा भारत के किसी भी प्रान्त में किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं। उनके सिवा, गांधीजी के

वास्तविक सन्देश की इतनी पूर्णतासे अपनानेवाले, कोई हों भी,तो बिरले ही होंगे।

यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि राजेन्द्रबाबू जैसे व्यक्ति बिहारमें सहायताके कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमें लोगों की जो श्रद्धा थी उसी का यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल-धन-राशि खिंची चली आई। स्वास्थ्य खराब होने पर भी वह सहायता के कार्य में पिल पड़े । वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योंकि वह सारी कार्रवाइयों का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हीं के पास आते थे।

जब मैं भूकम्प के इलाकों में दौरा कर रहा था, तब या शायद वहां जाने से पहले, मुझे गांधीजी का यह वक्तव्य पढ़कर बड़ी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता के पाप का दण्ड था। यह वक्तव्य बड़ी हैरत में डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मैं उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की इससे अधिक विरोधी किसी और चीज की कल्पना करना कठिन है। कदाचित विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियों और मनोवैज्ञानिक घटनाओं के प्रभाव के विषय में इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नहीं कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई खराबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी-प्रथा या कर्तव्य-हीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वीतल की गति पर पड़े, एक हैरत में डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओं में मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बातें हैं जो हमको कई-सौ वर्ष पीछे ले जाती हैं, जबकि यूरप में धार्मिक अत्याचारों का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ्र के कारण जोर्डानो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियों को सूली पर चढ़ा दिया! अठारहवीं सदी में भी, अमेरिका में बोस्टन के प्रमुख पादरियों ने मासाचुसेट्स के भूकम्पों का कारण बिजली गिरने से रोकनेके लिए लगाये गये खम्भों की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प ईश्वरीय पापों का दण्ड भी हो तो भी हम यह कैसे मालूम करें कि हमको कौन-से पाप का दण्ड मिल रहा है। क्योंकि दुर्भाग्यवश हमें तो बहुत-से पापों का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसन्द का कारण बता सकता है। शायद हम लोगों को एक विदेशी राजसत्ता कबूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दण्ड मिला हो। आर्थिक

दृष्टि से दरभंगा महाराज, जो बड़ी लम्बी-चौड़ी जागीरों के मालिक हैं, भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान उठानेवालों में से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते हैं कि यह जमींदारी प्रथा के विरुद्ध फैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने के कि बिहार के करीब-करीब बेगुनाह निवासी, दक्षिण भारत के लोगों के अस्पृश्यता के पाप के बदले में पीड़ित किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश में ही क्यों नहीं आया? या ब्रिटिश-सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भंग के लिए ईश्वरीय दण्ड कह सकती है; क्योंकि यदि वास्तव में देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुकसान पहुंचा, आजादी की लड़ाई में बड़ा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनाएं कर सकते हैं। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है कि हम लोग परमात्मा के कामों अथवा उसकी आज्ञाओं में अपने मानवीय प्रयत्नों से क्यों हस्तक्षेप करें? और हमें इसपर भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की कि पहले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दुःखपूर्ण संसार की रचना कर दी—चीता भी बनाया और भेड़ भी, और फिर हमको सजा भी देता है।

"जब तारों ने अपनी झिलमिल किरणें डालीं जगती पर,
और गगन-मंडल से उतरीं बूंदें रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठों पर ला सकता,
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता?"[1]

पटना ठहरने की अखीरी रात को मैं बड़ी रात तक बहुत-से मित्रों और सहयोगियों से बातें करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तों से सहायता-कार्य में अपनी सेवाएं देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त के काफी प्रतिनिधि आये थे और हमारे कई छटेछटाये कार्यकर्ता वहां थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमें बड़ा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के काम में लगावें? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपने को राजनैतिक कार्य से अलग हटा लें। सहायता का काम बड़ा कठिन

---

[1]अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

था और ऐसा हम कर नहीं सकते थे कि जब-जब हमें फुरसत मिले तब तो उसे करें और फुरसत न हो तो न करें। इसमें लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनों तक गैरहाजिर रहने की सम्भावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव बुरा पड़े बिना नहीं रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस में बहुत-से लोग थे, फिर भी करने-धरनेवालों की संख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नहीं दी जा सकती थी। इधर पीड़ितों को सहायता देने के काम के तकाजे की भी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। अपनी ओर से तो मेरा खाली सहायता के ही काम में लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगों की कमी न होगी; अलबत्ता अधिक खतरे के कामों को करने-वाले लोग बहुत थोड़े थे।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतन्त्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौके पर गिरफ्तार कर लिये गये थे पर हम लोग बच गये थे। मैंने मजाक में उन लोगों से कुछ कहा कि मुझे तो पूरे बचाव के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के राज का पता लग गया है।

मैं ११ फरवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-मांदा, इलाहाबाद में अपने घर पहुंचा। कड़ी मेहनत के इन दस दिनों ने मेरा रूप बड़ा भयानक बना दिया था और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शकल देखकर चकित हो गये। मैंने इलाहाबाद रिलीफ-कमेटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखने की कोशिश की, लेकिन नींद ने मुझे आ-घेरा। अगले २४ घंटों में से मैंने कम-से-कम १२ घंटे नींद में बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त, कमला और मैं चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोत्तम-दास टंडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खड़े हुए थे। इतने में एक मोटर आई और पुलिस का एक अफसर उसमें से उतरा। मैं फौरन समझ गया कि मेरा वक्त आ गया है। मैंने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनों से आपका इन्तजार था।" वह जरा माफी-सी मांगने लगा और कहने लगा कि कुसूर उसका नहीं है। वारण्ट कलकत्ता से आया था।

मैं पांच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मैं फिर एकान्त और तन-हाई में भेज दिया गया। लेकिन दुःख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह स्त्रियोंपर ही था—मेरी बीमार मातापर, मेरी पत्नीपर और मेरी बहिनपर।

५९

अलीपुर-जेल

"फेंक यकायक कहां दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
किधर खींच ले जावेंगे अब झोंकों के ये उलझे तार ;
दिखता नहीं प्रकाश, न जाने कहां लगेगी किश्ती पार !"[१]

उसी रात को मैं कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालबाजार पुलिस-थाने तक मुझे एक बड़ी काली मोटर-लारी में बिठाकर ले गये। कलकत्ता-पुलिस के मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे में मैंने बहुत-कुछ पढ़ रक्खा था। अतः मैं उस जगह को बड़े चाव से देखने लगा। वहां अंग्रेज सार्जेण्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बड़ी तादाद में मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी बड़े पुलिस-थाने में नहीं हैं। वहां के सिपाही अक्सर सभी बिहार और संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लॉरी में जाना पड़ता था और हर दफा इनमें से कई सिपाही लॉरी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे जरूर ही कुछ दुःखी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टतः वे मेरे साथ बड़ी हमदर्दी-सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार उनकी आंखों में आंसू छलक पड़ते थे।

मुझे शुरू में प्रेसिडेन्सी जेल में रक्खा गया और वहींसे मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेट की अदालत में ले जाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजरुबा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत की-सी नहीं बल्कि एक घिरे हुए किले जैसी थी। सिवा कुछ अखबारवालों और वहींके वकीलों के बाहर का कोई आदमी उसके आसपास नहीं फटकने दिया जाता था। पुलिस वहां काफी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे

---

[१] रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता का भावानुवाद।

लिए नया नहीं किया गया था, यह तो वहां का हमेशा का दस्तूर है। अदालत के कमरे में जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे में होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पड़ता था, जिस के ऊपर और दोनों तरफ जालियां पड़ी हुई थीं, मानो किसी पिंजड़े में से निकल रहे हों। मुलजिम का कठघरा हाकिम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालों और काले कोट और चोगेवाले वकीलों से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुकदमों से काफी काम पड़ चुका है। मेरे पहले के कई मुकदमे जेल के भीतर हो चुके हैं, परन्तु उन सब मौकों पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और जान-पहचानवाले रहते थे, इस कारण वहां का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पड़ता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप में होती थी और वहां पिंजड़े वगैरा नजर न आते थे। यहां तो बात ही दूसरी थी, चारों तरफ अजनबी और बिना जान-पहचान की शकलें नजर आती थीं, जिनमें और मुझमें कुछ भी साम्य नहीं दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसन्द भी नहीं आये। चोगाधारी वकीलों की जमात मुझे तो देखने में सुन्दर नहीं मालूम होती, और खासकर पुलिस की अदालत के वकीलों का नजारा तो जरूर ही अप्रिय मालूम होता है। अखीर उस काली जमात में एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी झुण्ड में मिलकर कहीं गायब हो गया।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मैं बाहर झरोखे में बैठा रहता था तब भी मुझे अकेलापन और सुनसान मालूम पड़ता था। मेरी नब्ज जरूर तेज हो गई होगी और मेरा दिल इतना शान्त नहीं था जैसा पहले के मुकदमों के समय रहता था। मुझे तब ख्याल आया कि जब इतने मुकदमों और सजाओं का तजरुबा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत में नातजरुबेकार नौजवानों पर परिस्थिति का कितना बड़ा भार पड़ता होगा?

कठघरे में मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफाई पेश नहीं की गई, और मैंने अपना एक छोटा-सा बयान पढ़कर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फरवरी को मुझे दो बरस की सजा हो गई और इस तरह मेरी सातवीं सजा शुरू हुई।

अपनी साढ़े पांच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे सन्तोषप्रद

मालूम हुआ। इस अर्से में मैं काम में काफी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह खतरे से बाहर हो चली थीं। मेरी छोटी बहिन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लड़की की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की और कई आर्थिक मुश्किलों को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मैं अर्से से भुला रहा था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलों में तो, मैं जानता था कि उस समय किसी के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हां, मैंने कांग्रेस की ताकत को मजबूत कर उसका रुख सामाजिक और आर्थिक विचारों के मार्ग की ओर मोड़ने में जरूर कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरे पूना का पत्र-व्यवहार और बाद में अखबारों में निकले मेरे लेखों ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखों ने कुछ असर ही किया। इसके अलावा दो बरस से ज्यादा अर्से के बाद मैं गांधीजी और दूसरे मित्रों और साथियों से भी मिल लिया और कुछ समय तक काम करने के लिए दिली व दिमागी शक्ति जुटा ली थी।

पर मेरे मन को दुखी करनेवाली एक घटना तो अब भी बाकी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाजा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह बिस्तर न पकड़ लेती तबतक काम में अपनी बीमारी को भुलाती ही रहती। लेकिन मुझे बड़ी फिक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल चले जाने के बाद तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायेगी। मेरे बाहर रहने पर कुछ-कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अकेला छोड़ने को सहसा तैयार नहीं होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दुःख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद जिले के गांवों में मैं एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गांवों की खबर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफा-सा होना मालूम होता था।

काली मोटर लॉरी ने मुझे फिर जेल में पहुंचा दिया। रास्ते में कई फौजी सिपाही मशीनगनों, फौजी गाड़ी (आर्मर्ड-कार) वगैरा के साथ मार्च करते हुए

मिले। जेल की लॉरी के छोटे सूराखों में से मैंने उनकी ओर देखा। मेरे दिल में खयाल आया कि फौजी गाड़ी और टैंक[1] कितने भद्दे होते हैं। उन्हें देखकर मुझे इतिहास से पूर्वकाल के दानवों, अजगरों इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसीडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल में हो गया और वहां मुझे एक दस फुट लम्बी और नौ फुट चौड़ी छोटी-सी कोठरी दी गई। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, करीब सात फुट की थी और उसपर से झांककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब दृश्य दिखाई दिया। सब तरह की बेढंगी इमारतें, इकमंजिली, गोल चौकोर और अजीब छतोंवाली खड़ी थीं। कई तो एक के ऊपर एक नजर आती थीं। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारतें बेतरतीब, जमीन का एक-एक कोना-कोना भरने के लिए बनाई गई थीं। यह बनावट मुझे तो किसी घरोंदे की भूल-भुलैयां या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई हैं, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई कैदियों का गिर्जा है) और उसके चारों तरफ घरों की लाइनें हैं। चूंकि यह जेल शहर में था, इस वजह से जमीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से छोटा टुकड़ा भी काम में लाये बिना छोड़ा नहीं जा सकता था।

मैं अभी इस भोंडे दृश्य को देखकर नजर हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा डरावना दृश्य दीख पड़ा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियां खड़ी दिखाई दीं, जिनमें से लगातार गहरा काला धुआं निकल रहा था, जिसकी हवा कभी-कभी मेरी तरफ आकर मेरा दम घोटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीखानों की चिमनियां थीं। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट से कहा कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियों पर 'गैस मास्क'[2] लगा दें।

---

[1] सब प्रकार के युद्ध-साधनों से सज्जित जबरदस्त फौलादी मोटर।—अनु०

[2] दुश्मन की तरफसे जहरीली हवावाले बमगोलों से रक्षा करने के लिए जो मुंह पर एक तरह का बुरका डाल दिया जाता है उसे 'गैस मास्क' कहते हैं।
—अनु०

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटों की इमारतों का दृश्य और वही बावर्चीखानों की चिमनियों का धुआं रात-दिन सांस से मुंह में जाना, सामने था। मेरे सहन में पेड़ या हरियाली कुछ न थी। वह यों तो पत्थरों का पक्का और साफ बना हुआ था, पर रोज-रोज धुआं जम जाने की वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहींसे पड़ोसवाले सहनों के एक-दो दरख्तों के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नजर आते थे। मेरे जेल में पहुंचने पर वे दरख्त बिना पत्ते और फूलों के ठूंठ-से खड़े थे, पर धीरे-धीरे उनमें एक अजीब तबदीली होनी शुरू हुई और सब शाखाओं में हरी-हरी कोंपलें निकलने लगीं। कोंपलों में से पत्ते निकले और बड़ी जल्दी बढ़कर उन्होंने नंगी शाखाओं को खुशनुमा हरियाली से ढंक दिया। यह तबदीली बड़ी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी खुशनुमा हो गई।

इनमें से एक पेड़ में चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखा करता था। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उड़कर झपटते कि सीधे किसी कैदी के हाथ या मुंह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

करीब-करीब शाम से सुबह तक हमें अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे नहीं कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में इधर-से-उधर टहलना शुरू कर देता, चार-पांच कदम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक्त मुझे चिड़ियाघर में रीछ के अपने पिंजरे में इधर-से-उधर चक्कर काटने का दृश्य याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का पहला पहर तो काफी शान्त होता था; केवल शहर की मुख्तलिफ आवाजें—ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसीके गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुंचती थी। दूर से आते हुए धीमे गानों की यह आवाज मधुर मालूम पड़ती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घंटे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिये कोई अफसर यह देखने आता कि कोई कैदी भाग तो नहीं गया है। हर रोज तीन बजे रात

से बड़ा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व मांजने की आवाज आती। उस वक्त रसोई में काम शुरू हो जाता था।

प्रेसिडेन्सी-जेल के जैसी अलीपुर-जेल में भी एक बड़ी तादाद वार्डरों तथा पहरेदारों, अफसरों और क्लर्कों की थी। इन दोनों जेलों की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी (२२००-२३००) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियों की तादाद इन हरेक जेल में नैनी-जेल से दुगनी से भी ज्यादा थी। इनमें कई अंग्रेज वार्डर और पेन्शनयाफ्ता फौजी अफसर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ जाहिर होती थी कि अंग्रेजी-शासन युक्तप्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज्यादा कठोर और खर्चीला है। किसी बड़े अफसर के पहुंचने पर जो नारा सब कैदियों को लगाना पड़ता था वह साम्राज्य की ताकत का एक चिह्न और याददिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम" जो लम्बी आवाज में और बदन की कुछ खास हरकत के साथ लगाना पड़ता था। मेरे सहन की चहादीवारी पर से कैदियों के इस नारे की आवाज दिन में कई मर्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। अपने सहन की ७ फुट ऊंची दीवार पर से मैं उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये में सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मैं हैरत में आकर सोचने लगा कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की वह हरकत किसी पुराने जमाने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज अफसर की ईजाद है? मुझे पता तो नहीं, पर मेरा कयास है कि यह अंग्रेजों की ईजाद है। इसमें एक खास किस्म के एंग्लो-इंडियनपनकी बू आती है। खुशकिस्मतीसे इस नारे का रिवाज बंगाल और आसाम के सिवा युक्तप्रान्त या शायद हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में नहीं है। 'सरकार' की शान को कायम रखने के लिए जिस तरीके से इस सलामी पर जोर दिया जाता है, यह मुझे असल में बड़ा जलील करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल में एक नई बात देखकर तो मुझे खुशी हुई। यहां के साधारण कैदियों का खाना युक्तप्रान्त के जेलों के खाने से कहीं अच्छा था। जेल के खाने के मामले में तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबों से पिछड़ा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गई, वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आ पहुंची। दिन-दिन गर्मी बढ़ती गई। मुझे कलकत्ते की

आबहवा कभी पसन्द न थी, और कुछ दिनों के वहां रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल में तो हालत कुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत में कोई तरक्की नहीं हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा में कई घंटों कोठरी में बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गई और मेरा वजन तेजी से घटने लगा। मुझे तालों, चटखनियों, सीखचों और दीवारों से नफरत-सी होने लग गई।

अलीपुर-जेल में एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ कसरत करने की सहूलियत दी गई। यह तबदीली मुझे पसन्द आई और मैं सुबह-शाम जेल की बड़ी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी हो गया और रसोईघर भी, मय उसके धुंए और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक बुराई हो गई। इस अर्से में मेरे लिए नये-नये मसले खड़े हुए और नई-नई परेशानियां तंग करने लगीं। बाहर की खबरें भी अच्छी नहीं थीं।

६०

पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल में जब मुझे मालूम हुआ कि सजा होनेके बाद मुझे कोई रोजाना अखबार नहीं मिलेगा, तब मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुकदमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ता का दैनिक 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुकदमा खत्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त में तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीजन के कैदियों को सरकार की पसन्द का एक दैनिक अखबार हमेशा मिलता था। बाकी के दूसरे सूबों में भी ज्यादातर यही बात है। और मैं बिलकुल इसी खयाल में था कि यही कानून बंगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहां मुझे दैनिक 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। यह तो स्पष्ट ही है कि यह अखबार उन अंग्रेजों के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान में हाकिमी या रोजगार करने के बाद वापस इंग्लैंड पहुंच जाते हैं। इसलिए इस अखबार में हिन्दुस्तान की उन खबरों का सार रहता है, जिनमें उनकी दिलचस्पी होती है। इस साप्ताहिक में विदेशों की खबरें बिलकुल नहीं होती थीं। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योंकि मैं उनको सिलसिलेवार पढ़ते रहना चाहता था। खुशकिस्मती से मुझे साप्ताहिक 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' अखबार भी मिलने लगा था, जिससे मुझे यूरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी हो जाती थी।

फरवरी में जब मैं गिरफ्तार हुआ और जब मुझपर मुकदमा चला तभी यूरप में बड़ी उथल-पुथल और झगड़े हुए। फ्रांस में भारी खलबली मची, जिसमें फासिस्टों ने दंगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार कायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चांसलर डॉलफस मजदूरों पर गोलियां चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल-भवन को ढा रहा था। आस्ट्रिया में होनेवाली खून-खराबी की खबर सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और खूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थों की हिफाजत

करने के लिए कैसा बर्बर बन जाता है ? ऐसा मालूम पड़ता था कि तमाम यूरप और अमेरिका में फासिज्म का जोर बढ़ता जाता है। जब जर्मनी में हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकूमत ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकेगी, क्योंकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयों का कोई हल पेश नहीं किया था। इसी तरह जब दूसरी जगह भी फासिज्म फैला तब भी, मैंने अपने मन को यह सोचकर सान्त्वना दी कि यह प्रतिक्रिया की अखीरी मंजिल है; इसके बाद सब बन्धन टूट जायंगे। लेकिन मैं अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह खयाल कहीं मेरी ख्वाहिश से ही तो नहीं पैदा हुआ ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ दिखाई देती है कि फासिज्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी ? यदि ऐसी हालत पैदा हो गई, जो फासिस्ट डिक्टेटरों के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'हुकूमत की बागडोर को छोड़ देने के बदले' अपने देशों को सत्यानाशी लड़ाई में न जुटा देंगे ? ऐसी लड़ाई का नतीजा क्या होगा ?

इस बीच में फासिज्म कई किस्मों और तरह-तरह की शक्लों में फैलता गया। स्पेन—वह 'ईमानदार लोगों का नया प्रजातन्त्र' जिसे किसीने सरकारों का ख़ास 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' कहा था—बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे में जा पड़ा था। स्पेन के लिबरल नेताओं के मनोहर शब्द और भली-भली बातें देश की अधोगति न रोक सकीं। हर जगह मौजूदा हालतों का मुकाबला करने में लिबरल-नीति बिलकुल बेकार साबित हुई है। यह दल शब्दों और वाक्यों से चिपटा रहता है और समझता है कि बातें काम की जगह ले सकती हैं। इसीलिए जब कभी नाजुक वक्त आया है तब वह उसी तरह आसानी से गायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त में तसवीर।

आस्ट्रिया के दुःखान्त नाटक के बारे में 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखों को मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ता था और उनकी कद्र भी करता था। "और इस खूनी लड़ाई के बाद किस रूप में आस्ट्रिया हमारे सामने आया ? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर यूरप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलों और मशीनगनों से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इंग्लैण्ड आजादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुँह इतना बन्द क्यों है ? डिक्टेटरशाहियों की उन्होंने जो तारीफें की हैं वे हमने सुनी हैं, हमने उन्हें यह कहते हुए सुना है कि डिक्टेटरी 'कौम की

आत्मा को जिन्दा रखती है, और 'एक नया जलवा और नई ताकत पैदा करती है।' लेकिन इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन जुल्मों की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो, चाहे वे किसी भी देश में हों, यद्यपि शरीर का नाश करते हैं,किन्तु उससे कहीं अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते हैं।"

लेकिन अगर 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' आजादी का एक ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान में आजादी को कुचला जाता है तब उसका मुंह बन्द हो जाता है ? हम लोगों को भी तो न सिर्फ शारीरिक तकलीफें उठानी पड़ी हैं बल्कि उससे भी बदतर आत्मा को कष्ट भी झेलने पड़े हैं।

"आस्ट्रिया का लोकतन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले बरसों में किसी दिन यूरोपीय आजादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"यूरप ने, जो कि आजाद नहीं है, सांस लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें स्वस्थ भावनाओं का संचार नहीं होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नजदीक आ रही है उसे सिर्फ तेज झकझोरों या भीतरी दौरों और दाहिने, बायें, हर तरफ जोर के वार करने से ही बचाया जा सकता है...। राइन नदी से लेकर यूराल पहाड़ तक यूरप एक बड़ा जेलखाना बना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे ! मेरे दिल में इनकी प्रतिध्वनि होती थी; लेकिन साथ ही मैं सोचता, कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है ? यह कैसे हो सकता है कि "मैञ्चेस्टर गार्जियन' या इंग्लैण्ड में जो बहुत-से आजादी के दीवाने हैं वे हमारी हालत से इतने उदासीन रहते हैं ? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने जोरों से निन्दा करते हैं, जब वही बातें हिन्दुस्तान में होती हैं, तो उनकी तरफ वे क्यों नहीं देखते ? बीस बरस हुए, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेजों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो उन्नीसवीं सदी की परम्परा में पले थे, स्वभाव से फूंक-फूंककर कदम रखते थे और अपनी भाषा पर संयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि कानून पर ताकत की दुःखदाई जीत को मैं चुपचाप देखूं, मैं यह देखना पसन्द करूंगा कि हमारे इस देश का उल्लेख इतिहास के पन्ने से हटा दिया जाय।" कितना बहादुराना खयाल है; और कैसे धारा-प्रवाह ढंग

से कहा गया है ! इंग्लैंण्ड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद में इस खयाल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान में गये। लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एस्क्विथ के समान बयान देने की हिम्मत करें, तो उसका क्या हाल होगा ?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है। हममें से ज्यादातर लोग यह समझते हैं कि हम बड़े न्यायी और निष्पक्ष हैं। हमेशा गलती दूसरा शख्स या दूसरा मुल्क ही करता है। हमारे दिमाग में कहीं-न-कहीं यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नहीं हैं जैसे दूसरे लोग हैं, हममें और दूसरों में जरूर फर्क है—यह दूसरी बात है कि शराफत की वजह से हम बराबर उस बात को न कहें। अगर खुश-किस्मती से हम किसी ऐसी शाही कौम के होते जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल हो जाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बातें सर्वोत्तम हैं, और जो लोग क्रान्ति के लिए आन्दोलन करते हैं वे केवल स्वार्थी और भ्रम में पड़े हुए बेवकूफ ही नहीं हैं बल्कि हमसे अनेक लाभ प्राप्त करके भी कृतघ्नता दिखानेवाले हैं।

अंग्रेज टापू में रहनेवाली और संकुचित दृष्टिवाली जाति है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और खुशहाली ने उसे इतना घमंडी बना दिया है कि अंग्रेज करीब-करीब दूसरी सब कौमों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जैसा कि किसी ने कहा है, 'उनकी राय में इंग्लैंण्ड के समुद्र से आगे हब्शी-ही-हब्शी रहते हैं।' लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है। शायद ब्रिटिश कौम के ऊंचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊंच-नीच के हिसाब से इस तरह बांटेंगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नहीं, फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमें भी सिर्फ सफेद चमड़ीवाले और अमेरिका (सिर्फ एंग्लो-सेक्सन अमेरिका—डागो, इटेलियन वगैरा नहीं), (३) पश्चिमी यूरप, (४) बाकी यूरप, (५) दक्षिणी अमेरिका (लेटिन कौम); और फिर बहुत दूर तक कोई नहीं। इसके बाद, और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली, भूरी कौमों के आदमी, जो कम-बढ़कर सब एक ही बोरे में भर दिये जा सकने योग्य समझे जाते हैं।

इस निम्नतम दर्जे में हम लोग उस ऊंचाई से कितनी दूर हैं, जिसपर हमारे शासक रहते हैं ? ऐसी हालत में क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे

उतनी ऊंचाई से हमारी तरफ देखते हैं तब उनकी नजर धुंधली हो जाती है, और जब हम लोकतन्त्र और आजादी की बातें करते हैं तब वे हमसे चिढ़ते हैं ? ये शब्द हमारे इस्तेमाल के लिए थोड़े ही गढ़े गये थे ! क्या यह बात एक बड़े लिबरल राजनीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नहीं कही थी कि वह बहुत दूर के धुंधले भविष्य में भी इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि हिन्दुस्तान में लोकतन्त्रीय संस्थाएं कायम होंगी ? हिन्दुस्तान के लिए लोकतन्त्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरों का बहुत गरम कोट[1] । और इसके बाद उस मजदूर दल ने, जो समाजवाद का झंडा लिये फिरता था, सब पद-दलित लोगों का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी में हमें सन् १९२४ के बंगाल आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उसके दूसरे शासन-काल में हमारा हाल और भी बुरा रहा । मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमें से कोई हमारा बुरा नहीं चीतता और जब वे लोग हमें अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढंग से 'परम प्रिय विश्व-बन्धु' कहकर पुकारते हैं तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपने को कृतकृत्य समझते हैं । लेकिन उनकी राय में हम उतने ऊंचे नहीं हैं, जितने कि वे खुद हैं, अतः उनके विचार में दूसरे पैमानों से ही हमारी जांच होनी चाहिए । भाषा और सांस्कृतिक भेद-भावों के कारण अंग्रेज और फ्रांसीसी के लिए यह काफी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचें । ऐसी हालत में एक एशियाई में और एक अंग्रेज में तो और भी ज्यादा फर्क होगा ।

हाल ही में, हाउस आफ लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारों के प्रश्न पर बहसें हो रही थीं और अनेक सम्माननीय लॉर्डों ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमें एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे में गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होंने वाइसराय की हैसियत से भी काम किया था । अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे । उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि "भारत-सरकार कांग्रेसी नेताओं की बनिस्बत सारे हिन्दुस्तान की कहीं अधिक प्रतिनिधि है । वह हिन्दुस्तान के हाकिमों की, फौज की, पुलिस की, राजाओं की, लड़नेवाले रेजीमेण्टों की और हिन्दू तथा मुसलमान

---

[1] यानी उसकी आबहवा के लिए खिलाफ । —अनु०

दोनों की तरफ से बोल सकती है, जबकि कांग्रेस के नेता हिन्दुस्तान की बड़ी कौमों में से किसी एक कौम की तरफ से भी नहीं बोल सकते।" इतना कहने के बाद उन्होंने आगे चलकर अपना आशय और भी स्पष्ट किया—"जब मैं हिन्दुस्तानियों की बात कहता हूं, तब मैं उन लोगों का खयाल करता हूं, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पड़ा था और जिनके सहयोग पर भावी गवर्नरों और वाइ-सरायों को भरोसा करना पड़ेगा।"[1]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बातें निकलती हैं—एक तो यह कि उनके विचार में जो हिन्दुस्तान किसी गिनती में है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की मदद करता है; और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा प्रतिनिधि-स्वरूप और इसलिए सबसे ज्यादा लोकतन्त्रीय संस्था है। इस दलील का इतनी संजीदगी से दिया जाना यह जाहिर करता है कि अंग्रेजी के शब्द स्वेज नहर से पार होते ही अपना अर्थ बदल देते हैं। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ मतलब यह होगा कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और लोकतन्त्रीय-स्वरूप की होती है, क्योंकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर लौट-फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधिकार पर पहुंच जा सकते हैं। स्वेच्छाचार-शिरोमणि फ्रेंच-सम्राट् लुई चौदहवें ने भी तो कहा था न कि "राज्य—राज्य तो मैं ही हूं, मैं!"

सच बात तो यह है कि हाल में विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नामी समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर माल्कम हेली ने, ५ नवम्बर १९३४ को बनारस में युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए कहा था कि देशी रियासतों में स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐसी कोई जरूरत न थी, क्योंकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छा-चारिताको नहीं छोड़ेगी। इसी कोशिशमें एक और दिलचस्प तरक्की यह हुई है कि यूरप में लोकतन्त्र के ना-कामयाब होने के आधार पर इस स्वेच्छाचारिताको कायम रखने की बात कही जाती है। मैसूर के दीवान सर मिर्जा इस्माइल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र ना-कामयाब हो रहा है, दूसरी तरफ क्रान्तिकारी सुधारों की

---

[1] हाउस ऑफ लॉर्ड्स १७ दिसम्बर १९३४।

वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान करीब-करीब असली राजनैतिक कामों के लिए काफी लोकतन्त्रीय है।"[1] मेरे खयाल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहांके शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर में इन दिनों जो लोकतन्त्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी कदर भिन्न नहीं है।

अगर लोकतन्त्र हिन्दुस्तान के लिए मौजूं नहीं है, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मिस्र के लिए भी उतना ही बेमौजूं है। इन दिनों जेल में मुझे दैनिक 'स्टेट्समैन' दिया जाता है। उसमें मैंने मिस्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ लेख अभी हाल ही पढ़ा है।[2] इस लेख में कहा गया है कि वहां के प्रधान-मन्त्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने, कि उन्हें 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियां, खासतौर पर वफ्द-पार्टी सहयोग करेंगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-पञ्चायत का चुनाव करके उनके जरिये नया विधान तैयार करायेंगी', जिम्मेदार लोगों में कुछ कम भय पैदा नहीं किया है; क्योंकि आखिर इसके मानी यह होते हैं कि लोकतन्त्रीय सरकार फिर से कायम हो जाय, जो, इतिहास जाहिर करता है, मिस्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योंकि उसकी प्रवृत्तियां पिछले जमाने में हमेशा हुल्लड़पन से दब जाने की रही हैं। मिस्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख्स को क्षणभर के लिए भी इस बात में कोई शक नहीं हो सकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ्द-पार्टी का बहुमत हो जाय। इसलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आ जायगा जो घोर उग्र लोकतन्त्रीय, विदेशियों का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव में "वफ्द-पार्टी का मुकाबला करने के लिए" शासकों पर प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदकिस्मती यह है कि "प्रधान-मन्त्री को कानून की पाबन्दी का बहुत खयाल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि अब सिर्फ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार बीच

---

[1] मैसूर : २१ जून १९३४। पृष्ठ ७२४ का भी नोट देखिए।

[2] १९ दिसम्बर १९३४।

में पड़ें और "यह बात सब को जाहिर कर दे कि वह इस किस्म के शासन का फिर से कायम होना बर्दाश्त नहीं करेगी।"

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिस्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[1] लेकिन शायद आजादी के दीवाने एक अंग्रेज-द्वारा पेश की गई दलील से हमें मिस्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने में थोड़ी मदद जरूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि जिन्दगी के जिस तरीके से और दिमाग के जिस रुख से लोकतन्त्र का विकास होता है उससे साधारण मिस्री वोटर की जिन्दगी के तरीके और उसके दिमाग के रुख का मेल नहीं मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गई है। "यूरप में अक्सर लोकतन्त्र इसलिए ना-कामयाब हुआ है कि वहां बहुत-से दल कायम हो गये हैं। लेकिन मिस्र की मुश्किल तो यह है कि वहां सिर्फ एक वफ्द-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान में हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतन्त्र की तरक्की का रास्ता रोकता है और इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावों को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगों में काफी एका नहीं है। मिस्र में किसी किस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम पड़ता है कि वहां पूर्ण राजनैतिक एका मौजूद है। लेकिन वहां यही एकता उसके लोकतन्त्र और उसकी स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सचमुच लोकतन्त्र का रास्ता सीधा और तंग है। पूर्वी देशों के लिए लोकतन्त्र का सिर्फ एक ही अर्थ है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासकसत्ता जो हुक्म दे, उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थमें हाथ न डाला जाय। इन शर्तों के मान लेने पर लोकतन्त्रीय स्वाधीनता वहां भी बे-रोक-टोक फूल-फल सकती है।

---

[1] नवम्बर १९३५ में मिस्र पर अंग्रेजों के अधिकार के खिलाफ मुल्क-भर में दंगे हुए थे।

६१

नैराश्य

"अब तो यही लालसा है मा, जाऊं आकुल लेट वहां,
ठंडी-ठंडी मधुर मनोरम हरियाली हो बिछी जहां;
मां धरणी! चरणों पर तेरे निपट निराश-अधीन,
थके हुए इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन।"[1]

अप्रैल आ गया। अलीपुर में, मेरी कोठरी में, मेरे पास बाहर की घटनाओं की बाबत अफवाहें पहुंचीं—ऐसी अफवाहें जो दुःख और बेचैनी पैदा करनेवाली थीं। एक दिन जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गांधीजी ने सत्याग्रह की लड़ाई वापस ले ली है। मुझे इससे ज्यादा कुछ मालूम नहीं हो सका। मुझे यह खबर अच्छी नहीं लगी और जिस चीज को मैं इतने बरसों से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर रंज हुआ। फिर भी मैंने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाजिमी था। अपने मन में मैं यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लड़ाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पड़ेगी। मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजों की परवा न करके अनिश्चित काल तक लड़ते रहें लेकिन राष्ट्रीय संस्थाएं ऐसा नहीं करतीं। मुझे इस बात में कोई शक न था कि गांधीजी ने देश की स्थिति और अधिकांश कांग्रेसवादियों के मनोभावों को ठीक तरह समझ लिया था, और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नहीं मालूम होता था फिर भी मैंने अपने-आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की।

अस्पष्ट रूप में यह चर्चा भी मुझे सुनाई दी कि कौंसिल में जाने की गरज से पुरानी स्वराज्य-पार्टी को फिर जिन्दा करने की नई कोशिश की जा रही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनों से यह राय

---

[1] अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

थी कि कांग्रेस अगले चुनावों से अलग नहीं रह सकती। जब मैं पांच महीनें जेल से बाहर था, तब मैंने कौंसिलों की तरफ बढ़नेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योंकि मैं समझता था कि अभी वह चर्चा वक्त से पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ सीधी लड़ाई से ही लोगों का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक क्रान्ति के उन नये खयालों के विकास में भी बाधा पड़ती थी जो कांग्रेसवालों के दिलों में घर करते जा रहे थे। मैं समझता था कि यह संकट जितने दिन ज्यादा बना रहेगा, उतने ही ज्यादा ये खयाल हमारे यहां सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे लोगों में फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह में जो असलियत है वह जाहिर हो जायगी। जैसा कि लेनिन नें कहीं कहा है—"कोई भी, और हरेक राजनैतिक संकट उपयोगी है, क्योंकि वह छिपी हुई चीजों को रोशनी में ले आता है, राजनीति की तह में जो असली ताकतें काम कर रही हैं उन्हें दिखा देता है; वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्दजाल का और गपोड़ों की भण्डाफोड़ कर देता है; वह असली बातों को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगों को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कांग्रेसवालों का दिमाग साफ हो जायगा और कांग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगों की मजबूत जमात हो जायगी। शायद उसके कुछ कमजोर हिस्से उसे छोड़ जायंगे। लेकिन इससे कोई हर्ज न होगा और जब कभी उसूली सीधी लड़ाई का मोर्चा खत्म करने और वैधानिक व कानूनी तरीकों के नाम से पुकारे जाने वाले साधनों से काम लेने का वक्त आयेगा, तब कांग्रेस के आगे बढ़े हुए, वास्तव में क्रियाशील पक्ष के लोग इन तरीकों का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तेमाल करेंगे।

जाहिरातौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बड़ी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लड़ाई और कांग्रेस के कारगर कामों के आधार-स्तम्भ रहे हैं वे पीछे को हट रहे हैं और दूसरे लोग जिन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया अपनी हुकूमत जमाने लगे हैं।

इसके कुछ दिन बाद मेरे पास साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' आया और उसमें मैंने वह वक्तव्य पढ़ा जो गांधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढ़कर मुझे बड़ी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढ़ा, और सत्याग्रह और दूसरी बातें मेरे दिमाग से गायब हो गईं और

उसकी जगह शक और संघर्ष से मेरा दिमाग भर गया। गांधीजी ने लिखा था— "इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियों से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है।...इसका मुख्य कारण वह आंखें खोलनेवाली खबर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्बन्ध में मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राजी न थे और उसके बजाय किताबें पढ़ना पसन्द करते थे। यह सब कुछ सत्याग्रह के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसे मैं बहुत अधिक प्यार करता था, दुर्बलताओं की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओं का अधिक बोध हुआ। उन मित्र ने कहा था कि मेरा खयाल है कि आप मेरी दुर्बलता को जानते हैं, लेकिन मैं अन्धा था। नेता में अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फौरन यह भांप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मैं अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूंगा।"

अगर गांधीजी के मित्र में यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मैं यह स्वीकार करता हूं कि मैं अक्सर इस जुर्म का अपराधी रहा हूं और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफसोस नहीं है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान राष्ट्रीय संग्राम, जिसमें बीसियों हजार प्रत्यक्ष रूप से और लाखों आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए हैं महज इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई गलती कर डाली, अचानक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयंकर और हर तरह अनीतिमय मालूम हुई। मैं इस बात की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि मैं यह बताऊं कि सत्याग्रह क्या है और क्या नहीं है, लेकिन अपने साधारण तरीके पर मैंने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शों के पालन करने का प्रयत्न किया है। गांधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गड़बड़ा गये। मैं यह जानता हूं कि गांधीजी आमतौर पर सहज-ज्ञान से काम करते हैं। गांधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते हैं, लेकिन मैं उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूं, और अक्सर ज्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होंने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमें कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते हैं वे आमतौर पर काम कर चुकने के बाद

के सोचे हुए खयालात होते हैं और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। संकटकाल में नेता या कर्मवीर पुरुष करीब-करीब हमेशा किसी अज्ञात प्रेरणा से काम करते हैं और फिर उसके लिए कारण ढूंढ़ने लगते हैं। मैंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को स्थगित करके गांधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे स्थगित करने के जो कारण उन्होंने बताये हैं वे बुद्धि के लिए अपमान-जनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही आश्चर्यजनक मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हें पूरा हक था कि वह अपने आश्रम में रहनेवालों के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योंकि उन लोगों ने सब तरह की प्रतिज्ञाएं ले रखी थीं और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रखा था। लेकिन कांग्रेस ने ऐसी कोई बात नहीं की थी। मैंने ऐसी कोई बात नहीं की थी। फिर हमें उन सब कारणों के लिए, जो आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे और जिनमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी, कभी इधर, कभी उधर क्यों फेंका जाता था? क्या कभी ऐसे आधारों पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती है? मैं यह मानता हूं कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुंचा देगा। मैं यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम में लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नहीं हैं। लेकिन यह नई बात या नई व्याख्या उससे कहीं ज्यादा दूर जाती थी और उससे कुछ नई बातें उठ खड़ी होने की सम्भावना थी, जिन्होंने मुझे विचलित कर दिया।

उस सारे वक्तव्य ने मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त में गांधीजी ने कांग्रेसवालों को जो सलाह दी वह यह थी—"उन्हें आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा; उन्हें राष्ट्र-निर्माण के काम में लग जाना चाहिए, उन्हें स्वयं हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के साथ निर्दोष सम्पर्क स्थापित करके लोगों के हृदयों में साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए; स्वयं अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप में निवारण करना चाहिए और नशेबाजों के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने

आचरण को पवित्र रखकर मादक चीजों के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवाएं हैं जिनके द्वारा गरीबों की तरह निर्वाह हो सकता है । जो लोग गरीबों में न रह सकते हों, उन्हें किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे में पड जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक बहुत बड़ा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होंने इतने वर्षों से उनसे बांध रक्खा था, टूट गये हैं। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्वन्द्व हो रहा था। गांधीजी ने जो बातें कीं उनमें से बहुत-सी बातें न तो मेरी समझ में ही आईं, न वे मुझे पसन्द ही पड़ीं । सत्याग्रह की लड़ाई जारी रहते हुए,उसी बीच में जबकि उनके साथी लड़ाई की मंझधार में थे, उनका उपवास और दूसरी बातों में अपनी ताकत लगाना,उनकी निजी और स्वनिर्मित उलझनें जिन्होंने उन्हें इस असाधारण स्थिति में डाल दिया कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हें अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे, उनकी नई-नई निष्ठाएं और नई प्रतिज्ञाएं, जिन्होंने उनकी पुरानी निष्ठाओं और प्रतिज्ञाओं और कामों को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियों के साथ लिये थे, और जो अबतक पूरे न हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया । मैं चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैंने इन और दूसरे मतभेदों को बहुत ही महसूस किया। गांधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदों का कारण स्वभावों की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढ़ी हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलों में मेरे साफ और निश्चित विचार हैं और वे उनके विचारों से नहीं मिलते। और फिर भी अबतक मैं इस बात की कोशिश करता रहा कि जहांतक हो सके,राष्ट्रीय आजादी के जिस ध्येय के लिए कांग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने मैं अपने खयालों को दबाये रक्खूं। अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की, क्योंकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियों के प्रति वफादारी का स्थान बहुत ऊंचा है। जब-जब मैंने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लंगर से

दूर खींचा जा रहा है, तब-तब मुझे बड़े-बड़े अन्तर्द्वन्द्व लड़ने पड़े हैं, लेकिन उस वक्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने गलती की, क्योंकि यह तो किसीके लिए ठीक नहीं हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लंगर को छोड़ दे। लेकिन आदर्शों की इस टक्कर में मैं अपने साथियों के प्रति वफादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओं की रेल-पेल और हमारी लड़ाई का विकास उन सब मुश्किलों को दूर कर देगा जो मुझे दुःख दे रही हैं और मेरे साथियों को मेरे दृष्टिकोण के नजदीक ले आयेगा।

और अब तो एकाएक मुझे अलीपुर की उस जेल में बड़ा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दूभर हो गया, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन में मैंने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये हैं, उनमें सबसे अधिक कठोर और दुःखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्वपूर्ण विषयों पर किसी का भरोसा करना उचित नहीं है, हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा में अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरों पर भरोसा करना जबर्दस्त निराशा और आफतों को न्यौता देना है।

मेरे अवरुद्ध क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पड़ा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारों की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नहीं? यह दृष्टिकोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीजों से वह कितनी दूर है। हमेशा दूसरी दुनिया की बातें सोचते-सोचते मानव स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओं के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आंखें मूंद लेता है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है, फिर भी उसे सत्य को—सम्पूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात को जानने का कष्ट नहीं करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल में सत्य है या नहीं? वह तो दूसरों को उसके विषय में कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूंढ़ने का संकल्प और विश्वास की भावना दोनों जुदी-जुदी चीजें हैं। धर्म बातें तो शान्ति की करता है लेकिन उन प्रणालियों और व्यवस्थाओं का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के जिन्दा नहीं रह सकतीं। वह तलवार से की जानेवाली

हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन जो हिंसा अक्सर शान्ति का लबादा ओढ़े चुप-चाप आती है और लोगों को भूखों तड़पाती और जान से मार डालती है, उसका क्या ? इससे भी ज्यादा बुरा जो हिंसा बिना किसी प्रकार का जाहिरा शारीरिक कष्ट पहुंचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है, उसका क्या ?

और इसके बाद में फिर उसी शख्स की बाबत सोचने लगा जिसने मेरे मन में यह खलबली पैदा की। आखिर गांधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी हैं! उनकी मोहकता कितनी ताज्जुब में डालनेवाली और एकदम अबाध है और लोगों पर उनका कैसा अद्भुत अधिकार है! उनकी बातें और उनके लेख, उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिचय करा पाते हैं। इनसे उनके विषय में लोग जितनी कल्पना कर सकते हैं, उनका व्यक्तित्व उससे कहीं ऊंचा है। और भारत के लिए उनकी सेवाएं कितनी महान् हैं। उन्होंने भारत की जनता में साहस और मर्दानगी फूंक दी है, अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी कुर्बान हो जाने की ओर नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा कर दी है। उन्होंने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नींव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते हैं, फिर भी उन्होंने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गारंटी है कि आदमी जिस काम को हाथ में ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन और आत्म-संयम के बिना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो सकती है।" और बिना अनुशासन के बलिदान का कोई लाभ नहीं। शायद यह कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हों। लेकिन इन शब्दों के पीछे ताकत थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप से वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीड़ित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह खुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमें कोई त्रुटियां थीं, तो वे भारत की त्रुटियां थीं।

उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकतें कर रहे थे यह नहीं जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फसल बो रहे हैं। दिसम्बर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज कान्फ्रेन्स से लौट रहे थे, तब पोप ने गांधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया था, यह जानकर मुझे कितना दुःख हुआ था, मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान लगा और इसमें तो कोई शक ही नहीं कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नहीं करते और क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट-मत के कुछ लोगों ने गांधीजी को सच्चा ईसाई और बड़ा धर्मात्मा बताया, इसलिए पोप के लिए यह और भी जरूरी हो गया कि वह इस कुफ्र से अपने को अलग रक्खें।

अप्रैल १९३४ में, अलीपुर-जेल में करीब-करीब इसी समय मैंने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढ़े और 'ऑन दि रॉक्स्' (शिला पर) नामक नाटक की वह भूमिका, जिसमें ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत आकर्षक लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुकाबला कर रहा है, मुझे यह भूमिका इस समय के लिए बहुत मौजूं मालूम हुई। इसमें ईसामसीह ने पाइलेट से कहा है—"मैं तुमसे कहता हूं कि डर छोड़ दो। रोम की महत्ता के बारे में मुझसे व्यर्थ की बातें मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नहीं है। भूत का डर, भविष्य का डर, गरीबों का डर, अमीरों का डर, उच्च-मठाधीशों का डर, उन यहूदियों और यूनानियों का डर जो विद्वान हैं, उन गांव निवासियों, गॉथों और हूणों का डर जो जंगली हैं, उस कार्थेज का डर, जिसके डर से अपने को बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही सीजर की उस मूर्ति का जो तुम्हीं ने बनाई है और मुझ सरीखे कौड़ीहीन दर-दर के भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड़कर बाकी सब चीजों का डर। खून-खराबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु में श्रद्धा नहीं। तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत्प्रसिद्ध कायर हो और मैं जो संसार में ईश्वरीय सत्ता का हामी हूं, प्राणों की बाजी लगा चुका हूं,

अपना सब कुछ तक गवां चुका हूं और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूं।"

लेकिन गांधीजी की महानता का, भारत के प्रति उनकी महान् सेवाओं का या अपने प्रति की गई उनकी महान् उदारताओं का, जिनके लिए मैं उनका ऋणी हूं, कोई प्रश्न ही नहीं है। इन सब बातों के होते हुए भी वह बहुत-सी बातों में, बुरी तरह गलती कर सकते हैं। आखिर उनका लक्ष्य क्या है? इतने वर्षों तक उनके निकटतम रहने पर भी मुझे खुद अपने दिमाग में यह बात साफ-साफ नहीं दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है! मुझे तो इस बात में भी शक है कि इस मामले में खुद उनका दिमाग कहांतक साफ है। वह कहते हैं कि मेरे लिए तो एक ही कदम काफी है, और वह भविष्य की तरफ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नहीं करते। वह यह कहते हुए कभी नहीं थकते कि हम अपने साधनों की चिन्ता रक्खें तो साध्य आप ठीक हो जायगा। अपने निजी जीवन में पवित्र बने रहो तो बाकी सब बातें अपने आप ठीक हो जायंगी। यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नहीं है। यह तो संकुचित आचार-दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है। क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय? गांधीजी चारित्र्य पर ही सब जोर लगा देते हैं, और मानसिक-शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्त्व नहीं देते। यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि खतरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र में क्या रह जाता है? आखिर चरित्र का विकास कैसे होता है? गांधीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और वह जो कुछ कहते हैं उसका अधिकांश इसके अनुकूल भी है। लेकिन वह आजकल के मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीके से कतई मेल नहीं खाता।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेद-जनक मालूम होती है। किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो। जीवन केवल तर्कशास्त्र नहीं है और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय पर हमें अपने आदर्श बदलने पड़ते हों, फिर भी हमें कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा।

मेरा खयाल है कि ध्येय के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार उतने धुंधले नहीं

हैं जितने वह कभी-कभी मालूम होते हैं। वह किसी एक खास दिशा में जाने के लिए बहुत अधिक उत्सुक हैं। लेकिन उस तरफ जाना आजकल के खयाल और आजकल की परिस्थितियों के बिलकुल खिलाफ है और अबतक वह इन दोनों का एक दूसरे से मेल नहीं मिला पाये हैं, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियां ही खोज पाये हैं जो उन्हें अपने निश्चित स्थान पर पहुंचा दें। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचीस बरस से, उस वक्त से, जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करने शुरू किये, तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ जाहिर है। मुझे पता नहीं कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारों के द्योतक हैं या नहीं। वे उनके विचारों को पूरी तरह व्यक्त करते हैं, मुझे तो इस बात में शक है, लेकिन फिर भी उनसे हमें उनके विचारों की तह में जो भावनाएं काम करती रही हैं उनके समझने में मदद मिलती है।

१९०९ में उन्होंने लिखा था—"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमें है कि उसने पिछले पचास साल में जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेल, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजें मिट जानी चाहिएं, और ऊंची कही जानेवाली जातियों को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानों का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देनेवाला है।" और "जब-जब मैं रेल या मोटर में बैठता हूं, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मैं ठीक समझता हूं उसीके साथ मैं हिंसा कर रहा हूं।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेजी से चलनेवाली चीजों से दुनिया का सुधार करने की कोशिश बिलकुल नामुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल गलत और नुकसान पहुंचानेवाली बातें मालूम होती हैं जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी जीवन के प्रति गांधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातों का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस बात में नहीं है कि हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते चले जांय और अपने रहन-सहन का ढंग ज्यादा खर्चीला कर लें, बल्कि इस बात में है कि "हम अपनी जरूरतों को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक कम कर लें, क्योंकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढ़ती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियों को मान लें तो गांधीजी

के बाकी के विचारों और उनके कार्य-कलापों को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममें से ज्यादातर लोग इनको नहीं मानते और जब हम यह देखते हैं कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक नहीं हैं, तब हम उनकी शिकायत करने लगते हैं।

व्यक्तिगत रूप से मुझे गरीबों की और तकलीफ झेलने की तारीफ करना पसन्द नहीं है। मैं यह नहीं समझता कि वे किसी प्रकार वाञ्छनीय हैं, बल्कि मेरी राय में तो उन्हें मिटा देना चाहिये। न मैं सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूं, चाहे कुछ व्यक्तियों के लिए वह ठीक ही हो। मैं सादगी, समानता और आत्म-संयम चाहता हूं और उसकी कद्र भी करता हूं, लेकिन शरीर का दमन करने के पक्ष में नहीं हूं। मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाड़ी या पहलवान के लिए अपने शरीर की साधना जरूरी है वैसे ही इस बात की भी जरूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतों को साधें और उन्हें अपने नियन्त्रण में रक्खें। यह आशा करना तो बेहूदगी होगी कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन में फंसा हुआ है, वह संकट के दिन आने पर ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-संयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा। नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही जरूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत में रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो तप ही है और न आत्मपीड़न ही।

'किसानों की-सी सादा जिन्दगी' का आदर्श मुझे जरा भी अच्छा नहीं लगता। मैं तो करीब-करीब उससे घबड़ाता-सा हूं और खुद उनकी-सी जिन्दगी बर्दाश्त करने के बदले मैं तो किसानों को भी उस जिन्दगी में से खींचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूं—उन्हें शहरी बनाकर नहीं बल्कि देहात में शहरों की सांस्कृतिक सुविधाएं पहुंचा कर। किसानों की-सी यह सादी जिन्दगी मुझे सुख तो कतई नहीं देती, वह तो मुझे करीब-करीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना। आखिर 'फावड़ेवाले आदमियों' में ऐसी क्या बात है कि उन्हें अपना आदर्श बनाया जाय? असंख्य युगों से इस पद-दलित और शोषित प्राणी में और उन पशुओं में जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नहीं रह गया है।

"किसने यों कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशा से?
व्याकुल नहीं शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से।

स्तब्ध, मूक, जड़रूप खड़ा वह, करे शिकायत क्या किससे ?
मानव है या वृषभ—सहोदर उपमा इसकी दें जिससे।"[1]

मानव बुद्धि से काम न लेकर पुराने जंगलीपन की स्थिति में, जहां बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नहीं था,पहुंचने की बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आती। स्वयं उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है,बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और उस भौतिक स्थिति को,जो दिमाग पर बोझ बन जाती है और उसकी उन्नति को रोकती है, वाञ्छनीय समझा जाता है। वर्तमान सभ्यता बुराइयों से भरी हुई है, लेकिन उसमें अच्छाइयां भी भरी पड़ी हैं, और उसमें वह ताकत भी है जिससे वह अपनी बुराइयों को दूर कर सके। उसको जड़-मूल से बरबाद करना,उसकी इस ताकत को भी बरबाद करना होगा और फिर उसा नीरस प्रकाशहीन और दुःखमय स्थिति की ओर पहुंचना होगा। यदि ऐसा करना वाञ्छनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की धारा को रोक नहीं सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते हैं, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममें से जिन लोगों ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जंगलीपन की स्थिति में जाना पसन्द नहीं कर सकते।

इस बात में तर्क करना मुश्किल है, क्योंकि ये दोनों दृष्टिकोण बिलकुल जुदे हैं। गांधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा में सोचते हैं, जब कि हममें से अधिकांश लोगों के मन में समाज की भलाई सबसे ऊपर है। मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पड़ता है और शायद इसी-लिए मैं गांधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता हूं। वह समाज या सामाजिक ढांचे को बदलना नहीं चाहते, वह तो व्यक्तियों में से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में हाथ नहीं डालेगा,क्योंकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्हीं नियमों से चलती आई है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये हैं।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नों में वह काफी आगे बढ़ जाते हैं। पर वह जो सुधार करना चाहते हैं वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी

---

[1]**अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।**

हैं इन्द्रियों पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फासिज्म पर लिखनेवाले एक योग्य रोमन कैथलिक लेखक ने आजादी की जो परिभाषा की है, शायद गांधीजी उससे सहमत होंगे। वह परिभाषा यह है—"आजादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवा और कुछ नहीं है।"

दो सौ वर्ष पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आजादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनों से और मनुष्य की बुरी कामनाओं, वासनाओं और असाधारण इच्छाओं के जाल से मुक्त।"[1]

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे में गांधीजी का जो रुख है और जो कि आजकल के औसत आदमी को असाधारण मालूम होता है वह भी कुछ-कुछ समझ में आ सकता है। उनकी राय में "जब संतान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस में सहवास करना पाप है।" और "सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को काम में लाने का परिणाम नपुंसकता और स्नायविक ह्रास होता है।" "अपने कामों के परिणामों से बचने की कोशिश करना गलत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो जरूरत से ज्यादा पेट भरलें और फिर कोई टानिक या दूसरी दवा लेकर उसके नताजों से बचने की कोशिश करें। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारों को तृप्त करे और फिर उसके परिणामों से बचे।"

व्यक्तिगत रूप से मैं गांधीजी के इस रुख को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूं और अगर गांधीजी की बात सही है, तो मैं तो उन पापियों में से हूं जो नपुंसकता और स्नायविक ह्रास के किनारे पहुंच चुके हैं। रोमन कैथलिकों ने भी बड़े जोरों से सन्तति-निग्रह का विरोध किया है। लेकिन वे अपनी दलीलों को उस अखीरी दर्जे तक नहीं ले गये जिस दर्जे तक गांधीजी ले गये हैं। उसे वे मानव-स्वभाव समझते हैं; उसके साथ उन्होंने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट दे दी है।[2] लेकिन गांधीजी तो अपनी दलील

---

[1] यह उद्धरण जिस पत्र से लिया गया है वह पीछे ५१५ पृष्ठ पर दिया जा चुका है।

[2] ईसाइयों के विवाह के बारे में पोप ११ वें पायस ने ३१ दिसम्बर १९३१

की अखीरी हद तक पहुंच गये हैं और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसंग को जरूरी या न्याय्य नहीं समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते हैं कि स्त्री-पुरुषों में परस्पर एक-दूसरेकी तरफ प्राकृतिक आकर्षण होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुष में जो एक-दूसरेके लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मैं ध्यान में नहीं रखता। मैं यह मानने से इन्कार करता हूं कि जिस आकर्षण का संकेत किया गया, वह किसी भी हालत में प्राकृतिक माना जा सकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री के वैवाहिक सम्बन्ध में वही आकर्षण है जो भाई और बहिन में, मां और बेटे में, बाप और बेटी में होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को कायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा जोर से कहते हैं—"नहीं, मुझे अपनी पूरी ताकत के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नी का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

आडीपस कांप्लेक्स[1] और फ्रायड के विचारों और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हकों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करें तो यह माना जाना चाहिये कि वे प्रकृति की व्यवस्था के खिलाफ काम कर रहे हैं, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी खराबी के कारण उनके बच्चे पैदा हों या न हों!" समय की परिस्थिति से मतलब जाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।

[1] आडीपस थेबीज के राजा लेइस का लड़का था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़के के हाथों मारा जायगा। इसपर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया; और उसने कारिन्थ के बादशाह पॉलिबस को दे दिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बड़ा हुआ और जब उसे इस भविष्यवाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा और अपनी मां से शादी कर लेगा; तो वह घर छोड़कर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और मां जाकेस्टा मिली। वह उन्हें पहचानता न था, अतःबात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जानेपर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी कर

के इस युग में किसी विश्वास को इतने जोरदार शब्दों में प्रकट करना आश्चर्य-जनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नहीं। इसे आप मानें या न मानें। इसके बारे में कोई बीच का रास्ता नहीं है। अपनी तरफ से तो मैं कह सकता हूं कि इस मामले में गांधीजी बिलकुल गलती पर हैं। कुछ लोगों के लिए उनकी सलाह ठीक हो सकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप में तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग मानसिक नैराश्य, दमन और तरह-तरह की शारीरिक और स्नायविक बीमारियों के शिकार हो जांयगे। विषयभोग में संयम जरूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात में शक है कि गांधीजी के उसूलों से यह संयम किसी बड़ी हद तक हो सकेगा। वह संयम बहुत अधिक कड़ा है, और ज्यादातर लोग यही समझते हैं कि वह उनकी ताकत के बाहर है, और इस-लिए आमतौर पर अपने मामूली तरीके पर चलते रहते हैं और अगर नहीं चलते तो पति-पत्नी में खटपट हो जाती है। स्पष्टतः गांधीजी यह समझते हैं कि सन्तति-निग्रह के साधनों से निश्चित रूप से लोग अत्यधिक मात्रा में काम-तृप्ति में लग जांयगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर पुरुष हर स्त्री के पीछे दौड़ेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके दोनों निष्कर्षों में से एक भी सही नहीं है, और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है, फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि गांधीजी उसपर इतना ज्यादा जोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो इसके दो पहलू हैं—इस पार या उस पार; बीच का कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वह ऐसी पराकाष्ठा को पहुंच जाते हैं जो मुझे बहुत गैर-मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है। इन दिनों हमारे ऊपर काम-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी बाढ़ आ रही है शायद उसीकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी ऐसी बातें कहते हैं। मैं मानता हूं कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूं और मेरे जीवन में वैषयिक भावना का असर रहा है। लेकिन न तो मैं कभी उसके काबू में हुआ न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। यह केवल गौण रूप में ही रही है।

ली। उससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मनःशास्त्री फ्रायड के मतानुसार 'आडीपस कांप्लेक्स' का अर्थ है, वह मनोविकार जिसके अनुसार लड़के का अपनी मां के प्रति और लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो —अनु०

गांधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस तपस्वी साधू जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीकों से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक, लेकिन जो संसारी स्त्री-पुरुष जीवन को मिथ्या नहीं मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते हैं उनके लिए यह बहुत दूर की बात है। इसलिए इस एक बुराई से बचने के लिए उन्हें दूसरी और उससे भी बड़ी-बड़ी बुराइयों को बर्दाश्त करना पड़ता है।

मैं विषय से बहक गया हूं। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दुःखदायी दिनों में सभी तरह के विचार मेरे मन में छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यवस्थित रूप में नहीं होते थे, बल्कि बिखरे हुए और बे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सबसे बढ़कर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोंटनेवाली आबोहवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी बढ़ जाता था। अगर मैं जेल से बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुंची वह क्षणिक होती और मैं ज्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना गुबार निकालकर अपने मन-माफिक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर जेल के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बड़ी बुरी तरह बीते। खुशकिस्मती से मैं बड़ा खुशमिजाज हूं और मायूसी के हमलों से बड़ी जल्दी सम्हल जाता हूं। इसलिए मैं अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलाकात हुई। उससे मुझे और भी खुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो हैं ही।

६२

विकट समस्याएं

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते और जिन्होंने सिर्फ उनके लेखों को ही पढ़ा है वे अक्सर यह सोच बैठते हैं कि गांधीजी किसी धर्मोपदेशक की भांति नीरस, शुष्क और मनहूसियत फैला देनेवाले व्यक्ति हैं। लेकिन गांधीजी के लेख गांधीजी के साथ अन्याय करते हैं। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह खुद कहीं ज्यादा बड़े हैं। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसको उद्धृत करके उनकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ नहीं किया जा सकता। धर्मोपासकों के रास्ते से उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुसकराहट आह्लादकारक होती है, उनकी हंसी सबको हंसा देती है, और वह विनोद की एक लहर बहा देते हैं। उनमें भोले बच्चों की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे में पैर रखते हैं तो अपने साथ एक ऐसी ताजी हवा का झोंका लेते आते हैं जो वहां के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनों के एक असाधारण नमूने हैं। मेरा खयाल है कि सभी असाधारण पुरुष कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते हैं। बरसों इस पेचीदा सवाल न मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गांधीजी पीड़ितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना खयाल रखते हुए भी ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो लाजिमी तौर पर पीड़ितों को पैदा करती है और फिर उन्हें कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ तो वह अहिंसा के ऐसे अनन्य उपासक हैं, और दूसरी तरफ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे के पक्ष में हैं जो सोलहों आने हिंसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है? शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। वह तो कम-बढ़ एक दार्शनिक अराजक हैं। लेकिन अराजकों का आदर्श एक तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उसका कयास भी नहीं कर सकते; इसलिए वह मौजूदा अवस्था को मंजूर करते

हैं। मेरा खयाल है कि परिवर्तन किन साधनों से किये जांय, इसपर उन्हें उतनी आपत्ति नहीं है, जितनी हिंसा के उपयोग पर आपत्ति है। वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए किन जरियों से काम लेना चाहिए इस सवाल को छोड़कर, हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आंखों के सामने रख सकते हैं, जिसको दूर भविष्य में नहीं, निकट भविष्य में ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी भी कहते हैं, लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ में करते हैं जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढांचे से कोई सरोकार नहीं है जो आमतौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी देखा-देखी कुछ प्रसिद्ध कांग्रेसी भी समाजवाद शब्द का इस्तेमाल करने लगे हैं, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब मनुष्य-समाज की एक किस्म की गोलमोल सेवा से होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का गलत प्रयोग करने में प्रसिद्ध व्यक्ति उनके साथ हैं क्योंकि वे सब तो सिर्फ ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के प्रधान मन्त्री की मिसाल पर ही चल रहे हैं।[१] मैं यह जानता हूं कि गांधीजी समाजवाद से अपरिचित नहीं हैं क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं और इन विषयों पर दूसरों के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन में यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्वके मामलों में अकेला दिमाग हमें ज्यादा दूरतक नहीं ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है— "अगर आपका दिल नहीं चाहता तो इतमीनान रखिए कि आपका दिमाग आपको कभी भी विश्वास नहीं करने देगा।" हमारी भावनाएं हमारे सामान्य दृष्टिकोण पर शासन करती हैं और दिमाग को अपने काबू में रखती हैं। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, वस्तुतः हमारी भावनाओं

---

[१] जनवरी, सन् ३५ में एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्ट एसोसियेशनों के संघको एक सन्देश देते हुए मि० रेमजे मेकडॉनल्ड ने कहा था—"समय की कठिनाइयां हरेक मुल्क के लोगों के लिए यह लाजिमी बना रही हैं कि वे एक होकर अपनी तमाम ताकत से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है। और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"

पर या मन की प्रवृत्तियों पर ही निर्भर रहती है। शोपेनहर ने कहा है—"मनुष्य जिस बात का संकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है,लेकिन वह जिस बात का संकल्प करना चाहे उसका संकल्प नहीं कर सकता।"

दक्षिण अफ्रीका में शुरू के दिनों में गांधीजी में बहुत जबरदस्त तब्दीली हुई। इससे जीवन के बारे में उनकी सारी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होंने अपने सभी विचारों के लिए एक आधार बना लिया है और अब वह किसी सवाल पर उस आधार से हटकर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं कर सकते। जो लोग उन्हें नई बातें सुझाते हैं, उनकी बातें वह बड़े धीरज और ध्यान से सुनते हैं, लेकिन इस नम्रता और दिलचस्पी के बावजूद उनसे बातें करने वाले के मन पर यह असर पड़ता है कि मैं एक चट्टान से टकरा रहा हूं। कुछ विचारों पर उनकी ऐसी दृढ़ आस्था बंध गई है कि और सब बातें उन्हें महत्त्वशून्य मालूम होती हैं। उनकी राय में दूसरी और गौण बातों पर जोर देने से मुख्य योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम अपनी आस्था पर दृढ़ रहें तो अन्य सभी बातें जरूरी तौर पर अपने-आप उचित-रीतिसे ठीक हो जायंगी। अगर हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य भी अनिवार्य रूप से ठीक होगा।

मेरे खयाल से उनके विचारों का आधार यही है। वह समाजवाद को और उससे भी ज्यादा खासतौर पर मार्क्सवाद को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं,क्योंकि वह हिंसा से सम्बन्धित है। 'वर्ग-युद्ध' शब्द में ही उन्हें लड़ाई और हिंसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते हैं। इसके अलावा वह यह भी नहीं चाहते कि आम लोगों की रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमानेसे ज्यादा ऊंचा बढ़ाया जाय, क्योंकि अगर लोग ज्यादा आराम से और फुर्सत में रहेंगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठी-भर अमीर लोग भोग विलास में पड़े रहते हैं, अगर ऐसे लोगों की संख्या और बढ़ा दी गई तब तो बहुत ही बुरा हो जायगा। १९२६ में उन्होंने जो एक पत्र लिखा था उससे हम ऐसे ही कुछ नतीजे निकाल सकते हैं। इंग्लैण्ड में उन दिनों कोयलों की खानों में मजदूरों ने बहुत बड़ी हड़ताल कर दी थी, और खानों के मालिकों ने खानें बन्द कर दी थीं। इस संघर्ष के समय उनके पास जो पत्र आया था, उसीका उन्होंने जवाब दिया था। जिन साहब ने उन्हें लिखा था, उन्होंने अपने पत्र में यह दलील पेश की थी कि इस लड़ाई में मजदूर हार जायंगे, क्योंकि

उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हें चाहिए कि वह कृत्रिम साधनों से सहायता लेकर अधिक सन्तानें पैदा करना बन्द करदें और इस तरह अपनी तादाद घटालें। इस पत्र का जवाब देते हुए गांधीजी ने लिखा था—"आखीरी बात यह है कि अगर खानों के मालिक गलत रास्ते पर होने पर भी जीत जायंगे, तो उनकी यह जीत महज इसलिए नहीं होगी कि मजदूर लोग अधिक सन्तानें पैदा करते हैं; बल्कि इसलिए होगी कि मजदूरों ने जीवन में संयम से काम लेना नहीं सीखा। अगर खानों के मजदूरों के बच्चे न हों तो उन्हें अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा ही नहीं रहेगी, और फिर वे यह बात कैसे साबित कर दिखायेंगे कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाने की जरूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की क्या जरूरत है! क्या इसके जवाब में यह कहना ठीक होगा कि खानों के मालिक भी तो यह सब काम करते हैं, और फिर भी वे चैन की बंसी बजाते हैं? अगर मजदूर लोग इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे पूंजीपतियों से अच्छे हैं तो फिर उन्हें संसार की सहानुभूति मांगने का क्या हक है? क्या इसलिए कि वे पूंजीपतियों की संख्या बढ़ावें और पूंजीवाद को मजबूत करें? हमसे कहा जाता है कि हम सब लोकतन्त्र का आदर करें और वादा किया जाता है जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब संसार की अवस्था बहुत अच्छी हो जायगी। पूंजीवाद और पूंजीपतियों के सिर हम जिन बुराइयों को थोपते हैं, वे ही खुद हमें और भी ज्यादा बड़े पैमाने पर पैदा नहीं करनी चाहिएं।"[1]

जब मैंने इसे पढ़ा, तब खानों में काम करनेवाले अंग्रेज मजदूरों और उनकी औरतों व बच्चों के भूखे और पिचके हुए चेहरे मेरी आंखों के सामने आ गये जो मैंने १९२६ की गर्मियों में देखे थे। वे गरीब मजदूर उस समय अपने को कुचलने वाली पैशाचिक प्रणाली के खिलाफ लड़ रहे थे। इस लड़ाई में वे बिल्कुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गांधीजी ने जो बातें लिखी हैं वे पूरी तरह सही नहीं हैं; क्योंकि खानों के मजदूर मजदूरी बढ़ाने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो इस बात के लिए लड़ रहे थे कि जो मजदूरी उन्हें मिलती है उसमें कमी न की जाय, और जो खानें बन्द कर दी गई थीं वे खोलदी जायं। लेकिन इस वक्त हमें इन बातों से कोई ताल्लुक नहीं। न हमारा ताल्लुक इसी बात

---

[1] गांधीजी की 'अनीति की राह पर' नामक पुस्तक में यह पत्र उद्धृत हुआ है।

से है कि मजदूर लोग कृत्रिम साधनों की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोकें या न रोकें, यद्यपि मालिकों और मजदूरों के लड़ाई झगड़े को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था। मैंने तो गांधीजी के जवाब में से इतना अवतरण इसलिए दिया है कि हम लोगों को यह बात समझने में मदद मिले कि मजदूरों की रहन-सहन के ढंग को ऊंचा बनाने की सामान्य मांग के सम्बन्ध में और मजदूरों के दूसरे मामलों में गांधीजी का दृष्टिकोण क्या है। उनका यह दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण ही से क्यों, सच बात तो यह है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफी दूर है। अगर उनसे यह कहा जाय कि स्वार्थी समुदाय रास्ते में रोड़े न डालें तो हम आज विज्ञान और उद्योग-धन्धों के जरिये तमाम लोगों को अबसे कहीं बड़े पैमाने पर खाने-पहनने और रहने को दे सकते हैं और उनकी रहन-सहन का ढंग बहुत ज्यादा ऊंचा कर सकते हैं, तो उन्हें इस बात में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं होगी। असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातों के लिए बहुत उत्सुक नहीं है। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नहीं है और पूंजीवाद भी कुछ हद तक ही बर्दाश्त किया जा सकता है और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही को नापसन्द करते हैं, लेकिन पूंजीवाद को अपेक्षाकृत कम बुरा समझ-कर उसे बर्दाश्त कर लेते हैं। इसके अलावा वह पूंजीवाद को इसलिए भी बर्दाश्त करते हैं कि वह तो पहले ही से मौजूद है और उसकी ओर से आंखें नहीं मूंदी जा सकतीं।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढ़ने में मैं गल्ती पर होऊं, लेकिन मेरा यह खयाल जरूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पड़ते हैं, और उनके कथनों में हमें जो विरोधाभास और अस्त-व्यस्तता परेशान करती है उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिल्कुल भिन्न हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग हमेशा बढ़ते जानेवाले आराम और अवकाश को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें। वह तो यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, अपनी बुरी लतें छोड़ दें, शारीरिक भोगों को दिन-पर-दिन कम करते जांय और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करें। और जो लोग सर्वसाधारण की सेवा करना चाहते हैं उन्हें उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने की उतनी कोशिश नहीं

करनी चाहिए, जितनी यह कोशिश करनी चाहिए कि वे स्वयं उसकी तह पर नीचे चले जांय और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिलें। ऐसा करते हुए वे लाजिमीतौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करनें में मदद दे सकेंगे। उनकी राय के मुताबिक यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होंनें जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने लिखा है कि, "बहुत से लोग मेरा विरोध करने की आशा छोड़ बैठे हैं। मेरे लिए यह बात मुझे जलील करने जैसी है, क्योंकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्रवादी हूं। गरीब-से-गरीब व्यक्ति के साथ बिलकुल उसी जैसा हो जाना, जिस हालत में वह रहता है उससे बेहतर हालत में रहने की इच्छा त्याग देना, और अपनी पूरी शक्ति से उसकी तह तक पहुंचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना; अगर ये ऐसी बातें हैं,जिनकी बुनियाद पर किसीको अपने को लोकतन्त्रवादी कहने का हक मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूं।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपने को सर्वसाधारण से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता का और अपनी ऊंची रहन-सहन का प्रदर्शन उन लाखों लोगों के सामने करना जिनके पास जरूरी-से जरूरी चीजों की भी कमी है, बहुत ही अशोभनीय और अनुचित है। लेकिन इसके अलावा गांधीजी की अन्य दलीलों और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्रवादी, पूंजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं हो सकता। जिन लोगों का पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे उनकी बातों से कुछ हद तक सहमत हो सकते हैं, क्योंकि दोनों विचार की दृष्टि से अतीत से बंधे हुए हैं, और हमेशा हर बात अतीत की दृष्टि से ही देखा करते हैं। वे वर्तमान या भविष्यकाल की बाबत इतना नहीं सोचते, जितना भूतकाल की बाबत। भूतकाल की ओर और भविष्यकाल की ओर ले जानेवाली प्रेरणाओं में जमीन और आसमान का अन्तर है। पुराने जमाने में तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि सर्वसाधारण की आर्थिक दशा सुधारी जाय। उन दिनों निर्धन तो हमारे समाज के अभिन्न अंग थे। मुट्ठीभर धनी लोग थे। वे सामाजिक ढांचे और अर्थोत्पादन प्रणाली के मुख्य अंग थे। इसीलिए धार्मिक, सुधारक और परदुःखकातर व्यक्ति उन्हें स्वीकार कर लेते थ, लेकिन साथ ही उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि अपने भाइयों के प्रति अपने कर्तव्य को न भूलें। धनी लोग

गरीबों के ट्रस्टी बनकर रहें, दानी बनें। इस प्रकार दान-पुण्य धर्म का एक मुख्य अंग हो गया। राजा-महाराजाओं, बड़े-बड़े जमींदारों और पूंजीपतियों के लिए गांधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा जोर देते रहते हैं। वे इस विषय में उन अनेक धार्मिक पुरुषों की परम्परा पर चल रहे हैं, जो समय-समय पर यही कह गये हैं। पोप ने ऐलान किया है कि 'धनवानों को यही खयाल करना चाहिए कि वे प्रभु के सेवक हैं, स्वयं ईसामसीह ने गरीबों का भाग्य उनके हाथ में सौंपा है और वे ईश्वर की सम्पत्ति के रक्षक और बांटने वाले हैं।'' सामान्य हिन्दू-धर्म और इस्लाम में भी यही विचार मौजूद है। वे हमेशा धनवानों से यह कहते रहते हैं दान-पुण्य करो, और धनिक भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालायें बनवाकर अथवा अपने विशाल भांडार से गरीबों को कुछ तांबे या चांदी के सिक्के देकर सोचने लगते हैं कि हम बड़े धर्मात्मा हैं।

पोप तेरहवें लियो ने मई १८९१ में जो प्रसिद्ध धर्माज्ञा निकाली थी, उसमें पुरानी दुनिया की इस धार्मिक दृष्टि को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। नई औद्योगिक परिस्थिति पर अपनी दलील देते हुए पोप ने कहा था—

"कष्ट उठाना तथा धीरज धरना—यही मानवसमाज के भाग्य में है। मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करे उसकी जिन्दनी में जिन दुःखों और कठिनाइयों ने घर कर लिया है,उनका बहिष्कार करने में कोई भी ताकत या तदबीर कारगर नहीं हो सकती। यदि कोई इसके विपरीत ढोंग करता है, और संकटग्रस्त लोगों को दुःख और कठिनाइयों से छुटकारा, निर्विघ्न आराम और,सदा सुख-भोग की उम्मीद दिलाता है, तो वह लोगों को सरासर धोका देता है। उसके ये झूठ वादे उन दुःखों को उलटे और दुगुना कर देने वाले हैं। हम दुनिया को वास्तविक रूप से देखें, और साथ ही उसके दुःखों के नाश का उपाय अन्यत्र खोजें—इससे अधिक उपयोगी और कोई बात नहीं है।"

यह अन्यत्र कहां है यह हमें आगे बताया गया है—

इस लोक के उपभोगों की वस्तुस्थिति समझने तथा ठीक-ठीक कीमत लगाने के लिए परलोक के शाश्वत जीवन पर विचार कर लेना आवश्यक है .... प्रकृति से हम जिस महान सत्य की शिक्षा लेते हैं वह ईसाईधर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—वह सत्य यह है कि इस लोक के जीवन को समाप्त कर लेने के बाद ही हमारा वास्तविक जीवन आरम्भ होगा। ईश्वर ने हमें दुनिया में अनित्य

और क्षणभंगुर उपभोगों के लिए नहीं पैदा किया है, बल्कि दिव्य और सनातन उपभोगों के लिए पैदा किया है। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमें देश-निकाले के बतौर दी है, निज के देश के बतौर नहीं। रुपया और अन्य पदार्थों को लोग अच्छा और इष्ट गिनते हैं। उनकी अपने पास बहुलता भी हो सकती है और अभाव भी हो सकता है——जहांतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उसका होना न होना बराबर है....।"

यह धार्मिक वृत्ति उस प्राचीन काल की दुनिया से आबद्ध है जब वर्तमान दुःखों से बचने का एकमात्र मार्ग परलोक के जीवन की आशा थी। यद्यपि तबसे लोगों की आर्थिक अवस्था में कल्पनातीत उन्नति हो चुकी है, फिर भी हमारी दृष्टि उस भूतकाल के स्वप्न से आविष्ट है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातों पर जोर दिया जाता है जो गोल-मोल हैं और ऊटपटांग-सी हैं और जिनकी नाप-जोख नहीं हो सकती। कैथलिक लोगों की निगाह बारहवीं और तेरहवीं सदी की तरफ दौड़ती है। दूसरे लोग जिसे अन्धकार युग कहते हैं उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं। कारण, उस समय ईसाई सन्तों की भरमार थी, ईसाई राजा धर्मयुद्धों के लिए कूच करते थे और गोथिक ढंग पर गिरजाघरों का निर्माण होता था। उनकी राय में वह ज़माना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का था, मध्यकालीन महाजनों के अंकुश में उसकी स्थापना की। इसके पहले और इसके बाद ऐसे लोकतन्त्र का साक्षात्कार और कहीं नहीं हुआ। मुसलमान इस्लामी लोकतन्त्र के लिए शुरू के खलीफाओं की ओर हसरतभरी निगाह दौड़ाते हैं, क्योंकि उन खलीफाओं ने दूर-दूर देशों में अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बातें सोचते हैं,और रामराज्य के सपने देखते हैं। फिर भी तमाम दुनिया के इतिहास हमें बतलाते हैं कि उन दिनों की अधिकांश जनता बड़ी मुसीबत में रहती थी। उसके लिए तो अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनों चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक जीवन बिताते हों,क्योंकि उनके पास उसके लिए फुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरों के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज पेट पालने में दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होंगे। जो शख्स भूखों मर रहा है वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फिक्र में लगा रहता है कि खाने का इन्तजाम कैसे हो?

औद्योगिक युग अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयां लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी दृष्टि के सामने घूमती रहती हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि समस्त संसार और खासकर उन हिस्सों में, जहां उद्योग-धन्धे बहुतायतसे छा गये हैं,इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाल दी है, जो बहुजनसमाज के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान में या दूसरे औपनिवेशिक देशों में साफ जाहिर नहीं दिखाई देती है, क्योंकि हम लोगों ने उद्योगवाद से फायदा नहीं उठा पाया है। हम लोगों का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातों में हमारी हालत, आर्थिक दृष्टि से भी, पहले से भी, बदतर हो गई है——सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज्यादा बदतर हो गई है। इस मामले में कुसूर उद्योगवाद का नहीं, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान में जो चीज पश्चिमीकरण के नाम से पुकारी जाती है उसने कम-से-कम इस वक्त के लिए तो, असल में, माण्डलिकशाही को और भी मजबूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदकिस्मती की बात हुई। मगर इस दृष्टि से हमें आजकी दुनिया को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि मौजूदा हालत में तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो जरूरी ही रहे हैं न वाञ्छनीय ही। अब वे फजूल हो गये हैं और हर वक्त हमारे रास्ते में रोड़े की तरह अटकते हैं। और धर्माचार्यों के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नहीं रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करें और गरीब जिस हालत में हैं, उसीमें सन्तुष्ट रहें और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करें, मितव्ययी बनें, और भले आदमियों की तरह रहें। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ़ गये हैं, और वह सांसारिक समस्याओं का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरों के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते हैं, और समाज में ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियों के मार्ग में बाधा है वरन् उनका अपव्यय करनेवाला भी है। यह वर्ग और इस वर्ग को पैदा करनेवाली व्यवस्था वास्तव में उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनों सिरों पर बेकारों को प्रोत्साहन देती है, यानी उन लोगों को भी जो दूसरों की मेहनत पर चैन करते हैं और उनको भी जिनको

कोई काम ही नहीं मिलता और इसलिए भूखों मरते हैं। खुद गांधीजी ने कुछ वक्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखों मरनेवाले लोगों के लिए तो मजदूरी और वेतन के रूप में भोजन का आश्वासन ही ईश्वर हो सकता है। ईश्वर ने मनुष्यों को इसलिए पैदा किया था कि कमा कर खावें और उसने कह दिया है कि जो बिना कमाये खाते हैं वे चोर हैं।"

वर्तमान युग की पेचीदा समस्याओं को प्राचीन पद्धतियों और सूत्रों का प्रयोग कर समझने का प्रयत्न करना और उनके बारेमें बीते हुए जमाने की भाषा का प्रयोग करना उलझन पैदा करना और असफलताको निमन्त्रित करना है, क्योंकि, उस जमाने में ये समस्याएं पैदा ही नहीं हुई थीं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि निजी सम्पत्ति पर स्वामित्व की कल्पना संसार के आदि काल से चली आनेवाली कल्पनाओं में से एक है; किन्तु वास्तव में यह सदा बदलती रही है। एक जमाना था जबकि गुलामों की गिनती सम्पत्ति में की जाती थी। इसी तरह स्त्रियां और बालकों, पति का नववधू की पहली रात पर अधिकार, और सड़कों, मन्दिरों, नावों, पुलों, सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं एवम् वायु और भूमि—इन सब पर स्वामित्व के अधिकार का उपभोग किया जा सकता था। पशु अब भी मिल्कियत समझे जाते हैं, हालांकि अनेक देशों में उनपर स्वामित्व का अधिकार बहुत मर्यादित कर दिया गया है। युद्ध के समय में तो निजी सम्पत्ति के अधिकारों पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोड़कर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैंक में जमा की हुई और कर्ज के रूप में दी गई पूंजी। ज्यों-ज्यों सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है, राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाजी करता जाता है और जनता की मांगों के फलस्वरूप सम्पत्तिवालों के अन्धाधुन्ध अधिकारों को सीमित कर देता है। अनेक प्रकार के भारी-भारी टैक्स सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण कर लेते हैं; ये कर एक प्रकार की जब्ती हैं, सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक नहीं है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले जमाने में भी ज्यादातर लोगों के कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं थे; वे खुद ही दूसरों की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगों को ये हक हासिल हैं। स्थापित स्वार्थों की

बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह यह कि हर औरत और मर्द को यह हक है कि वह जिन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलों का उपभोग करे। इन बदलती रहनेवाली धारणाओं के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति का लोप नहीं हो गया है बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया है; मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोड़े ही लोगों के पास केन्द्रित हो जाने से इन मुट्ठी-भर लोगों को दूसरों पर जो अधिकार प्राप्त हो गया था वह फिर सारे समाज के हाथों से वापस ले लिया गया है।

गांधीजी लोगों का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते हैं और इसप्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि लोग बुरी आदतें छोड़ दें, इन्द्रिय-भोगों को तिलांजलि दे दें और पवित्र बनें। वह इस बात पर जोर देते हैं कि लोग ब्रह्मचर्य से रहें, नशा न करें, और सिगरेट वगैरा न पीवें। इन व्यसनों में से कौन-सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम, इस विषय में लोगों में मतभेद हो सकता है। लेकिन लोभ, स्वार्थ, परिग्रह, व्यक्तिगत लाभ के लिए आपस में भयानक लड़ाई-झगड़ा, समूहों और वर्गों में कलह, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का अमानुषिक शोषण और दमन तथा राष्ट्रों की आपस की भयानक लड़ाइयां—इनकी तुलना में ये व्यक्तिगत त्रुटियां, वैयक्तिक दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी बहुत कम हानिकारक हैं, इस बात में क्या किसीको शक हो सकता है? यह सच है कि गांधीजी समस्त हिंसा और पतनकारी कलह से घृणा करते हैं। लेकिन क्या ये चीजें आजकल के स्वार्थी पूंजीपति समाज में स्वाभाविक रूप में मौजूद नहीं हैं, जिसका नियम यह है कि जिसकी लाठी उसकी भैंस और पुराने जमाने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि "जिनके बाहुओं में ताकत है वे जो चाहें सो ले लें और जो चाहें अपने पास रख लें?" इस युग की मुनाफे की भावना का लाजिमी परिणाम संघर्ष होता है। यह सारी व्यवस्था मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियों का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओं को भी शह मिलती है; लेकिन इनकी अपेक्षा उनकी हीन वृत्तियों को कहीं अधिक पोषण मिलता है। इस व्यवस्था के भीतर कामयाबी के मानी हैं दूसरों को नीचे गिरा देना और गिरे हुओं पर चढ़ बैठना। अगर

समाज इन उद्देश्यों और महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित करता है और इन्हींकी तरफ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते हैं, तो क्या गांधीजी यह समझते हैं कि ऐसे वातावरण में वह मानव-समाज को सदाचारी बनाने के अपने आदर्श को पूरा कर सकेंगे ? वह सर्वसाधारण को सेवापरायण बनाना चाहते हैं। सम्भव है, कुछ व्यक्तियों को बनाने में उन्हें कामयाबी भी मिल जाय; लेकिन जब तक समाज लोभी व्यक्तियों को आदर्श के रूप में रक्खेगा और व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी, तबतक बहुजन तो इसी मार्ग पर चलते रहेंगे।

लेकिन यह प्रश्न तो अब केवल सदाचार या नीतिशास्त्र का नहीं है। यह तो आजकल का व्यावहारिक और एक बहुत जरूरी प्रश्न है, क्योंकि दुनिया ऐसे दलदल में फंस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नहीं, उसे उसमें से निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूंढना ही होगा। 'मिकावर' की तरह हम इस बात का इन्तजार नहीं कर सकते कि कुछ-न-कुछ अपने-आप हो जायगा। न तो पूंजीवाद, समाजवाद, कम्युनिज्म आदि के बुरे पहलुओं की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयेगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई पद्धतियों की चुनी हुई अच्छी-से-अच्छी बातों का समन्वय कर देगा, कुछ काम चलेगा। रोग का निदान करना होगा, उसके उपचार का पता लगाना होगा, और उसे काम में लाना पड़ेगा। यह बिल्कुल निश्चित है कि हम जहां हैं वहां-के-वहीं खड़े नहीं रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते हो सकते हैं, या तो पीछे हटें या आगे बढ़ें। लेकिन शायद इस बात में संकल्प-विकल्प का स्थान ही नहीं है, क्योंकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

फिर भी गांधीजी की बहुत-सी प्रवृत्तियों से यह मालूम पड़ता है कि उनका

---

[1] मिकावर विलिकिन्स, चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफील्ड' नामक उपन्यास का एक प्रसिद्ध पात्र है, जो क्षण भर में उदास और क्षण भर में प्रसन्न हो जाता था। वह बड़ा अदूरदर्शी था और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था। वह सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है। —अनु०

ध्येय अत्यन्त संकुचित स्वावलम्बी व्यवस्था को फिर से ले आना है। वह न केवल राष्ट्र बल्कि गांव तक को स्वावलम्बी बना देना चाहते हैं। प्राचीनकाल के समाजों में गांव लगभग स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपड़े और अपनी जरूरतों के दूसरे सामान स्वयं पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी यह हैं कि लोग बहुत ही गरीबी ढंग से रहते होंगे। मैं यह नहीं समझता कि गांधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य बनाये रखना चाहते हैं, क्योंकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत में जिन देशों की जनसंख्या बहुत अधिक है, वे तो जिन्दा ही नहीं रह सकते, इसलिए वे इस बात को बर्दाश्त नहीं करेंगे कि इस कष्टमय और भूखों मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय। मेरा खयाल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहां कि रहन-सहन का स्टैण्डर्ड बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगों को तरक्की देकर वहां की जनता के पैमाने को कुछ ऊंचा कर सकते हैं। लेकिन हम लोग बाकी दुनिया से उसी तरह बंधे हुए हैं जैसे दूसरे देश बंधे हुए हैं, और मुझे यह बात बिलकुल अनहोनी मालूम देती है कि हम दुनिया से अलग होकर रह सकेंगे इसलिए हमें सब बातों को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर संकुचित स्वावलम्बी व्यवस्था की कल्पना नहीं हो सकती। व्यक्तिगत रूप से मैं तो उसे सब दृष्टियों से अवांछनीय समझता हूं।

अनिवार्य रूप से हमारे पास सिर्फ एक ही सम्भव उपाय रह जाता है और वह है समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर स्थापित होगी, फिर कालान्तर में समस्त संसार में व्याप्त हो जायगी। इस व्यवस्था में सम्पत्ति का उत्पादन और बंटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथों से होगा। यह कार्य कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन बात इतनी साफ है कि यदि जिन थोड़े से लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुंचता है वे उसे बदलने में एतराज करते हैं, तो हमें केवल उनके खयाल से अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई का काम नहीं रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक संस्थाएं इस प्रकार के परिवर्तन में विघ्न डालती हैं, तो उन संस्थाओं को मिटाना होगा। इस वाञ्छनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलांजलि देकर उन संस्थाओं से समझौता करना महान विश्वासघात होगा। इन परिवर्तनों के लिए कुछ हद तक दुनिया की हालत मजबूर कर सकती है और इनकी रफ्तार तेज कर सकती है, लेकिन वे तभी हो सकेंगे जब बहुत बड़ी संख्या में लोग उन्हें

चाहेंगे और स्वीकार करेंगे। चाहे इसीलिए लोगों को समझा-बुझाकर इन परिवर्तनों के पक्ष में कर लेने की आवश्यकता है। मुट्ठीभर लोगों के षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नहीं चलेगा। जिन लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फायदा पहुंचता है, उनको भी अपनी तरफ मिलाने की कोशिश करनी चाहिए, लेकिन यह बात मुमकिन नहीं मालूम होती कि उनमें से अधिकांश कभी हमारी तरफ हो सकेंगे।

खादी-आन्दोलन—हाथकताई और हाथबुनाई—गांधीजी को विशेष रूप से प्रिय है। यह व्यक्तिगत अर्थोत्पादन का तीव्र रूप है और इस तरह वह हमें औद्योगिक जमाने से पीछे फेंक देता है। आजकल के किसी भी बड़े मसले को हल करने के लिहाज से आप उसपर बहुत भरोसा नहीं कर सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ बढ़ने देने में अड़चन साबित हो सकती है। फिर भी, मैं मानता हूं कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फायदा पहुंचाया और भविष्य में भी उस समय तकके लिए लाभदायक हो सकता है, जबतक सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धे-सम्बन्धी प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने का भार अपने ऊपर नहीं ले लेती। हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा बेकारी है जिसका कोई हिसाब ही नहीं है, और देहाती क्षेत्रों में तो आंशिक बेकारी इससे भी कहीं ज्यादा है। सरकार की तरफ से इस बेकारी का मुकाबला करने के लिए कोई कोशिश ही नहीं की गई है, न उसने बेकारों को किसी किस्म की मदद देने की कोशिश की है। आर्थिक दृष्टि से खादी ने पूर्ण रूप या आंशिक रूप से बेकार लोगों को कुछ थोड़ी-सी मदद जरूर दी है; और चूंकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढ़ाया है और उनमें स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे अच्छा परिणाम मन पर पड़ा है। खादी ने शहरवालों और गांववालों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों और किसानों को एक-दूसरे के नजदीक पहुंचाया है। कपड़ों का, पहननेवालों और देखनेवालों दोनों के ही मन पर बहुत असर पड़ता है, इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगों ने सफेद खादी की सादी पोशाक पहननी शुरू की तो उसके फलस्वरूप सादगी बढ़ी, पोशाक में दिखावा और गंवारूपन कम हो गया, और सर्वसाधारण

के साथ एकता का भाव बढ़ा। निम्न मध्यमवर्ग के लोगों ने कपड़ों के मामलों में धनिकों की नकल करना और सादी पोशाक पहनने में किसी किस्म की बेइज्जती समझना छोड़ दिया। इतना ही नहीं इससे विपरीत जो लोग अब भी रेशम और मलमल पर नाज करते थे, उनसे वे अपने को ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊंचा समझने लगे। गरीब-से-गरीब आदमी भी खादी पहनकर आत्म-सम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहां बहुत-से खादी-धारी लोग जमा हो जाते थे वहां यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन गरीब, और इन लोगों में बन्धुत्व का भाव पैदा हो जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि खादी ने कांग्रेस को जनता के पास पहुंचने में मदद दी। वह राष्ट्रीय स्वाधीनता की वर्दी हो गई।

इसके अलावा, मिल-मालिकों की कपड़ों की कीमतें बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति भी खादी ने रोकी। पहले हिन्दुस्तान के मिल-मालिकों को सिर्फ एक ही डर कीमतें बढ़ाने से रोकता था, और वह था विलायती, खासतौर पर लंकाशायर के कपड़ों की कीमतों का मुकाबला। जब कभी यह मुकाबला बन्द हो जाता, जैसा कि विश्वव्यापी महायुद्ध के जमाने में हुआ था, तभी हिन्दुस्तान में कपड़ों की कीमत बेहद चढ़ जाती और हिन्दुस्तान की मिलें भारी मुनाफा कमातीं। इसके बाद 'स्वदेशी' तथा 'विलायती कपड़ों के बहिष्कार' के आन्दोलन ने भी इन मिलों की बहुत बड़ी मदद की, लेकिन जबसे खादी मुकाबले पर आ डटी तबसे बिलकुल दूसरी बात हो गई और मिल के कपड़ों की कीमतें उतनी न बढ़ सकीं जितनी वे खादी के न होने पर बढ़तीं। वस्तुतः मिलों ने (साथ ही जापान ने) लोगों की खादी की भावना से नाजायज फायदा उठाया। उन्होंने ऐसा मोटा कपड़ा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़े से भेद करना मुश्किल हो गया। युद्ध जैसी किसी असाधारण परिस्थिति से विलायती कपड़े का हिन्दुस्तान में आना बन्द हो जाने पर हिन्दुस्तानी मिल-मालिकों के लिए कपड़ों के खरीदारों का अब १९१४ की तरह लूट सकना मुमकिन नहीं है। खादी आन्दोलन उन्हें ऐसा करने से रोकेगा, खादी-संगठन में इतनी ताकत है कि वह थोड़े ही दिनों में अपना काम बढ़ा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान में खादी-आन्दोलन के इन सब फायदों के होते हुए भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि वह संक्रमण-काल की ही वस्तु हो सकती है। सम्भव

है, कि मुख्य आर्थिक व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था कायम होने तक वह एक सहायक प्रवृत्ति के रूप में भविष्य में भी चलता रहे। लेकिन भविष्य में तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्तमान अवस्था में आमूल परिवर्तन करके औद्योगिक धन्धों के प्रसार में लगेगी। कृषि-सम्बन्धी समस्याओं के साथ खिलवाड़ करने से और उन अगणित कमीशनों को बढ़ाने से जो लाखों रुपये खर्च करने के बाद—सिर्फ ऊपरी ढांचों में छुटपुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीजें करते हैं—जरा भी काम नहीं चलेगा। हमारे यहां जो भूमि-व्यवस्था जारी है, वह हमारी आंखों के सामने ढहती जा रही है, और वह पैदावार के लिए, बंटवारे के लिए, और युक्तियुक्त तथा बड़े पैमाने पर कृषिप्रयोगों के लिए एक अड़चन साबित होरही है। इस व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खित्तों की जगह संगठित, सामूहिक और सहकारी कृषि-प्रणाली से थोड़े परिश्रम द्वारा अधिक पैदावार करके ही हम मौजूदा हालत का मुकाबला कर सकते हैं। यह ठीक है कि (जैसा गांधीजी को डर है) बड़े पैमाने पर काम कराने से खेतों पर मजदूरी करनेवालों की तादाद कम हो जायगी; लेकिन खेती का काम ऐसा नहीं है कि उसमें हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायंगे या लग ही सकेंगे। कुछ लोग तो छोटे उद्योगों में लग जायंगे, लेकिन ज्यादातर लोगों को खासतौर पर बड़े पैमाने पर समाजोपयोगी काम-धन्धों में लगना होगा।

यह सच है कि बहुत-से प्रदेशों में खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी में ही एक खतरा भी छिपा हुआ है। वह यहां की जीर्ण-शीर्ण भूमि-व्यवस्था को पोषण दे रही है और उस हदतक उसकी जगह एक उन्नत व्यवस्था के आने में देर लग रही है। यह जरूर है कि खादी का यह असर इतना ज्यादा नहीं है कि उसमें कोई खास फर्क पड़े, लेकिन वह प्रवृत्ति तो मौजूद है। किसान या छोटे किसान-जमींदार को उसके खेतों की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफी भी नहीं रहा कि वह अपनी बहुत गिरी हुई हालत में भी उससे अपना गुजारा करले। अपनी तुच्छ आय बढ़ाने के लिए उसे बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है, या जैसा कि वह आमतौर पर होता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुजारी अदा करने के लिए और भी ज्यादा कर्ज में फंसना पड़ता है। इस तरह किसान को खादी वगैरा से जो अतिरिक्त आमदनी होती है उससे सरकार या जमींदार को अपना हिस्सा वसूल करने में मदद मिलती है। अगर यह

अतिरिक्त आमदनी न होती तो सरकार या जमींदार इस प्रकार वसूली न कर सकते। अगर यह अतिरिक्त आमदनी और बढ़ जाय, तो मुमकिन है कि कुछ दिनों बाद लगान भी इतना बढ़ जायगा कि वह भी उसीमें चली जायगी। मौजूदा व्यवस्था में काश्तकार जितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज्यादा किफायतशारी करने की कोशिश करेगा, आखिर में जमींदार को उतना ही ज्यादा फायदा पहुंचेगा। जहां तक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'प्रगति और गरीबी' ('प्रोग्रेस एण्ड पावर्टी')नामक किताब में इस मामले को, खासतौर पर आयर्लैण्ड की मिसालें दे देकर, अच्छी तरह समझाया है।

ग्रामोद्योगों का पुनरुद्धार करने का गांधीजी का प्रयत्न उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ कुछ अंश में तो स्थायी, परन्तु अधिकांश में अस्थायी होगा। वह गांववालों की उनकी मौजूदा मुसीबत में मदद करेगा और कुछ मृतप्राय सांस्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी शक्तियों को पुनर्जीवित कर देगा। लेकिन यह कोशिश मशीनों और उद्योगवाद के खिलाफ एक हदतक बगावत है, इसलिए इसे कामयाबी नहीं मिलेगी। हाल ही में 'हरिजन' में ग्रामोद्योगों के बारे में गांधीजी ने लिखा है—"मशीनों से उस वक्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते हैं उसके लिए आदमी बहुत कम हों। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में है, अगर काम के लिए जितने आदमियों की जरूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हों तो,मशीनों से काम लेना बुरा है। ...हम लोगों के सामने यह सवाल नहीं है कि हम अपने गांव के रहनेवाले करोड़ों लोगों को काम से छुट्टी या फुरसत किस तरह दिलावें? हमारे सामने सवाल तो यह है, कि हम उनकी साल में काम के छ: महीनों के बराबर बेकारी की घड़ियों का किस तरह इस्तेमाल करें।" लेकिन यह एतराज तो थोड़ी-बहुत मात्रा में बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए सब मुल्कों पर लागू होता है। लेकिन लोगों के करने के लिए काम नहीं है,खराबी यह नहीं है। खराबी यह है कि मौजूदा मुनाफा उठाने की प्रणाली में अधिक लोगों को काम में लगाना मिल-मालिकों को लाभकर नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सड़कों का बनाना, सिंचाई का इन्तजाम करना, सफाई और दवादारू की सहूलियतें फैलाना, उद्योग तथा बिजली का,सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का और शिक्षा का प्रसार करना

और लोगों के पास जिन बीसियों जरूरी चीजों की कमी है उनके जुटाने का इन्तजाम करना। हमारे करोड़ों भाई अगले पचास साल तक इन कामों में बड़ी मेहनत करके भी उन्हें खत्म न कर पायेंगे और लोगों को काम मिलते रहेंगे। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक-शक्ति समाज की उन्नति करना हो, न कि मुनाफे की वृत्ति; और समाज इन कामों की योजना सार्वजनिक भलाई के लिए करे। रूसी सोवियट यूनियन में और चाहे जितनी खामियां हों, लेकिन वहां एक भी आदमी बेकार नहीं है। हमारे भाई इसलिए बेकार नहीं हैं कि उनके लिए कोई काम नहीं है; बल्कि इसलिए बेकार हैं, कि उन्हें काम की और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधाएं प्राप्त नहीं है। अगर बच्चों से मजदूरी कराना कानूनन रोक दिया जाय, अमुक उम्र तक हरेक के लिए पढ़ना लाजिमी कर दिया जाय, तो लड़के और लड़कियां मजदूरों और बेकारों की संख्या में नहीं रहेंगी और मजदूरों के बाजार में से करोड़ों भावी मजदूरों का बोझ हलका हो जायगा।

गांधीजी ने चर्खे और तकली में सुधार करने और उनकी उत्पादनशक्ति बढ़ाने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। लेकिन यह कोशिश तो औजार और मशीन में तरक्की करने की कोशिश है; और अगर तरक्की जारी रही (बिजली से चलाये जाने वाले घरेलू उद्योग-धन्धों की कल्पना असम्भव नहीं है), तो मुनाफे की भावना फिर आ घुसेगी और उसके परिणामस्वरूप अधिक उपज तथा बेकारी बढ़ेगी। जबतक हम ग्रामोद्योगों में आधुनिक औद्योगिक यन्त्रों का उपयोग नहीं करेंगे तबतक हम उन भौतिक और सांस्कृतिक पदार्थों को भी नहीं बना सकेंगे जिनकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है। फिर ये धन्धे मशीन का मुकाबला नहीं कर सकते। हमारे देश में जो बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं उन्हें रोक देना क्या ठीक होगा या सम्भव होगा? गांधीजी ने बारबार यह कहा है कि वह मशीन मात्र के खिलाफ नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते हैं कि आज हिन्दुस्तान में मशीन के लिए कोई जगह नहीं है। लेकिन क्या हम लोहे और इसपात जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों को या इनसे पहले से मौजूद नाना प्रकार के उद्योगों को समेटकर बन्द कर सकते हैं?

साफ जाहिर है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। अगर हमें अपने यहां रेल, पुल आवागमन के साधन वगैरा रखने हैं, तो हमें ये चीजें या तो खुद बनानी पड़ेगी या दूसरे पर निर्भर रहना होगा। अगर हमें स्वरक्षा के साधन अपने पास रखने हैं,

तो हमें न सिर्फ इन मूल उद्योगों की, बल्कि अत्यन्त विकसित औद्योगिक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ेगी। इन दिनों तो कोई भी देश उस वक्त तक असल में आजाद नहीं है और न वह दूसरे देश के हमले का मुकाबला ही कर सकता है, जब तक औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो। एक मूल उद्योग की सहायता तथा पूर्ति के लिए दूसरे उद्योग की, और अन्ततोगत्व मशीन बनानेवाले उद्योग की आवश्यकता पड़ती है। इन मूल उद्योगों के चालू होने पर नाना प्रकार के उद्योगों का फैलना अनिवार्य हो जायगा। इस प्रक्रिया को कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि इसपर न सिर्फ हमारी भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति निर्भर है बल्कि हमारी आजादी भी उसीपर निर्भर है। और बड़े उद्योग जितने ज्यादा फैलेंगे, छोटे-छोटे ग्रामोद्योग उनका मुकाबला उतना ही कम कर सकेंगे। समाजवादी प्रणाली में उनके बचने की थोड़ी-बहुत गुंजाइश हो भी सकती है, लेकिन पूंजीवादी प्रणाली में तो कोई गुंजाइश नहीं है। समाजवाद में भी ये गृहोद्योग उसी हालत में चालू रह सकते हैं जब वे खासतौर पर ऐसा माल तैयार करें, जो बहुत बड़े पैमाने पर तैयार किया जाता हो।

कांग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते हैं। उनका खयाल है कि उद्योग प्रधान देशों की आजकल की मुश्किलें बहुत बड़े पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई हैं। लेकिन यह तो स्थिति का बहुत ही गलत अध्ययन है।[1] अगर सर्वसाधारण को किसी चीज की कमी है, तो उस चीजका उनके लिए काफी तादाद में तैयार करना क्या कोई बुरी बात है? क्या यही बेहतर है कि बहुत बड़े पैमाने पर माल न तैयार किया जाय और लोग जरूरी चीजों के बिना ही अपना काम चलायें? स्पष्टतया दोष इस तरह माल तैयार करने का नहीं, बल्कि तैयार किये हुए माल का बंटवारा करनेवाली मूर्खतापूर्ण एवं अयोग्यतापूर्ण प्रणालीका है।

ग्रामोद्योग के प्रचारकों को एक दूसरी मुश्किल यह पड़ती है कि हमारी खेती दुनिया के बाजार पर निर्भर है। इसकी वजह से मजबूर होकर किसानों

---

[1] ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में भाषण करते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा—"सच्चा समाजवाद ग्रामोद्योगों को तरक्की देने में है। हम यह नहीं चाहते कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी देशों में जो गड़बड़ियां पैदा हो गई हैं उन्हें हम अपने यहां भी बुलावें।"

को व्यापारी फसल बोनी पड़ती है और दुनिया के प्रचलित भावों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये भाव बदलते रहते हैं, लेकिन बेचारे किसान को तो अपना लगान या मालगुजारी नगद-नारायण के रूप में देनी पड़ती है। यह रुपया किसी-न-किसी तरह उसे प्राप्त करना पड़ता है—अथवा वह रुपया भरने की हरचन्द कोशिश करता है—और इसीलिए वह वही फसल बोता है जिसकी वह समझता है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा कीमत मिलेगी। वह अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट भरने लायक अनाज तक अपने खेत में नहीं पैदा कर पाता।

इधर के सालों में अनाजों और दूसरी चीजों की कीमत एकदम गिर जाने का नतीजा यह हुआ कि लाखों किसान, खासतौर पर युक्तप्रान्त और बिहार में, ईख की खेती करने लगे। विलायती शक्कर पर सरकार के चुंगी लगा देने से बरसाती मेंढ़कों की तरह शक्कर के बहुत-से कारखाने खुल गये और गन्ने की मांग बहुत बढ़ गई। लेकिन बहुत शीघ्र गन्ने की पैदावार मांग से बहुत ज्यादा बढ़ गई, और नतीजा यह हुआ कि कारखानों के मालिकों ने बेरहमी के साथ किसानों से अनुचित फायदा उठाया, और गन्ने की कीमत गिर गई।

कुछ इन तथा अन्य अनेक कारणों से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याएं किसी संकीर्ण स्वावलम्बी योजना से न तो हल कर सकते हैं और न करना ठीक ही होगा। सच पूछो तो ये समस्याएं हमारे राष्ट्रीय जीवन के हर पहलू पर असर डालती हैं। हम लोग स्पष्ट और भावुकतापूर्ण शब्दों का आश्रय लेकर अपनी जान नहीं बचा सकते। हमें तो इन वस्तुस्थितियों का सामना करना होगा और अपने को उनके अनुकूल बनाना पड़ेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जांय।

फिर मुझे उन्हीं उलझनों की मूर्ति—गांधीजी—का खयाल आता है।[1] समझ में नहीं आता कि इतनी तीव्र बुद्धि और पद-दलितों और पीड़ितों की हालत

---

[1]सन् १६३१ में, लन्दन की दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"विशेष रीति से कांग्रेस उन करोड़ों मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गांवों में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फैले हुए हैं।—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत में रहते हों या देशी रियासतों में। इसलिए कांग्रेस की राय में प्रत्येक रक्षा करने

सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस पतनोन्मुख व्यवस्था का क्यों समर्थन करते हैं, जो इतना दुःख और इतनी बरबादी पैदा कर रही है। यह सच है कि वह एक मार्ग ढूंढ़ रहे हैं, लेकिन क्या प्राचीनकाल की ओर जाने का वह मार्ग अब पूरी तौर से बन्द नहीं हो गया है? वह देशी रियासतें, बड़ी-बड़ी जमींदारियां और ताल्लुकेदारियां और मौजूदा पूंजीवादी प्रणाली आदि प्रगति का विरोध करनेवाले प्राचीन व्यवस्था के जितने भी अवशेष हैं, उन्हें आशीर्वाद देते हैं। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल में विश्वास करना उचित है? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन-सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहों आने जनता की भलाई के लिए करेगा? क्या हममें से श्रेष्ठतम लोग भी इतने पूर्ण हैं कि उनसे ऊपर इस हद तक भरोसा किया जा सके? इस बोझ को तो अफलातून की कल्पना के दार्शनिक नृपति भी योग्यतापूर्वक नहीं उठा सकते। क्या दूसरों के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार अति-पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार कर लें? फिर ऐसे अति-पुरुष या दार्शनिक नृपति हैं कहां? यहां तो सिर्फ मामूली इन्सान हैं, जो अपनी भलाई, अपने विचारों का प्रसार ही, सार्वजनिक हित मान लेते हैं। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेखी स्थायी हो जाती है और उसका परिणाम कई तरह घातक ही होता है।

मैं इस बात को दुहरा देना चाहता हूं कि यहां पर मैं इस प्रश्न पर विचार नहीं कर रहा हूं कि यह परिवर्तन किस तरह किया जाय; हमारे रास्ते में जो रोड़े हैं वे किस तरह हटाये जांय—जबरदस्ती से या हृदय-परिवर्तन से, हिंसा से या अहिंसा से? इस पहलू पर तो बाद में विचार करूंगा। लेकिन परिवर्तन आवश्यक है यह बात तो मान ही लेनी और साफ कर दी जानी चाहिए, क्योंकि यदि नेता और विचारक लोग ही खुद इस बात को साफतौर पर अनुभव न करें

योग्य हित इन करोड़ों मूक प्राणियों के हित का साधक होना चाहिये। आप समय-समय पर विभिन्न हितों में प्रत्यक्ष विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कांग्रेस की तरफ से यह कहने में जरा भी नहीं हिचकिचाता कि कांग्रेस इन करोड़ों मूक प्राणियों के हितों के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

श्रौर कहेंगे नहीं, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वे किसीको अपने खयाल का बना लेंगे या लोगों में वांछित विचार-धारा फैला सकेंगे ? इसमें कोई शक नहीं कि सबसे ज्यादा शिक्षा तो हमें घटनाओं से मिलती है, लेकिन घटनाओं का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह जरूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझें और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करें।

मेरे भाषणों से चिढ़े हुए मेरे दोस्तों और साथियों ने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, उदार जमींदार और शुभ-चिन्तक, भलामानस पूंजीपति कभी नहीं मिला ? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले हैं। मैं खुद उस श्रेणी के लोगों में से हूं, जो इन जमींदारों और पूंजीपतियों में मिलते-जुलते रहते हैं। मैं खुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूं, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओं-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलोदिमाग में जो भले-बुरे संस्कार भर दिये वे सब मुझमें मौजूद हैं। कम्यूनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जुआ कहते हैं और उनका यह कहना सोलहों आने सही है। शायद अब वे मुझे प्रायश्चित्त करने वाला बुर्जुआ, कहेंगे। लेकिन मैं क्या हूं और क्या नहीं यह सवाल ही नहीं है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलों को कुछ इने-गिने व्यक्तियों की निगाह से देखना ठीक नहीं है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवाल करते हैं, यह कहते कभी नहीं थकते कि हमारी लड़ाई पाप से है, पापी से नहीं। मैं तो इस हद तक भी नहीं जाता। मैं तो यह कहता हूं कि व्यक्तियों से मेरा कोई झगड़ा नहीं, मेरा झगड़ा तो प्रणालियों से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हद तक व्यक्तियों और समूहों में ही मूर्तिमान होती है, और इन व्यक्तियों और समूहों को हमें या तो अपने खयाल का कर लेना पड़ेगा या उनसे लड़ना पड़ेगा। लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की नहीं रही हो और भार-स्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पड़ेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए हैं उन्हें भी बदलना पड़ेगा। परिवर्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तकलीफ होनी चाहिये, लेकिन बदकिस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गड़बड़ी का होना तो लाजिमी है। इन छोटे-मोटे अनिवार्य कष्टों के डर से ही बड़े-बड़े कष्टों को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक, हर प्रकार की समाज-रचना के मूल में कोई तात्त्विक विचार होता है। जब इस रचना का युग बदलता है तो

उसका तात्त्विक आधार भी बदलना चाहिए जिससे वह उनके अनुकूल हो जाय और उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। आमतौर पर घटनाएं इतनी तेजी से बढ़ती हैं कि विचारादर्श पिछड़ जाते हैं और यही सब मुसीबतों की जड़ है। लोक-तन्त्र और पूंजीवाद दोनों ही उन्नीसवीं सदी में पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नहीं थे। उन दोनोंमें बुनियादी भेद था, क्योंकि लोकतन्त्र तो अधिक लोगों को ताकत देने पर जोर देता था, जबकि पूंजीवाद में असली ताकत थोड़े-से लोगों के हाथ में रहती थी। यह बेमेल जोड़ा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योंकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र स्वयं एक अत्यन्त संकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीकरण की वृद्धि रोकने में उसने कोई खास हस्तक्षेप नहीं किया था।

फिर भी ज्यों-ज्यों लोकतन्त्र की भावना बढ़ती गई, इन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य होगया और अब उसका वक्त आगया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम होगई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब किस्म के नये-नये नारे सुनाई पड़ रहे हैं। इसी वजह से हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी होगई है, और राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बातें तक रोक लेने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरंकुशता को उचित ठहराते हैं और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का जोरों से ऐलान करते हैं जोकि दुनिया में अब और कहीं नहीं पाई जाती।[1] लेकिन पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र

[1] २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमण्डल के चान्सलर महाराजा पटियाला ने भाषण करते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का जिक्र किया था, जो इस आशा से संघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियां देशी नरेशों को अपने यहां लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"हिन्दुस्तान के राजा लोग अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम कामों को करने के लिए हमेशा राजी रहे हैं और आगे भी वे समय की रफ्तार के मुताबिक अपनेको और अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे। फिर हमें यह भी साफ-साफ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने स्वस्थ राजकीय शरीर प

में त्रुटि यह नहीं है कि वह बहुत आगे बढ़ गया है, बल्कि यह है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हदतक आगे नहीं बढ़ा है। वह काफी लोकतन्त्रीय नहीं है, क्योंकि उसमे आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीके ऐसे धीमे और उलझन भरे हैं कि वे तेज रफ्तार से जानेवाले जमाने के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस समय सारे संसार में जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासतें उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक हैं। निस्सन्देह वे ब्रिटिश-सत्ता के अधीन हैं, लेकिन ब्रिटिश-सरकार महज ब्रिटिश स्वार्थों की हिफाजत के लिए या उनकी वृद्धि के लिएही दस्तन्दाजी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने जमाने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ़ किस प्रकार इस बीसवीं सदी के ठाक मध्य में इतनी थोड़ी तब्दीली के साथ टिके हुए हैं। वहां का वातावरण दम घोंटनेवाला और स्थिर है। वहां की गति बहुत धीमी है, और परिवर्तन और संघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागन्तुक वहां पहुंचनेपर मूर्च्छा-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा जादू उसपर गालिब

एक बदनाम राजनैतिक सिद्धान्त की सड़ी हुई कमीज पहन लेंगे तो वह स्वप्न की दुनिया में रह रहा है।" (इस सिलसिले में पृष्ठ ६८४ पर मैसूर-दीवान के भाषण का अंश भी देखिए।) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में भाषण करते हुए बीकानेर के महाराज ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूं कि हममें सैकड़ों वर्ष की वंश-परम्परा से राज करने की सहज वृत्ति है और, मुझे विश्वास है कि, कुछ-कुछ अंशों में राज-दक्षता हमने विरासत में पाई है। हम जल्दबाजी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न ढकेल दिये जांय, इस बात का हमें हर वक्त पूरापूरा खयाल रहना चाहिए। ...... और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूं, कि देशी राजे किसीके हाथों अपनेको बरबाद हो जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जब कि सम्राट देशी राज्यों की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जांय, तो राजे और देशी-राज्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आखीरी दम तक लड़ते-लड़ते मर जांयगे।"

हो जाता है। जिस प्रकार चित्र पर समय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उसका अपरिवर्तनीय दृश्य सदा आंखों के सामने रहता है और इसलिए अवास्तविक मालूम पड़ता है, उसी प्रकार वहां का दृश्य अवास्तविक मालूम होता है। सर्वथा अज्ञानभाव से वह भूतकाल की ओर बह जाता है और अपने बचपन के स्वप्नों को देखने लगता है। शस्त्र-सज्जित शूरवीर और सुन्दर तथा वीर कुमारियां, कंगूरोंवाले दुर्ग, प्रेमशौर्य, आत्माभिमान और गौरव, अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आंखों के सामने घूमने लगते हैं। खासकर अद्भुत शौर्य और पराक्रम और आत्माभिमान की भूमि राजपूताना में जब वह पहुंच जाता है तो ऐसा विशेष रीति से होता है।

लेकिन यह स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते हैं और विषाद की भावना आ घेरती है। वहां का वातावरण दम घोटनेवाला है और उसमें साँस लेना मुश्किल हो जाता है। स्थिर और मन्द जल-प्रवाह के नीचे जड़ता और गन्दगी भरी पड़ी है। वहां पर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानों वह चारों ओर कांटों की बाड़ से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड़ दिया गया है। उसे वहां के राजमहल की चमक-दमक और शान-शौकत के सर्वथा विपरीत जनता अत्यन्त पिछड़ी हुई और कष्टपूर्ण अवस्था में दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल में राजा की अपनी व्यक्तिगत जरूरतों और ऐयाशी में पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुंचता है। अपने यहां के राजाओं को उत्पन्न करना और उनका पोषण करना भयानक रूप से खर्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध खर्च के बदले में वे हमें वापस क्या देते हैं?

इन रियासतों पर रहस्य का एक परदा पड़ा रहता है। अखबारों को वहां पनपने नहीं दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। बाहर के अखबारों को अक्सर राज्य में आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतों को छोड़कर—जहां साक्षरता ब्रिटिश-भारत से भी कहीं ज्यादा है—दूसरी जगह साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतों से जो खास खबरें आती हैं वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती हैं, जिसमें धूम-धड़ाके, रस्म-रिवाज की पूर्ति और एक-दूसरे की तारीफ में दिये गये व्याख्यानों का जिक्र होता है, या अत्यन्त खर्च से किये

गये राजा के विवाह अथवा वर्षगांठ-समारोह की,या किसानों के विद्रोह-सम्बन्धी। ब्रिटिश-भारत तक में खास कानून राजाओं को आलोचना से बचाते हैं। रियासतों के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दबा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओं को तो वहां कोई जानता तक नहीं, और अक्सर सामाजिक बातों के लिए की जानेवाली सभाएं तक रोक दी जाती हैं।[1] बाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओं को अक्सर रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के करीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने काश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहां किसी राजनैतिक काम के लिए नहीं जा रहे थे। वह काश्मीर की सरहद तक पहुंच चुके थे, लेकिन वहीं रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत में जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजिनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद में है, जाने की इजाजत नहीं दी गई।

जब रियासतों में यह हाल हो रहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतों में रहनेवाले लोगों के प्रारम्भिक अधिकारों के लिए खड़ी हो जाती और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गांधीजी ने कांग्रेस में रियासतों के सम्बन्ध में एक नई नीति को जन्म दिया। यह नीति "रियासतों के भीतरी इन्तजाम में दखल न देने की" थी। रियासतों में असा-

---

[1] हैदराबाद (दक्षिण) का ३ अक्तूबर १९३४ का एक समाचार है—"स्थानीय विवेक-वर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस सार्वजनिक-सभा का ऐलान किया गया था वह रोक देनी पड़ी है। इस सभा का संगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक-संघ ने किया था। संघ के मन्त्री ने अखबारों को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि सभा के निश्चित समय से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारियों ने यह हुक्म दिया कि सभा करने की इजाजत तभी मिल सकती है जब दो हजार की नकद जमानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमें कोई राजनैतिक व्याख्यान नहीं दिया जायगा और सरकारी अफसरों के किसी सरकारी काम की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के संयोजक के पास इन सब बातों के लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफी वक्त रह गया था, इसलिए सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

धारण और दुःखदायी घटनाओं के होते रहने और कांग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भी वह अभी तक अपनी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। जाहिर है कि डर इस बात का है कि कांग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज हो जायंगे। उनका 'हृदय-परिवर्तन' अधिक कठिन हो जायगा। जुलाई १९३४ में गांधीजी ने श्री एन०सी०केलकर के नाम, जो देशीराज्यप्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने इस विश्वास को दुहराया था कि दखल देने की नीति न सिर्फ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतों की कानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में जो राय उन्होंने जाहिर की वह तो बड़ी अजीब थी। उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश कानून के अनुसार रियासतों की स्वतन्त्र सत्ता है। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता है, रियासतों की नीति निर्धारित करने का उसी प्रकार अख्तियार नहीं है जिस प्रकार उसे, अफगानिस्तान या सीलोन की नीति निर्धारित करने का अधिकार नहीं है।" अगर विनीत तथा नम्र देशीराज्य-प्रजा-परिषद् ने और लिबरलों ने भी उसकी इस राय और सलाह पर एतराज किया तो आश्चर्य ही क्या है?

लेकिन देशी राजाओं ने इन विचारों का काफी स्वागत किया और उन्होंने उनसे फायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य में कांग्रेस को गैरकानूनी करार दे दिया और उसकी सारी सभाओं को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा कि "जिम्मेदार नेताओं ने खुद यह सलाह दी है।" जाहिर है कि यह इशारा गांधीजी के बयान की तरफ था। यह बात नोट करने लायक है कि यह रोक ब्रिटिश-भारत में सत्याग्रह की लड़ाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतों में यह लड़ाई कभी नहीं हुई थी)। जिस वक्त रियासत में यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकारने कांग्रेस को फिरसे कानूनी जमात करार दे दिया था। इस बात पर ध्यान देना भी दिलचस्प होगा कि उस वक्त त्रावणकोर सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर थे (और अब भी हैं) जो एक वक्त कांग्रेस के और होमरूल लीग के जेनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मद्रास-सरकार के ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर रहे।

गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक, साधारण समय में भी, त्रावनकोर राज्य ने बिला वजह कांग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कांग्रेसवालों की तरफ से सार्वजनिक रूप में एक शब्द तक नहीं कहा गया,[1] जबकि दूसरी ओर लिबरलों तक ने इसके खिलाफ जोरों से आवाज उठाई। सचमुच रियासतों के मामले में गांधीजी का रवैया लिबरलों के रवैये से भी कहीं ज्यादा नरम और संयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषों में शायद मालवीयजी ही बहुत-से राजाओं के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—इतने ही संयत और इस बात में सावधान हैं कि उन्हें किसी तरह चिढ़ाया न जाय।

देशी राजाओं के बारे में गांधीजी हमेशा इतना फूंक-फूंककर कदम नहीं रखते थे। फरवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय के उद्घाटन के समय—एक सभा में, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमें और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होंने एक भाषण दिया था। गांधीजी उस समय दक्षिणी अफ्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धों पर नहीं था। बड़ी सचाई और एक पैगम्बर के-से जोश के साथ उन्होंने राजाओं से अपने को सुधारने और अपनी थोथी शान-शौकत और विलासिता छोड़ देने को कहा था। उन्होंने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणों को बेच दो।" उन्होंने अपने आभूषण बेचे हों या न बेचे हों, लेकिन वे वहां से उठकर चले जरूर गये। बहुत ही डर कर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियों में, वे सभा-भवन से चले गये। यहां तक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा-भवन में अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। सभा में श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थीं। उन्हें भी गांधीजी की बातें बुरी लगीं और इसलिए, वह भी सभा से उठकर चली गईं।

---

[1] ६ जनवरी १९३५ को बड़ौदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इस दखल न देने की नीति पर जोर दिया था। खबर है कि उन्होंने यह कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं को राज्य की तरफ से जो मर्यादाएं बांध दी जांय, उनके भीतर रहकर काम करना चाहिए, और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्री का सम्बन्ध बना रहे।"

श्री एन० सी० केलकर के पत्र में गांधीजी ने आगे यह भी लिखा था कि "मैं तो यह पसन्द करूंगा कि रियासतें अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दे दें और अपने को वास्तव म उन लोगों का ट्रस्टी समझें, जिनपर कि वह हुकूमत करती हैं।" ....अगर ट्रस्टीशिप के इस खयाल में ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे में क्यों एतराज करते हैं कि वे भारत के लिए ट्रस्टी हैं? मैं इसमें कोई फर्क नहीं देखता, सिवा इसके कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के लिए विदेशी हैं। लेकिन इस प्रकार तो हिन्दुस्तान के रहने वाले जुदा-जुदा लोगों में भी चमड़ी के रंग, मूल जाति तथा संस्कृति में स्पष्ट भेद है।

पिछले थोड़े-से सालों में हिन्दुस्तानी रियासतों में ब्रिटिश अफसर बड़ी तेजी से घुस रहे हैं। अक्सर वे असहाय राजाओं की मर्जी के खिलाफ उनके मत्थे मढ़ दिये गये हैं। वैसे तो सदा से भारत सरकार का देशी राज्यों पर काफी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ खास बड़ी-बड़ी रियासतों को भीतर से भी जकड़ दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासतें कुछ कहती हैं तो असल में उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हां, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा जरूर उठाती है।

मैं यह समझता हूं कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नहीं है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते हैं वह सब रियासतों में भी कर सकें। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग प्रान्तों में ही कृषि, उद्योग-धन्धों, जाति और शासन-पद्धति-सम्बन्धी काफी भेद-भाव हैं, और हम हमेशा सब सूबों में एक नीति से काम नहीं ले सकते। हालांकि हम कहां क्या काम करें यह तो हमेशा वहां के हालात के ऊपर निर्भर रहेगा, फिरभी अलग-अलग जगहों में हमारी सामान्य नीति अलग-अलग नहीं होनी चाहिए; और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए। नहीं तो हमारे ऊपर यह इलजाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नहीं है और हमारा मकसद सिर्फ यही है कि किसी तरह से ताकत हमारे हाथ में आजाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके खिलाफ काफी नुक्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल खिलाफ पड़ता है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर हम मतदाताओं को अलग-अलग बन्द कमरों में बांट दें

तो लोकतन्त्र कायम करना या जिसे जिम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा जाता है उसका कायम किया जाना मुमकिन नहीं है। लेकिन पं० मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बड़े और सच्चे आलोचक हैं, रियासतों में जो-कुछ अन्धेर मच रहा है उसके बारे में अजीब तौर से चुप हैं और जाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार हैं कि स्वेच्छाचारी रियासतों और (कथित) लोकतन्त्रवाला शेष हिन्दुस्तान को मिलाकर संघ-राज्य कायम हो जाय। इससे अधिक असंगत और बेहूदे संघ-राज्य की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती हिन्दू-महासभा के महारथी इसे बिना एक शब्द कहे स्वीकार कर लेते हैं। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते हैं,लेकिन वस्तुतः हम अभी तक भावुकता के वशीभूत होकर काम करते हैं।

इस तरह मैं लौटकर फिर कांग्रेस और रियासतों की विकट समस्या पर आता हूं। मेरा दिमाग थॉमस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढ़ सौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध में कहा था—"वह (बर्क) तो पंखों पर तरस खाते हैं, लेकिन मरनेवाली चिड़िया को भूल जाते हैं।" यह ठीक है कि गांधीजी मरनेवाली चिड़िया को नहीं भूलते, लेकिन वह उसके परों पर इतना ज्यादा जोर क्यों देते हैं ?

कम-बढ़ ये ही बातें ताल्लुकेदारी और जमींदारी-प्रथा पर भी लागू होती हैं। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की जरूरत नहीं मालूम पड़ती कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक्की के रास्ते में बड़ी भारी अड़चन है। वह तो पूंजीवाद के भी विकास में विघ्न डालती है। करीब-करीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी जमींदारियां धीरे-धीरे गायब हो गई हैं और उनकी जगह जमींदार किसानों ने ले ली है। मैं तो यह कल्पना करता रहा हूं कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवतः उठ सकता है वह मुआवजे का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गांधीजी ताल्लुकेदारी प्रथा को भी पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि जारी रहे। कानपुर में जुलाई १९३४में उन्होंने कहा—'किसानों और जमींदारों, दोनों में हृदय परिवर्तन द्वारा उत्तम सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। अगर ऐसा हो जाय तो दोनों आपस में मेल के साथ सुख और शान्ति से रह सकते हैं।

मैं तो कभी भी ताल्लुकेदारी या जमींदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा, और जो लोग यह समझते हैं कि वह रद्द होनी चाहिए वे खुद अपनी बात को नहीं समझते।" गांधीजी का यह अखीरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

खबर है कि उन्होंने आगे यह भी कहा—"बिना उचित कारणों के सम्पत्तिशाली वर्गों से उनकी निजी सम्पत्ति छीने जाने के काम में मैं कभी साथ नहीं दे सकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके हृदयों में घर करके मैं आपको अपने मत का बना लूं, जिससे आप अपनी निजी सम्पत्ति को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खें और उसका इस्तेमाल खासतौर पर उनकी भलाई के लिए करें। लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी सम्पत्ति से वंचित करने के लिए अन्यायपूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे उनके पक्ष में लड़ता हुआ पायेंगे.... पश्चिम का समाजवाद और साम्यवाद हमारे मूल विचारों से अत्यन्त भिन्न विचारों पर टिका हुआ है। इस प्रकार का उनका एक विचार यह है कि मानव-स्वभाव मूलतः स्वार्थी है.... इसलिए हमारे समाजवाद और साम्यवाद की बुनियाद तो अहिंसा पर और मजदूर और मालिकों, किसानों और जमींदारों के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बातें उन्होंने जमींदारों के एक डेपूटेशन से कही थीं।

पूरब और पश्चिम की मूलभूत कल्पनाओं में कोई भेद है, या नहीं इसका मुझे पता नहीं। शायद हो। इधर एक स्पष्ट भेद यह रहा है कि हिन्दुस्तान के पूंजीपतियों और जमींदारों ने पश्चिम के अपने जाति-भाइयों की अपेक्षा मजदूरों और किसानों के हितों की अधिक उपेक्षा की है। हिन्दुस्तान के जमींदारों की तरफ से किसानों की भलाई के लिए किसी तरह का सामाजिक सेवा के काम में रस लेने की कोई कोशिश नहीं की गई। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड ने कहा है कि हिन्दुस्तान के महाजन और जमींदार ऐसे परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी हैं, कि आज के मानव-समाज में उनका सानी नहीं मिलता।"[1] शायद इसमें हिन्दुस्तान के जमींदारों का कोई कुसूर नहीं है। परिस्थितियां उनके इतनी खिलाफ थीं कि वे उनका मुकाबला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति में फंस गये हैं, जिसमें से अपने को मुश्किल से निकाल सकते हैं। बहुत-से जमींदारों से तो उनकी जमींदारियां

---

[1] एच० एन० ब्रेल्सफोर्ड की 'प्रापर्टी आर पीस' नामक पुस्तक से।

महाजनों ने ले ली हैं, और छोटे-छोटे जमींदार जिस जमीन के कभी मालिक थे उसीमें अब काश्तकार की हालत में पहुंच गये हैं। शहरों में रहनेवाले इन महाजनों ने पहले तो जमीन गिरवी कराके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले जमीन हड़पकर अब वे खुद जमींदार बन बैठे हैं, और गांधीजी की राय में अब वे उन अभागों के ट्रस्टी हैं जिनकी जमीन उन्होंने खुद हड़प ली है। गांधीजी ऐसे लोगों से यह उम्मीद भी रखते हैं कि वे अपनी आमदनी खासतौर पर किसानों की भलाई के कामों में लगायेंगे।

अगर ताल्लुकेदारी प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान-भर में क्यों नहीं जारी की जाती? हिन्दुस्तान के कुछ बड़े हिस्सों में रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गांधीजी गुजरात में बड़ी-बड़ी जमींदारियां और ताल्लुकेदारियां कायम हो जाना पसन्द करेंगे? तो फिर क्या बात है कि जमीन-सम्बन्धी एक व्यवस्था तो यू० पी०, बिहार या बंगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पंजाब के लिए? जहांतक मेरा खयाल है, हिन्दुस्तान के उत्तर और दक्षिण, और पूरब और पश्चिम के रहनेवाले लोगों में ऐसा कोई खास फर्क तो नहीं है; और उनके मूल-विचार भी एक-से हैं। इसके मानी तो यह हुए कि जो-कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की अधिक जांच नहीं की जानी चाहिए कि लोगों के लिए कौन-सी बात सबसे ज्यादा वाञ्छनीय या फायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ एक ही बातकी जरूरत है, और वह यह कि लोगों का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय। जीवन तथा उसके प्रश्नों के प्रति यह तो विशुद्ध धार्मिक दृष्टि है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाजशास्त्र से उसका कोई सरोकार नहीं। पर गांधीजी राजनैतिक और राष्ट्रीय-क्षेत्र में तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं।

ये हैं कुछ विकट समस्याएं जो आज हिन्दुस्तान के सामने हैं। हमने अपने को कुछ गुत्थियों में उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियों को सुलझा न लेंगे, तबतक आगे बढ़ना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नहीं होगा। बहुत दिन हुए, स्पिनोजा ने एक प्रश्न किया था—"आप क्या बात अधिक पसंद करेंगे? ज्ञान तथा विवेक-द्वारा मुक्ति अथवा, भावुकता का बन्धन?" उन्होंने पहली बात अधिक पसन्द की थी।

६३

हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गांधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के सिद्धान्त की छाप लगाई थी। तब से अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज पर यही सिद्धान्त छाया हुआ है। बहुत-से लोगों ने, बिना किसी सोच-विचार के, उसे दुहराया है। पर स्वेच्छा से कुछ लोगों ने अपने में काफी संघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगों ने खुल्लमखुल्ला इस सिद्धान्त का मजाक भी उड़ाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में इसने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया में भी लोगों का काफी ध्यान इसने अपनी तरफ खींचा है। निस्सन्देह यह सिद्धान्त बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गांधीजी ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन में सामूहिकरूप में इसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलतः धर्म से सम्बन्धित चीज थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सांसारिक प्रपंचों से ऊंचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति प्राप्त करने का साधन थी। उसके जरिये बड़े-बड़े सामाजिक मसलों को हल करने और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करने का कोई खयाल न था; अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्षरूप में। लोगों ने सामाजिक विषमताएं और अन्यान्य स्वीकार कर लिये थे और यह सोचते कि यह ताना-बाना तो हमेशा चलता रहेगा। गांधीजी ने कोशिश की कि यह व्यक्तिगत आदर्श समाज का भी आदर्श हो जाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही परिस्थितियों को बदलने पर तुले हुए थे और इसी गरज से उन्होंने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा है—"जो लोग मनुष्यों की दशा और उसके वातावरण में आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं वे समाज में खलबली पैदा किये बिना ऐसा नहीं कर सकते।

लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीके हैं---एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक बल-प्रयोग का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है। जो यह बल-प्रयोग करता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिस पर यह बल-प्रयोग होता है वह भी अधोगति को जाता है। लेकिन उपवास आदि स्वयं कष्ट सहकर जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिलकुल दूसरे तरीके से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगों के खिलाफ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मजबूत बनाता है।"[1]

यह विचार कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने कम-से-कम ऊपरी तौर पर तो जरूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उसके व्यापक परिणामों को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोड़े-से आदमियों ने उसे स्पष्ट-रूप में समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम में जुट पड़े। लेकिन जब काम की रफ्तार धीमी पड़ गई, तब कुछ लोगों के मन में अनगिनती प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नों का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नहीं पड़ता था। इनका सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त से था। राजनैतिक अर्थ में अहिंसात्मक आन्दोलन को अभीतक तो कामयाबी मिली नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान अब भी साम्राज्यवाद के अनीतिपाश में जकड़ा हुआ है। सामाजिक अर्थ में अहिंसा के प्रयोग से क्रान्ति की कल्पना कभी की तक नहीं गई। फिर भी जो आदमी जरा भी गहराई में उतर सकता है, वह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों ने इसमें एक जबरदस्त परिवर्तन कर दिया। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोड़ों हिन्दुस्तानियों को चरित्रबल, शक्ति और आत्म-विश्वास आदि ऐसे अमूल्य गुणों का पाठ पढ़ाया है, जिनके बिना राजनैतिक और सामाजिक, किसी भी किस्म की तरक्की करना या उसे कायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए हैं या महज संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौकों पर कई राष्ट्रों ने ऐसे फायदे हिंसात्मक लड़ाई के जरिये भी हासिल किये हैं; फिर भी मेरा खयाल है कि यह बात इत्मीनान के साथ

[1] ४ दिसम्बर १९३२ को अपने अनशन के अवसर पर दिये गये गांधीजी के वक्तव्य से।

कही जा सकती है कि इस मामले में अहिंसा का तरीका हमारे लिए बेशकीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज में जिस खलबली का जिक्र किया था वह खलबली पैदा करने में उसने निश्चितरूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी कारणों और हालतों की बदौलत हुई। उसने सर्व-साधारण में तेजी से वह जागृति पैदा कर दी है जो क्रान्तिकारी हेर-फेरों से पहले होती है।

स्पष्टरूप से यह बात उसके हक में है, लेकिन वह हमें ज्यादा दूर नहीं ले जाती। असली खयाल तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बदकिस्मती यह है कि इस मसले को हल करने में गांधीजी हमें ज्यादा मदद नहीं देते। इस विषय पर उन्होंने बहुत बार लिखा है कि और व्याख्यान भी दिये हैं। लेकिन जहांतक मुझे मालूम है उन्होंने सार्वजनिक रूप से उससे निकलने वाले अर्थों पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नहीं किया। वह इस बात पर जोर देते हैं कि साधन साध्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।[1] जोर-जबरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयों से भिन्न नहीं समझते। सच तो यह है कि इन शब्दों का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते हैं मानों वे एक-दूसरे के समानार्थक हैं। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हों वे उच्चात्मा नहीं हैं; बल्कि मानो किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार हैं, यह मानने की भी एक प्रवृति प्रचलित है। गांधीजी के कुछ अनुयायी तो इसी कारण, अपने-आपको बड़े पहुंचे हुए धर्मात्मा समझने लगे हैं।

लेकिन जिन लोगों को इसमें इतनी श्रद्धा रखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है, उन्हें बहुत-सी शंकाएं परेशान करती हैं। इन शंकाओं का तात्कालिक कर्त्तव्य की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन वे चाहते हैं कि कोई ऐसा सुसंगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मैं मानता हूं कि मुझमें भी यह शंकायें मौजूद हैं और मुझे

---

[1] **'दि पावर आफ नान-वायलंस' (अहिंसा की शक्ति) नामक किताब में रिचर्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह किताब बहुत ही मनोरंजक और विचारोत्तेजक है।**

इस मसले का कोई सन्तोषजनक हल नहीं दिखाई देता। मैं हिंसा को कतई नापसन्द करता हूं, लेकिन फिर भी मैं खुद हिंसा से भरा हुआ हूं और जान में या अनजान में अक्सर दूसरों को दबाने की कोशिश करता रहता हूं। और गांधीजी के सूक्ष्म दबाव से अधिक बड़ा दबाव भला और क्या हो सकता है, जिसके फल-स्वरूप उनके कितने अनन्य भक्तों और साथियों के दिमाग कुण्ठित हो गये हैं और वे स्वतन्त्र रूप से सोचने के योग्य नहीं रहे?

लेकिन असली सवाल तो यह था : क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धांत को पूरी तौर पर अपना सकते हैं? क्योंकि इसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य में बहुत ऊंचा चढ़ा हुआ है। यह सच है कि वस्तुतः वांछनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊंचा उठ जाय और उसमें से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त में ऐसा हो सकेगा या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है; लेकिन इस आशा के बिना जीवन "किसी मूर्ख द्वारा कही हुई कम्पन तथा आवेश से भरी, पर निरर्थक कहानी" के समान नीरस हो जायगा। इस आदर्श तक पहुंचने के लिए क्या हम खाली इन गुणों का ही उपदेश दें और इस आदर्श की विरोधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देनेवाले विघ्नों पर ध्यान न दें? अथवा क्या हम पहले इन विघ्नों को दूर करें और प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल वातावरण पैदा करें? अथवा, क्या हम इन दोनों उपायों को साथ-साथ काम में लायें?

और फिर, क्या हिंसा और अहिंसा, अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर स्पष्ट और सरल है? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कहीं अधिक दबानेवाला भयंकर अस्त्र सिद्ध हुआ है। और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं? सत्य क्या है? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हजारों जवाब दिये जा चुके हैं मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है। लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नहीं जा सकता। हिंसा बुरी है, लेकिन आप स्वतः हिंसा को ही पाप नहीं कह सकते। उसके कई स्वरूप और भेद हैं, और कभी-कभी हमें उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुकाबले में हिंसा ही पसन्द करनी पड़ सकती है। गांधीजी ने स्वयं कहा है कि कायरता, भय और

गुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस सूची में और भी बहुत-सी बुराइयां जोड़ी जा सकती हैं। यह सच है कि आमतौर पर हिंसा के साथ द्वेष रहता है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से दोनों सदा साथ-ही-साथ हों, यह जरूरी नहीं है। हिंसा का आधार सद्भावना भी हो सकती है (जैसे डाक्टर द्वारा की गई चीर-फाड़) और जिस चीज का आधार यह हो, वह कभी सिद्धान्ततः पापमय नहीं हो सकती। आखिर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और द्वेषभाव ही है। इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नहीं ठहराई जा सकती और उस दृष्टि से उसे खतरनाक भी समझा जा सकता है, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि वह हमेशा ऐसी ही हो।

हमारा सारा जीवन ही संघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिंसा से हिंसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नहीं है। लेकिन फिर भी हिंसा का कभी प्रयोग न करने की कसम खा लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक दृष्टि धारण कर लेना, और इस प्रकार जीवन से कोई सम्पर्क न रखना। हिंसा तो आधुनिक राज्यों और समाजों की धमकियों में रक्त के समान बहती है। राज्य के पास अगर दंड देने के अस्त्र न हों तो फिर न तो कर वसूल किये जा सकते हैं, न जमींदारों को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही कायम रह सकती है। पुलिस तथा फौज के बल से कानून दूसरों को पराई सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार राष्ट्रों की स्वाधीनता आक्रमण से रक्षा के लिए हिंसाबल पर टिकी है।

यह सच है कि गांधीजी की अहिंसा बिलकुल ही नकारात्मक और अप्रतिरोधक नहीं है। वह तो अहिंसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है। यह उन लोगों के लिए नहीं है, जो परिस्थितियों के सामने चुपचाप सिर झुका देते हैं। उसका तो उद्देश्य ही समाज में खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्तन के भाव के पीछे उद्देश्य कुछ भी रहा हो, व्यवहार में तो वह लोगों को विवश करने या दबाने का भी एक जबरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढंग से काम में लाया गया हो। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखों में गांधीजी ने स्वयं 'विवश करना' शब्द का व्यवहार किया है। पंजाब के फौजी

कानून के जमाने के अत्याचारों के सम्बन्ध में दिये गये वाइसराय लार्ड चैम्सफोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० में उन्होंने लिखा था—

"कौंसिल के उद्घाटन के समय वाइसराय के व्याख्यान में मुझे उनकी जो मनोवृत्ति दिखाई पड़ी उसकी वजह से प्रत्येक आत्माभिमानी व्यक्ति के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पंजाब के बारे में उन्होंने जो-कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगों की शिकायत दूर करने को तैयार नहीं हैं। वह चाहते हैं कि हम लोग निकट-भविष्य की समस्याओं पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर दें, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पंजाब के मामले में सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए विवश कर दें। इसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। इसके विरुद्ध वाइसराय ने अपने आलोचकों की टीकाओं का जवाब देने के अपने प्रलोभन से अपने को रोका है। इसका अर्थ यही है कि हिन्दुस्तान के स्वाभिमान से सम्बन्धित बहुत-से महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अभीतक नहीं बदली है। वह इतने ही से सन्तुष्ट हैं कि इन विषयों को भावी इतिहास-लेखकों के निर्णय पर छोड़ दिया जाय। मेरे विचार में इस तरह की बातें हिन्दुस्तानियों को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेंगी। जिन लोगों पर अत्याचार किये गये हैं और जो अभीतक किसी विश्वास और जिम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य अफसरों के अंकुश के नीचे दबे हैं, उन्हें यदि भविष्य में इतिहास-लेखकों का अनुकूल निर्णय भी मिला तो वह उनके किस काम आएगा? पंजाब के प्रति न्याय न करने का अपना हठ रखते हुए सरकार का सहयोग की प्रार्थना करना—यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न करूं तो, उसका पाखण्ड है।"

की थी कि "राजदूत वह ईमानदार व्यक्ति है जो अपने देश की भलाई के लिए असत्य-प्रचार के लिए दूसरे देश में भेजा जाता है।" आजकल तो राजदूतों के साथ उनके सहकारी फौजी, जंगी और व्यापारिक दूत भी जाते हैं। इनका खास काम, जिस देशमें ये भेजे जाते हैं,वहां का भेद लेना होता है। उनके पीछे खुफिया-पुलिस का बहुत बड़ा जाल, काम करता है। उसकी अगणित शाखाएं-प्रशाखाएं होती हैं, भेदिये और उपभेदिये रखे जाते हैं,अपराधी टोलियों के साथ गुप्त सम्बन्ध किया जाता है, रिश्वत तथा मानव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय काम में लाये जाते हैं, तथा गुप्त हत्याएं आदि कराई जाती हैं। शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीजें खराब हैं ही; युद्धकाल में इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा में फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी युद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढ़कर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशों के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बातें फैलाई गई थीं; और इन बातों के फैलाने और खुफिया-पुलिस का जाल बिछानें में अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वयं दो युद्धों के बीच का विराम काल-मात्र है, लड़ाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि-मात्र है और आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रों में संघर्ष कुछ हद तक तो अब भी चल रहा है। विजयी और पराजित देशों में, साम्राज्यों और उनके मातहत उपनिवेशों में, रक्षितवर्ग और शोषितवर्ग में यह रस्साकशी हर वक्त जारी रहती है। इसलिए आज के कथित शान्ति-काल में भी कुछ हद तक हिंसा और झूठ के सहित लड़ाई का वातावरण चल रहा है और फौजी तथा सिविल अधिकारीगण, दोनों ही इस स्थिति का मुकाबला करने को तैयार रहने के लिए अभ्यस्त किये गये हैं। लॉर्ड वेल्सली ने रणक्षेत्र के लिए सिपाही की पोथी ('सोल्जर्स पाकेटबुक और फील्ड-सर्विस') नाम की एक पुस्तक में लिखा है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार जोर देते रहेंगे, कि 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी नीति है' और 'अखीर में हमेशा सचाई की ही जीत होती है।' लेकिन ये उपदेश बच्चों की नोटबुकों के लिएही ठीक हैं। और कोई मनुष्य युद्ध के दिनों में भी इन पर अमल करता है तो उसके लिए यही बेहतर है कि वह हमेशा के लिए अपनी तलवार मियान में बन्द रख ले।"

वर्तमान स्थिति में, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ है, हिंसा और असत्य का यह मापदण्ड अपरिहार्य है। जिन देश

अथवा वर्गों के हाथ में अधिकार हैं, उन्हें अपनी सत्ता और अपने विशेषाधिकारों को बनाये रखने के लिए, और दलित वर्गों को उन्नति का अवसर न देने के लिए लाजिमी तौर पर हिंसा, दबाव और झूठ का आश्रय लेना ही पड़ता है। सम्भव है कि ज्यों-ज्यों लोकमत जागृत होता जायगा और इन संघर्षों तथा दमनों का वास्तविक रूप स्पष्ट होता जायगा, त्यों-त्यों इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन वस्तुतः इधर के समस्त अनुभव इसके खिलाफ विपरीत दिशा में संकेत करते हैं। जैसे-जैसे मौजूदा संस्थाओं के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, वैसे-वैसे हिंसा भी बढ़ती जाती है। यदि कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता में कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कहीं अधिक सूक्ष्म और भयंकर रूप ग्रहण कर लिया है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही जरा भी रोक सकी है। अलग-अलग व्यक्तियों ने नैतिक उन्नति की है और कुछ उन्नति करके ऊंचे चढ़ गये हैं। भूतकाल की अपेक्षा आजकल दुनिया में ऊंचे दर्जे के (सर्वश्रेष्ठ नहीं) व्यक्ति बहुत ज्यादा हैं। कुल मिलाकर तो समाज ने उन्नति की है, और वह कुछ अंश में प्राथमिक तथा बर्बर वृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहों या समुदायों ने कोई खास उन्नति नहीं की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न में अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयां समाज को देता जा रहा हैं। हिंसा सदा प्रथम नहीं, वरन् द्वितीय कोटि के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायों के नेतागण शायद ही प्रथम कोटि के व्यक्ति होते हों।

लेकिन अगर हम यह भी मान लें कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के निकृष्टतम रूप मिटा दिये जांयगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि राज्यतन्त्र और सामाजिक जीवन, दोनों ही के लिए कुछ बल-प्रयोग की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी प्रकार के राज्यतन्त्र का होना जरूरी है, और इस प्रकार जिन व्यक्तियों के हाथ में अधिकार सौंपा जायगा उनके लिए यह लाजिमी होगा कि वे व्यक्तियों और समूहों की स्वार्थ-परायण तथा समाज के लिए हानिकारक वृत्तियों पर अंकुश रक्खें। आमतौर पर ये अधिकारी लोग जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ जाते हैं। कारण, अधिकार मिलने पर मनुष्य पतित हो जाता है। इस तरह अधिकारी चाहे कितने ही स्वतन्त्रता के प्रेमी और दमन

से घृणा करनेवाले क्यों न हों, फिर भी जबतक राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण निःस्वार्थ और परोपकार-परायण न हो जायगा तबतक उन्हें दोषी व्यक्तियों के ऊपर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। इस प्रकार के राज्याधिकारियों को आक्रमण करनेवाले बाहरी लोगों पर भी बल-प्रयोग करना पड़ेगा, अर्थात् उन्हें बल का विरोध बल से करके अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। इस बात की जरूरत तो तभी दूर होगी जब पृथ्वी पर केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जायगा।

इस तरह अगर बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था के लिए बल और दमन आवश्यक है, तो दोनों के बीच क्या मर्यादा स्थापित की जाय? राइन-होल्ड नाइबर[1] का कहना है कि जब आप एक बार राज्यशास्त्र के मुकाबले में नीतिशास्त्र को इतना झुका देते हैं और सामाजिक व्यवस्था कायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते हैं, तब अहिंसात्मक और हिंसात्मक बल-प्रयोग में, अथवा सरकार और क्रान्तिकारियों द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग में आप कोई विशुद्ध भेद नहीं कर सकते।

मैं ठीक-ठीक नहीं जानता, लेकिन मेरी धारणा है गांधीजी यह बात मान लेंगे कि इस अपूर्ण संसार में किसी भी राष्ट्रीय-सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहरी आक्रमण से रक्षा करने के लिए बल-प्रयोग करना पड़ेगा। अवश्य ही राज्य को अपने पड़ोसी और अन्य दूसरे राज्यों के साथ सर्वथा शान्तिमय और मित्रतापूर्ण नीति बरतनी चाहिए, लेकिन फिर भी आक्रमण की सम्भावना से इनकार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ दबाने वाले कानून भी बनाने पड़ेंगे। ये इस अर्थ में बलात्कारी होंगे कि इनके द्वारा विभिन्न वर्गों और समूहों के कुछ अधिकार और विशेष रिआयतें छिन जांयगी और उनकी कार्य-स्वतन्त्रता सीमित हो जायगी। कुछ हद तक तो सभी कानून बलात्कारी होते हैं। कराची-कांग्रेस के प्रोग्राम में कहा गया है—"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता में, करोड़ों भूखों मरनेवालों की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए।" इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जिन लोगों के अत्यधिक विशेषाधिकार हैं उन्हें अपने बहुत-से अधिकार उन लोगों के लिए छोड़

---

[1] नैतिक मनुष्य और अनैतिक समाज ('मारल मैन एण्ड इम्मारल सोसायटी') नामक पुस्तक में।

देने पड़ेंगे जिनके पास बहुत थोड़े अधिकार हैं। आगे उसमें यह कहा गया है कि मजदूरों को निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी और जीवन की दूसरी सुविधाएं भी जरूर मिलनी चाहिएं, मिल्कियतों पर खास टैक्स लगाये जाने चाहिएं, और "खास उद्योगों और समाजोपयोगी धन्धों, खनिज-साधनों, रेलवे, जल-मार्गों, जहाजरानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनों पर राज्य अपना अधिकार और नियन्त्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "मद्य और मादक पदार्थों पर सर्वथा प्रतिबन्ध लगा दिये जांयगे।" शायद बहुत-से लोग इन सब बातों का विरोध करेंगे। यह तो हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुका लें लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञाभंग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतन्त्र का अर्थ ही बहुसंख्यक लोगों का अल्पसंख्यक लोगों पर दबाव है।

अगर बहुमत से मिल्कियत-सम्बन्धी अधिकारों को कम करने या बहुत हदतक उन्हें रद करने के लिए कोई कानून पास हो जायगा तो क्या इस दलील से उसका विरोध किया जायगा कि यह तो बल-प्रयोग है? स्पष्ट है कि यह नहीं है, क्योंकि सभी लोकतन्त्रात्मक कानूनों को बनाने में यही तरीका काम में लाया जाता है। इसलिए बल-प्रयोग की दलील से एतराज नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत गलत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत में सवाल यह पैदा होता है कि बहुमत से पास हुआ कानून क्या किसी नैतिक सिद्धांत की अवहेलना करता था? लेकिन इस सवाल का फैसला कौन करेगा? अगर अलग-अलग व्यक्तियों और समूह को अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार नीति-शास्त्र की व्याख्या करने की छूट दे दी जायगी, तो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली-का तो खात्मा ही हो जायगा। व्यक्तिगत रूप से मैं तो यह महसूस करता हूं कि (बहुत ही संकुचित अर्थों में छोड़कर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियों को सारे समाज पर भयंकर अधिकार दे देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबखोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूं, क्योंकि शराब समाज को उतना नुकसान नहीं पहुंचाती जितना व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखने का दावा करते हैं उनमें से कुछ लोगों ने मुझसे कहा है कि मालिक की स्वीकृति के बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना बल-प्रयोग होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध।

विचित्र बात तो यह है कि बड़े-बड़े जमींदारों ने, जो जबरदस्ती लगान वसूल करने में सरकार की मदद लेने में नहीं हिचकिचाते, और कई फैक्टरियों के मालिक उन पूंजीपतियों ने जो अपने हलकों में स्वतन्त्र मजदूर-संघ भी कायम नहीं होने देना चाहते, मुझसे इस दृष्टिकोण पर जोर दिया है। इसका अर्थ यह निकलता है कि जिन लोगों को परिवर्तन से लाभ होता है, उन लोगों का उसके पक्ष में बहुमत काफी नहीं है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगों को नुकसान है उन्हींका उसके पक्ष में हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोड़े-से स्वार्थी दल स्पष्टतः आवश्यक परिवर्तन रोक सकते हैं।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक-हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। इन हितों के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारों की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राजी हो जांय और अपने विशेषाधिकार छोड़ दें, यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते हैं, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नहीं करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए राजी करने की जितनी कोशिशें अब तक की गईं वे हमेशा ना-कामयाब ही हुईं और इस बात को मानने के लिए कोई वजह दिखाई नहीं देती कि वे भविष्य में कामयाब हो जांयगी। राइन-होल्ड नाइबर ने अपनी पुस्तक[1] में उन सदाचारवादियों को आड़े हाथों लिया है, "जो यह कल्पना कर बैठे हैं कि विवेक और धर्म-प्रेरित सद्भावना की वृद्धि से, व्यक्तियों की स्वार्थपरायणता पर दिन-ब-दिन अंकुश लगता जा रहा है, अतः भिन्न-भिन्न मानव-समाजों और समूहों में ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ इतना ही जरूरी है कि यह क्रिया जारी रहे।" ये आचारशास्त्री "मानव-समाज में न्याय-प्राप्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसकी राजनैतिक आवश्यकताओं पर विचार नहीं करते। कारण, उन्हें कितने ही प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है। इन प्राकृतिक नियमों के अनुसार मनुष्य के स्वभाव में कुछ सामुदायिक वृत्तियां होती हैं, जिनपर बुद्धि या धर्म-भावना का पूरा-पूरा अंकुश नहीं होता। ये लोग इस सच बात को नहीं मानते कि जब सामूहिक शक्ति—चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हो या वर्ग-प्रभुता के रूप में—

---

[1] 'मारल मैन एण्ड इम्मारल सोसायटी' नामक पुस्तक।

कमजोरों का शोषण करती है तब वह उस वक्त तक अपनी जगह से नहीं हटाई जा सकती जबतक कि उसके विरुद्ध शक्ति खड़ी न कर दी जाय।" और फिर, "सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हदतक स्वार्थ का दास होता है, केवल नीति या बुद्धि के जागृत होने से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस संघर्ष में शक्तिका मुकाबला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीलें देने से संघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि विवश कर देने जैसे किसी कारगर दबाव के बिना ही, कोई साम्राज्यवादी शासन-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च-पद और विशेषाधिकारों को छोड़ देगा, सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते हैं, हालांकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नहीं पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीका तो स्वयं कष्ट-सहन का है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योंकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम न तो उसे नाप-जोख ही सकते हैं और न किसी भौतिक तरीके से ही उसकी जांच कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विरोधी पर भी इस तरीके का काफी असर पड़ता है। यह तरीका विरोधियों की नैतिक दलीलों का परदा फाश कर देता है, उन्हें घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाजा खोल देता है। इस बात में तो कोई शक नहीं हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वयं कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शकों पर बहुत ही जबरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जंगली जानवरों के पास जिस दृष्टि से जाते हैं वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भांप लेता है, कि आप उसपर हमला करना चाहते हैं और उसीके मुताबिक वह अपना रवैया अख्तियार करता है। इतना ही नहीं, आदमी, अगर खुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे उसे स्वयं इसका ज्ञान न हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुंच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरों को पालनेवाला जरा भी डर जाय तो उसपर हमला किये जाने का खतरा फौरन पैदा हो जाता है। एक बिलकुल

निर्भय आदमी को, यदि कोई अज्ञात दुर्घटना न हो जाय, तो किसी हिंसक-पशु का खतरा नहीं होता। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मनुष्य इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड़ सकता है। वह वर्ग, वर्ग के रूप में, किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट सम्पर्क में नहीं आता। इतना ही नहीं, उसके सम्बन्ध में वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकांगी और तोड़ी-मरोड़ी हुई होती है। और हर हालत में जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमें विलीन हो जाते हैं। वह वर्ग तो बहुत दिनों से इस खयाल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए हैं, वे समाज-हित के लिए जरूरी हैं, इसलिए उसके खिलाफ जो राय जाहिर की जाती है वह उसे कुफ्र-जैसी मालूम होती है। कानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को कायम रखना सद्‌गुण हो जाते हैं और उनमें विघ्न डालने की कोशिश सबसे महान् पाप।

इसलिए जहांतक विरोधी-पक्ष से सम्बन्ध है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीका हमें कुछ बहुत दूर तक नहीं ले जाता। निस्सन्देह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नरमी और साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित कर देती है, क्योंकि वह समझता है कि इस प्रकार वह गलत स्थिति में डाल दिया गया है और जब किसी व्यक्ति को यह शंका होने लगती है कि शायद वह गलती पर हो, तब उसका सात्त्विक रोष और भी बढ़ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियों पर जरूर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार विरोध नरम पड़ जाता है। इससे भी अधिक बात यह है कि इस पद्धति से तटस्थ लोगों की सहानुभूति प्राप्त हो जाती है और यह संसार के लोकमत को प्रभावित करने का बड़ा जबरदस्त साधन है। लेकिन समाचार-प्रकाशन के साधन सत्ताधारीवर्ग के हाथ में होते हैं और वह समाचारों को बाहर जाने से रोक सकता है, अथवा उन्हें विकृत रूप में कर सकता है और इस तरह वह असली वाकयात का पता लगाना रोक सकता है। फिर भी अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा जोरदार और व्यापक असर तो जिस देश में यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके कम-बढ़ उदासीन लोगों पर होता है। निस्सन्देह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर

उसके जोरदार समर्थक बन जाते हैं। लेकिन ऐसे लोगों का हृदय-परिवर्तन कोई बड़ी बात नहीं, क्योंकि ये लोग आमतौर पर पहले से ही उसके लक्ष्य से सहमत थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते हैं उनपर कोई असर दिखाई नहीं देता। भारत में असहयोग और सत्याग्रह जिस तेजी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक आन्दोलन बहुसंख्यक लोगों पर जबरदस्त असर डालता है, और बहुत-से अस्थिर-बुद्धि लोगों को अपनी ओर खींच लेता है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज्यादा हदतक नहीं बदले, जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे। उनकी किसी उल्लेखनीय संस्था को वह अपने पक्ष का न बना सका। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढ़ा दिया और इस प्रकार वह और भी ज्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि राज्य अपनी आजादी की रक्षा करने के लिए हिंसा का प्रयोग कर सकता है, तब यह समझना मुश्किल हो जाता है कि उसी आजादी को हासिल करने के लिए उन्हीं हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीकों को अख्तियार करना उचित क्यों नहीं है? कोई हिंसात्मक तरीका अवाञ्छनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा अनुचित और वर्जित नहीं हो सकता। सिर्फ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ में सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का अधिक अधिकार नहीं मिल जाता। यदि कोई अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और राज्य पर की बागडोर उसको मिल जाय तो क्या उसको हिंसा का प्रयोग करने का वह अधिकार फौरन ही प्राप्त हो जायगा, जो उसे पहले प्राप्त नहीं था? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के खिलाफ बगावत हो, तो वह उसका मुकाबला कैसे करे? स्वभावतः वह यह नहीं चाहेगी कि हिंसात्मक तरीके से काम ले और वह शान्तिमय उपायों से स्थिति का मुकाबला करने की कोशिश करेगी। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकती। यह निश्चय है कि जनता में ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होंगे, जो इस परिवर्तन के खिलाफ होंगे और वे कोशिश करेंगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेंगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुकाबला अपने दमनकारी शस्त्रों से नहीं करेगी, तब तो वे शायद और भी ज्यादा हिंसा का उपयोग करेंगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा, हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित

और पूर्ण विभाजक रेखा खींच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परिवर्तनों पर विचार करते हुए भारी कठिनाई उपस्थित होती है, लेकिन विशेषाधिकार-प्राप्त सम्पन्नवर्ग और शोषितवर्गों का विचार करते हुए तो यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशंसा हुई है। बिना झुके, और बदले में हाथ चलाये बिना किसी उद्देश के लिए कष्ट सहने में एक उच्चता और एक गौरव है। फिर भी इसके, और कष्ट-सहन मात्र के लिए कष्ट उठाने के बीच में बहुत पतली विभाजक रेखा है। यह दूसरे प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा बहुधा क्रूरतापूर्ण होती है तो दूसरी तरफ अहिंसा भी, कम-से-कम अपने नकारात्मक स्वरूप में, अत्यन्त दोषपूर्ण हो सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा अपनी कायरता और अकर्मण्यता छिपाने,और यथास्थित रहने का साधन बना ली जाय।

हिन्दुस्तान में पिछले कुछ बरसों में, जबसे क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने जोर पकड़ा है,अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्तन हिंसा के बिना हो नहीं सकते इसलिए इनके पक्ष में ज़ोर नहीं दिया जा सका। वर्ग-युद्ध का जिक्र तक नहीं किया जाना चाहिए (चाहे वह कितना ही मौजूद क्यों न हो),क्योंकि वह पूर्ण सहयोग और भविष्य का हमारा जो भी लक्ष्य हो उसकी ओर अहिंसात्मक प्रगति में विघ्न डालता है। बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौके पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योंकि यह तो निश्चय ही मालूम पड़ता है कि जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं वे अपने प्राप्त अधिकारों को कायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने में नहीं हिचकेंगे। लेकिन सिद्धान्त रूप में अगर अहिंसात्मक उपाय से भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है,तो फिर इसी उपाय से क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यों नहीं है? अगर हम लोग अहिंसा के द्वारा हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हटा सकते हैं,तो हम उसी तरीके से माण्डलिक राजाओं, जमींदारों और दूसरे सामाजिक मसलों को हल करके समाजवादी सरकार क्यों नहीं कायम कर सकते? यह सब कुछ अहिंसा के जरिये हो सकता है या नहीं, मुख्य प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न

ता यह है कि या तो ये दोनों ही उद्देश्य अहिंसा के जरिये हासिल हो सकते हैं या फिर एक भी नहीं। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ विदेशी शासकों के ही खिलाफ किया जा सकता है। जाहिरा तौर पर तो किसी देश के स्वार्थी समुदायों और अड़ंगा डालनेवालों के खिलाफ उसका प्रयोग करना ज्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि विदेशियों की अपेक्षा उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर अधिक पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में इन दिनों यह प्रवृत्ति चल गई है कि बहुत-से उद्देशों और नीतियों को महज इसलिए बुरा बता दिया जाता है कि वे अहिंसा से मेल नहीं खाते। मेरी समझ में यह समस्याओं पर विचार करने का गलत तरीका है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिंसात्मक उपाय इसलिए ग्रहण किया था कि हमें यह विश्वास हो चला था कि हम इस सबसे अधिक वाञ्छित और कारगर उपाय से अपने लक्ष्य पर पहुंच जायंगे। उस वक्त हमारा लक्ष्य अहिंसा से स्वतन्त्र था। वह अहिंसा का एक गौण अंग, अथवा उसका परिणाम न था। उस वक्त कोई यह नहीं कह सकता था कि हमें अपना ध्येय स्वतन्त्रता तभी बनाना चाहिए जब वह अहिंसात्मक उपायों से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय की कसौटी अहिंसा है और अगर वह उसपर खरा नहीं उतरता तो वह नामंजूर कर दिया जाता है। इस प्रकार अहिंसा एक अटल सिद्धान्त बनता जा रहा है जिसके खिलाफ आप कुछ नहीं कह सकते। इस कारण अब वह हमारी बुद्धि पर इतना आध्यात्मिक प्रवाह नहीं डालता और श्रद्धा और धर्म का संकीर्ण स्थान ग्रहण कर रहा है। इतना ही नहीं, वह तो स्वर्थी समुदायों के लिए आश्रयस्थल बन रहा है और ये लोग यथास्थिति बनाये रखने के लिए उससे नाजायज फायदा उठा रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध और अहिंसात्मक युद्धनीति के विचार, हिन्दुस्तान ही नहीं, समस्त संसार के लिए, अत्यन्त लाभप्रद हैं और गांधीजी ने वर्तमान विचार-जगत को इनपर विचार करने के लिए विवश करके बड़ी भारी सेवा की है। मेरा विश्वास है कि इनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव-समुदाय अभी इतना आगे नहीं बढ़ पाया है कि वह उन्हें पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इंटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धों के हाथ में ज्ञान की मशाल देते हैं, लेकिन वे उसका उपयोग दंड के रूप में करते हैं, और उसका दूसरा

उपयोग वे क्या कर सकते हैं?" सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फलीभूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारों की तरह उसका प्रभाव बढ़ता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेंगे। असहयोग—जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते हैं, अपना सहयोग हटा लेना—एक बहुत ही शक्तिशाली और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि मुट्ठी-भर चरित्रवान् लोग भी उसपर अमल करें तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढ़ता चला जाता है। जब अधिक संख्या में लोग असहयोग करते हैं तो उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत में प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बातें नैतिक सवाल को दबा लेती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उसके विस्तार से उसकी तीव्रता कम पड़ जाती है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे ढकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गई है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धार्मिक श्रद्धा से मंजूर कर लेते हैं या बिलकुल नामंजूर कर देते हैं। उसका बौद्धिक अंश भुला दिया जाता है। १९२० में हिन्दुस्तान के आतंकवादियों पर उसका बहुत असर पड़ा था, जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस में पड़ गये और उन्होंने अपने हिंसात्मक कार्यों को बन्द कर दिया। लेकिन अब उनपर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नहीं रहा है। कांग्रेसवादियों में भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होंने असहयोग और सविनय-भंग के आन्दोलनों में महत्त्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होंने अहिंसात्मक पद्धति का पूर्णरूप से अन्तःकरण से पालन करने का प्रयत्न किया था, अब नास्तिक समझे जाते हैं और कहा जाता है कि उन्हें कांग्रेस में रहने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वे अहिंसा को ध्येय तथा धर्म के रूप में मानने को तैयार नहीं हैं और जिसे प्राप्त करना वे अपना परम-पुरुषार्थ समझते हैं उस समाजवाद के लक्ष्य को भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। उस राज्य में सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधाएं होंगी; आजकल कुछ लोग जिन विशेष सुविधाओं और सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों का भोग करते हैं वे अधिकार समाप्त कर दिये जायंगे और उसके उपरान्त व्यवस्थित समाज की स्थापना होगी। निस्सन्देह, गांधीजी आज भी एक विद्युत-शक्ति हैं, उनकी अहिंसा सजीव और

उग्र रूप की है और कोई नहीं कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर देंगे। वे अपनी महत्ता, अपने विरोधाभासों और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की अपनी शक्ति के कारण साधारण माप से बहुत ऊंचे है। जैसे हम दूसरों को नापते-तौलते हैं, वैसे उनका नाप-तोल नहीं हो सकता। लेकिन उनके अनुयायी होने का दावा करनेवालों में बहुत से निकम्मे शान्तिवादी या टालस्टॉय के ढंग के अप्रतिरोधी या किसी संकुचित पथ के अनुगामी बन गये हैं, और उनका जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नहीं है। और जिन लोगों से इनका सम्बन्ध है उनका स्वार्थ वर्तमान समाज-व्यवस्था कायम रहने में है और इसी मतलब से अहिंसा की शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसा में समय-साधकता घुस पड़ती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधी के हृदय-परिवर्तन का, लेकिन अहिंसा को सुरक्षित रखने की धुन में हम स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं और विरोधी की श्रेणी में आ जाते हैं। जब जोश ठंडा हो जाता है और हम कमजोर पड़ जाते हैं तब हमेशा थोड़ी-सी पीछे की तरफ हट जाने और समझौता करने का प्रवृत्ति हो जाती है और इसे विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकार कर सन्तोष-लाभ किया जाता है। कभी-कभी तो इसके लिए हम अपने पुराने साथियों तक को खो बैठते हैं। हम उनकी अमर्यादा की निन्दा करते हैं, उनके भाषणों की, जिनसे हमारे नये दोस्त चिढ़े होते हैं, निन्दा करते हैं, और उनपर संस्था की एकता भंग करने का इलजाम लगाते हैं। सामाजिक अव्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर जोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज के भीतर दानशीलता और उदारशीलता पर जोर देते हैं और अधिकार-सम्पन्न समुदाय जहां-का-तहां स्थित रहता है।

मेरा विश्वास है कि गांधीजी ने साधनों की महत्ता पर जोर देकर हमारी बड़ी सेवा की है। फिर भी मैं अनुभव करता हूं कि अंतिम जोर तो लाजिमी और जरूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मकसद हो उसी पर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक हम इधर-उधर भटकने में और मामूली सवालों पर अपनी ताकत बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। लेकिन साधनों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते हैं, जबर्दस्त नई-नई समस्याएं खड़ी कर

देते हैं। और, आखिरकार, किसी आदमी के बारे में कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नहीं कर सकते; बल्कि उन साधनों से ही करते हैं जिन्हें वह व्यवहार में लाता है। ऐसे साधनों को अपनाने से, जिनसे कि व्यर्थ की लड़ाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक-दूसरे से इतना निकट सम्बन्ध है कि दोनोंको अलग-अलग करना अत्यन्त कठिन है। अतः निश्चित रूपसे साधन ऐसे होने चाहिएं, जिनसे घृणा या झगड़े यथासम्भव कम हो जांय या सीमित हो जांय, (क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है) और सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। मुख्य प्रश्न किसी विशिष्ट पद्धति का उतना न होकर हेतु, इरादा और स्वभाव का बन जाता है। गांधीजी ने इसी मूल हेतु पर जोर दिया है। वह मानव स्वभाव को किसी उल्लेखयोग्य सीमा तक बदलने में भले ही सफल न हुए हों, पर जिस महान् राष्ट्रीय आन्दोलन में करोड़ों लोगों ने हिस्सा लिया, उनके हृदयों पर इसकी छाप बिठाने में आश्चर्यजनक सफलता मिली है। नियम पालने पर उनका आग्रह अत्यन्त आवश्यक था, हालांकि उनकी वैयक्तिक नियमपालन की धारणाएं विवादास्पद हैं। वह सामाजिक पापों की अपेक्षा व्यक्तिगत पापों और कमजोरियों को बहुत ज्यादा महत्व देते हैं। इसकी आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योंकि मुसीबतों का रास्ता छोड़कर शक्ति और अधिकार प्राप्त सत्ताधारी वर्ग में मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से कांग्रेसवादियों को कांग्रेस से बाहर खींच लिया है। किसी भी प्रसिद्ध कांग्रेसवादी के लिए 'स्वर्गद्वार' तो सदा खुले ही रहते हैं।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के संकटों में फंसी है। लेकिन इनमें सबसे बड़ा संकट आध्यात्मिक संकट है। यह बात पूर्व के देशों में खासतौर पर दिखाई देती है, क्योंकि हाल में दूसरी जगहों की अपेक्षा एशिया में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हुए हैं और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बड़ी दुःखदायी है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्व पा गई है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज है। हालांकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मामलों में लगें उसका सन्तोष-प्रद हल हो जाना जरूरी है। अनेक युगों से हम लोग एक अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था के आदी हो गये हैं। हममें से बहुतों का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ यही समाजव्यवस्था सम्भव और उचित है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते हैं। लेकिन वर्तमान

से भूतकाल का मेल मिलाने की हम जितनी कोशिशें करते हैं वे सब बेकार हो जाती हैं, और यह अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है कि—"अन्त में आर्थिक सद्व्यवहार के नियम आर्थिक आवश्यकताओं का अनुकरण करते हैं।" आजकल की जरूरतें हमें इस बात के लिए मजबूर करेंगी कि हम उनके मुताबिक सदाचार की एक नई व्याख्या करें। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक संकट से निकलने का कोई रास्ता ढूंढ़ना चाहते हैं और अपनी भावनाओं का सच्चा मूल्यांकन करना चाहते हैं तो हमें निर्भीकता से और साहस के साथ समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नहीं चलेगा। धर्म जो-कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीके से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उस पर विश्वास करलें, उससे किसी बात को बुद्धि से समझ लेने में हमें कतई कुछ मदद नहीं मिलती। जैसा कि फ्रॉयड ने कहा है "धर्म के आदेश विश्वास किये जाने योग्य हैं। इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे; दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद हैं, जो हमें उसी पुराने जमाने से विरासत में मिलते आये हैं; और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे में सवाल उठाना मना है।"[1]

अगर हम अहिंसा पर उसके सब व्यापक भावों सहित निभ्रान्ति धार्मिक-दृष्टि से विचार करें तो बहस के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती है। उस हालत में तो वह एक सम्प्रदाय का संकुचित ध्येय हो जाती है, जिसे लोग मानें या न मानें। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमें मौजूदा मसलों को हल करने की क्षमता नहीं रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतों के सिलसिले में उसपर बहस करने को तैयार रहें तो वह हमें इस जगत के नवनिर्माण के प्रयत्नों में बहुत मदद दे सकती है। ऐसा करते समय हमें साधारण व्यक्ति के स्वभाव और उसकी कमजोरियों का ध्यान रखना चाहिए। सामूहिक रूप में किसी प्रवृत्ति पर—विशेष रीति से यदि इसका उद्देश्य कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तन करना हो तो—नेताओं के विचारों का ही प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि तत्कालीन परिस्थिति का और इससे भी अधिक उन नेताओं का जिन मनुष्यों

[1] 'दि फ्यूचर ग्राफ एन इल्यूजन' नामक पुस्तक से।

से काम पड़ता है, उनका उसके विषय में क्या विचार है, इसका भी प्रभाव पड़ता है।

दुनिया के इतिहास में हिंसा का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। आज भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और गालिबन् आगे भी बहुत वक्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले जमाने में जो परिवर्तन हुए, उनमें से ज्यादातर हिंसा और बल-प्रयोग से ही हुए। एक बार डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था—"मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि अगर राजनैतिक संकट के समय इस देश के लोगों को हिंसा से नफरत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने के अलावा और कोई आज्ञाएं न दी गई होतीं, तो इस देश को आजादी प्राप्त न होती।"

भूतकाल और वर्तमानकाल में हिंसा की महत्ता की उपेक्षा करना असम्भव है। उसकी उपेक्षा करना जिन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी अवश्य ही हिंसा एक बुरी चीज है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामों की एक लम्बी लीक छोड़ जाती है। और हिंसा से भी ज्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, प्रतिशोध तथा दंड की प्रवृत्तियां हैं जो अक्सर हिंसा के साथ रहती हैं। सच बात तो यह है कि हिंसा स्वतः बुरी नहीं, बल्कि वह इन्हीं प्रवृत्तियों की वजह से बुरी है जो उसके साथ रहती हैं। इन प्रवृत्तियों के बिना भी हिंसा हो सकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिंसा को इन प्रवृत्तियों से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वांछनीय है कि जहां तक मुमकिन हो हिंसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने में हम यह नकारात्मक रुख अख्तियार नहीं कर सकते कि उससे बचने की धुन में दूसरी वह उससे कहीं ज्यादा बड़ी बुराइयों के सामने सिर झुका दें। हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नींव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मंजूर कर लेना अहिंसा की भावना के बिलकुल खिलाफ है। अहिंसा का तरीका तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और उसमें इतनी सामर्थ्य हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा खयाल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी-न-किसी किस्म का बल-प्रयोग तो लाजिमी मालूम पड़ता है, क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताकत

और खास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस वक्त नहीं छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरतें न पैदा कर दी जांय जिनमें उनके लिए इन खास हकों का रखना उन्हें छोड़ने से ज्यादा नुकसान देह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बल-प्रयोग के बिना कभी नहीं मिट सकते। निस्सन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे, क्योंकि जबतक बहुत बड़ी तादाद हमसे सहमत न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नहीं हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। हमारे लिए यह ठीक नहीं है कि हम इन बुनियादी लड़ाइयों पर परदा डालें और यह दिखलाने की कोशिश करें कि वे हैं ही नहीं। ऐसा करने से न सिर्फ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका प्रत्येक परिणाम लोगों को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मजबूत बनाना होता है और शासक-वर्ग अपने विशेष अधिकारों को उचित ठहराने के लिए जिस नैतिक सूत्र की तलाश में रहता है वह उसे मिल जाता है। किसी भी अन्याय-युक्त पद्धति का मुकाबला करने के लिए यह लाजिमी है कि जिन गलत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक खूबी यह भी है कि वह इन गलत उपपत्तियों और झूठी बातों को मानने और आगे बढ़ाने में सहयोग देने से इन्कार करके उनका भण्डाफोड़ कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि एक वर्गहीन समाज स्थापित हो, जिसमें सबको समान न्याय और समान सुविधा प्राप्त हो; जिसमें मनुष्य-जाति को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊंचा उठाने और उसमें सहयोग, निःस्वार्थ सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने, और अन्त में एक संसारव्यापी समाज की स्थापना करने की सुनिश्चित योजना हो। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते में रोड़ा बनकर आवे उसे हटाना होगा—हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक; और इस बात में बहुत-कम शक है कि अक्सर बल-प्रयोग की जरूरत पड़ेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता की भावना से नहीं, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की शुद्ध इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नहीं है, कोई सीधा रास्ता भी नहीं है और अड़चनों की कोई गिनती नहीं। हमारे

सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्कतें और अड़चनें दूर नहीं हो जायंगी, हम उनका असली रूप समझकर और साहस के साथ उनका मुकाबला करके उन्हें हटाना होगा। ये सब बातें काल्पनिक और सुख स्वप्न-सी मालूम होती हैं और यह सम्भव नहीं है कि बहुत-से लोग इन उच्च-भावनाओं से प्रेरित हों। लेकिन हम उन्हें अपनी नजर के सामने रख सकते हैं और उनपर जोर दे सकते हैं और यह हो सकता है कि इसके फलस्वरूप हममें से बहुतों-के हृदय में जो राग और द्वेष भरा है, वह कम हो जाय।

हमारे साधन हमें इस लक्ष्य तक पहुंचानेवाले और इन भावनाओं से प्रेरित होने चाहिएं। लेकिन हमें यह बात जरूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव-स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी प्रार्थनाओं और दलीलों पर हमेशा ध्यान नहीं देंगे और न ऊंचे नैतिक सिद्धान्त के अनुसार काम ही करेंगे। हृदय-परिवर्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उनपर जरूरत पड़ती रहेगी। और सबसे अधिक हम जो कुछ कर सकते हैं वह यही है कि बल-प्रयोग सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम में लावें कि उसकी बुराई कम हो जाय।

६४

फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेलमें मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती थी, मेरा वजन बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढ़ती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफवाह थी, कि मुझे किसी अच्छी आबहवावाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मैं देहरादून-जेल भेजा जा रहा था। कुछ महीनों की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा में कलकत्ता के बीच होकर गुजरना बड़ा अच्छा मालूम होता था और हवड़ा के आलीशान स्टेशन पर लोगों की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर खुशी थी और मैं देहरादून और उसके आस-पास के पहाड़ों को देखने को उत्सुक था। लेकिन वहां पहुंचने पर देखा कि नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैंने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नहीं रही है। मैं अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियों के रहने की जगह को साफ करके ठीक की गई थी।

कोठरी की शक्ल में वह कुछ बुरी नहीं थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसी से लगा हुआ करीब पचास फुट लम्बा सहन था। देहरादून में पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियां कुछ अच्छी न थीं। घेरे की दीवार, जो दस फुट ऊंची थी, खासकर मेरे कारण उस वक्त चार या पांच फुट और बढ़ा दी गई थी। इससे पहाड़ियों के जिस दृश्य की मैं इतनी आशा लगाये था, वह बिलकुल छिप गया था,और मैं सिर्फ कुछ दरख्तों के सिरे ही देख पाता था। मैं इस जेल में लगभग तीन महीने से ज्यादा रहा; लेकिन मुझे कभी पहाड़ों की झलक तक नहीं दिखाई दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाजे के सामने घूमने की इजाजत न थी। मेरा छोटा-सा आंगन ही कसरत के लिए काफी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई बन्दिशें नाउम्मेदी पैदा करनेवाली थीं, जिससे मैं खीझ गया। मैं अनमना हो गया और अपने आंगन में जो थोड़ी-बहुत कसरत कर सकता था, उसतक के करने को तबीयत न रही। शायद ही मैंने कभी अपने को इतना अकेला और दुनियां से जुदा महसूस किया हो। एकान्त कारावास का मेरी तबीयत पर खराब असर होने लगा, और मेरा शरीर तथा मन गिरने लगा। मैं जानता था कि दीवार की दूसरी तरफ कुछ फुट की दूरी पर वायुमण्डल में ताजगी और सुगन्ध भरी है, घास और नम से पृथ्वी की ठण्डी-ठण्डी महक फैल रही है और दूर-दूर तक के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। लेकिन ये सब मेरी पहुंच के बाहर थे और बार-बार उन्हीं दीवारों को देखते-देखते मेरी आंखें पथरा जाती थीं। वहां पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योंकि मैं सबसे अलग और अकेला रखा गया था।

छः हफ्ते बाद मूसलाधार वर्षा हुई; पहले हफ्ते में बारह इंच पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ; गर्मी कम हुई और शरीर हलका हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आंखों या दिमाग को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दरवाजा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक, लहराते हुए हरे-भरे खेत और रंग-बिरंगे वृक्ष, जिनपर मेंह की बूंदें मोती की तरह चमकती थीं, बिजली के कौंध की भांति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल छिप जाती थीं। दर्वाजा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियों को खास तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कहीं नजदीक होऊं तो वह न खोला जाय, और वे जब कभी खोलते भी थे, तो बस जरा-सा ही। हरियाली और ताजगी की ये थोड़ी-थोड़ी झांकिया अब मुझे अच्छी नहीं लगती थीं, इन्हें देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल में एक दर्द-सा उठता था; इसलिए जब कभी दरवाजा खुलता तो मैं बाहर की तरफ नहीं देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल में जेल की ही वजह से नहीं थी। यह तो बाहरी घटनाओं का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ मेरी राजनैतिक चिन्ताएं। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी नें फिर आ दबाया है। मैं उसकी कोई भी सेवा करने के अयोग्य हूं, यह विचार दुःख देने लगा।

मैं जानता था कि मैं कमला के पास होता तो अवस्था बहुत-कुछ बदल जाती।

अलीपुर में तो मुझे दैनिक-पत्र नहीं मिलता था पर देहरादून-जेल में मुझे वह मिलने लगा और मुझे बाहर के राजनैतिक और दूसरे समाचार मालूम होने लगे। पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी की करीब तीन बरस बाद बैठक हुई (इस दरमियान तो वह करीब-करीब गैर-कानूनी ही रही।) इसकी कार्रवाई पढ़कर तबीयत मुरझा-सी गई। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और दुनिया में इतना कुछ हो जाने के बाद जब यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने और पुराने ढर्रे में से निकलने की कुछ कोशिश नहीं की गई। दूर से ऐसा जान पड़ा, मानों गांधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप में खड़े होकर कह रहे हैं, "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना हो, तो मेरी शर्तें कबूल करो।" उनकी मांग बिलकुल स्वाभाविक भी थी, क्योंकि यह तो हो नहीं सकता था कि उन्हें रखा भी जाय और काम भी उनसे उनके आन्तरिक विश्वासों के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा जरूर लगा कि ऊपर से दबाने की वृत्ति ज्यादा थी और आपस में चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र बात है कि गांधीजी पहले तो लोगों के दिल और दिमाग पर कब्जा कर लेते हैं और फिर उनके पंगु होने की शिकायत करते हैं। मैं समझता हूं कि जितनी बड़ी जनसंख्या ने श्रद्धा और भक्ति से उनकी आज्ञाओं का पालन किया है, उतना बहुत कम लोगों का किया है। ऐसी हालत में जनता को यह दोष देना न्यायोचित नहीं मालूम होता कि उससे जो बड़ी-बड़ी आशाएं बांध ली गई थीं वे पूरी नहीं हुईं। पटना की बैठक में गांधीजी अन्त तक ठहरे भी नहीं, क्योंकि उन्हें हरिजन-यात्रा जारी रखनी थी। उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी से फालतू बातों में न पड़कर काम-से-काम रखने और वर्किंग-कमेटी के रखे हुए प्रस्तावों को जल्दी-से निबटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे वाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यों के मन में इतना गड़बड़घोटाला और विचारों की अस्पष्टता थी कि नुक्ताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसी ने दिया हो। उस वक्त की परिस्थिति में यह था तो स्वाभाविक, क्योंकि लड़ाई का भार अलग-अलग प्रान्तों से आये हुए इन्हीं नेताओं पर आ

पड़ा था, और वे जरा थके हुए और परेशान-से थे। उन्हें कुछ ऐसा तो लगा कि अब लड़ाई बन्द करनी पड़ेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय? उस समय दो स्पष्ट दल बन गये, जिनमें से एक तो कौंसिलों-द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष में था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारों के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज्यादातर मेम्बर दोनों में से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नहीं थे। उन्हें यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलों की शरण ली जाय और साथ ही समाजवाद से कुछ डर भी लगता था कि कहीं उस नई चीज से आपस में फूट न पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एक मात्र आशा और सहारा गांधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होंने गांधीजी की तरफ देखा और जैसा उन्होंने कहा, किया। यह बात दूसरी है कि बहुतों को गांधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गांधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का कमेटी और कांग्रेस दोनों में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा कांग्रेस पीछे हट गई। पिछले पन्द्रह साल में, जबसे असहयोग का जंग हुआ, कांग्रेस के नेताओं ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढंग की बातें नहीं की थीं। पिछली स्वराज-पार्टी, हालांकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार-धारा को देखते हुए कहीं आगे बढ़ी हुई थी। और स्वराज-पार्टी में जैसे बड़े और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमें थे भी नहीं। इसमें बहुत-से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखिम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस में धड़ाधड़ शामिल होकर बड़े आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठा लीं और वह कानूनी संस्था बन गई। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक संस्थाएं फिर भी गैर-कानूनी बनी रहीं, जैसे कांग्रेस का स्वयंसेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान-सभाएं, शिक्षण-संस्थाएं और नौजवान-सभाएं, जिनमें एक बच्चों की संस्था भी थी। खासतौर पर 'खुदाई खिदमतगार' या सरहदी लाल कुर्तीवाले फिर भी गैरकानूनी बने रहे। यह संस्था १९३१ में कांग्रेस का एक अंग बन गई थी और सरहदी सूबे में उसकी तरफ से काम करती थी। इस तरह हालांकि कांग्रेस ने सीधी लड़ाई पूरी तरह स्थगित कर दी थी और वैध ढंग अख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार

ने सत्याग्रह के लिए खास कानून बनाये थे, वे सब-के-सब कायम रखे और कांग्रेस संगठन की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं पर पाबन्दियां जारी रखीं। किसानों और मजदूरों की संस्थाओं को दबाने की तरफ भी खास ध्यान दिया गया। और मजेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बड़े-बड़े सरकारी अफसर घूम-घूमकर जमीदारों और ताल्लुकेदारों को संगठित करने लगे। जमीदारों की इन संस्थाओं को हर तरह की सहूलियतें दी गईं। युक्तप्रान्त की इन संस्थाओं में से बड़ी-बड़ी दो संस्थाओं का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियों ने इकट्ठा किया।

मेरा खयाल है कि मेरे मन में हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओं के प्रति पक्षपात नहीं रहा है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन में खास-तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने खामख्वाह लाल कुर्तीवालों पर लगाई गई बन्दिशों की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोंक दी। जिस समय लड़ाई चल नहीं रही थी, उस समय भी अत्यन्त मामूली नागरिक अधिकारों के छीने जाने के इस समर्थन से मैं दंग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड़ भी दें, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनों में, इन सरहदी लोगों का बर्ताव विलक्षण रहा, और उनके नेता देश के एक अत्यन्त शूरवीर और ईमानदार व्यक्ति—खान अब्दुलगफ्फारखां, जो बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल में थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है ? मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू-महासभा के बड़े नेता इस मामले में अपने साथी का फौरन प्रतिवाद कर देंगे। लेकिन जहां तक मुझे मालूम है, उनमें से किसी ने एक शब्द भी नहीं कहा। हिन्दू-महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बड़ी बेचैनी हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखाई दिया कि देश म जो एक नई स्थिति पैदा हो गई है, वह उसीकी सूचक है। गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक्त। मेरी आंखें झपक गईं। याद पड़ता है कि मैंने एक अजीब-सा सपना देखा। अब्दुलगफ्फारखां पर चारों तरफ से हमले हो रहे हैं और मैं उन्हें बचाने के लिए लड़ रहा हूं। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूं कि तकिया आंसुओं से तर है। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि जाग्रत अवस्था में कभी मुझपर ऐसी भावुकता सवार नहीं हुआ करती।

उन दिनों मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नींद ठीक नहीं आती थी। यह मेरे लिए नई बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नींद में चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा जोर का हो गया। जब मैं चौंककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियों को खड़े पाया। उन्हें मेरे चिल्लाने से चिन्ता हो गई थी। मैंने सपने में यह देखा था कि कोई मेरा गला घोंट रहा है।

इसी अर्से में कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर दुखदायी असर हुआ। यह कहा गया था कि यह प्रस्ताव "निजी सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध के सम्बन्ध में होनेवाली अनुत्तरदायित्वपूर्ण चर्चा को ध्यान में रखकर" पास हुआ है, और इसके जरिये कांग्रेस वालों को यह बताया गया था कि कराची कांग्रेस के प्रस्तावमें "किसी उचित कारण या मुआवजे के बिना न तो निजी सम्पत्ति की जब्ती का ही, और न वर्गयुद्ध का ही समर्थन किया गया है। वर्किंग-कमेटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की जब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ है।" इस प्रस्ताव की भाषा दोषपूर्ण थी, जिससे एक हद तक यह प्रकट होता था कि इसके बनाने वाले जैसे यह जानते ही नहीं कि वर्गयुद्ध क्या चीज है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कांग्रेस-समाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल में, इस दल को किसी भी जिम्मेदार शख्स की तरफ से जब्ती की कभी कोई बात नहीं कही गई थी; हां, मौजूदा परिस्थितियों में जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका जिक्र कर दिया जाता था। वर्किंग कमेटी के इस प्रस्ताव में यह इशारा मालूम पड़ता था कि कोई भी ऐसा शख्स जो इस तरह वर्गयुद्ध में विश्वास रखता है कांग्रेस का मामूली मेम्बर तक नहीं बन सकता। कांग्रेस के समाजवादी होने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की शिकायत तक किसीने नहीं की थी। कुछ सदस्यों का इस प्रकार का मत था लेकिन अब यह स्पष्ट हो गया कि इस राष्ट्रीय संस्था में जहां सबके लिए जगह है, वहां समाजवादियों के लिए जगह नहीं है।

अक्सर यह कहा गया है कि कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रंक तक सभी किस्म के लोग इसमें शामिल हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते हैं और उनकी नीति सभी किस्म

के लोगों की भलाई की होती है। लेकिन जाहिर है कि यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता। कोई राजनैतिक संस्था विरोधी-हितों की प्रतिनिधि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमजोर और बे-मानी संस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिह्न और स्वरूप भी कायम न रह सकेगा। कांग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने और राष्ट्र के हित में उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक विशिष्ट विचार-धारा है; या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्मप्रचारिणी संस्था है, जिसके अपने कोई विचार नहीं हैं, बल्कि वह सबका भला चाहती है। जिन लोगों को यह ध्येय तथा सिद्धान्त मान्य हैं, उन्हीं की यह प्रतिनिधि संस्था है और जो उसके विरोधी हैं उन्हें वह राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रतिगामी मानती है, और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उनका प्रभाव कम करने या मिटाने में विश्वास रखती है। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन से अधिक लोगों के सहमत होने की गुंजाइश रहती है, क्योंकि उसका सामाजिक संघर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस तरह कांग्रेस किसी-न-किसी मात्रा में भारतवासियों के भारी बहुमत की प्रतिनिधि थोड़े-बहुत रूप में जरूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग भी इसमें शामिल रहे हैं। ये लोग एकमत सिर्फ इस बात पर रहे कि साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर जोर देने का जुदा-जुदा लोगों का जुदा-जुदा ढंग था। साम्राज्य के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगों की राय बिलकुल खिलाफ रही, वे लोग कांग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शक्ल में ब्रिटिश-सरकार के साथ मिल गये। इस तरह कांग्रेस एक तरह का स्थायी सर्वदल सम्मेलन बन गई जिसमें एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल थे जो एक मुख्य सिद्धान्त और गांधीजी के सर्वोपरि व्यक्तित्व के कारण एक सूत्र में बंधे थे।

बाद में वर्किंग-कमेटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव की भाषा का या उसमें जिस विषय का प्रतिपादन था, उसका इतना महत्त्व न था, जितना इस बात का कि इससे कांग्रेस जिस दिशा में जा रही थी, उसका नया परिचय मिलता था। साफ है कि यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल असेम्बली के आगामी

चुनाव में जायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इन लोगों के प्रभाव से कांग्रेस का दृष्टिकोण नरम होता जा रहा था और वह देश के नरम और पुराने खयाल के लोगों को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगों ने पहले कांग्रेस की हलचलों का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने में भी सरकार का साथ दिया था, उन लोगों के प्रति भी चापलूसी-भरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और टीका-टिप्पणी करने वाला गरम दल इस मेल-मिलाप और हृदय-परिवर्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंग-कमेटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणों से यह प्रकट था कि कार्यकारिणी सभा गरमदलवालों के अड़चनें डालने पर भी अपना नया रास्ता छोड़ने को तैयार नहीं थी। यह भी जाहिर होता था कि अगर गरम दल का रुख न बदला तो उसे कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूंक-फूंककर कदम रखने का कार्यक्रम निर्देशित किया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल में कांग्रेस ने कभी अख्तियार नहीं किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस में कई ऐसे प्रसिद्ध नेता थे, जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बड़ी अमूल्य सेवाएं की थीं, और उनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर में उनका बड़ा मान था। लेकिन इस नई नीति की वजह से कांग्रेस की दूसरी पंक्ति ही नहीं, पहली पंक्ति में भी ऐसे-ऐसे लोग आकर नेता बन गये जिन्हें आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता था। कांग्रेस के सामान्य सदस्यों में बेशक बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान-लोभियों और अवसरवादियों के लिए दरवाजा जितना खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। इस सारे वातावरण पर गांधीजी के रहस्यपूर्ण तथा अगम्य व्यक्तित्व का प्रभुत्व तो था ही, परन्तु कांग्रेस दो-मुंही मालूम पड़ती थी, एक मुँह तो शुद्ध राजनैतिक था और संगठित दल का रूप अख्तियार करता था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता-पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसकी दृष्टि से उसकी यह जीत उसकी सविनय-भंग तथा उसकी अन्य शाखाओं को दबा देने की नीति के फलस्वरूप हुई थी। आपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगी कि मरीज जियेगा या मरेगा। हालांकि

उस वक्त कांग्रेस किसी हद तक दबा दी गई थी, फिर भी सरकार कुछ मामूली हेरफेर के साथ अपनी दमननीति वैसे ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्तन क्षणिक ही हो सकते हैं, और इसलिए उसने यदि अपनी नीति में जरा भी ढिलाई की तो आन्दोलन तेज रफ्तार पकड़ सकता है। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मजदूर या किसान-वर्ग में से अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के फूंक-फूंककर चलनेवाले नेताओं के बहुत अधिक नाराज होने की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल में मेरे विचारों का प्रवाह किसी हद तक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मैं घटना-चक्र के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मैं परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून में मुझे सरकार की पसन्द के अखबार के जरिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफा खबरें मिलने लगी थीं। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हदतक परिवर्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मैं भूतकाल की बातों का, जबसे मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान की राजनैतिक घटनाओं का अवलोकन करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हद तक सही रास्ते पर थे? किस हदतक गलती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर कागज पर लिखता जाऊं तो वे अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग को एक निश्चित काम में लगाये रखने से उसे चिन्ता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह 'कहानी' लिखनी शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अकसर ऐसे मौके आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई। तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मैं न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मैं इस निजी यात्रा की समाप्ति के निकट पहुंच चुका हूं। इसका अधिकांश एक अजीब परेशानी की हालत में लिखा गया है, जबकि मैं उदासी और मानसिक चिन्ताओं से दबा हुआ था। शायद इसकी थोड़ी-सी

झलक, जो कुछ मैंने लिखा, उसमें आ गई है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओं को भुलाने में बड़ी सहायता दी। जब मैं इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के पाठकों का बिलकुल खयाल न था; मैं अपने-आपको सम्बोधन करता था, और अपने लाभ के प्रश्न बनाकर उनके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरञ्जन भी हो जाता था। यथासम्भव मैं बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट विचार करना चाहता था, और मैं सोचता था कि शायद भूतकाल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम में सहायक होगा।

अखीरी जुलाई के करीब कमला की हालत बड़ी तेजी से बिगड़ने लगी और कुछ ही दिनों में वह नाजुक हो गई। ११ अगस्त को मुझसे एकाएक देहरादून-जेल छोड़ने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी में इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुंचे और वहां मुझसे जिला मैजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं अस्थायी तौर पर रिहा किया जा रहा हूं जिससे मैं अपनी बीमार पत्नी को देख सकूं। मेरी गिरफ्तारी का छठवां महीना पूरा होने में एक दिन बाकी रह गया था।

६५

ग्यारह दिन

"स्वयं काटकर जीर्ण म्यान को दूर फेंक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[1]

मेरी रिहाई आरजी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जबतक डॉक्टर बिलकुल जरूरी समझें तबतक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना मुमकिन न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने-आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमें तो मैं किसी भी दिन, जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए जरा भी तैयार न था। कैद की तनहाई से मैं एकदम डॉक्टरों, नर्सों और रिश्तेदारों से भरे हुए घर पर पहुंचाया गया। मेरी लड़की इन्दिरा भी शान्ति-निकेतन से आ गई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दरियाफ्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढंग भी बिलकुल जुदा था, घर के सब आराम थे और अच्छा खाना था। वह सब कुछ होते हुए भी कमला की खतरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी।

उसके शरीर में केवल हड्डियां रह गई थीं और वह अत्यन्त कमजोर हो गई थी। उसका शरीर छाया-मात्र मालूम पड़ता था। वह बहुत कमजोर हालत में रोग से टक्कर ले रही थी। और यह खयाल कि शायद वह मुझे छोड़ जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढ़े अठारह साल हुए थे। मेरे मन में उस दिन से लेकर आजतक के बरसों की सुधि आने लगी।

---

[1] बायरन के मूल अंग्रेजी पद्य का भावानुवाद।

शादी के वक्त मैं छब्बीस साल का था और वह करीब सत्रह बरस की। वह सांसारिक बातों से सर्वथा अनभिज्ञ निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र में काफी फर्क था,और उससे भी अधिक फर्क हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु में था, क्योंकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कहीं ज्यादा थी। पर ऊपर से गम्भीर होते हुए भी मुझमें बड़ा लड़कपन था, और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक बाला का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनों एक-दूसरे की तरफ आकर्षित हो रहे थे और काफी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक-दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में संघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चों के-से छोटे-मोटे झगड़े भी हो जाया करते थे, जो ज्यादा देरतक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल-मिलाप होकर समाप्त हो जाते थे। दोनों का स्वभाव तेज था, दोनों ही तुनकमिजाज थे और दोनों में ही अपनी शान रखने की बच्चों की-सी जिद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालांकि परस्पर मानसिक भेद धीरे-धीरे कम हुआ। हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लड़की और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएं हुईं और उनकी ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फौरन ही पंजाबके मार्शल-लॉ और असहयोगका जमाना आया और मैं सार्वजनिक कामों के आंधी-तूफान में अधिकाधिक फंसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ़ गई थी कि ठीक उस समय, जबकि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नजरअन्दाज कर, उसे अपने निज के भरोसे छोड़ दिया। उसके प्रति मेरा प्रेम बराबर बना रहा, बल्कि बढ़ता गया, और वह अपने प्रेमपूर्ण हृदय से मुझे सहायता देने को सदा तैयार है, यह जानकर मन को बड़ी सान्त्वना मिलती थी। उसने मुझे बल दिया, लेकिन साथ ही उसे मानसिक व्यथा भी होती रही होगी और अपने प्रति मेरी कुछ लापरवाही उसे खटकती रही होगी। इस तरह उसे भूला-सा रहने

और कभी-कदास उसकी सुध लेने के बजाय यदि उसपर मेरी अकृपा रही होती, तो यह किसी कदर अच्छा होता।

इसके बाद उसकी बीमारीका दौरा शुरू हुआ और मेरा लम्बा जेल निवास। हम केवल जेल की मुलाकात के समय ही मिल पाते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे सैनिकों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया, और उसे स्वयं जेल जाने पर बड़ी खुशी हुई। हम एक-दूसरे के और भी निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मुलाकातें अनमोल होती गईं; हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक-दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं, क्योंकि हमारी मुलाकातों और थोड़ी देर के मिलन में हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनों बराबर एक-दूसरे में नई-नई बातें पाते रहते थे, हालांकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदों में भी लड़कपन की मात्रा रहती।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसके मुख पर मुग्धा कुमारी का भाव अभी तक वैसा ही बना हुआ था, प्रौढ़ताका कोई चिह्न न था। प्रथम दिन नववधू बनकर वह जैसी हमारे घर आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था; और हालांकि अपनी उम्र के मुताबिक मैं काफी योग्य, चपल और क्रियाशील था—और कुछ लोगों का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफतें मौजूद हैं—फिर भी मेरे चेहरे से मेरी अधिक उम्र मालूम पड़ती थी। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाकी थे वे पक गये थे; पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियां और आंखों के चारों तरफ काली झाईं पड़ गई थी। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियां मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गईं थीं। इन पिछले बरसों में मैं और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते, तो मैं यह जानकर हैरान हो जाता था कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहिनें-सी दिखाई देती थीं।

वैवाहिक-जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमें से कितने साल मैंने जेल की कोठरियों में, और कमला ने अस्पतालों और सेनेटोरियम में बिताये? और फिर इस समय भी मैं जेल की सजा भुगतता हुआ कुछ ही दिनों के लिए बाहर

आ गया था। और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए संघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में उसकी लापरवाही पर कुछ झुंझलाहट-सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योंकि राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने में अशक्त होने के कारण उसकी तेजस्वी आत्मा छटपटाती रहती थी। शरीर से समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह-से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को खा डाला।

सचमुच ही, इस समय, जबकि मुझे उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी ? अरे अभी-अभी तो हम दोनों ने एक-दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना शुरू किया है। हम दोनोंको एक-दूसरे पर कितना भरोसा था,हम दोनों को एक-साथ रहकर अभी कितना काम करना था!

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह के विचार उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभी तक जो-कुछ हो चुका था और जिससे कि मैं वाकिफ नहीं था, उसके बारे में उन्होंने बहुत-कुछ कहा उन्होंने वर्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का खया[illegible] दिमाग से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कार[illegible] मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब ठोस प्रश्नों का जवाब एकाएक दे सकता अपने लम्बे तजरुबे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख्तसिर-[illegible] जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। अच्[illegible] तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क जरूरी था, उसके बगैर रा[illegible] जाहिर करना सर्वथा बिलकुल किताबी और असलियत से दूर होता। साथ [illegible] गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग-कमेटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बा[illegible] पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय जाहि[illegible] करना, मुझे उनके प्रति अन्याय मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था उस[illegible] मेरे मन में बहुत सी आलोचना भरी हुई थी, लेकिन मैं कुछ निश्चित सूचन[illegible] देने के लिए तैयार न था। जेल से बाहर आने का कोई खयाल न होने के का[illegible] उस दिशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक खयाल यह भी था कि सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौके का मैं राजनीतिक बातों के लिए उपयोग करूं। हालांकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस खयाल का मुझपर बराबर असर होता रहा।

सिवा झूठी अफवाहों के खण्डन के मैं कोई भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टालता रहा। खानगी बातचीत में मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नहीं किया, लेकिन पुरानी घटनाओं की आलोचना काफी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया था, और मेरे बहुत-से निकट के साथी उसमें शरीक थे। जहांतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी, लेकिन वह एक अजीब खिचड़ी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मैं बिलकुल आजाद होता, तो भी एकाएक उसमें शरीक न होता। स्थानीय राजनैतिक झगड़ों ने भी मेरा कुछ समय लिया, क्योंकि कुछ दूसरी जगहों की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस कमेटियों के चुनाव के समय असाधारण रूप से विषैला प्रचार हुआ था। इनमें सिद्धान्त की कोई बात न थी, ये केवल व्यक्तियों के प्रश्न थे। मुझसे कहा गया कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगड़ों को निबटाने में मैं मदद करूं।

इन झगड़ों में पड़ने की मेरी जरा भी इच्छा न थी, न मेरे पास समय ही था। इसके होते हुए भी कुछ घटनाएं मेरे सामने आईं और उनसे मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कांग्रेस के चुनाव पर लोग-बाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठें। इनमें सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति वही थे, जो अनेक निजी कारणों से सत्याग्रह के समय कांग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के बन्द हो जाने के साथ इन निजी कारणों का महत्त्व घट गया, और ये लोग एकाएक मैदान में निकल आये और एक-दूसरे के खिलाफ भयंकर और अक्सर कमीना प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण बात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश में शिष्टता के साधारण नियमों तक को भुला दिया गया था। खासकर मुझे इस बात का बहुत ही रंज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी का इन स्थानीय चुनावों के खातिर दुरुपयोग किया गया।

व्यापक प्रश्नों में, कांग्रेस के असेम्बली के आगामी चुनाव में अपने उम्मेदवार

खड़े करके चुनाव लड़ने के निर्णय पर भी चर्चा हुई। नौजवान-दलों में बहुतों ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योंकि उनके खयाल में यह उसी पुराने वैधानिक और-समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था, लेकिन उन्होंने इसके बदले और कोई कारगर रास्ता नहीं सुझाया। यह एक अजीब-सी बात थी कि इनमें के कितने ही सिद्धान्तवादी विरोधी कांग्रेस के अलावा दूसरी संस्थाओं द्वारा चुनाव लड़ने के खिलाफ न थे। उनका मकसद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक संस्थाओं के लिए मैदान साफ छोड़ दिया जाय।

इन स्थानीय झगड़ों और तेजी से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेचों से मुझे नफरत हो गई। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नहीं बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मैं अपने को अजनबी-सा महसूस करने लगा। मैं सोचता था कि इन जैसे मामलों में जब मेरे भाग लेने का समय आयेगा तो ऐसे वातावरण में मैं क्या कर सकूंगा ?

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा, क्योंकि मेरा खयाल था कि मैं जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊंगा और मुमकिन है कि अपने दिल की बात जाहिर करने का फिर दूसरा मौका न मिले, इसलिए मेरे दिमाग में जो बातें घूम रही थीं उनकी भी कुछ-कुछ झलक उन्हें दे दी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक सन्तप्त और परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र में उसकी एक हलकी-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नहीं की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं ? मैंने जो-कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो-कुछ भी प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुःख पहुंचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तजार कर रहा था। समय-समय पर मुझसे यह कहा जाता कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली हैं। इस बीच डॉक्टरों से यह कह दिया गया कि वे सरकार को कमला की हालत की रोजाना सूचना देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

यह आम विश्वास था, यहांतक कि जो लोग साधारणतया सरकार के

विश्वास-पात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं उनका भी यह खयाल था, कि अगर दो बातों—एक तो अक्तूबर में बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन, और दूसरे नवम्बर में असेम्बली का चुनाव—होने वाला न होता तो मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कामों में बाधा डालूं, इसलिए सम्भवतः मैं तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊंगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊंगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी, और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने करीब-करीब काम में लग जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवां दिन था। पुलिस की मोटर आई। पुलिस अफसर मेरे पास पहुंचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से विदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार मां बाहें फैलाये हुए दौड़ी हुई आई। उसकी वह मुखमुद्रा एक अर्से तक रह-रहकर मेरी नजरों में घूमती रही।

६६

फिर जेल में

छाया निरंकुशगतिःस्वयमातपस्तु छायान्वितः शतश एव निजप्रसंगम् ।
दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख पीडानुवेधविधुरा तु सुखस्य वृत्तिः ॥[1]

राजतरंगिणी, ८—१९१३.

मैं फिर नैनी-जेल के अन्दर दाखिल हो गया । मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नई सजा की मियाद शुरू कर रहा हूं । कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर—मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था ! घड़ी में छूटना, घड़ी में पकड़ा जाना—यह आवा-जाई हृदय को झकझोर डालती है, और अपने-आपको बारम्बार नये परिवर्त्तनों के अनुकूल कर लेना बड़ा कठिन काम है । मैं आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी अंधेरी कोठरी में रखा जायगा, जिसमें मैं अपनी पिछली लम्बी यात्रा काट चुका था । वहां थोड़े-से फूल के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू में लगाया था, और एक बरामदा भी था । लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक में, एक नजरबन्द को जिस पर न तो कोई मुकदमा चलाया गया था, न कोई सजा दी गई थी, रख दिया गया था । यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क में आऊं, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रखा गया, वह और भी अधिक अन्दर की तरफ था, और उसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं थी ।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नहीं थी; मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था । मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार हुआ

---

[1] छाया स्वतन्त्र गति है, फिर भी प्रकाश—
छाया-मिला विविध रूप दिखे स्वतः ही ।
है दुःख तो पृथक् ही सुख से परन्तु,
पीड़ा अनन्त दुख की सुख को सताती ।

है, वह मेरे दुबारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हर रोज डाक्टर का एक मुख्तसर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुंचता था। डाक्टर टेलीफोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेलतक पहुंचा देती। डाक्टरों और जेल के कर्मचारियों में सीधा सम्बन्ध मुनासिब नहीं समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित और कभी-कभी अनियमित रूप से मिलती रही और उसके बाद रोक दी गई, हालांकि कमला की हालत दिन-पर-दिन गिरती ही चली जा रही थी।

इन बुरे समाचारों तथा समाचारों की ऐसी प्रतीक्षा के कारण दिन काटे नहीं कटता था और रात और भी भीषण मालूम पड़ती थी। समय की गति मानों बिलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो; हरेक घंटा बोझ और आतंक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्र उद्विग्नता मैंने कभी महसूस नहीं की थी। उस समय मैं समझता था कि दो महीने के अन्दर, बम्बई कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही, मैं शायद छूट जाऊंगा, लेकिन वे दो महीने भी अनन्तकाल के समान मालूम पड़ रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने बाद एक पुलिस अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोड़ी-सी देर के लिए मुलाकात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ्ते में दो बार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन बाट देखी— कोई मुझे लेने नहीं आया; इसी तरह पांचवा, छठा और सातवां दिन बीता; मैं इन्तजार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुंचा कि उसकी हालत फिर चिन्ता-जनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह में दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मजाक था!

सितम्बर का महीना भी किसी तरह खत्म हुआ। मेरी जिन्दगी में वे तीस दिन सबसे लम्बे और सबसे अधिक यन्त्रणापूर्ण थे।

कई व्यक्तियों के द्वारा मुझे एक सूचना दी गई कि अगर मैं अपनी मियाद के बाकी दिनों के लिए राजनीति में भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—दे दूं तो मुझे कमलाकी सेवा-शुश्रूषा करने के लिए छोड़ा जा सकेगा।

राजनीति उस समय मेरे विचारों से दूर की चीज थी, और बाहर जाकर ग्यारह दिनों में मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गई थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओं, अपने कार्यों, अपने साथियों और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्व के मूल पर मर्माघात, और उन सब चीजों को, जो मेरी दृष्टि में पवित्र थीं, अपने हाथों कुचल डालना। मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है, और मेरे उसके पास रहने से उसके जीवन की थोड़ी सम्भावना हो सकती है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहंकार क्या कमला के जीवन से बड़ी चीज थी ? मेरे लिए यह एक भयंकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप में, वह मेरे सामने उपस्थित नहीं हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भी आश्वासन को खुद कमला नापसन्द करेगी, और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे आघात लगता और उसकी तबीयत को नुकसान भी पहुंचता।

अक्तूबर के शुरू में मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले जाया गया। वह करीब-करीब गाफिल-सी पड़ी हुई थी; बुखार बहुत तेज था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे विदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुसकराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नजदीक जाकर झुका, उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की यह क्या बात है ? ऐसा हरगिज न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगों ने इन दिनों निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य में थोड़ा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभी से हम उसके कुछ अच्छा होने की बाट देख रहे थे, पर इसके बजाय उसकी हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छः हफ्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ दिखने लगी थी। इसलिए अब इन्तजार करते रहना बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी ही हालत में भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी, उसके एक दिन पहले मुझे उससे

मिलने के लिए ले जाया गया । मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी, और भेंट होगी भी या नहीं ? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी; और इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ पूछिये नहीं ।

करीब तीन हफ्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज्यादा नजदीक रह सकूं । भुवाली रास्ते में ही पड़ता था—पुलिस की गारद के साथ मैंने कुछ घण्टे वहीं बिताये । मुझे कमला की हालत में थोड़ा सुधार देखकर बड़ी प्रसन्ता हुई और उससे विदा लेकर मैं आनन्दपूर्वक, अपनी अलमोड़ा तक की यात्रा पूरी कर सका । सच तो यह है कि कमला तक पहुंचने के पहले ही पहाड़ों ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था ।

मुझे वापस इन पहाड़ों में पहुंच जाने की बड़ी खुशी थी । ज्यों-ज्यों हमारी मोटर चक्करदार सड़क पर तेजी से आगे बढ़ती जा रही थी, सवेरे की ठंडी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौन्दर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था । हम ऊपर-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, घाटियां गहरी होती जा रही थीं, पर्वत की चोटियां बादलों में छिपती जा रही थीं । हरियाली भी रंग बदलती गई, और चारों ओर की पहाड़ियां देवदार से घिरी दिखाई देने लगीं । कभी सड़क के किसी मोड़ को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत श्रेणियों का एक नया विस्तार और कहीं घाटियों की गहराई में एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती । उस दृश्य को देखते मेरा जी नहीं अघाता था; उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी । मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे उस समय जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नहीं होगा, उसीकी मैं अपने मन में कल्पना करके आनन्द पा लूंगा ।

पहाड़ियों की तलहटी में छोटी-छोटी झोंपड़ियों के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारों ओर छोटे-छोटे खेत । जहां कहीं थोड़ा-भी ढाल मिल गया, वहीं कड़ी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये । दूर से वे झरोखों या छज्जों के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानों बड़ी-बड़ी सीढ़ियां हों जो घाटी के नीचे से पहाड़ी की चोटी तक सीधी कतारबन्द चली गई हों । इस बिखरी हुई बस्ती के लिए प्रकृति के भंडार से थोड़ा-सा अन्न निकलवाने के लिए कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है ! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी जरूरतें पूरी हो पाती हैं । इन छज्जेनुमा खेतों के कारण पहा-

ड़ियों में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने वनस्पति-शून्य या जंगलों से ढकी ढालू जमीन बड़ी विचित्र लगती थी।

दिन में यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊंचा चढ़ता जाता है, उसकी बढ़ती हुई गरमी से पहाड़ों में एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते हैं। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौड़े डग भरती हुई विश्व को अंक में भर लेती है, और उन्छृङ्खल प्रकृति को पूरी आजादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूंढ़ता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठंडे और गम्भीर बन जाते हैं। चांदनी या तारों की रोशनी में पर्वतों की श्रेणियां रहस्यमयी, भयंकर, विराट, और फिर भी आकारहीन-सी मालूम पड़ती हैं, और घाटियों के बीच से वायु की कराहट सुनाई पड़ती है। गरीब मुसाफिर एकान्त मार्ग पर चलता हुआ कांप उठता है, और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियों की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मखौल-सा उड़ाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी पवन का निश्वासें भरना बन्द हो जाता है, दूसरी कोई ध्वनि भी नहीं होती, और चारों ओर पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी प्रचंडता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ के तार धीमे-धीमे गुनगुनाते रहते हैं और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगत हैं। पर्वत-श्रेणियां गम्भीरता से नीचे की ओर देखती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा हो। पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानों में रात कभी इतनी सुनसान नहीं होती; प्राणों का कम्पन वहां तक भी सुनाई देता रहता है, और कई प्रकार के प्राणियों और जन्तुओं की आवाजें रात के सन्नाटे को चीरती हैं।

लेकिन जब हम मोटर में बैठे अलमोड़ा जा रहे थे, रात अपने ठंड और निस्तब्धता के सन्देश सहित हमसे अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आ गया था। सड़क के मोड़ को पार करने और बादलों के एक-साथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया। कितना अचरज और हर्ष हुआ मुझे वह देखकर। बीच में आ जानेवाले जंगल से लदे पहाड़ों के बहुत ऊपर बड़

दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियां चमक रही थीं। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये, भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये सन्तरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन में एक शान्ति-सी छा जाती थी, और उनकी सनातनता के आगे जनपदों और नगरों के हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, विकार तथा प्रपंच अत्यन्त तुच्छ-से लगते थे।

अलमोड़ा का छोटा-सा जेल एक ढालू जमीन पर बना हुआ है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। इसमें ५१ × १७ फीट का एक बड़ा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बड़ा ऊंचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकड़े टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियां और एक दरवाजा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सींखचों से जड़े हुए बड़े-छोटे मोखे थे; क्योंकि असल में किसी पर पल्ले तो थे नहीं। इस प्रकार ताजी हवा की तो कमी हो ही नहीं सकती थी। जब सरदी बढ़ गई तो कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया गया। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून के जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकान्त वैभव का भोग करता था। लेकिन मैं बिल्कुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, कई खिड़कियों में से प्रवेश करता हुआ मुझसे भेंट करने आ जाता, और सारी जगह पर नमी फैला देता।

यहां रोज शाम को साढ़े चार बजे आखीरी भोजन, अर्थात् एक प्रकार के जलपान के बाद, पांच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सवेरे ७ बजे मेरा सींखचेवाला दरवाजा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-दीवारी से एक-डेढ़ मील दूर एक पहाड़ की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। ये बादल चित्र-विचित्र रूप धारण करते रहते, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। कभी उन्हें देखकर मन में तरह-तरह के जानवरों के रूप की कल्पना उठती, और कभी-कभी वे मिलकर एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेड़ों के बीच से आने वाली

वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की-सी आवाज लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ हमारी ओर बढ़ता नजर आता। दिखने में तो बड़ा ठोस और घना लगता, पर हमारे नजदीक आते-आते वह बिल्कुल कुहरा बन जाता और हमें लपेट लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज्यादा पसन्द थी, हालांकि छोटी कोठरी से इसमें अकेलापन ज्यादा महसूस होता था। बाहर पानी बरसता तो मैं उसके अन्दर ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती गई, उसकी मनहूसियत बढ़ती गई और जब सर्दी बहुत ही बढ़ गई, तब ताजी हवा और खुले में रहने का मेरा प्रेम शिथिल पड़ गया। मुझे उस समय बड़ी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ पड़ा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ से लिपटे हुए जेल की दीवारों के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढ़ाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई खराब खबर मिल जाती तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता लेकिन पहाड़ की हवा मुझे स्वस्थ तथा शान्त कर देती और मैं फिर पहले की तरह गहरी नींद सोने लगता। कभी-कभी मैं नींद के झोंकों से झूमता हुआ सोचता था कि यह नींद भी कैसी आश्चर्य और रहस्य की चीज है। मनुष्य उससे जगे ही क्यों? मैं बिल्कुल ही न जागूं तो?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-कांग्रेस खत्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहल-पहल भी खत्म हो गई थी। मुझे आशा हो चली थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊंगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलगफ्फार खां की गिरफ्तारी और सजा और श्री सुभास बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा मनुष्यता से रहित और अविचारपूर्ण थी; और जिस मनुष्य पर यह लगाई गई थी उसके लिए उसके असंख्य देशवासियों के दिल में प्रेम और आदर था, वह अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अपने पिता के दर्शनों के लिए दौड़कर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार की यही मनोवृत्ति है,

तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नहीं थी। बाद के सरकारी वक्तव्यों से यह बात साफ तौर पर जाहिर भी हो गई थी।

अलमोड़ा जेल में एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मैं करीब-करीब तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। भारत-मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ्ते में एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाजत दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज्यादा नजदीक होते, अगर वह यह कहते कि महीने में एक या दो बार मुझे यह इजाजत मिलती है। पिछले साढ़े तीन महीनों में जबसे मैं अलमोड़ा आया, मैं पांच बार उससे मिला। मैं यह शिकायत के तौर पर नहीं कह रहा हूं, क्योंकि मेरा खयाल है कि इस मामले में सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधायें दे रक्खी हैं वे असाधारण हैं। मैं इसके लिए उसका आभारी हूं। उसके साथ ये मुखतसिर-सी मुलाकातें मेरे लिए और मैं समझता हूं उसके लिए भी, बहुत कीमती साबित हुई हैं। मुलाकात के दिन, डॉक्टरों ने भी किसी हद तक अपना पहरा ढीला कर दिया, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बातें करने की इजाजत दे दी। इन मुलाकातों के फलस्वरूप हम एक-दूसरे के और भी नजदीक आते गये, और उससे विदा होते समय एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल विदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मैं बड़े वेदना-भरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब यह विदा शायद आखीरी विदा हो।

मेरी मां बीमारी से उठ न पाई थीं, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थीं। वहां उनकी हालत में सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के करीब, एक दिन सवेरे ही तार के जरिये दिल को चोट पहुंचाने वाली ऐसी खबर मिली जिसकी कल्पना भी नहीं थी। उन्हें लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल में भेजे जाने की सम्भावना थी; ताकि जरूरत पड़ने पर मैं उन्हें देख सकूं। लेकिन उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहां नहीं भेजा गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फरवरी को दे दिया है, और वायुमण्डल में वसन्त के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियां फिर दिखाई और सुनाई देने लगी हैं और जमीन में जगह-जगह छोटे-छोटे

कल्ले टूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरज-भरी नजर डाल रहे हैं। सदाबहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के-से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं, और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झांक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जाते हैं, मैं उन्हें गिनता रहता हूं और अपनी अगली भुवाली यात्रा की बात सोचता रहता हूं। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत में कहां तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार निराशा, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारों का मूल्य ठीक-ठीक न आंका जा सके। शायद विचारोंकी स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन जरूरी है; परन्तु उनकी अधिकता दिमाग पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने आत्म-निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन, तेज कॉफी या कुचले के सत् की तरह आत्म-चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरंजन के लिए, मैं प्रोफेसर मैकडूगल[1] के निर्धारित किये हुए माप-दण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूं, तो मुझे ताज्जुब होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी प्रवृत्ति की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेजी के साथ !

---

[1] इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध आधुनिक मानसशास्त्री। — अनु०

६७

कुछ ताजी घटनाएं

बीते निशा उदय निश्चय सुप्रभात—
आते नहीं दिवस हन्त! पुन: गये जो।
आशा भरी नयन मध्य अपार किन्तु—
बीतीं बसन्त-स्मृतियां दिल को दुखातीं।[1]

मुझे जो अखबार दिये जाते थे, उनसे मुझे बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई मालूम हुई। उसकी राजनीति और व्यक्तियों में स्वभावतया मेरी दिलचस्पी थी। बीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कसकर बांध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व करीब-करीब उसमें लीन हो गया था। और पदाधिकार और जवाबदेही के बन्धनों से भी कहीं ज्यादा मजबूत कुछ ऐसे अदृश्य बन्धन थे, जिन्होंने मुझे इस महान् संस्था तथा अपने हजारों पुराने साथी कार्यकर्ताओं के साथ बांध दिया था। लेकिन इतने पर भी इस अधिवेशन की कार्रवाई से मेरे मन में स्फूर्ति का सञ्चार नहीं हुआ। कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयों के होते हुए भी मुझे सारा अधिवेशन नीरस-सा मालूम हुआ। जिन विषयों में मेरी दिलचस्पी थी, उनपर शायद ही विचार हुआ हो। मैं इसी चक्कर में था कि अगर मैं वहां मौजूद होता, तो मैंने क्या किया होता। निश्चिततौर पर मैं कुछ नहीं जानता था। मैं कह नहीं सकता था कि नई परिस्थितियों और अपने आसपास के वातावरण के सम्बन्ध में मेरा क्या रुख रहा होता। आखिर मैंने सोचा कि इस कठिन निर्णय के लिए मैं जेल में अपने दिमाग पर क्यों जोर दूं, जबकि उस वक्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था। समय आयेगा, जब मुझे आजकल की समस्याओं का मुकाबला करना पड़ेगा और अपना कार्य-पथ निश्चित करना होगा। परन्तु इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात

---

[1]चीनी कवि ली तई-पो के पद्य का भावानुवाद।

बात है क्योंकि जबतक मुझ पर कार्यभार आकर पड़ेगा तबतक परिस्थितियां बदल जांयगी।

अपने सुदूर तथा एकान्त पर्वतावास से मैं जो समझ सका, वह यह कि कांग्रेस की दो मुख्य विशेषताएं थीं—एक तो गांधीजी का सर्वव्यापी व्यक्तित्व और दूसरे पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे के नेतृत्व में किया गया साम्प्रदायिक पक्ष का बिलकुल नगण्य विरोध-प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते हैं, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नहीं हुआ कि किस तरह गांधीजी एक छोर से दूसरे छोर तक भारत के एकमात्र सर्वेसर्वा बने हुए हैं। सरकारी अफसर और कुछ दकियानूसी राजनीतिज्ञ अक्सर यह सोचने लगते हैं—वे अपनी आन्तरिक इच्छा को ही अपनी कल्पना का पूर्ण रूप देते हैं--कि अब राजनैतिक-क्षेत्र में गांधीयुग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण हो गया है। और जब गांधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान में आते हैं, तो ये लोग चकित रह जाते हैं और इस नवीन परिवर्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते हैं। कांग्रेस और देश पर गांधीजी की जो प्रभुता है, वह उनके उन विचारों के कारण, जो कि आमतौर पर स्वीकार किये जा चुके हैं, उतनी नहीं है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण है। व्यक्तित्व तो सभी जगह अपना काफी प्रभाव रखता है; लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह और भी अधिक प्रभाव डालता है।

कांग्रेस से उनका अलग होना इस अधिवेशन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महान् अध्याय समाप्त हो गया। लेकिन असल में इसका महत्त्व कुछ अधिक नहीं था क्योंकि वह चाहें तो भी अपने व्यापक नेतृत्व-पद से पीछा नहीं छुड़ा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नहीं थी। कांग्रेस आज भी करीब-करीब पहले की तरह गांधीजी का दृष्टिकोण प्रकट करती है, और यदि वह उनके निर्दिष्ट पथ से भटक भी जाय तो भी, गांधीजी अनजाने में ही, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेंगे। इस बोझ और जिम्मेदारी से वह अपने को जुदा कर नहीं सकते। देश की बाह्य स्थिति देखते हुए, उनका व्यक्तित्व स्वयं ही दूसरों

का ध्यान बरबस अपने ओर खींचता है, और इस तरह उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वह इस वक्त, कांग्रेस से शायद इसलिए अलग हो गये हैं, कि उनके कारण कांग्रेस किसी कठिनाई में न पड़े। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगड़ा छिड़ जाना होगा। वह इसे कांग्रेस का प्रश्न नहीं बनाना चाहते।

मुझे खुशी हुई कि कांग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए विधान पंचायत का विचार स्वीकार कर लिया। मेरे खयाल में इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं, और निश्चय ही हमें कभी-न-कभी ऐसी पंचायत बनानी पड़ेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश-सरकार की अनुमति के बिना ऐसा हो नहीं सकेगा; हां, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो बात दूसरी है। यह भी साफ है कि वर्तमान परिस्थितियों में सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नहीं है। देश में जबतक इतनी ताकत पैदा नहीं हो जाती कि वह इस तरह का कोई कदम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ़ सके तबतक ऐसी पंचायत बन नहीं सकती। इसका लाजिमी नतीजा यही है कि तबतक राजनैतिक समस्या भी नहीं सुलझ सकेगी। कांग्रेस के कुछ नेताओं ने विधान-पंचायत का विचार तो स्वीकार कर लिया है, पर इसकी उग्रता कम करके उसे करीब-करीब पुराने ढंग के एक बड़े सर्वदल-सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कार्रवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादातर अपने आपही चुने जाकर सम्मिलित हो जायंगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। विधान-पंचायत की असली मन्शा तो यह है कि इसका चुनाव विस्तृत रूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताकत और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार की पंचायत ही असली प्रश्नों पर विचार करने में सफल हो सकेगी, और साम्प्रदायिक या अन्य झगड़ों से, जिनमें हम लोग इतनी बार उलझ जाते हैं, बरी रहेगी।

इस विचार की शिमला और लन्दन में जो प्रतिक्रिया हुई वह बड़ी मजेदार थी। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह जाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमें कोई एतराज न होगा। उसकी सहमति में सरपरस्ती का भाव था। उसका खयाल था कि यह पंचायत पुराने ढंग के सर्वदल-सम्मेलन-जैसी होगी और अवश्य ही असफल होगी और परिणाम स्वरूप उसके हाथ मजबूत होंगे। लेकिन मालूम

होता है बाद में उसने इस विचार की खतरनाक सम्भावनाएं महसूस कीं और तब से वह इसका जोरों से विरोध करने लगी।

बम्बई-कांग्रेस के बाद फौरन ही असेम्बली का चुनाव आया। कांग्रेस के चुनाव-सम्बन्धी कार्यक्रम में मुझे कोई उत्साह न था। फिर भी मेरी उसमें बड़ी दिलचस्पी थी और मैं मनाता था कि कांग्रेस के उम्मीदवार जीतें,या अधिक सही शब्दों में कहूं तो मैं उनके विरोधियों की हार मनाता था। इन विरोधियों में पदलोभियों, सम्प्रदायवादियों, विश्वासघातियों तथा सरकार की दमननीति का जोरों से समर्थन करनेवाले लोगों की अजीब-सी खिचड़ी थी। इस बात में कोई शक नहीं था कि इनमें से अधिकांश लोग हरा दिये जायंगे, लेकिन बदकिस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमें से बहुतों ने साम्प्रदायिक सस्थाओं की व्यापक भुजाओं में शरण ली। लेकिन इतने पर भी कांग्रेस को बड़ी मार्के की सफलता मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवांछनीय लोगों में से बहुत-से खदेड़ दिये गये।

मुझे खासकर,नामधारी कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख, बहुत ही खेदजनक लगा। साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति उसका तीव्र विरोध समझ में आ सकता था, लेकिन अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए उसने कट्टर साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ,यहां तक कि सनातनियों के साथ,भी सहयोग किया, जिनसे बढ़कर आज भारत में,राजनैतिक और सामाजिक,दोनों ही दृष्टि से दूसरा प्रतिगामी दल नहीं है। इसके साथ ही, उसने अन्य अनेक प्रसिद्ध राजनैतिक प्रतिगामियों से सहयोग किया। केवल बंगाल में, कारण विशेष से एक जबरदस्त कांग्रेस दल ने उनका समर्थन किया। लेकिन अन्यत्र उसमें अधिकतर सब तरह से कांग्रेस के विरोधी लोग थे। सच तो यह है कि कांग्रेस के सबसे जबरदस्त विरोधी यही लोग थे। जमींदारों, नरम दलवालों, और सरकारी अफसरों आदि सब तरह की विरोधी शक्तियों के मुकाबिले में भी कांग्रेसी उम्मीदवारों ने काफी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति कांग्रेस का रुख विचित्र तो था लेकिन इस परिस्थिति में इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी भूतकालिक तटस्थता की नीति का अथवा कमजोर नीति का अनिवार्य परिणाम था। यदि शुरू से ही दृढ़ नीति अख्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की

चिन्ता किये उसका पालन किया जाता तो यह अधिक शानदार और सही होता। लेकिन कांग्रेस ऐसा करने में अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख्तियार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नहीं। साम्प्रदायिक निर्णय एक बेहूदी चीज थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योंकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आजादी हासिल करना नामुमकिन था। यह इसलिए नहीं कि इसने मुसलमानों को बहुत अधिक भाग दे दिया था। यह मुमकिन था कि यदि वे किसी दूसरी तरह जो मांगते, सब कुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को आपस में एक-दूसरे से अलग, अनगिनती हिस्सों में बांट दिया था। इसका हेतु एक को दूसरे के आगे रखकर, किसीके बल को बढ़ने न देना था, जिससे विदेशी---अंग्रेजी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार का आश्रय अनिवार्य कर दिया था।

खासकर बंगाल में, जहां कि छोटे-से योरोपीयन समुदाय को भारी प्रधानता दी गई थी, हिन्दुओं के साथ बहुत ही अन्याय किया गया था। ऐसे निर्णय या फैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, (उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गई है) का तीव्र विरोध होना जरूरी था। और चाहे वह हमपर लाद भले ही दिया जाय, या राजनैतिक कारणों से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगड़े की जड़ ही। मेरा अपना खयाल है कि जो यह अत्यन्त बुरा है वही इसका गुण है, कारण कि यह ऐसी हालत में किसी व्यवस्था के स्थापित करने का आधार नहीं बन सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू-महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक संगठनों ने सम्भवतः ही इस जबरदस्ती लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना, उसके समर्थकों की तरह, ब्रिटिश सरकार की विचारधारा की स्वीकृति पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर लेगई और अब भी आगे लिये जा रही है जो सरकार को अवश्य ही प्रिय होगी। साम्प्रदायिक निर्णय रूपी भूत से परेशान होकर ये लोग, इस आशा में कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय हमारे पक्ष में बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयों के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे हैं। हिन्दू-महासभा इस दिशा में सबसे आगे बढ़ गई है। उसको यह नहीं सूझता कि यह सिर्फ अपमान-जनक ही नहीं है बल्कि इससे निर्णय का बदला जाना उलटे और

अधिक कठिन हो जाता है, क्योंकि इससे मुसलमान खीझते हैं और वे और अधिक दूर खिचते चले जाते हैं। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियों को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है, कारण बीच में लम्बी खाई है और स्वार्थों का संघर्ष बहुत साफ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थों के संकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम, दोनों सम्प्रदायवादियों को खुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह सिर्फ मुट्ठीभर हिन्दू सम्प्रदायवादियों को खुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट देगी—मुसलमानों को नाखुश करेगी ?

हिन्दू राजनैतिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए हैं और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए बहुत जोर देते हैं, यही बात अवश्य उनके विरुद्ध जायगी। नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतों के कारण (और नगण्य के सिवा वे हो क्या सकती हैं) उनके राजनैतिक विरोध में कुछ अन्तर नहीं पड़ जायगा; लेकिन ऐसी रियायतें मुसलमानों के रुख में एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देंगी।

असेम्बली के चुनावों ने दोनों अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक संस्थाओं, हिन्दू-महासभा और मुस्लिम-कान्फ्रेंस के हिमायतियों की अत्यन्त स्पष्ट रूप से कलई खोलदी। इसके उम्मीदवार बड़े-बड़े जमींदार या साहूकार थे। महासभा ने हाल ही में कर्ज-बिल का जोरों में विरोध करके भी साहूकार-वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी। हिन्दू-महासभा हिन्दू-समाज के सिरमौर इन नाना प्रकार के मुट्ठीभर लोगों से बनी है। इन्हीं वर्गों के एक भाग तथा कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशेवाले लोगों से लिबरल-दल भी बना है। हिन्दुओं पर उनका कोई खास प्रभाव नहीं है, क्योंकि निम्न-मध्यम-वर्ग में राजनैतिक चेतना आ गई है। औद्योगिक नेता भी लोगों से अलग ही रहते हैं क्योंकि नये-नये धन्धों और अर्द्धमाण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओं में परस्पर कुछ विरोध रहता है। उद्योग-धन्धे वाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी खतरे में पड़ने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियों और सरकार दोनों ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते हैं। वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलों पर कोई खास ध्यान नहीं देते। औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है।

मुसलमानों के निम्न-मध्यम-वर्ग में यह जाग्रति अभी होनी है, और औद्योगिक

दृष्टि से भी वे लोग पिछड़े हुए हैं। इस तरह हम देखते हैं कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, जागीरदार, और अवकाश-प्राप्त सरकारी अफसर लोग न सिर्फ उनकी साम्प्रदायिक संस्थाओं पर ही कब्जा किये हुए हैं बल्कि सारी जाति पर भारी प्रभाव डाल रहे हैं। सरकारी उपाधि-धारियों, भूतपूर्व मिनिस्टरों और बड़े-बड़े जमींदारों के मजमे का नाम ही मुस्लिम कान्फ्रेंस है। और फिर भी मेरा खयाल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता में, शायद सामाजिक विषयों में कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू-जनता की अपेक्षा अधिक सुप्त शक्ति है। और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बड़ी तेजी से समाजवाद की ओर बढ़ जायगी। इस समय तो मुस्लिम शिक्षित-वर्ग बौद्धिक और शरीरिक दोनों ही तरह से चेतना-हीन सा हो गया है और उसमें कोई स्फूर्ति नहीं रह गई है। अपने पुराने रहनुमाओं के खिलाफ आवाज उठाने का वह साहस कर नहीं सकता।

राजनैतिक दृष्टि से, सबसे आगे बढ़ी हुई महान् संस्था—कांग्रेस—के नेतागण, वर्तमान अवस्था में जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक फूंक-फूंककर कदम रखते हैं। वे जनता से सहयोग की तो मांग करते हैं, लेकिन उसकी राय जानने या दुःख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हों। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होंने विभिन्न नरम गैर-कांग्रेसियों को अपनी ओर खींचने की गरज से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल जैसे कामों तक के सम्बन्ध में उन्होंने अपना रुख बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियों को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में आश्वासन दिये गये थे। बिना लाग-लपेट के उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कहीं अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने में उससे कहीं अधिक मदद मिली होती। अब तो कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम अपना लिया है, इसलिए असेम्बली में किसी विषय पर मतगणना के समय कुछ नगण्य वोट पा जाने की आशा से, उसमें राजनैतिक और सामाजिक दकियानूसों के लिए और भी ज्यादा गुंजाइश हो जायगी, और कांग्रेस के नेताओं और जनता के बीच खाई और भी चौड़ी हो जायगी। असेम्बली में जोरदार भाषणों की झड़ी लगाई जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ बरसों से जब कांग्रेस कौंसिलों का बहिष्कार कर रही थी, तब सरकारी वक्ता अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलें जनता की असली प्रतिनिधि हैं और लोकमत प्रकट करती हैं। लेकिन यह दिल्लगी की बात है, कि अब जब कि असेम्बली में अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी कांग्रेस को चुनाव में मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओं की संख्या बहुत ही थोड़ी, लगभग तीस करोड़ जनसंख्या में, केवल तीस लाख ही है। जिन करोड़ों लोगों को वोट देने का हक नहीं मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ तौर पर अंग्रेजी सरकार के हामी हैं। इसका जवाब साफ है। हरेक बालिग व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगों का खयाल क्या है?

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारों पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारों ओर से जो भिन्न-भिन्न आलोचनाएं हुईं, उनमें अक्सर इस बात पर जोर दिया गया था कि इससे भारतवासियों के प्रति 'अविश्वास' और 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने का यह तरीका मुझे बड़ा विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितों में कोई महत्त्वपूर्ण विरोध नहीं है? सवाल यह है कि इनमें से किसकी बात रहे? स्वतन्त्रता क्या हम केवल साम्राज्यवादी नीति को कायम रखने के लिए ही चाहते हैं? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योंकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश-नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेंगे और जैसा वह चाहती है ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करेंगे, तबतक 'संरक्षणों' का उपयोग नहीं किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने हाथों में शासन की बागडोर लेने का यह सब शोरगुल क्यों मचाया जा रहा है?

यह साफ जाहिर है कि ओटावा-पैक्ट आर्थिक दृष्टि से इंगलैण्ड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए बहुत फायदेमन्द नहीं हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ ब्रिटिश

---

[1]सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड ०ओ जहाज

व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुंचा है, यह लाभ भारत के राजनीतिज्ञों और व्यवसायियों की राय के अनुसार, भारत के विस्तृत हितों का बलिदान करके पहुंचा है। उपनिवेशों, खासकर कनाडा और आस्ट्रेलिया में, स्थिति इससे उल्टी है।[१] उन्होंने ब्रिटेन के साथ बड़ा कड़ा व्यापारिक सौदा किया और उसे हानि पहुंचाकर अधिकांश लाभ खुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि और साथ ही अन्य देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दों से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[२] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल—लिबरल दल—जिसके हाथों में जलदी ही शासन-सूत्र

कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से फायदेमन्द रहा है।"

[१] जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' पत्र ने लिखा था कि "ओटावा-परिषद् का समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जबकि वह बाकी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटाये बिना अन्तर्साम्राज्य के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट-ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात सन् १९३१ के २४,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर सन् १९३३ में २४,९०,००,००० पौण्ड हुआ था, किन्तु निर्यात १७,०६,००,००० पौण्ड से घटकर १६,३५,००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बीच साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०·९ फी सदी घटा था, जबकि साम्राज्य से हमारा आयात सिर्फ ३२·९ फी सदी ही घटा था। विदेशों को हमारे निर्यात में कमी कभी इतनी अधिक नहीं हुई, हां, इन देशों से हमारे आयात में कमी कहीं ज्यादा थी।"

[२] मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उस की राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी गलती मानते जा रहे हैं।" (१९ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मैनचैस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।)

आ जाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचन-बद्ध है ।[1] आस्ट्रेलिया में ओटावा-पैक्ट के अर्थों की खींचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपड़ों और सूत पर चुंगी बढ़ा दी गई, जिसपर लंकाशायर के वस्त्र व्यवसायियों की ओर से सख्त नाराजगी जाहिर की गई और इसे ओटावा-पैक्ट को भंग करना कहकर उसकी निन्दा की गई। इसीके विरोध और बदले के रूप में लंकाशायर में आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया । आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी खास असर नहीं हुआ, बल्कि इसके खिलाफ वहां भी कड़ा रुख अख्तियार किया गया ।[2]

यह स्पष्ट है कि आर्थिक संघर्ष का कारण कनाडा और आस्ट्रेलिया के लोगों में ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नहीं है; हां, आयर्लैण्डवालों में यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है । संघर्ष स्वार्थों के आपस में टकराने के कारण होता है, और हिन्दुस्तान ˝ 'संरक्षण' का उद्देश्य, स्वार्थों में टक्कर होने पर ब्रिटिश हितों को कायम रख है । 'संरक्षण' के क्या नतीजे होंगे इसका एक हलका-सा इशारा

---

[1] कना के वर्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बैनेट तक व्यापारिक मामलों टिश स ार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं । वह 'नई योजनाओं' की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तब्दीली हो रही है। श्री लिट-वीनोव, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के भयंकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं । इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविलसर्विस वालों को इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस किस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालों का साथ देना छोड़ दें, नहीं तो वे खुद ही उन भयंकर सिद्धान्तों के समर्थक बन जांयगे । (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किंग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त कर ली है, और शासन-सूत्र अब उसी के हाथ में आ गये हैं ।)

[2] मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लंकाशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लंकाशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए । अविचल दृढ़ता के साथ हमें लंकाशायर को जवाब देना होगा । (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मनचस्टर गार्जियन' से उद्धृत ।)

हाल में की गई भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से मिलता है। इस सन्धि की ब्रिटिश-उद्योगपतियों को खबर थी लेकिन यह भारतीय व्यवसायियों और उद्योग-पतियों से छिपाकर की गई थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने यह सन्धि कायम रक्खी। ऐसे संरक्षणों की तो बड़ी जबर्दस्त जरूरत कनाडा,आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफरीका में है, जिससे इन उपनिवेशों के लोग न केवल व्यापारिक मामले में ही, वरन् साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छिन्नता के महत्त्वपूर्ण विषयों में भी मनमाना रास्ता अख्तियार न कर लें।[1]

कहा गया है कि साम्राज्य के मानी एक बड़ा 'कर्ज' है; और संरक्षणों की योजना इसलिए की गई है कि साम्राज्यरूपी लेनदार अपने दयनीय कर्जदार को अपने काबू में रख सके तथा अपने विशेष स्वार्थों और शक्तियों को बनाये रखे। एक विचित्र दलील,जो अक्सर सरकार की तरफ से दुहराई जाती है, यह है कि गांधीजी और कांग्रेस ने ऐसे संरक्षणों के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि सन् १९३१ के दिल्ली के गांधी-इर्विन समझौते में भारत के हित में 'संरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी संरक्षण फिर भी छोटी बातें हैं।[2] इससे कहीं अधिक महत्त्व की बात है, वे बीसियों सुविधाएं, जिनका

---

[1]दक्षिण अफरीका-संघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरोव ने कहा था कि संघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम योजना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफरीका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है कि गृह-युद्ध छिड़ जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फरवरी १९३५ को भेजा हुआ रायटर का संवाद।) प्रधान सचिव जनरल हर्टजोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को जाहिर करता है।

[2]लन्दन का 'इकनोमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भविष्य के लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथ्वी के अनेक हिस्सों

उद्देश हिन्दुस्तानियों का शोषण करने में पूर्वकाल तथा वर्तमानकाल में जिन राजनैतिक और आर्थिक उपायों ने सहायता दी है,उन्हें स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधाएं और 'संरक्षण' बने हुए हैं, तबतक किसी भी दिशा में वास्तविक उन्नति हो सकना असम्भव है, और किसी किस्म के वैध प्रयत्न द्वारा परिवर्तन के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ी गई है। ऐसा हरेक प्रयत्न संरक्षणों की नंगी दीवारों के साथ टकरायेगा और दिन-दिन यह साफ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नहीं चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासनयोजना और भीमकाय संघ एक वाहियात चीज है; और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत कुछ जवाबदेही भी (लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियों को ही) सौंप दी गई है, लेकिन कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने की शक्ति तथा साधन नहीं दिये गये हैं। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इंग्लैण्ड अपने हाथों में रक्खे हुए है। निरंकुशता के नंगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नहीं है। हरेक आदमी जानता है इस समय की सबसे बड़ी जरूरत यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तिवाला हो जिससे वह तेजी से बदलती रहनेवाली अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और साथ ही उन निर्णयों को अमल में लाने की ताकत भी होनी चाहिए। इतने पर भी, इसमें शक है कि पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशों में चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु-संचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने में सफल हो सकेगा। लेकिन यह प्रश्न हमारे यहां नहीं उठता, क्योंकि हमारी गति हथकड़ियों और बेड़ियों से जान-बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाजे बन्द करके ताले लगा दिये गये हैं। हमें ऐसी मोटर दे दी गई है, जिसमें सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफी लगे हुए हैं, लेकिन उसे चलानेवाला एंजिन नदारद है। मार्शल-लॉ (फौजी कानून) ही जिनका आधार है, ऐसे लोगों का बनाया हुआ यह शासन-विधान है।

में बसनेवाले मूल निवासियों को हम महंगी दर पर लंकाशायर का माल खरीदने के लिए मजबूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।

शस्त्रबल में विश्वास रखनेवाले के लिए मार्शल-ला (फौजी कानून) ही उसका असली सहारा है, उसके लिए उसके छोड़ने का अर्थ है अपना सर्वनाश।

इंग्लैण्ड के इस प्रस्तावित तोहफे से हिन्दुस्तान को किस हदतक आजादी मिलेगी, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए दलों तक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियों को भी इसकी आलोचना करनी पड़ी है, लेकिन यह आलोचना उन्होंने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढंग के साथ। दूसरे लोगों ने उग्र रूप से विरोध किया है।

इन सुधारों ने नरम दलवालों के लिए अपने इस अटल विश्वास पर, कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अंग्रेजों की छत्रछाया में रखकर बेहद बुद्धिमानी की है, डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होंने तीखी आलोचना की, लेकिन वस्तु-स्थिति की अवहेलना करके और आडम्बरयुक्त शब्दों और लुभावने हाव-भावों के साथ उन्होंने इसी बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि रिपोर्ट और बिल दोनों में 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज्य) शब्द गायब हैं। इस सम्बन्ध में उनकी तरफ से बड़ा बावैला मचा था। अब सर सैमुअल होर ने इस विषय में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, इसलिए बहुत हदतक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ में वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव देश, जहां हम कभी पहुंच ही नहीं सकेंगे। हां, उसके सपने देख सकते हैं और उसकी अनेक सुन्दरताओं का ओजमय वर्णन कर सकते हैं। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन में पैदा हुए सन्देहों से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट् की शरण ली है। वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल कानूनदां हैं, इसलिए उन्होंने एक नया ही वैधानिक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। वह कहते हैं—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करे या न करे, इन दोनों के ऊपर सम्राट् हैं जो भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकांक्षा किया करते हैं।"[1] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो

---

[1]लखनऊ की, २९ जनवरी १९३५ की एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

हमें शासन-विधान, कानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों की झंझटों में पड़ने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि नरम दलवालों ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है। उनमें से अधिकांश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे उस बिन-मांगे तोहफे की बनिस्बत जो कि हिन्दुस्तान के सर पर जबरदस्ती लादा जा रहा है मौजूदा हालतों को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते हैं। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हें आगे बढ़कर कुछ करने से रोकते हैं, और यह माना जा सकता है कि वे उक्त बातों पर बराबर जोर देते रहेंगे। एक पुरानी कहावत को, वर्तमान समय के अनुसार बदल कर वे अपना आदर्श-वाक्य बना सकते हैं और वह है—"अगर एक बार कामयाबी न मिले, तो फिर चिल्लाओ !"[1]

लिबरल नेताओं और कितने ही दूसरे लोगों ने, जिनमें कुछ कांग्रेसवाले भी शामिल हैं, इंग्लैण्ड में मजदूर-दल की विजय और मजदूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बांध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नहीं है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलों के सहयोग से आगे बढ़ने का प्रयत्न क्यों न करे, अथवा मजदूर-सरकार के आगमन से लाभ क्यों न उठावे। लेकिन इंग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्तन पर ही बिलकुल निर्भर रहना न तो शोभास्पद है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई सामान्य व्यवहार-बुद्धि की बात भी नहीं है। ब्रिटिश मजदूर दल से हम इतनी ज्यादा आशा क्यों रक्खें ? हम अभी दो बार मजदूर दल की सरकार देख चुके हैं, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफे मिले हैं, उन्हें हम भूल नहीं सकते। श्री रेमजे मेकडानल्ड भले ही मजदूर-दल से अलग हो गये हों, लेकिन उनके पुराने साथियों में कोई ज्यादा परिवर्तन हुआ दिखाई नहीं देता। सन् १९३० के अक्तूबर में साउथपोर्ट में होने-वाली मजदूर-दल-कांफ्रेंस में श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"यह बहुत-ही जरूरी है कि हिन्दुस्तान में पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए

---

[1] "Try again" (ट्राई अगेन) अर्थात् फिर प्रयत्न करो, यह अंग्रेजी की कहावत है, किन्तु लेखक का व्यंग्य है कि इनके लिए ट्राईके बदले क्राई करके "Cry again" अर्थात् "फिर चिल्लाओ" की कहावत अधिक मौजूं है।—अनु०

भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त अमल में लाया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए बड़ा जोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से आपने भाग्य-निर्णय की नीति भारत में उपयोग में लाने का आश्वासन देने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ तौर से बता चुके हैं कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब समुदायों से सलाह करेंगे। इस बात से सबको सन्तोष हो जाना चाहिये।" लेकिन यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मजदूर-सरकार और राष्ट्रीय-सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस, ह्वाइट-पेपर, ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलों में इंग्लैंड के अनुदार और मजदूर-दल में बहुत कम फर्क है। यह सच है कि सर्व साधारण मजदूर-वर्ग कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओं पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मजदूर-दल के उग्र विचारवाले शक्तिशाली हो जांय, क्योंकि आजकल परिस्थितियां बड़ी तेजी से बदल रही हैं, लेकिन क्या दूसरी जगहों में नीति-परिवर्तन की प्रतीक्षा में हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियां अपना प्रवाह बदल दें और रुक जाँय?

हमारे देश के लिबरल दल वाले ब्रिटिश मजदूर-दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे हैं, उसका एक अजाब पहलू है। अगर, किसी संयोग से, यह मजदूर-दल उग्र विचार का बन जाय और इंग्लैंड में अपने समाजवादी कार्यक्रम को अमल में लावे, तो हिन्दुस्तान में और यहां के लिबरल और दूसरे नरम दलों पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? इनमें के अधिकांश लोग सामाजिक दृष्टि से कट्टर-पन्थी हैं। वे मजदूर-दल के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को पसन्द न करेंगे और भारत में उसके प्रचलित किये जाने से डरेंगे। यहां तक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगों की ब्रिटिश-भक्ति खत्म ही हो जाय। उस दशा में यह मुमकिन हो सकता है कि मुझ-जैसे व्यक्ति, जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी हैं, अपने विचार बदल दें और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगें। बेशक हममें से किसी को भी ब्रिटिश जनता के

साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति नहीं है; यह उनका साम्राज्यवाद है, जिसके हम विरोधी हैं, साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होंने धता बताया नहीं कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालों का क्या होगा ? शायद वे नई व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा संकेत समझकर, स्वीकार कर लेंगे !

गोलमेज-परिषद् और संघ-शासन के विधान के प्रस्ताव का एक खास नतीजा यह है कि देशी राजे एक दम आगे ले आये गये हैं। कट्टर अनुदारपन्थियों की उनके तथा उनकी स्वतन्त्रता के प्रति शुभ-चिन्तना ने उनमें एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नहीं दिया गया था। पहले उनकी मजाल नहीं थी कि वे ब्रिटिश रेजिडेन्ट के संकेत तक को ना मंजूरकर दें, और बहुतेरे देशी नरेशों के प्रति भारत-सरकार का व्यवहार भी साफ ही अवहेलनापूर्ण था। उनके भीतरी मामलों में दस्तन्दाजी होती रहती थी, जो अक्सर न्याय-संगत ही ठहराई जाती थी। आज भी अधिकांश रियासतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 'उधार' दिये हुए अंग्रेज अफसरों द्वारा शासित हो रही हैं। लेकिन इधर ऐसा मालूम होता है कि श्री चर्चिल और लॉर्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घबरा-सा दिया है, और इसलिए वह उनके निर्णयों में हस्तक्षेप करने में फूंक-फूंककर कदम रखने लगी है। देशी नरेश भा अब जरा कहीं अधिक अकड़ के साथ बातचीत करने लगे हैं।

मैंने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों की बाहरी घटनाओं को समझने की कोशिश की है, लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूं कि ये सब बातें कोई असली महत्त्व की नहीं हैं। और इन सबकी तह में रहनेवाली भारत की स्थिति का खयाल मुझे परेशान कर रहा है। असलियत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सब जगह घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्-भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बड़ी संख्या में लोग जेलों में पड़े हैं और अपनी जवानी खो रहे हैं तथा उमर बिता रहे हैं।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी, और

[1] होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बड़ी धारा-सभा में जेलों और स्पेशल केम्पों में बन्द नजरबन्दों की संख्या इस प्रकार बतलाई थी--

हजारों दूसरे लोगों में कटुता बढ़ती जा रही है और नंगी पाशविकता के सामने जलालत और बेबसी की कुत्सित भावना ने उन्हें घेर लिया है। साधारण समय में भी अनेक संस्थाएं गैरकानूनी करार दे दी गई हैं और 'संकटकाल के अधिकार' (इमर्जेन्सी पावर्स) और 'शान्त रक्षा-विधान' (ट्रैंक्विलिटी एक्ट्स) सरकारी शस्त्रागार में करीब-करीब स्थायी रूप से शामिल कर दिये गये हैं। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जा रहे हैं। बहुत-सी पुस्तकें और पत्रिकाएं या तो जब्त की जा रही हैं या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनका प्रवेश रोका जा रहा है,और 'भयंकर' साहित्य रखने के अपराध में लम्बी-लम्बी सजाएं दी जाती हैं। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देने अथवा रूस की उस वक्त वर्तमान सामाजिक या सांस्कृतिक स्थिति की प्रशंसा करने पर सेंसर नाराज होता है। 'मार्डन रिव्यू'को बंगाल सरकार की ओर से महज इसी बात पर चेतावनी दे दी गई है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था। वह लेख उन्होंने स्वयं रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमन्त्री इस प्रकार पार्लमेण्ट में फरमाते हैं कि—"उस लेख में, भारत में ब्रिटिश राज्य की नियामतों का बिगड़ा रूप

बंगाल में १५०० और १६०० के बीच,देवली में ५००। कुल २०००और २१०० के बीच। यह संख्या तो नजरबन्दों की है, जिनपर न तो मुकदमा चलाया गया, न सजा दी गई। इसमें दूसरे राजनैतिक कैदी शामिल नहीं हैं, जिन लोगों को सजा दी गई है। आमतौर पर उनकी सजा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के (१७ दिसम्बर १९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाईकोर्ट ने बिना लाइसेन्स हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कड़ी कैद की सजा दी थी! अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कार-तूस निकले थे।

इन्हीं दिनों (१९३५ के पिछले पखवाड़े में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले कई कानूनों की मियाद और बढ़ा दी गई। इनमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस कानून को ठुकरा दिया था; लेकिन बाद में वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे जायज कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही कानून बनाये गये हैं।

दिखाया गया था," इसलिए उसके खिलाफ कार्रवाई की गई थी।[1] इन नियामतों के निर्णायक सेन्सर महोदय होते हैं, और हम उनके विरुद्ध मत नहीं रख सकते या जाहिर नहीं कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ फ्रेण्ड्स् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गई थी। केवल सांस्कृतिक विषयों में रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान बल्कि समस्त संसार में सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब बेचारे असहाय जन साधारण का तो कहना ही क्या? सरकार ने आतंक का जो वातावरण बना रखा है, वह तो दमन के इन प्रत्यक्ष उदाहरणों से भी कहीं ज्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-संचालन ऐसी परिस्थिति में असम्भव है;[2] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओं का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातों की शुरुआत करने के लिए यह एक बड़ा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक अक्लमन्द आदमी जानता है कि संसार इस समय एक विचार-क्रान्ति के बीच में है, और मौजूदा परिस्थितियों के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से महसूस होनेवाला घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बड़े महत्त्व के परिवर्तन हो रहे हैं, और भविष्य का रूप चाहे कुछ भी हो, परन्तु वह कोई बहुत दूर की चीज नहीं है, कि उसके विषय में केवल दार्शनिक, समाजशास्त्री तथा अर्थवेत्ता लोग निष्पक्ष मन से शास्त्रीय चर्चा करते रहें। वह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध है, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियां काम कर रही हैं उन्हें वह

---

[1] १२ नवम्बर १९३४

[2] ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान में प्रेस-एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३० के बाद ५१४ समाचार पत्रों पर जमानत और जब्ती आदि लगाई गई थी। इनमें से २२८ पत्र बन्द कर देने पड़े, क्योंकि वे और अधिक जमानत की रकम का इन्तजाम न कर सके; बाकी १६६ पत्रों ने जमानत दे दी, जो कुल मिलाकर २,५२,८५१ रुपया थी!

समझे और अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करे। पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये संसार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाब ढूंढ़ने के लिए यह जरूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या ? निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफसोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओं से आश्चर्यजनक रूप से अनजान हैं, या उनके प्रति उदासीन हैं। सम्भवतः यह अज्ञान अधिकांश सरकारी अफसरों तक बढ़ा हुआ है, क्योंकि सिविल-सर्विस वाले बड़े मजे और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से संकड़े दायरे में रहना पसन्द करते हैं। केवल सर्वोच्च अधिकारियों को ही इन समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। ब्रिटिश-सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओं का ध्यान रखना पड़ता है और उन्हींके अनुसार अपनी नीति तय करनी पड़ती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ गवारा करते हैं कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-संघ की बढ़ती हुई ताकत, या सिंगकियांग में होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी दावपेंच अथवा मध्य-एशिया या अफगानिस्तान या फारस की घटनाओं का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है ? मध्य-एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पड़ता है, इसलिए ब्रिटिश-सरकार की साधारण तथा रक्षा-सम्बन्धी नीति में उसका प्रमुख भाग रहता है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्व के हैं वे आर्थिक परिवर्तन, जो आज सारे संसार में हो रहे हैं। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का जमाना गुजर चुका है और उस काल की समाज-व्यवस्था आज उपयोग में नहीं आ सकती। वकीलों की तरह पिछली नजीरें देने का तरीका, हिन्दुस्तान में बहुत अधिक प्रचलित है, परन्तु अब वे पिछली नजीरें नहीं रही हैं, इसलिए यह तरीका कुछ काम का नहीं रहा। बैलगाड़ी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाड़ी नहीं कहा जा सकता। इसको बेकार समझकर छोड़ देना होगा, और उखाड़ फेंकना होगा। रूस के अलावा और जगह भी 'नवीन योजनाओं' और महान् परिवर्तनों की चर्चाएं हो रही हैं। पूंजीवादी प्रणाली को सब प्रकार से कायम रखने और मजबूत करने की प्रबल आन्तरिक इच्छा के बावजूद भी प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट ने अत्यन्त

साहस-भरी ऐसी योजनाएं प्रचलित की हैं, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उन्होंने बहुत बड़े-बड़े खास अधिकार पाये हुए वर्ग को उखाड़ फेंकने और पद-दलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खींच निकालने की उसकी महत्वाकांक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलों को स्वीकार करने में भी वह नहीं हिचकिचाता। इंग्लैण्ड में श्री लॉयड अपनी नई योजना लेकर सामने आये हैं। हम भारत में भी कई नई योजनाएं चाहते हैं। यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने लायक है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने लायक है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक खतरनाक बेवकूफी है।

हमें बहुत-सी समस्याओं का सामना करना है और हमें बहादुरी के साथ ऐसा करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को जिन्दा रहने का कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था में अधिक सुधार करने में असमर्थ है? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार प्रगति का आश्वासन देती है? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हदतक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते में स्थापित स्वार्थवाले बाधक हों तो क्या यह धर्म होगा कि जन-समूह को दुखी तथा दरिद्र रखकर उनको कायम रखने का प्रयत्न किया जाय? अवश्य ही हमारा उद्देश्य स्थापित स्वार्थों को आघात पहुंचाना नहीं है, बल्कि उनको दूसरे लोगों को हानि पहुंचाने से रोकना है। इन स्थापित स्वार्थों से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध में मतभेद रक्खें, लेकिन समझौते की सामाजिक उपयोगिता में बहुत कम सन्देह होगा। साफ है कि यह समझौता इस प्रकार नहीं हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ कायम करके पहले स्थापित स्वार्थ को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और जरूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवजा दिया जा सकता है, क्योंकि झगड़े से ज्यादा नुकसान होने की सम्भावना है। परन्तु दुर्भाग्य से सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित स्वार्थवाले वर्ग इस प्रकार से समझौता मंजूर नहीं करते। जो वर्ग-समाज के प्रमुख अंग नहीं

रह जाते, वे काफी विवेकशून्य हो जाते हैं। वे सब कुछ रखने के लिए सब कुछ खोने की बाजी लगा देते हैं और इस तरह अपना खात्मा कर लेते हैं।

जब्ती आदि के बारे में बहुत-सी 'ऊलजलूल चर्चा' (कांग्रेस कार्य-समिति के एक प्रस्ताव के अनुसार) हो रही है। लेकिन जब्ती—बलपूर्वक और सतत जब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज मजदूरों के गाढ़े पसीने की कमाई जब्त की जा रही है; और इस हद तक लगान और मालगुजारी बढ़ाकर कि किसान उसे अदा करने में असमर्थ हो जांय, उनकी जोत जब्त कर ली जाती है। पहले जमाने में व्यक्तियों का एक समुदाय भूमि पर जबर्दस्ती कब्जा कर लेता था और इस प्रकार बड़ी-बड़ी जमींदारियां बन गईं; भू-स्वामी किसान उखाड़ फेंके गये। सारांश यह कि जब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज विविध उपाय काम में लाता है, जो जब्ती के ही रूप हैं जैसे भारी टैक्स, उत्तराधिकार कर, कर्ज से छुटकारा दिलाने का कानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही में हमने राष्ट्रों को अपरिमित कर्ज की अदायगी से इन्कार करते देखा है; केवल रूस का सोवियट संघ ही नहीं; वरन् अग्रणी पूंजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये हैं। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश-सरकार का है, जिसने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कर्ज अदा करने से इन्कार कर दिया है—खुद अंग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रखा गया एक भयंकर उदाहरण। लेकिन इन सब जब्तियों से और कर्जों को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ कुछ हदतक ही मदद मिलती है, आधारभूत रोगों से छुटकारा नहीं मिलता। नये निर्माण के लिए तो जड़ पर कुठाराघात करना होगा।

वर्त्तमान व्यवस्था बदलने के उपाय पर विचार करते समय हमें भौतिक और नैतिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का भी विचार करना होगा। बहुत संकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नहीं सकता—हमें दूरदर्शी बनना होगा। हमें देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और नैतिक दृष्टियों से, मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि में कहां तक सहायता मिलेगी। इसके साथ ही हमें इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि यदि वर्तमान व्यवस्था न बदली गई तो हमें कितना भयंकर नुकसान उठाना पड़ता है, उसे चालू रखने में किस प्रकार हमारे हताश तथा विकृत जीवन पर असह्य भार पड़ता है तथा भुखमरी,

गरीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन सहन करना पड़ता है। हमेशा आनेवाली बाढ़ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मनुष्यों को विपत्ति में डालकर विनाश की ओर बहाये लिये जा रही है। हम इस प्रलयकारी बाढ़ को रोक नहीं सकते या हममें से कुछ लोग बालटी से पानी उलीच-उलीचकर इन प्राणियों को बचा नहीं सकते। बांध बनवाने होंगे, नहरें निकालनी होंगी, जल की नाशक शक्ति को बदलकर मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह साफ है कि समाजवाद जो महान् परिवर्तन लाना चाहता है, वह कुछ कानूनों को सहसा पास कर लेने मात्र से नहीं हो सकता। लेकिन और आगे बढ़ने और इमारत की नींव रखने के लिए कानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ में होना जरूरी है। अगर समाजवादी समाज का निर्माण करना है, तब भी तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोड़ा जा सकता है, और न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह खास-खास रुकावटों को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसी को वञ्चित करना नहीं, वरन् सम्पन्न करना है, वर्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते से उन सब रुकावटों और स्वार्थों को, जो समाज को पीछे रखना चाहते हैं, जरूर ही हटाना होगा। और जा रास्ता हम अख्तियार कर रहे हैं, वह सिर्फ व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि अथवा सैद्धान्तिक न्याय के प्रश्न पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि इस बात पर निर्भर है कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक है, उन्नति की तरफ ले जा सकने योग्य है, और उससे अधिक-से-अधिक जन-समाज का कल्याण होगा।

स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नहीं है। हममें से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकतापूर्ण अपील से काम नहीं चलेगा। सच्ची घटनाओं वा दलीलों और ब्यौरेवार आलोचना के साथ विवेक और युक्तिपूर्ण आग्रह भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस तरह का साहित्य बहुतायत से मौजूद है, लेकिन भारत में उसका भयंकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबों का यहां आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशी पुस्तकों का पढ़ना ही काफी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद की रचना होनी है, तो वह भारतीय परिस्थितियों के आधार पर ही होगी और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना

ग्रावश्यक है। हमें इसके लिए ऐसे विशेषज्ञों की जरूरत है, जो गहरे ग्रध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सकें। बदकिस्मती से हमारे विशेषज्ञ ग्रधिकांश में सरकारी नौकरियों में या ग्रर्द्ध-सरकारी यूनिवर्सिटियों में फंसे हुए हैं, ग्रौर इस दशा में ग्रागे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते।

समाज की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक भूमिका ही काफी नहीं है; दूसरी शक्तियां भी आवश्यक हैं। लेकिन मैं यह जरूर महसूस करता हूं कि बिना उस भूमिका के हम किसी हालत में भी विषय का मर्म नहीं समझ सकते, ग्रौर न कोई जोरदार ग्रान्दोलन ही पैदा कर सकते हैं। इस वक्त तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे ग्रधिक महत्त्व की समस्या है, ग्रौर शायद भविष्य में भी ऐसे ही रहे। किन्तु ग्रौद्योगिक समस्या भी कम महत्व की नहीं है ग्रौर वह बढ़ती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र ? ग्रवश्य ही, मुख्यत: तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा लेकिन उद्योग की ग्रोर भी ग्रागे बढ़ा जा सकता है, ग्रौर मैं समझता हूं, ग्रवश्य बढ़ना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धों के मालिक लोग ग्रपने विचारों में ग्राश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए हैं; वे ग्राधुनिक दुनिया के 'ग्रप-टू-डेट' पूंजीपति भी नहीं हैं। साधारण लोग इतने गरीब हैं कि वे उनको पक्का ग्राहक नहीं मानते, ग्रौर मजदूरी की बढ़ती ग्रौर काम के घण्टों की कमी करने की किसी भी मांग का वे जबर्दस्त विरोध करते हैं। हाल में कपड़े की मिलों में काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इसपर ग्रहमदाबाद के मिल-मालिकों ने मजदूरों की—फटकरिये मजदूरों तक की मजदूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टों की कमी का ग्रर्थ हुग्रा बेचारे मजदूर की ग्रामदनी की कमी ग्रौर उसका जीवन का ग्रौर भी नीचा रहन-सहन। लेकिन ग्रौद्योगिक एकीकरण[1] (रेशन-लाइजेशन), मजदूर की उचित मजदूरी बढ़ाये बिना ही, उसपर काम का भार ग्रौर उसकी थकान बढ़ाता हुग्रा, तेजी से बढ़ता जा रहा है। सब उद्योगवादियों का दृष्टिकोण उन्नीसवीं सदी के शुरू जमाने का-सा है। जब मौका ग्राता है, वे अत्यधिक लाभ उठाते हैं, ग्रौर मजदूर वैसे-का-वैसा बना रहता है। लेकिन

---

[1] उत्पादकों, मजदूरों ग्रादि के सहयोग से उद्योग की वह व्यवस्था जिसमें उत्पत्ति और विक्रय का ग्रनुपात कायम रहता है। —ग्रनु०

अगर मन्दी आ जाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते हैं कि मजदूरी घटाये बिना काम नहीं चल सकता। उनको सरकार की तो मदद है ही, हमारे मध्यम-श्रेणी के राजनीतिज्ञों की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हींकी ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद में सूती मिलों के मजदूरों की हालत बम्बई या दूसरी जगह की बनिस्बत कहीं अच्छी है। आमतौर पर सभी सूती मिल मजदूरों की हालत बंगाल के जूट मिलों और कोयले की खानों के मजदूरों से अच्छी है। छोटे-छोटे, असंगठित उद्योग-धन्धों के मजदूरों की स्थिति औद्योगिक मजदूरों में सबसे नीची है। कपड़े और जूट के करोड़पति मालिकों के गगनचुम्बी प्रासादों और विलासी-जीवन और वैभव की अगर अर्ध-नंगे मजदूरों के रहने की काल-कोठरियों से तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते हैं और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसको टाल देते हैं।

हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग की हालत बहुत खराब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से किसान-समुदाय की हालत से कहीं अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ जरूर है, वह यह कि वह खुली हवा में रहता है और गन्दी बस्तियों के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गई है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डल वाले गांव को भी, गांधीजी के शब्दों में, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमें सहयोग से या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नहीं होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन खुद ही इसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत संघर्ष का विषय बन गया है और हरएक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खड़ा है? किस तरह वह अपनी जिन्दगी बिता रहा है, यही बड़े भारी अचम्भे की बात है। देखा गया है कि सन् १९२८-२९ में पंजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०-३१ में वह गिरकर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गई। पंजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल के किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक खुशहाल माने जाते हैं। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी जिलों (गोरखपुर वगैरा) में, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनों में मजदूरी दो आने रोज थी। इस दरिद्रावस्था के प्रति मनुष्यों की दयाभावना, मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नों द्वारा इस दयनीय हालत

को उन्नत करने की बातें करना बेचारे किसान और उसकी बेबसी का मजाक उड़ाना है।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते हैं? ऐसी गिरी हुई हालत से जन-समूह को उठाना कठिन तो जरूर है; लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा। लेकिन असली दिक्कत तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ से आती है, जो परिवर्तन के खिलाफ है, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता में रहते हुए परिवर्तन का हो सकना अनहोना-सा मालूम होता है। अगले वर्षों में भारत क्या रुख अख्तियार करेगा? समाजवाद और फासिज्म इस युग की प्रधान वृत्तियां मालूम होती हैं, और मध्यममार्ग तथा ढिलमिल-यकीन समुदाय गायब होते जा रहे हैं। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि "हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फासिज्म ही है"। निकट भविष्य के लिहाज से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियों में फासिस्ट भावना साफ जाहिर है—खासकर बंगाल में और किसी हद तक दूसरे प्रान्तों में भी, और कांग्रेस में भी उसकी झलक आने लगी है। फासिज्म का सम्बन्ध उग्र-रूप की हिंसा से होनें के कारण कांग्रेस के अहिंसा-व्रती बड़े-बूढ़े नेता स्वभावतः ही उससे डरते हैं। लेकिन फासिज्म का, कार्पोरेट स्टेट का, यह कथित तात्त्विक आधार, कि व्यक्तिगत सम्पत्ति कायम रहे और स्थापित स्वार्थों का लोप न होकर राज्य का उन पर नियन्त्रण रहे,शायद उन्हें पसन्द आ जायगा। शुरू में ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढंग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीका बना भी रहे और नया भी मालूम हो। लड्डू खा भी लो और उसे हाथ में लिए भी रखो,ये दोनों बातें एकसाथ मुमकिन भी हैं या नहीं,यह बात दूसरी है।

फासिज्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम-श्रेणी के नवयुवकों से। वस्तुतः इस समय हिन्दुस्तान में जो क्रान्तिकारी हैं वह मध्यम-श्रेणी के ही हैं, मजदूर या किसान-वर्ग के उतने नहीं; हालांकि कल-कारखानों के मजदूर-वर्ग में इसकी सम्भावना अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्यम-श्रेणी फासिस्ट विचारों के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जब तक विदेशी सरकार बनी हुई है, यूरप के ढंग का फासिज्म यहां नहीं चल सकेगा। भारतीय फासिज्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य-वादिता से वह अपने को मिला न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी

गी। यदि ब्रिटिश-सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फासिज्म बड़ी तेजी से बढ़ेगा, ोंकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थों से इसे सहायता अवश्य लेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के जल्दी उठ जाने की सम्भावना नहीं है, और इस च सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्यूनिस्ट विचारों का रों से प्रचार हो रहा है। भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी संस्था) ़कानूनी करार दे दी गई है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ गाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखनेवाले और बढ़े-चढ़े प्रोग्रामवाले ज़दूर-संघों तक को शामिल कर लिया जाता है।

फासिज्म और साम्यवाद, इन दोनों में से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद ी ओर है। इस पुस्तक के पढ़ने से मालूम हो जायगा कि मैं साम्यवादी होने से हुत दूर हूं। मेरे संस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और ानववाद[1] की उदार-परम्परा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं ससे बिलकुल बचकर निकल नहीं सकता। यह मध्यमवर्गीय संस्कार मेरे साथ गे रहते हैं और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्र मुझसे चिढ़े रहते । कट्टरता, कार्ल मार्क्स, के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य मझना, जिसपर शंका न की जा सके, सैनिक अन्धानुकरण और अपने मत के ़रोधियों के खिलाफ जिहाद करना, आदि जो आज के साम्यवाद के प्रधान क्षण-से बन गये हैं, मुझे पसन्द नहीं हैं।[2]

---

[1] **मानववाद** (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें अधिक दैवी अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानव हित को अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है, अर्थात् इस मत के अनुसार मनुष्य-प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए। —अनु०

[2] रूस में बहुत कुछ जो हुआ है, विशेषरीति से साधारण समय में हिंसा का जो अत्यधिक व्यवहार हुआ है, वह मुझे नापसन्द है।

फिर भी साम्यवादी विचारों की तरफ मेरी प्रवृत्ति अधिकाधिक होती जा रही है।

मूल्यवाद (Theory of Value) या दूसरी किन्हीं बातों में मार्क्स का विवेचन गलत हो सकता है, मैं उसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नहीं हूं। फिर भी मैं समझता हूं कि समाज-विज्ञान में उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष में इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्तमान घटनाओं का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् में होनेवाले परिवर्तनों का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखकों की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यमवर्ग में होनेवाली क्रान्तिकारी भावनाओं की जाग्रति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरी प्रवृत्तियों की उपेक्षा की अथवा उनका महत्त्व आंका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमें कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमें अपने समय के समाज-संगठन को समझने में सहायता कर सकता है और काम करने और बाधाओं से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन यह कार्य-नीति स्थायी अथवा अपरिवर्तनशील नहीं; बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाना होता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि "लड़ाई की किसी अमुक क्षण की वास्तविक परिस्थिति क्या है उस पर बारीकी से और चौकसी से विचार किये बिना, युक्त के साधनों की योग्यता के बारे में 'हां' या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लंघन करना है।" उसने आगे कहा है—"दुनिया में कोई भी पूर्ण नहीं है, परिस्थितियों से हमें शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की अखंडता की भावना जगाता है। राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अंधेरे में टटोलने की चीज नहीं रह जाती। जिन आदर्शों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके परिश्रम और प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को

सार्थक और सफल बनाते हैं। वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अंग है जो मनुष्य-जाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ़ रही है, और 'इतिहास के साथ कदम-ब-कदम चलने' की उसमें बुद्धि है।

शायद अधिकांश कम्यूनिस्ट इन सब बातों को नहीं समझते। शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस पूर्ण अखंडता को पूरी तरह समझता था, और इसके परिणामस्वरूप उसके प्रयत्न इतने कारगर हुए। फिर भी कुछ हद तक, हरेक कम्यूनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातों को जानता है।

बहुत-से कम्यूनिस्टों के साथ सब्र से पेश आ सकना बहुत मुश्किल है; उन्होंने दूसरों को चिढ़ा देने का अजीब ढंग अख्तियार कर लिया है। लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी हैं, और रूस के सोवियट-संघ के बाहर, उन्हें अनगिनती कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ता है। मैंने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है। करोड़ों अभागों की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबतें उठाते हैं, लेकिन किसी क्रूर और सर्वशक्ति-सम्पन्न भाग्य में अन्ध-श्रद्धा रखकर नहीं। मर्दों की तरह वे मुसीबतों का सामना करते हैं, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने में एक करुण गौरव रहता है।

रूस के समाजवादी प्रयोगों की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तों पर कोई जाहिरा असर नहीं पड़ता। यह हो सकता है, हालांकि इसकी अधिक सम्भावना नहीं है, कि प्रतिकूल परिस्थितियों या राष्ट्र-शक्तियों का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगों को तहस-नहस कर डाले। लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्व फिर भी बना ही रहेगा। वहां अधिकतर जो-कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी, मैं यह समझता हूं कि वह संसार के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आशा का सन्देश देता है। मुझे रूस का पूरा ज्ञान नहीं है, और न मैं अपने-आपको उसके कार्यों का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूं। मुझे अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण अपने पीछे कहीं ऐसी भयंकर लीक न छोड़ जाय, जिससे उनका पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाय। लेकिन सबसे बड़ी बात तो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओं के पक्ष में कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलों से शिक्षा ग्रहण करने में नहीं हिचकते। वे अपना कदम पीछे ले सकते हैं, और फिर नये सिरे से

निर्माण शुरू कर सकते हैं। अपना आदर्श वे हमेशा अपने सामने रखते हैं। कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ—द्वारा दूसरे देशों में चलाई गई उनकी प्रवृत्तियां नितान्त असफल रही हैं, और अब तो वे घटते-घटते लगभग लोप सी हो गई हैं।

हिन्दुस्तान में साम्यवाद और समाजवाद तो अभी दूर की बात है, बशर्तेकि बाहर की घटनाएं ही उसे कदम आगे बढ़ाने को विवश न कर दें। हमें अपने यहां कम्यूनिज्म का सामना नहीं करना है,बल्कि उससे बढ़कर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्ट से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार में है । पुरुषार्थी लोग निकम्मी बातों,साजिशों और हथकण्डों में यहां अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे हैं। उनमें विरले ही ऐसे होंगे जो दुनिया को ऊंचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न में दिलचस्पी रखते हों। लेकिन् शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कांग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज्यादा दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न बुर्जुआ-जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओं के लिए जो उपाय यह सोचती है, वे भी निम्न बुर्जुआई ढंग के-से ही हैं। मगर इस ढंग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नहीं मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम-वर्ग की प्रतिनिधि है, क्योंकि इस समय इसी की आवाज बुलन्द है और यही सबसे अधिक क्रांतिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताकतवर नहीं है, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनों ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमजोर लेकिन बढ़ती हुई—दो शक्तियों से दबाई जा रही है। इस समय उसकी हस्ती खतरे में है; भविष्य में उसका क्या होगा,यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश,राष्ट्र की आजादी, को हासिल नहीं कर लेता, तबतक वह उन सुरक्षित वर्गों की ओर जा नहीं सकती। लेकिन उसके आजादी प्राप्त करने में सफल होने से पहले, मुमकिन है कि,दूसरी शक्तियां जार पकड़ लें और उसे अपनी ओर खींचें या धीरे-धीरे उसकी जगह ले लें। लेकिन, सम्भव यही मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बहुत-कुछ अंशों में प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक कांग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा खयाल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ

उदाहरणों के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आमतौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमें हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैया में डालने के सिवा, जिससे निकल सकना मुश्किल होगा, और कहीं नहीं ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस में मिल जाना चाहिए और सबको 'संयुक्त विरोध' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी काव्यमयी भावुकता के साथ इसका जोरों से प्रचार करती हैं। वह कवियित्री हैं, इसलिए प्रम और एकता के महत्त्व पर जोर देने का उन्हें अधिकार है। इसमें शक नहीं कि 'संयुक्त विरोध' हमेशा ही वांछनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह विरोध हो। इस वाक्य की छानबीन की जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गों के चोटी के व्यक्तियों में पारस्परिक सन्धि या समझौता। ऐसे समझौते का लाजिमी नतीजा यह होगा कि अत्यन्त शंकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथ-प्रदर्शन करेंगे। जैसा कि सबको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, इसलिए नतीजा होगा 'संयुक्त स्थिरता' अर्थात् सब हलचलों का रुक जाना; "संयुक्त विरोध' के बजाय 'संयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवकूफी होगी कि हम लोग दूसरों के साथ सहयोग या समझौता न करेंगे। जीवन और राजनीति दोनों ही इतने गूढ़ हैं कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेकिन-जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "बिना समझौता किये या मार्ग से हटे आगे बढ़ना मानसिक छिछोर-पन है, और क्रान्तिकारी कार्य-पद्धति नहीं है।" समझौते लाजिमी हैं, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत ज्यादा परेशान होने की जरूरत नहीं है। हम समझौता करें या उससे इन्कार कर दें, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओं को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुएं उनका स्थान कभी न लेने पावें। हम अगर सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ़ हैं तो अस्थायी समझौते कुछ नुकसान नहीं पहुंचा सकते। लेकिन खतरा यही है कि कहीं हम अपन कमजोर भाइयों की अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तों और ध्येयों से पीछे न हट जांय। अप्रसन्न करने की अपेक्षा गुमराह करना कहीं अधिक हानिकारक है।

मैं सामयिक घटनाओं के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूं और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने

की कोशिश करता हूं। आम तौर पर यह खयाल किया जाता है कि काम करने की पुकार होने पर म तमाशबीन नहीं बना रह सकता। उलटे मुझपर यह दोषा-रोपण किया गया है कि बिना काफी उकसाये गये ही बिना बिचारे मैं आगे धंस पड़ता हूं। मैं अब क्या करूंगा, और अपने देशबन्धुओं को क्या करने की सलाह दूंगा, यह सब निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामों में लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने से रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूं तो सचमुच मैं कुछ नहीं जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूं। जब मैं काम कर नहीं सकता, तब परेशान क्यों होऊं? कुछ बहुत हद तक तो जरूर ही परेशान होता हूं, लेकिन इसमें निरुपाय हूं। कम-से-कम जबतक मैं जेल में हूं, तबतक तो, मैं तात्कालिक कर्म के सम्बन्ध में निर्णय करने के चक्कर में फंसने से बचने की कोशिश करता हूं।

जेल में रहते हुए सब हलचलों से दूर रहना पड़ता है। यहां मनुष्य को घटनाओं के वश होकर रहना पड़ता है, कार्यों का कर्त्ता बनकर नहीं; भविष्य में कोई घटना घटने की चिर प्रतीक्षा में रहना पड़ता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर लिख रहा हूं, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जोकि एक अरसे से मेरा घर बन गई है, इस सबसे क्या नाता? कैदियों की एक ही बात में खास बड़ी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख।

नैनी-जेल में और यहां अलमोड़ा में भी बहुत-से कैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे में पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका कि यह 'जुगली' क्या चीज है; लेकिन बाद को मुझे सूझ पड़ा कि वह जुबिली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफवाहों की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणों के कारण उनके लिए इस शब्द का एक ही अर्थ था—कुछ लोगों की जेल से मुक्ति या सजा में काफी कमी। इसलिए हरेक कैदी, और खास कर लम्बी सजावाले कैदी, आगे आनेवाली 'जुगली' के बारे में बड़े उत्सुक थे। उनके लिए शासन-विधान, पार्लमेण्ट के कानून और समाजवाद और कम्यूनिज्म की बनिस्बत यह 'जुगली' कहीं ज्यादा महत्त्व की चीज थी।

उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है; किन्तु यह हमारे हाथ की बात नहीं कि हम अपने कार्यों को सफल बना सकें। **तालमुद**

मैं अपनी कहानी के अन्ततक पहुंच गया हूं। मेरी जीवन-यात्रा का यह अहंतापूर्ण वृत्तान्त जैसा कुछ भी बन पड़ा है, अलमोड़ा जिला जेल में आज दिन—१४ फरवरी १६३५—तक का है। तीन महीने पहले, आज के ही दिन, मैंने इस जेल में अपनी पैंतालीसवीं वर्षगांठ मनाई थी, और मैं खयाल करता हूं कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का खयाल मनपर छा जाता है; लेकिन मैं फिर अपने को उत्साह और चैतन्य से भरपूर अनुभव करने लगता हूं। मेरा शरीर काफी गठीला है और मेरे मन में आघातों को झेल सकने की क्षमता है, इसलिए मैं समझता हूं कि मैं अभी काफी अर्से तक जिन्दा रहूंगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ लिखा जाय उसका उपभोग कर लिया जाना जरूरी है।

मेरी ये जीवन-घटनाएं शायद बहुत अधिक रोमांचकारी नहीं हैं; कई बरसों का जेल-निवास शायद साहसिक कार्य नहीं कहा जा सकता। इन घटनाओं में कोई अपूर्वता भी नहीं है, क्योंकि इन बरसों के सुख-दु:खों में हजारों देश-भाइयों और बहनों का हिस्सा है। इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका संयुक्त वर्णन है। मैं जन-समूह का ही एक व्यक्ति रहा हूं, उसके साथ काम करता रहा हूं, कभी उसका नेतृत्व करके उसे आगे बढ़ाता रहा हूं, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूं; और फिर भी अन्य दूसरे व्यक्तियों की तरह एक-दूसरे से अलग, जन-समूह के बीच में अपना पृथक जीवन व्यतीत करता रहा हूं। अनेक बार हमने रूपक बांधा है, और नाटक किया है, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमें बहुत सत्य वस्तु तथा तीव्र निष्ठा रही है, और इसने हमें अपनी क्षुद्र अहंता से ऊंचा उठा दिया, हमें अधिक बल दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो अन्यथा हमें मिल नहीं सकता

था। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप में परिगत करने से होती है। और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा जीवन, जिसमें इन आदर्शों का परित्याग करके, पशुबल के सामने दीनता ग्रहण करनी होती, व्यर्थ सन्तोषहीन तथा अन्तर्वेदना से भरा होता।

इन वर्षों में मुझे बहुत से लाभों के साथ-साथ एक अनमोल लाभ यह भी हुआ है। मैं जीवन को अधिकाधिक एक रसमय महत्व का प्रयोग समझने लगा हूं। इसमें बहुत-कुछ सीखने को मिलता है, बहुत-कुछ करने को रहता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है, और अब भी मुझमें है। इससे मुझे अपनी विविध और प्रवृत्तियों में पुस्तकों के पठन-पाठन में रस मिलता है और जीवन जीने योग्य बनता है।

अपनी इस कहानी में मैंने हरेक घटना के समय अपने मनोभावों और विचारों का चित्र खींचने का, यथा-सम्भव उस क्षण की अपनी अनुभूतियों के व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भूतकाल की मनोदशा स्मृति से जागृत करना कठिन है, और बाद में होनेवाली घटनाओं को भुलाना सरल नहीं है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनों के वर्णन पर पिछले विचारों का प्रभाव जरूर पड़ा होगा, लेकिन मेरा उद्देश्य, खासकर अपने ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैंने जो कुछ लिखा है, वह मैं कभी कैसा था, इस बात का शायद इतना वर्णन नहीं है, जितना इस बात का कि कभी-कभी मैं कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनों पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने मेरे विषय में एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि मैं जनता की मनोदशाओं का प्रतिनिधि नहीं हूं, पर बहुत खतरनाक व्यक्ति हूं, कारण मैंने भारी त्याग किये हैं, मैं आदर्शवादी हूं, मुझमें दृढ़ आत्मविश्वास है; इस प्रकार, उनके विचारानुसार मुझमें 'आत्म-सम्मोहन' हो गया है। 'आत्मसम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है, और किसी भी हालत में मैं इस व्यक्तिगत मामले में सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे में न पड़ना चाहूंगा। बहुत बरसों से हम एक-दूसरे से मिले नहीं हैं, लेकिन एक समय था जबकि हम दोनों होमरूल लीग के संयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद तो बहुत घटनाएं घट चुकी हैं और रामस्वामी चक्कर-

दार जीनों को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढ़ते-चढ़ते चोटी तक जा पहुंचे, जबकि मैं पृथ्वी पर ही, पार्थिव प्राणी बना हुआ हूं। सिवा इसके कि हम दोनों एक राष्ट्रवासी हैं अब उनमें और मुझमें कोई समानता नहीं रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसों से भारत में ब्रिटिश-राज्य के जबरदस्त हामी हैं, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक हैं और खुद भी एक स्वेच्छाचारी देशी रियासत के उज्ज्वल रत्न बने हुए हैं। मैं समझता हूं, हम अधिकांश बातों में मतभेद रखते हैं, लेकिन एक साधारण से मामले में हम सहमत हो सकते हैं। उनका यह कहना बिलकुल सच है कि मैं जनता का प्रतिनिधि नहीं हूं। इस विषय में मुझे कोई भ्रम नहीं है।

निस्सन्देह,कभी-कभी मैं यह सोचने लगता हूं कि दरअसल क्या मैं किसी का भी प्रतिनिधि हो सकता हूं, और मैं इसी नतीजे पर पहुंचता हूं कि,नहीं, मैं नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते हैं। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण बन गया हूं, हर जगह बे-मौज़ूं, कहीं भी अपने को अपने घर में होने-जैसा अनुभव नहीं करता। शायद मेरे विचार और मेरी जीवन-दृष्टि पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक हैं; लेकिन भारतमाता अनेक रूपों में अपने अन्य बालकों की भांति, मेरे हृदय में भी विराजमान है; और अंतर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ (या संख्या कुछ भी हो) पीढ़ियों के ब्राह्मणत्व के संस्कार छिपे हुए हैं। मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नहीं सकता। यह दोनों मेरे अंग हो गये हैं, और जहां वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते हैं, वहां साथ ही न केवल सार्वजनिक जीवन में, बल्कि समग्र जीवन में एक मानसिक एकाकीपन का भाव पैदा करते हैं। पश्चिम में मैं विदेशी हूं—अजनबी हूं। मैं उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मैं देश-निर्वासित हूं।

सुदूरवर्ती पर्वत सुगम्य और उसपर चढ़ना सरल मालूम होता है; उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है; लेकिन ज्यों-ज्यों हम उसके नजदीक पहुंचते हैं, कठिनाइयां दिखाई देने लगती हैं; जैसे-जैसे ऊंचे चढ़ते जाते हैं, चढ़ाई अधिकाधिक मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता दिखाई पड़ने लगता है। फिर भी चढ़ाई के प्रयत्न का एक अनोखा मूल्य रहता है और उसमें

एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष मिलता है। शायद जीवन का मूल्य पुरुषार्थ में है, फल में नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है? कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है, और उससे बचे रहना भी श्रेयस्कर होता है। अत्यन्त नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूंगा। उसने कहा था—"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज है—वह कोई अच्छी चीज हो सकती है, और मुझे उसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूं कि मनुष्य का अपने भूतकर्मों से भागना बुरा है; इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूं कि वह खराब है उसकी अपेक्षा जो अच्छा हो सकता है वह काम करना मैं पसन्द करता हूं।"

बरसों मैंने जेल में बिता दिये! अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए कितनी ऋतुओं को मैंने एक-दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध, अनवरत गति और भव्यता के साथ घूमते देखा है। मेरे यौवन के कितने बीते दिवसों की यहां चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मैं इन बीते दिवसों की प्रेतात्माओं को उठते हुए, दुःखद स्मृतियों को जगाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूं "क्या उसमें कुछ भलाई थी?" और इसका जवाब देने में मेरे मन में कोई शंका नहीं है। अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौका मिले, तो इसमें शक नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत-जीवन में अनेक फेरफार करने की कोशिश करूंगा; जो-कुछ मैं पहले कर चुका हूं, उसको कई तरह से सुधारने का प्रयत्न करूंगा, लेकिन सार्वजनिक विषयों में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह, मैं उन्हें बदल नहीं सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक बलवान हैं, और मेरे ऊपर रहनेवाली एक शक्ति ने मुझे उनकी ओर ढकेला था।

मेरी सजा को आज पूरा एक बरस हो गया; सजा के दो बरसों में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाकी है, क्योंकि इस बार रिआयती दिन न कटेंगे, सादी सजा में इस तरह दिन नहीं कटते। इतना ही नहीं, पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सजा की अवधि

में बढ़ा दिये गये हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊंगा—मगर इसके बाद ? मैं नहीं जानता, लेकिन मन में ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, इसका मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

कुछ और

बेडनवाइलर, स्वार्ट्स्वाल्ड
२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने में मेरी पत्नी भुवाली से यूरप इलाज कराने के लिए गई। उसके यूरप चले जाने से मेरा मुलाकात करने के लिए भुवाली जाना बन्द हो गया; पहाड़ी सड़कों पर मेरा हर पखवाड़े मोटर पर यात्रा करना बन्द हो गया। अब अलमोड़ा-जेल मेरे लिए पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दीं। लेकिन अधिक समय के लिए नहीं, क्योंकि भारत-सरकार अपने को या अपने विचित्र तरीकों को, हमें भूलने नहीं देती। फौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जोकि भूकम्प-सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्रायः किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते हैं, क्वेटा जाने और पीड़ितों की सहायता करने की इजाजत नहीं दी गई। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्ता को ही वहां जाने दिया। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय समाचारपत्रों की जमानतें जब्त कर ली गईं।

जिधर देखिए उधर—सब ओर फौजी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखाई देता था—असेम्बली में, सिविल शासन में, सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें, इसी का बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानो हिन्दुस्तान में अंग्रेजी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से निरन्तर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डंडों से भरी हो, शायद रहने के लिए ठीक जगह न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को

गिरा देता है, और साथ ही जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है उसको भी अपमानित तथा पतित कर देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊंची नौकरियों में खासकर भारतीय सिविल-सर्विस में अधिकारियों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखाई देती हो। खासतौर पर ऊंचे अफसरों में सबसे अधिक पतन दिखाई देता है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियों में यह फैला हुआ है। जब कभी किसी ऊंचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चित रूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई (अधम) मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को एकाएक मैं अलमोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गई है। स्वार्ट्सवाल्ड (जर्मनी) के बेडनवाइलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सजा मुल्तवी कर दी गई है, और मैं अपनी रिहाई के साढे पांच महीने पहले छोड़ दिया गया। मैं फौरन हवाई जहाज से यूरप को रवाना हुआ।

यूरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवों की आशंकाएं और आर्थिक संकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मंडराते रहते हैं; अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहांकी जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्ताएं आपस में झगड़ रही हैं और एक-दूसरे के लिए खतरनाक बनी हुई हैं, और अपने अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इंग्लैण्ड, साम्राज्यवादी सत्ताओं का सिरमौर इंग्लैण्ड, शान्ति और राष्ट्र-संघ की दुहाइयां दे रहा है। लेकिन यहां इस 'ब्लैक फॉरेस्ट' में शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहांतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिह्न 'स्वस्तिक' भी नजर नहीं आता। मैं देख रहा हूं कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रांस की सुदूर सीमा को ढंक रहा है और दृश्य पर परदा डाल रहा है; और मैं हैरत में हूं कि उस पार क्या है?

पांच साल के बाद

आज से साढ़े पांच बरस पहले अलमोड़े के जिला जेल की अपनी कोठरी में बैठे-बैठे मैंने 'मेरी कहानी' की अखीरी सतरें लिखी थीं। उसके आठ महीने बाद जर्मनी के बेडनवाइलर स्थान पर उसमें कुछ हिस्सा और जोड़ा था। इंग्लैण्ड से (अंग्रेजी में) छपी मेरी इस कहानी का देश-विदेश के सब तरह के लोगों ने स्वागत किया और मुझे इस बात से खुशी हुई कि जो कुछ मैंने लिखा उसकी वजह से हिन्दुस्तान विदेश के कई दोस्तों के नजदीक आ गया और कुछ हद तक वे लोग आजादी की हमारी लड़ाई के अन्दरूनी महत्त्व को समझ पाये।

मैंने कहानी बाहर होनेवाली हलचलों से दूर बैठकर जेल में लिखी थी। जेल में तरह-तरह की तरंगें मन में उठा करती थीं, जैसा हरेक कैदी के साथ हुआ करता है; लेकिन धीरे-धीरे मुझमें आत्म-निरीक्षण की एक लहर आ गई जिससे कुछ मानसिक शान्ति भी मिली। पर अब उस लहर को कहां से लाऊं? उस वर्णन से ठीक मेल कैसे बैठाऊं? अपनी किताब को फिर से देखता हूं तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी और शख्स ने बहुत पुराने जमाने की कहानी लिखी हो। पिछले पांच साल में दुनिया बदल गई है और मुझपर एक छाप छोड़ गई है। शरीर से मैं बेशक ५ साल बूढ़ा हो गया हूं लेकिन अनेक आघात और प्रभाव जो मन पर पड़े हैं, उनसे वह कठोर हो गया है या शायद परिपक्व हो गया है। स्वीजरलैण्ड में कमला का देहान्त हो जाने से मेरी जीवन-कथा का एक अध्याय पूरा हो गया, और मेरे जीवन से बहुत-सी ऐसी बातें चली गई हैं, जो मेरे अस्तित्व का अंश हो गई थीं। मुझे यह समझ लेना मुश्किल हो गया कि वह अब नहीं है और मैं आसानी से परिस्थिति के अनुकूल अपनेको नहीं बना सका। मैं अपने काम में जुट पड़ा, इसमें कुछ सान्त्वना पाने की कोशिश करने लगा और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भाग-दौड़ करता रहा। मेरा जीवन क्रम से भारी भीड़, बहुत कामकाज और अकेलेपन का एक अनोखा सम्मिश्रण हो गया। इसके बाद माता के देहावसान से भूतकाल से मेरे सम्बन्ध की अखीरी कड़ी भी टूट गई। बेटी मेरी दूर ऑक्सफर्ड में पढ़ रही थी और बाद में विदेश

८४१

मिल

टिश
में हैं
यहां

ी हैं।
ा की
कर

मिल
ें वहां
जादू-
घूमा,
किया

लेखक

ही के एक सेनिटोरियम में इलाज कराती रही। मैं जब घूम-घामकर घर लौटता तो बड़े बे-मन से और अकेला अपने सूने घर में बैठा रहता, कोशिश करता कि किसी से मिलूं-जुलूं भी नहीं ।भीड़-भड़क्के के बाद मैं शान्ति चाहता था।

लेकिन मुझे अपने काम में और मन में शान्ति न मिली और कन्धे पर जो जिम्मेदारियां थीं, उनसे मैं बुरी तरह दबा जा रहा था। मैं विविध पार्टियों और दलों से मेल नहीं बैठा सका----यहां तक कि अपने घनिष्ठ साथियों से भी नहीं। जैसा चाहता था वैसा खुद तो मैं काम कर ही नहीं पाता था और दूसरों को भी जैसा वे चाहते वैसा काम करने से रोकता था। एक तरह की मायूसी और पस्त-हिम्मती की भावना जोर पकड़ती गई और मैं सार्वजनिक जीवन में अकेला पड़ गया, हालांकि बड़ी-बड़ी भीड़ मेरे भाषण सुनती थी और मेरे चारों और जोश छाया रहता था।

यूरप और सुदूर पूर्व के घटना-चक्र का जितना मुझपर असर पड़ा है उतना और किसी पर नहीं। म्यूनिक का धक्का बर्दाश्त करना कठिन था और स्पेन का दुखदायी अन्त तो मेरे लिए निजी दुःख की बात थी। ज्यों-ज्यों खौफ के ये दिन एक के बाद एक आते गये, त्यों-त्यों सिर पर मंडराने वाले संकट का खयाल मुझे बेचैन करता गया और मेरा यह विश्वास कि दुनिया का भविष्य उज्ज्वल है, धुंधला पड़ चला।

और वह संकट अब आ धमका है। यूरप के ज्वालामुखी आग और सर्वनाश उगल रहे हैं और यहां हिन्दुस्तान में मैं एक-दूसरे ज्वालामुखी के किनारे बैठा हुआ हूं, जो न जाने कब फट पड़े। वर्तमान समस्याओं से अपने आपको अलग हटा लेना, पर्यवेक्षण की वृत्ति पैदा करना, इन बीते पांच वर्षों का सिंहावलोकन करना और उनके बारे में शान्ति से कुछ लिखना मुश्किल हो गया है। और अगर मैं ऐसा कर भी सकूं तो मुझे दूसरी बड़ी किताब लिखनी पड़े क्योंकि कहने को बहुत-कुछ है। इसलिए मैं उन्हीं घटनाओं और वाकयात की चर्चा करने की भरसक कोशिश करूंगा, जिनमें मैंने हिस्सा लिया है या जिनका मुझ पर असर पड़ा है।

लोज़ान में २८ फरवरी १९३६ को जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई, तब मैं उसके पास ही था। थोड़े दिन पहले ही मुझे खबर मिली थी कि मैं दूसरी बार कांग्रेस का सभापति चुना गया हूं। मैं फौरन ही हवाई जहाज से हिन्दुस्तान लौटा।

रास्ते में, रोम में, एक मजेदार अनुभव हुआ। चलने से कुछ दिनों पहले मुझे एक सन्देश मिला था कि जब मैं रोम होकर निकलूं तो उस वक्त सिन्योर मुसोलिनी मुझसे मिलना चाहते हैं। फासिस्ट शासन का घोर विरोधी होते हुए भी मामूली तौर पर सिन्योर मुसोलिनी से मिलना मैं पसन्द करता और खुद पता लगाता कि वह शख्स कैसा है जो दुनिया के घटनाचक्र में महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रहा है? लेकिन उस वक्त मैं कोई मुलाकात करना नहीं चाहता था। सबसे बढ़कर मेरे रास्ते में जो रुकावट आई वह यह थी कि अबीसीनिया पर हमला जारी था और मुझे डर था कि ऐसी मुलाकात का फासिस्टों की ओर से प्रोपेगण्डा करने में अवश्य ही दुरुपयोग किया जायगा।

पर मेरे इन्कार करने से क्या होता था? मुझे याद था कि गांधीजी जब १९३१ में रोम से निकले थे तब उनकी एक मुलाकात की झूठी खबर 'जर्नेल डि इटैलिया' में छापी गई थी। मुझे दूसरी कई मिसालें याद आईं जिनमें हिन्दुस्तानियों के इटली में जाने के कारण उनकी मर्जी के खिलाफ फासिस्टों ने बड़ा प्रचार किया था। मुझे यकीन दिलाया गया कि इस किस्म की कोई बात मेरे बारे में नहीं होगी और मुलाकात कतई खानगी होगी। तो भी मैंने यही तय किया कि मैं मुलाकात से बचूं और सिन्योर मुसोलिनी तक अपनी लाचारी पहुंचा दी।

मगर रोम होकर जाना तो मुझे पड़ा ही, क्योंकि हालैण्ड के के०एल०एम० कम्पनी का हवाई जहाज जिसपर मैं सवार था, वहां रात-भर रुका था। ज्योंही मैं रोम पहुंचा, एक बड़े अफसर मेरे पास आये और मुझे शाम को सिन्योर मुसोलिनी से भेंट करने का निमन्त्रण दिया। उन्होंने कहा कि सब कुछ तय हो चुका है। मुझे अचम्भा हुआ। मैंने कहा कि मैं तो पहले ही माफी माँगने के लिए कहला चुका हूं। घण्टे-भर तक बहस चलती रही, यहां तक कि मुलाकात का वक्त भी आ पहुंचा। अन्त में बात मेरी ही रही। कोई मुलाकात नहीं हुई।

हिन्दुस्तान लौटकर मैं अपने काम में व्यस्त हो गया। लौटने के थोड़े दिनों बाद ही मुझे कांग्रेस के अधिवेशन का सभापति बनना पड़ा। उन चन्द बरसों में जब मैं लगभग जेल में रहा, परिस्थितियों से मेरा सम्बन्ध छूट गया था। मुझे कांग्रेस के अन्दर कई तब्दीलियां मालूम पड़ीं, और नई रूपरेखाएं और दलबन्दी की जोरदार भावनाएं देखने में आईं। उसके भीतर सन्देह, कटुता और संघर्ष

का वातावरण था। मैंने इसपर ज्यादा ध्यान नहीं दिया और यह विश्वास मुझे था कि मैं उस स्थिति का मुकाबला कर सकूंगा। कुछ अर्से तक ऐसा लगा कि मैं कांग्रेस को अपनी मनोवाञ्छित दिशा में लिये जा रहा हूं, मगर जल्दी ही मुझे पता लग गया कि संघर्ष गहरा है और हमारे दिलों में जो एक-दूसरे के प्रति सन्देह और कटुता पैदा हो गई थी, उसे मिटा देना इतना आसान नहीं है। मैंने गम्भीर होकर निश्चय कर लिया कि राष्ट्रपति-पद से इस्तीफा दे दूं, लेकिन, यह समझकर कि इससे तो मामला बिगड़ेगा ही, मैंने ऐसा नहीं किया।

लेकिन रह-रहकर अगले कुछ महीनों में मैंने इस इस्तीफे के सवाल पर सोचा-विचारा। कार्य-समिति के अपने साथियों के साथ ही मुझे सरलतापूर्वक काम करते रहना मुश्किल मालूम पड़ा और मुझे यह साफ हो गया कि वे लोग मेरी हरकतों को आशंका की दृष्टि से देखते हैं। मेरी किसी खास कार्रवाई से वह नाराज हों, ऐसी बात नहीं थी, बल्कि बात यह थी कि वे मेरी सामान्य गति और दिशा ही को नापसन्द करते थे। चूंकि मेरा दृष्टिकोण मुख्तलिफ था, इसलिए उनके पास इसका वाजिब सबब था भी। कांग्रेस के फैसलों पर मैं बिलकुल अटल था, लेकिन मैं उसके कुछ पहलुओं पर जोर देता था जब कि मेरे साथी दूसरे पहलुओं पर। आखिरकार मैंने इस्तीफा देना ही तय किया और अपने इरादे की खबर गांधीजी को भेजी। उनको जो खत लिखा था उसमें मैंने लिखा कि "यूरप से लौटकर आने के बाद मैंने देखा है कि कार्य-समिति की बैठकों से मैं बहुत थक जाता हूं; उनका असर यह होता है कि मेरी ताकत कम हो जाती है और हरेक नई घटना के बाद मुझे करीब-करीब यह खयाल होने लगता है कि मैं बहुत बूढ़ा हो चला हूं। कोई ताज्जुब नहीं कि कार्य समिति के मेरे दूसरे सहयोगियों को भी यही महसूस होता हो। यह तजरबा अस्वास्थ्यकर है और इससे कारगर काम होने में अड़चनें आती हैं।"

इसके थोड़े-ही दिनों बाद दूर देश की एक घटना ने, जिसका हिन्दुस्तान से कोई ताल्लुक नहीं था, मुझपर बहुत ज्यादा असर डाला और उसने मेरा इरादा बदलवा दिया। यह घटना थी जनरल फ्रेंको के स्पेन में विद्रोह करने की खबर। मैंने देखा कि यह विद्रोह, जिसके पीठ-पीछे जर्मनी और इटली की मदद काम कर रही थी, एक यूरोपीय या विश्वव्यापी संघर्ष बनता जा रहा है। लाजिमी था कि हिन्दुस्तान को भी उसमें पड़ना पड़ता और ऐसे मौके पर जब कि सबका साथ-

साथ चलना जरूरी था, मैं इस्तीफा देकर अपनी संस्था को कमजोर बनाना और अन्दरूनी संकट पैदा करना नहीं चाहता था। मैंने परिस्थिति का जो विश्लेषण किया था, वह गलत न था, हालांकि वह अभी केवल अनुमान ही था और मेरा मन एकदम जिन नतीजों पर पहुंच गया था उन्हें घटित होने में कुछ साल लगे।

स्पेन के युद्ध की मुझपर जो प्रतिक्रिया हुई, उससे पता चलता है कि मेरे मन में किस प्रकार हिन्दुस्तान का सवाल दुनिया के दूसरे सवालों से जुड़ा हुआ था। मैं अधिकाधिक सोचने लगा कि चीन, अबीसीनिया, स्पेन, मध्य यूरोप, हिन्दुस्तान, या अन्य स्थानों की सारी राजनीतिक और आर्थिक समस्याएं एक ही विश्व-समस्या के विविध रूप हैं। जबतक मूल समस्या हल नहीं कर ली जाती तबतक इनमें से कोई एक समस्या अन्तिम रूप से नहीं सुलझ सकती। सम्भावना इस बात की थी कि मूल समस्या सुलझने से पहले ही कोई क्रान्ति या कोई आफत आयेगी। जिस तरह कहा जाता था कि आज की दुनिया में शान्ति अविभाज्य है, उसी प्रकार स्वाधीनता भी अविभाज्य है। दुनिया बहुत दिनों कुछ आजाद, कुछ गुलाम नहीं रह सकती। फासिज्म और नाजीवाद की यह चुनौती मूलतः साम्राज्यवाद की ही चुनौती थी। ये दोनों जुड़वां भाई थे—फर्क सिर्फ इतना ही था कि साम्राज्यवाद का विदेशों में उपनिवेशों और अधिकृत देशों में जैसा नंगा नाच देखने में आता था, वैसा ही नाच फासिज्म व नाजीवाद का निज के देशों में दिखाई पड़ता था। अगर दुनिया में आजादी कायम होनी है, तो न सिर्फ फासिज्म और नाजीवाद ही को मिटाना होगा बल्कि साम्राज्यवाद का भी बिलकुल नामोनिशान मिटा देना होगा।

विदेश की घटनाओं की यह प्रतिक्रिया मुझी तक सीमित नहीं थी। कुछ हदतक हिन्दुस्तान के बहुतेरे लोग ऐसा ही खयाल करने लगे और जनता को भी इसमें दिलचस्पी पैदा हो गई। कांग्रेस ने देश में हर जगह चीन, अबीसीनिया, फिलस्तीन और स्पेन के लोगों से सहानुभूति प्रकट करने के लिए हजारों सभाएं और प्रदर्शन किये, जिससे जनता की यह दिलचस्पी कायम रही। चीन और स्पेन को दवा-दारू और रसद की शकल में कुछ मदद पहुंचाने की भी कोशिशें की गईं। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इस प्रकार दिलचस्पी बढ़ने से हमारा अपना राष्ट्रीय संघर्ष ऊंची सतह पर पहुंच गया और राष्ट्रीयता की भावना के पीछे सामान्यरूप से रहनेवाली संकीर्णता थोड़ी-बहुत कम हो गई।

लेकिन, लाजिमी तौर पर, इन विदेशी मामलों का यहां के औसत आदमियों की जिन्दगी पर कोई असर नहीं हुआ जो अपनी मुसीबत में फंसे हुए थे। किसानों की तकलीफें दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थीं। भयंकर गरीबी और दूसरे कई तरह के बोझ उसे कुचल रहे थे। आखिरकार किसानों की समस्या हिन्दुस्तान की समस्या का एक बड़ा हिस्सा थी और कांग्रेस ने क्रमशः किसानों के सम्बन्ध में एक कार्यक्रम बना लिया था। यह कार्यक्रम अत्यन्त व्यापक था, फिर भी उसमें मौजूदा ढांचा मंजूर कर लिया गया था। कारखाने के मजदूरों की हालत भी कोई बेहतर नहीं थी और हड़तालें हुआ करती थीं। राजनैतिक विचारोंवाले लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट द्वारा हिन्दुस्तान पर थोपे गये नये शासन-विधान की चर्चा करते थे। इस विधान में यद्यपि कुछ ताकत प्रान्तों को दे दी गई थी, लेकिन असली ताकत तो ब्रिटिश-सरकार और उनके प्रतिनिधियों के ही हाथ में रखी गई थी। केन्द्रीय शासन के लिए एक संघ प्रस्तावित किया गया था, जिसमें सामन्ती और निरंकुश रियासतों के साथ अर्ध-जनतन्त्रात्मक प्रान्तों को गठबन्धन करना पड़ता और इससे ब्रिटिश साम्राज्य का ढांचा यथारीति कायम रहता। यह एक वाहियात प्रस्ताव था, जो कभी नहीं चल सकता था, और जिसमें अंग्रेजों के स्थापित स्वार्थों की हर सम्भव तरीके से हिफाजत की गई थी। कांग्रेस ने इस विधान को हिकारत के साथ ठुकराया और सचाई तो यह थी कि हिन्दुस्तान में शायद ही कोई ऐसा हो जो इसे अच्छा समझता होगा।

पहले तो इसका प्रान्तीय रूप अमल में लाया गया। हम विधान को नामंजूर कर चुके थे, तो भी हमने तय किया कि चुनाव लड़े जांय क्योंकि इससे कम-से-कम लाखों-करोड़ों वोटरों ही से नहीं, दूसरे लोगों से भी हम सम्पर्क में तो आयेंगे ही। यह आम चुनाव मेरे लिए तो एक स्मरणीय प्रसंग है। मैं खुद तो कोई उम्मेदवार नहीं था, मगर कांग्रेस के उम्मेदवारों की तरफ से मैंने हिन्दुस्तान भर का दौरा किया और मेरा खयाल है कि चुनाव-आन्दोलन में मैंने एक उल्लेखनीय काम किया। चार महीने के अन्दर-अन्दर मैंने तकरीबन ५० हजार मील का सफर किया और इसमें हर तरह की सवारी से काम लिया और अक्सर ऐसे-ऐसे कोने में पड़े हुए देहाती इलाकों तक में गया जहां जाने का कोई ठीक-ठाक जरिया नहीं था। मैंने यह सफर हवाई जहाज में, रेल में, मोटरकार में, मोटरलॉरी में, तरह-तरह की घोड़ागाड़ियों में, बैल गाड़ियों में, साइकल पर, हाथी पर,

ऊंट पर, घोड़े पर, स्टीमर पर, पैडलबोट पर, डोंगी में और पैदल चलकर किया।

अपने साथ मैं लाउड-स्पीकर यन्त्र रखता था। दिन-भर में कोई एक दर्जन सभाओं में बोलना पड़ता था; सड़कों पर जो भीड़ इकट्ठी हो जाती थी और उससे कुछ कहना पड़ता सो अलग। कभी-कभी तो एक लाख के करीब भीड़ होती थी, पर आमतौर पर प्रत्येक सभा में कोई २०-२५ हजार सुननेवाले तो रहते ही थे। दिन-भर की सभाओं में आनेवाले लोगों का जोड़ एक लाख तो अक्सर हो जाता था,कभी-कभी इससे भी बढ़ जाता था। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जितनी सभाओं में मैं बोला उसमें एक करोड़ लोग तो आये ही होंगे और शायद कई लाख मेरे इस तरह से सफर करने में मेरे सम्पर्क में आये होंगे।

हिन्दुस्तान की उत्तरी सीमा से लेकर दक्षिण में समुद्र तट तक मैं एक जगह से दूसरी जगह दौड़ता फिरा। बीच-बीच में मुश्किल से कुछ आराम मिला होगा। चुनाव के जोश और जनता के असीम उत्साह ने मुझे सब जगह बल दिया। मेरे शरीर ने इतना अधिक असाधारण श्रम बर्दाश्त कर लिया, इस खयाल से मुझे अचम्भा हुआ। इस चुनाव-आन्दोलन में हमारे पक्ष में बहुत बड़ी तादाद में लोगों ने हिस्सा लिया, इसलिए देशभर में एक हलचल-सी मच गई और हर जगह नई जिन्दगी नजर आने लगी। हमारे लिए तो यह महज एक चुनाव-आन्दोलन ही नहीं था, बल्कि कुछ ज्यादा था। हमें महज उन ३ करोड़ मतदाताओं से ही नहीं बल्कि उन करोड़ों लोगों से भी वास्ता था, जो मतदाता नहीं थे।

इस लम्बी-चौड़ी यात्रा का एक पहलू और भी था जिसने मुझे लुभा लिया। मेरे लिए तो यह यात्रा हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तान की जनता से परिचय की यात्रा थी। मैंने अपने देश के हजारों रूप देखे, लेकिन तो भी सबमें हिन्दुस्तान की एकता की छाप थी। मैं उन लाखों स्नेहभरी आंखों को ध्यान से देखता था, जो मुझे निहारा करती थीं, और यह जानने की कोशिश करता था कि उनके पीछे क्या है? जितना ही ज्यादा मैं हिन्दुस्तान को देखता, उतना ही ज्यादा मुझे लगता कि उसके असीम आकर्षण और विविध रूपों का मुझे कितना कम परिचय है और अभी मुझे इतना परिचय प्राप्त करने को बाकी है। मुझे लगता

कि मुझे देखकर भारतमाता कभी मुसकरा देती है, कभी मेरा उपहास करती है, और कभी मेरे लिए अबोध हो जाती है।

कभी-कभी, मैं एकाध दिन निकाल लेता और नजदीक के मशहूर-मशहूर दर्शनीय स्थान देखता : जैसे अजन्ता की गुफाएं या सिन्ध के कांठे में मोहंजोदड़ो। थोड़ी देर को जैसे मैं बीते हुए युग में पहुंच जाता और बोधिसत्त्व और अजन्ता की चित्रांकित रूपवती स्त्रियां मेरे मन में नाचा करतीं । कुछ दिनों बाद जब मैं खेत में काम करती हुई या गांव के कुएं से पानी खींचती हुई कोई स्त्री देखता तो मैं आश्चर्यचकित रह जाता क्योंकि उससे मुझे अजन्ता की स्त्रियों की याद आ जाती थी।

आम चुनावों में कांग्रेस को कामयाबी मिली, और इसपर एक भारी बहस उठ खड़ी हुई कि हम सूबों में मंत्री-पद ग्रहण करें या नहीं ? आखिरकार यह तय हुआ कि हम मंत्री-पद ग्रहण करेंगे, पर इस समझौते पर कि वाइसराय या गवर्नरों की तरफ से कोई दखल नहीं दिया जायगा।

१९३७ की गर्मी में मैं बर्मा और मलाया गया। मैं कोई छुट्टी न मना सका, क्योंकि जहां-जहां मैं गया भीड़ मेरे पीछे लगी रही और काम-काज में मैं घिरा रहा। लेकिन यह वायु-परिवर्तन सुखदाई था, और बर्मा के सजेधजे अपेक्षाकृत युवक लोगों को देखना और उनसे मिलना मुझे अच्छा लगा क्योंकि वे हिन्दुस्तान के लोगों से कई बातों में भिन्न थे, जिसपर कई युगों की छाप लगी है।

हिन्दुस्तान में हमारे सामने नये मसले आये । अधिकांश सूबों में कांग्रेस-सरकार की हुकूमत थी और बहुत-से मन्त्री बरसों जेल में बिता चुके थे । मेरी बहिन विजयलक्ष्मी पण्डित युक्तप्रान्त की एक मंत्री हुईं। हिन्दुस्तान में वह सबसे पहली स्त्री-मंत्री थीं। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के आने का सबसे पहला नतीजा तो यह हुआ कि देहातों को एक राहत महसूस हुई, मानो एक बड़ा बोझ हट गया हो। देशभर में एक नई जिन्दगी आ गई और किसान और मजदूर उम्मीद करने लगे कि अब जल्दी बड़े-बड़े काम होंगे । राजनैतिक कैदी छोड़ दिये गये और बहुत-से नागरिक अधिकार मिल गये, जितने अब तक कभी नहीं मिले थे।

कांग्रेसी मन्त्रियों ने बहुत काम किया और दूसरों को भी करने पर मजबूर किया। लेकिन काम तो उन्हें शासन की पुरानी मशीन के साथ ही करना

पड़ा, जो उनके लिए बिलकुल विदेशी और अक्सर विरोधी थी। नौकरियां तक उनके अधिकार में न थीं। दो मर्तबा गवर्नरों से मतभेद हुआ और मन्त्रियों का दृष्टिबिन्दु मान लिया गया और संकट मिट गया। लेकिन सिविल-सर्विस, पुलिस और दूसरी पुरानी सर्विसों की ताकत और उनका असर ज्यादा था, क्योंकि गवर्नर उनकी पीठ पर थे और खुद विधान उनको सहारा दे रहा था, उनकी ताकत और उनका असर सैकड़ों तरीके से महसूस हो रहा था। नतीजा यह हुआ कि प्रगति धीरे-धीरे हुई और असन्तोष उठ खड़ा हुआ।

वह असन्तोष खुद कांग्रेस में ही जाहिर हुआ और अधिक प्रगतिशील-वर्ग बचैन हो उठे। मैं खुद घटनाचक्र की गति से प्रसन्न नहीं था, क्योंकि मैंने देखा कि हमारी बढ़िया लड़नेवाली संस्था धीरे-धीरे एक चुनाव लड़नेवाली संस्था में बदलती जा रही थी। ऐसा लगता था कि स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़नी ही होगी और प्रान्तीय स्वशासन का यह पहलू तो महज थोड़े दिनों का है। अप्रैल १९३८ में मैं गांधीजी को एक पत्र में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के कार्य के बारे में अपना असन्तोष यों प्रकट किया था—"वे पुरानी व्यवस्था से अपना मेल बैठाने के लिए बहुत ही ज्यादा कोशिश कर रहे हैं और उसे न्यायोचित सिद्ध कर रहे हैं। लेकिन इतना बुरा होते हुए भी बर्दाश्त किया जा सकता है। पर इससे भी ज्यादा बुरी बात यह है कि हम अपनी वह जगह खोते जा रहे हैं जो हमने इतनी मेहनत के साथ लोगों के दिलों में बना पाई है। हम गिरते-गिरते मामूली राजनीतिज्ञों की सतह पर पहुंचते जा रहे हैं।"

मैं शायद कांग्रेसी मन्त्रियों पर बिना जरूरत इतना सख्त हो गया था, लेकिन इसका दोष तो परिस्थितियों पर ही ज्यादा लगाया जा सकता है। वस्तुतः राष्ट्रीय गतिविधि के अनेक क्षेत्रों में इन मन्त्रिमण्डलों का कार्य जबरदस्त था। लेकिन उन्हें तो खास हद में रहकर ही काम करना था और हमारे मसलों के लिए इनके बाहर जाने की आवश्यकता थी। उन्होंने जो कई अच्छे-अच्छे काम किये, उनमें से एक उनका बनाया हुआ काश्तकारी कानून था जिससे किसानों को काफी राहत मिली और दूसरा काम था बुनियादी शिक्षा की शुरुआत। विचार यह है कि यह बुनियादी शिक्षा ७ साल से १४ साल तक की उम्र के देश के हरेक बच्चे के लिए ७ बरस तक लाजिमी और मुफ्त कर दी जाय। यह किसी-न-किसी दस्तकारी के जरिये तालीम देने की आधुनिक पद्धति

पर रखी गई है और इसकी योजना इस प्रकार बनाई गई है जिससे पूंजी और सालाना खर्च तो बहुत कम हो जाय, लेकिन तालीम की अच्छाई में किसी कदर कमी भी न आने पाये। हिन्दुस्तान-जैसे गरीब मुल्क में, जहां तालीम देने को करोड़ों बच्चे हैं, खर्च का सवाल खास महत्व का है। इस पद्धति ने हिन्दुस्तान में, शिक्षा में क्रान्ति पैदा कर दी है और उससे बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं।

उच्च शिक्षा की समस्या भी जोर-शोर के साथ हल की गई और इसी तरह सार्वजनिक स्वास्थ्य की समस्या भी; मगर कांग्रेसी सरकारों के प्रयत्नों का अधिक फल नहीं मिल पाया था कि मन्त्रिमण्डलों ने आखीरकार इस्तीफे दे दिये। फिर भी प्रौढ़-साक्षरता का काम जोश-खरोश के साथ आगे बढ़ाया गया—और उससे परिणाम अच्छे निकले। ग्राम-सुधार की ओर भी बहुत ध्यान दिया गया।

कांग्रेसी सरकारों का काम असर डालनेवाला रहा, मगर इस तमाम अच्छे काम से भी हिन्दुस्तान के बुनियादी मसले हल नहीं हो सके। उसके लिए तो ज्यादा गहराई और तह में जानेवाले रद्दोबदल की और उस साम्राज्यवादी ढांचे को जो सब तरह के स्थापित स्वार्थों की हिफाजत किये हुए था खत्म करने की जरूरत थी।

इसलिए कांग्रेस के ज्यादा नरम और ज्यादा उग्र दलों में मतभेद पैदा होगया। यह पहली बार अ० भा० कांग्रेस-कमेटी की अक्तूबर, १९३७ में होनेवाली बैठक में प्रकट हुआ। इससे गांधीजी को बड़ी तकलीफ पहुंची और उन्होंने खानगी तौर पर अपनी राय जाहिर की। बाद में उन्होंने एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने राष्ट्रपति की हैसियत से किये गये मेरे कुछ कामों को नापसन्द किया।

मैं महसूस कर रहा था कि मैं कार्यसमिति के एक जिम्मेदार मेम्बर की हैसियत से आगे काम नहीं कर सकता। लेकिन मैंने तय किया कि मुझे ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए जिससे कोई संकट आ जाय। कांग्रेस की मेरी सदारत की मियाद अब खत्म होने पर थी और मैं चुपचाप अलग हो सकता था। मैं दो साल लगातार सदर रह चुका था और कुल मिलाकर तीन बार। दूसरे साल के लिए मुझे चुने जाने की फिर कुछ चर्चा थी, मगर मेरे दिमाग में यह बात साफ थी कि मुझे खड़ा न होना चाहिये। इस वक्त मैंने एक जरा-सी तरकीब की जिसमें मुझे बड़ा मजा आया। मैंने एक लेख लिखा जो कलकत्ते के 'मार्डन रिव्यू' में बिना नाम से छपा। उसमें मैंने खद अपने ही दुबारा चुनाव होने का विरोध किया था।

यह कोई नहीं जानता था—खुद सम्पादक भी नहीं—कि वह किसने लिखा है और मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ देखने लगा कि मेरे साथियों और दूसरों पर उसका क्या असर पड़ता है ? लेखक के बारे में सब तरह की ऊटपटांग अटकलें और अन्दाज लगाये गये, लेकिन जबतक जॉन गन्थर ने अपनी किताब 'इनसाइड एशिया' (एशिया के भीतर) में इसका जिक्र न किया तबतक बहुत ही कम लोग सचाई जान पाये थे।

हरिपुरा में जो अगला कांग्रेस-अधिवेशन हुआ उसके सभापति सुभाष बोस चुने गये और मैंने इसके बाद जल्दी ही यूरप जाने का निश्चय किया। मैं अपनी बेटी इन्दु को देखना चाहता था, मगर असली सबब तो था अपने थके हुए और परेशान दिमाग को ताजा करना।

लेकिन यूरोप मुश्किल से ऐसी जगह थी जहां आराम से बैठकर सोचा-विचारा जा सके या दिमाग के अंधेरे कोने को रोशन किया जा सके। वहां तो एक अंधेरा फैला हुआ था। जाहिरा ऐसी शान्ति जरूर थी जैसी तूफान आने के पहले हुआ करती है। वह जून १९३८ का यूरप था, जबकि मि० नेवाइल चैम्बरलेन की खुश करने की नीति पूरे जोर पर थी और वह उन देशों के शरीरों पर चल रही थी जिनको उनके साथ दगा करके कुचल डाला गया था और उसके अंतिम दृश्य का नाटक म्यूनिक में हो चुका था। मैं हवाई जहाज से बर्सीलोना पहुंचा और इस संघर्ष-रत यूरप में प्रवेश किया। वहां मैं पांच दिन तक रहा और रात में आसमान से बमबाजी होती देखी। वहां बहुत कुछ और भी देखा जिसका मुझपर बड़ा असर हुआ; वहां दरिद्रता, सर्वनाश और हमेशा सिर पर मंडराती हुई विपत्ति के बीच मैंने अपने आपको यूरप की किसी भी दूसरी जगह से ज्यादा शांति में पाया। वहां प्रकाश था—साहस, दृढ़ निश्चय और कुछ महत्वपूर्ण काम कर दिखाने का प्रकाश था।

मैं इंग्लैण्ड गया और वहां एक महीना बिताया और सब दर्जों व सब तरह के विचारोंवाले लोगों से मिला। मैंने औसत आदमी में एक तरह की तब्दीली महसूस की। वह तब्दीली ठीक दिशा में थी। लेकिन ऊपर चोटी पर कोई तब्दीली नहीं थी। वहां चैम्बरलेनवाद विजयगर्व में फूला बैठा था। फिर मैं चेकोस्लोवाकिया गया और नजदीक से वह कठिन और पेचीदा कूटनीति देखी कि दोस्त के साथ दगा कैसे की जाती है और सामान्य

ध्येय को, जिसके आप ऊंची-से-ऊंची नैतिक बुनियाद पर, हामी माने जाते हों, कैसे नुकसान पहुंचाया जाता है। म्यूनिक संकट के दिनों में मैंने यही कूटनीति लन्दन और जनेवा में देखी और कई अजीब नतीजों पर पहुंचा। मुझे सबसे अधिक अचम्भा यह हुआ कि संकट के समय कथित प्रगतिशील लोग और दल निहायत नीचे गिर गये। जेनेवा को देखकर तो मुझे पुराने जमाने के खंडहरों का खयाल हो आता था, जहां इधर-उधर सैंकड़ों अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की लाशें बिखरी पड़ी थीं। लन्दन में इस बात पर सन्तोष प्रकट किया जा रहा था कि लड़ाई टल गई है कि और अब दूसरी किसी चीज की परवा नहीं थी। कीमत दूसरों ने चुका ही दी थी, इसलिए उसकी कोई बात थी ही नहीं, लेकिन एक साल के भीतर ही फिर बहुत कुछ बातें होनेवाली थीं। मि० चैम्बरलेन का सितारा बुलन्द होता जा रहा था, हालांकि उनके विरोध में आवाज उठ रही थी। पेरिस ने मुझे काफी सदमा पहुंचाया, खासतौर से उसके मध्यम वर्ग ने, जिसने जरा भी विरोध तक नहीं किया। यह था क्रान्ति का स्थल पैरिस, सारी दुनिया की आजादी का प्रतीक!

बहुत-से स्वप्न भंग करके मैं यूरप से दुखी और उदास होकर लौटा। लौटते हुए रास्ते में मैं मिस्र में ठहरा, जहां मुस्तफा नहास पाशा और वफ्द पार्टी के दूसरे नेताओं ने मेरा हार्दिक स्वागत किया। मुझे उनसे दुबारा मिलकर और तेजी से बदलती हुई दुनिया की परिस्थिति का ध्यान रखते हुए परम्परा की सामान्य समस्याओं पर विचार-विनिमय करके खुशी हुई। कुछ महीने बाद, वफ्द पार्टी का एक प्रतिनिधि-मण्डल हिन्दुस्तान में हमसे मिलने आया और वह हमारे कांग्रेस के सालाना जलसे में शरीक भी हुआ।

हिन्दुस्तान में पुराने मसले और झगड़े जारी थे। मुझे अपने साथियों से अपनी पटरी बैठाने की पुरानी मुश्किल का फिर सामना करना पड़ा। यह देखकर मुझे सन्ताप होता था कि ऐसे समय जब कि दुनिया की काया-पलट होने वाली है बहुतेरे कांग्रेसी दलबन्दियों के इन छोटे-मोटे झगड़ों में उलझे हुए हैं। फिर भी संस्था के ऊंचे हल्कों के कांग्रेसजनों में कुछ ठीक-ठीक समझ और दृष्टि थी। कांग्रेस के बाहर पतन और भी ज्यादा साफ था। साम्प्रदायिक द्वेष और तनाव बढ़ गया था और मुस्लिम लीग श्री जिन्ना के नेतृत्व में उग्र रूप से राष्ट्रीयता-विरोधी और संकीर्ण हो गई और अचम्भे में डालनेवाला रास्ता अख्तियार

करती रही। उसकी तरफ से न तो कोई रचनात्मक सुझाव था, न कोई कोशिश बीच-बचाव करके मेल-मिलाप करने की थी, और न सवालों का कोई जवाब मिलता था, कि वे दरअसल क्या चाहते हैं? उसका तो एक घृणा और हिंसाका खण्डनात्मक कार्यक्रम था—जिससे नाजी लोगों के तौर-तरीके याद आ जाते थे। जो बात खासतौर से तकलीफदेह थी वह यह थी कि साम्प्रदायिक संस्थाओं की उद्दण्डता बढ़ती जा रही थी—जिसका हमारे सार्वजनिक जीवन पर बुरा असर पड़ रहा था। बेशक ऐसी बहुतेरी मुस्लिम जमातें थीं और मुसलमानों की एक बड़ी तादाद ऐसी थी जो मुस्लिम लीग की हरकतों से नाराज और कांग्रेस के हक में थी।

इस रीति से मुस्लिम लीग लाजिमी तौर पर ज्यादा-से-ज्यादा गलत रास्ते पर चलती गई और आखिरकार वह खुले आम हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र के खिलाफ ही नहीं खड़ी हो गई बल्कि देश के टुकड़े करने तक की हामी हो गई। ब्रिटिश अफसरों ने इन बेहूदी मांगों में उसकी पीठ ठोंकी, क्योंकि वे तमाम दूसरी हानिकर ताकतों की तरह मुस्लिम लीग से फायदा उठाना चाहते थे—ताकि कांग्रेस का असर कमजोर पड़ जाय। यह एक अचरज की बात थी कि जिस समय यह साफ हो गया हो कि छोटे-छोटे राष्ट्रों की दुनिया में कोई जगह नहीं है, वे केवल राष्ट्रों के एक संघ के हिस्से बनकर ही रह सकते हैं, ठीक उसी समय हिन्दुस्तान के हिस्से किये जाने की यह मांग पेश हो। शायद मांग गम्भीर रूप से न रखी गई हो, लेकिन वह श्री जिन्ना के दो राष्ट्रोंवाले सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम थी। साम्प्रदायिकता की इस नई सूरत का धार्मिक भेदभाव से कोई वास्ता न था। उन्हें दूर किया जा सकता था। यह तो आजाद, संगठित और प्रजातन्त्रात्मक भारत चाहनेवाले लोगों और उन अति प्रतिगामी और सामन्तप्रथावादी लोगों का राजनैतिक झगड़ा था जो मजहब की ओट में अपने खास हितों को कायम रखना चाहते थे। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोग धर्म के नाम पर जैसा आचरण कर रहे थे और उसका दुरुपयोग कर रहे थे, वह मुझे एक अभिशाप और सभी प्रकार की सामाजिक और वैयक्तिक प्रगति का निषेध प्रतीत होता था। वह धर्म जिससे आशा की गई थी कि वह आध्यात्मिकता और भ्रातृ-भाव का प्रचार करेगा, अब घृणा, संकीर्णता और कमीनेपन का और निचले दर्जे की भौतिकता का खास सोता बन गया।

१९३९ की शुरुआत में राष्ट्रपति के चुनाव के वक्त कांग्रेस में बहुत झगड़ा हुआ। बदकिस्मती से मौलाना अबुलकलाम आजाद ने चुनाव में खड़े होने से इन्कार कर दिया और चुनाव लड़ने के बाद सुभाषचन्द्र बोस चुने गये। इससे अनेक प्रकार की उलझनें और अड़ंगा पैदा हो गया जो कई महीनों तक चलता रहा। त्रिपुरी कांग्रेस में बेहूदा दृश्य देखने में आये। उस समय मेरा उत्साह बहुत ठंडा पड़ा हुआ था और बिना साथियों से नाता तोड़े आगे चलना मेरे लिए मुश्किल था। राजनैतिक घटनाओं, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातों का भी मुझ पर असर जरूर पड़ा, लेकिन तात्कालिक कारणों का सार्वजनिक मामलों से कोई वास्ता न था। मैं खुद अपने-आपसे ही ऊब उठा और एक अखबार में मैंने एक लेख में लिखा—"मुझे डर है कि मैं उन (अपने साथियों) को सन्तोष नहीं दे पाता, लेकिन यह कोई अचरज की बात नहीं है, क्योंकि मैं अपने-आपको तो और भी कम सन्तोष दे पाता हूं। नेतागिरी इस गुण या बल पर नहीं हासिल होती। और जितनी जल्दी मेरे साथी इस बात को जान लें उतना ही उनके और मेरे लिए बेहतर है। मन काफी अच्छी तरह काम कर लेता है, बुद्धि को आदत पड़ गई है काम चला लेने की; लेकिन वह सोता, जो ठीक से काम चलाने के लिए जीवन और शक्ति देता है, सूख-सा गया जान पड़ता है।"

सुभाष बोस ने राष्ट्रपति-पद से इस्तीफा दे दिया और फॉरवर्ड ब्लाक (अग्र-गामी दल) चलाया, जो कांग्रेस का करीब-करीब प्रतिद्वन्द्वी संगठन होना चाहता था। कुछ अर्से के बाद उसकी ताकत खत्म हो गई, जैसा कि होना ही था, मगर इससे विध्वंसक प्रवृत्तियों को मदद पहुंची और आम खराबियां पैदा हुईं। लच्छे-दार शब्दों के पर्दे में दुःसाहसी और अवसरवादी लोगों को बोलने का मौका मिल गया और मुझे जर्मनी में नाजीदल के पैदा होने का खयाल आये बिना न रहा। उनका तरीका था किसी एक प्रोग्राम के लिए आम जनता का सहयोग हासिल करके फिर उसका कतई दूसरे किस्म के मकसद के लिए उपयोग कर लेना।

जान-बूझकर मैं नई कांग्रेस कार्य-समिति से अलग हो गया। मुझे महसूस हुआ कि मैं अपना मेल नहीं बैठा सकता और जो कुछ हुआ था वह मुझे ज्यादा पसन्द नहीं था। राजकोट के सिलसिले में गांधीजी के उपवास और उसके बाद की घटनाओं से मैं परेशान हो गया। मैंने उस वक्त लिखा था कि "राजकोट की घटनाओं के बाद मेरी असहाय होने की भावना बढ़ गई है। जहां मेरी समझ

में कुछ नहीं आता वहां मैं काम कर नहीं सकता, और जो कुछ हुआ है उसकी दलील मेरी समझ में कतई नहीं आती।" आगे मैंने लिखा था—"हममें से बहुतेरों के आगे पसन्दगी की कठिनाई बढ़ती जा रही है, और सवाल न दक्षिण-वाम (नरम-गर्म) पक्ष का है, न राजनैतिक फैसलों का ही है। पसन्दगी के लिए केवल यही है कि या तो ऐसे फैसलोंको बिना सोचे-समझे कबूल कर लो कि जो कभी-कभी एक-दूसरे का ही विरोध करते हैं और उनमें दलील की गुंजाइश नहीं है, या विरोध करो या निष्क्रिय बन जाओ। इनमें से एक भी तरीके को अच्छा कह सकना आसान नहीं है। बिना सोचे-समझे किसी की ऐसी बात मान लेने से, जो समझ में नहीं आती या खुशी से मन्जूर नहीं की जा सकती, मानसिक कमजोरी और जड़ता पैदा होती है। इस बुनियाद पर बड़े आन्दोलन नहीं चलाये जा सकते और प्रजातन्त्रीय आन्दोलन तो निश्चित रूप से नहीं। विरोध करना तब मुश्किल हो जाता है, जबकि वह हमें कमजोर करता और प्रतिपक्षी को मदद पहुंचाता हो। जिस समय कर्म की पुकार चारों ओरसे उठ रही हो उस समय निष्क्रिय रहने से निराशा पैदा होती है और सब तरह की पेचीदगियां पैदा होती हैं।"

१९३८ के अखीर में यूरप से लौटने के थोड़े समय बाद ही दो और हलचलों में मुझे लग जाना पड़ा। मैंने अ० भा० देशी राज्य लोक-परिषद् के लुधियाना-अधिवेशन का सभापतित्व किया और इस तरह अर्ध-सामन्ती देशी रियासतों के प्रगतिशील आन्दोलनों से मेरा और भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। बहुत-सी रियासतों में असन्तोष बढ़ता जा रहा था, कि जिससे जब-तब प्रजामण्डलों और अधिकारियों में संघर्ष हो जाता था। इन रियासतों के सम्बन्धमें अथवा ब्रिटिश-सरकार नें मध्ययुग के इन खण्डहरों को कायम रखने में जो हिस्सा लिया है उसके बारे में लिखते हुए जबान में लगाम लगाना मुश्किल है। हाल में एक लेखक ने उन्हें हिन्दुस्तान में ब्रिटेन का 'पाचवां दल' (शत्रु का गुप्त दल) ठीक ही कहा है। कुछ सुलझे हुए समझदार शासक भी हैं जो अपनी प्रजा का पक्ष लेना चाहते हैं और कारगर सुधार जारी करना चाहते हैं, मगर सर्वोच्च-सत्ता उनके रास्ते में रोड़े अटकाती है। एक प्रजातन्त्रीय रियासत 'पांचवां दल' बन कर काम नहीं कर सकती।

यह साफहै कि ये ५५० छोटी-बड़ी रियासतें राजनैतिक या आर्थिक इकाइयां

बन कर अलग-अलग काम नहीं कर सकतीं। प्रजातन्त्र-भारत में वे सामन्ती गढ़ बनकर नहीं रह सकतीं। चन्द बड़ी-बड़ी रियासतें फेडरेशन (संघ) में प्रजातन्त्रीय इकाई बन सकती हैं, लेकिन दूसरों को तो बिलकुल मिट जाना होगा। इससे कम या छोटे सुधार से मसला हल नहीं हो सकेगा। देशी राज्य-प्रथा को मिटना होगा और वह तभी मिटेगी, जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद मिटेगा।

मेरी दूसरी हलचल थी, राष्ट्र-निर्माण समिति (नेशनल प्लैनिंग कमेटी) का सभापतित्व, जो कांग्रेस के तत्वावधान में प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से बनी थी। जैसे-जैसे हम इस काम को लेकर चले वैसे-वैसे ही वह बढ़ता गया, यहांतक कि राष्ट्रीय गतिविधि के हरेक पहलू से उसका सम्बन्ध हो गया। हमने विविध विषय-समूहों के लिए २९ उपसमितियां मुकर्रर कीं—कृषि, औद्योगिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि—और उनमें परस्पर सहयोग पैदा करने की कोशिश की, ताकि हिन्दुस्तान के लिए एक सुनिश्चित अर्थ-व्यवस्था की कोई योजना बन सके। हमारी योजना जरूरी तौर पर ढांचे की शक्ल में होगी, जिसमें बाद में ब्यौरे की बातें शामिल होती रहेंगी। यह राष्ट्र-निर्माण-समिति अब भी काम कर रही है और अभी कुछ महीनों इसका काम खत्म होनेकी सम्भावना नहीं है। मेरे लिए यह काम बड़ा लुभावना रहा और इससे मैंने बहुत सीखा है। यह साफ है कि कोई भी योजना हम बनाये, वह अमल में तभी आ सकती है, जब कि हिन्दुस्तान आजाद हो। यह भी साफ है कि किसी भी उपयोगी योजना में आर्थिक ढांचे का समाजीकरण हो जाना जरूरी है।

१९३९ की गर्मी में मैं थोड़े दिन के लिए सीलोन (लंका) गया क्योंकि वहां के हिन्दुस्तानी बाशिन्दों और सरकार में झगड़ा पैदा हो गया था। मुझे उस सुन्दर टापू में जाने से बड़ी खुशी हुई और मैं समझता हूं, कि इस यात्रा से हिन्दुस्तान और सीलोन में निकट सम्बन्धों की नींव पड़ी। हरेक शख्श की तरफ से मेरा हार्दिक स्वागत हुआ, जिनमें सरकार के सीलोनी मेम्बर भी थे। मुझे इसमें शक नहीं कि किसी भी भावी व्यवस्था में सीलोन और भारत को साथ-साथ रहना पड़ेगा। भविष्य में, मेरी कल्पना के अनुसार तो एक संघ बनेगा जिसमें चीन, भारत, बर्मा, सीलोन, अफगानिस्तान, शायद दूसरे मुल्क भी शामिल होंगे। अगर विश्व-संघ बने तो फिर कहना हीं क्या ?

१९३९ के अगस्त में यूरप की हालत डरावनी थी और संकट की घड़ी में

मैं हिन्दुस्तान छोड़कर नहीं जाना चाहता था। लेकिन चीन की यात्रा करने की इच्छा—भले ही थोड़े दिन के लिए सही—प्रबल थी। और मैं चीन के लिए हवाई जहाज से रवाना हुआ और हिन्दुस्तान छोड़ने के दो ही दिन के अन्दर-अन्दर मैं चुंगकिंग में था। पर जल्दी ही मुझे वापस हिन्दुस्तान आ जाना पड़ा, क्योंकि अन्त में यूरप में लड़ाई छिड़ गई थी। मैंने स्वतन्त्र चीन में दो हफ्ते से भी कम बिताये लेकिन ये दो हफ्ते थे बड़े स्मरणीय——न सिर्फ व्यक्तिगत रूप से मेरे ही लिए बल्कि हिन्दुस्तान और चीन के भावी सम्बन्ध के लिए भी। मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि मेरी इस इच्छा को कि चीन और हिन्दुस्तान एक-दूसरे के अधिक निकट आवें चीन के नेताओं ने भी दुहराया और खास तौर पर उस महान् पुरुष ने, जो चीन की एकता, और स्वतन्त्र रहने की लगन का प्रतीक बन गया है। मार्शल च्यांग काई शेक और मैडम च्यांग से मैं कई मर्तबा मिला, और अपने-अपने देशोंके वर्तमान और भविष्य पर विचार-विनिमय किया। जब मैं भारत लौटा तो चीन और चीनी लोगों का पहले-से भी ज्यादा प्रशंसक बनकर लौटा। मुझे यह कल्पना भी न थी कि दुर्दिन इन पुरातन लोगों की आत्मा को कुचल सकता है; वे फिर नौजवान बन गये थे।

युद्ध और हिन्दुस्तान। हमें अब क्या करना है? बरसों से हम इसके बारे में सोचते आ रहे थे और अपनी नीति की घोषणा कर चुके थे। मगर यह सब होते हुए भी ब्रिटिश-सरकार ने हम लोगों की, केन्द्रीय धारासभा की या प्रान्तीय सरकारों की राय लिये बिना हिन्दुस्तानको लड़ाई में शरीक मुल्क करार दे दिया। इस उपेक्षा को हम यों ही नहीं टाल सकते, क्योंकि इससे प्रकट होता था कि साम्राज्यवाद पहले की तरह काम कर रहा है। सितम्बर १९३९ के मध्य कांग्रेस कार्यसमिति ने एक लम्बा वक्तव्य जारी किया, जिसमें हमारी पिछली और हाल की नीति की व्याख्या की गई और ब्रिटिश-सरकार से मांग की गई कि वह अपने युद्ध-उद्देश्य, खासकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रश्न पर, साफ करे। हमने अक्सर फासिज्म और नाजीवाद की निन्दा की थी लेकिन हमारा निकट-सम्बन्ध तो साम्राज्यवाद से था जो हमारे ऊपर सवार था। क्या यह साम्राज्य-वाद मिट जायगा? क्या उन्होंने हिन्दुस्तान की आजादी को और विधान-पंचायत द्वारा अपना विधान स्वयं बनाने के अधिकार को स्वीकार किया? केन्द्रीय शासन को तत्काल लोक-निर्वाचित सरकार के मातहत लाने के लिए क्या कदम उठाये

जांयगे ? बाद में, किसी भी अल्पसंख्यक समूह की ओर से उठाये जा सकनेवाले एतराजों को रफा करने के लिए विधान-पंचायत का विचार और भी अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया। यह बयान दिया गया कि इस पंचायत में अल्पसंख्यकों के हकों पर अल्पसंख्यकों की राय से फैसले किये जांयगे, बहुमत से नहीं। अगर किसी सवाल पर इस प्रकार समझौता मुमकिन न हो सकेगा, तो वह एक निष्पक्ष पंचायत में अखीरी फैसले के लिए पेश होगा। लोकतन्त्रवादी दृष्टि से यह प्रस्ताव खतरे से खाली नहीं था लेकिन अल्पसंख्यकों के सन्देह को मिटाने के लिए कांग्रेस चाहे जितनी दूर तक जाने को तैयार थी।

ब्रिटिश-सरकार का जवाब साफ था। इसमें कोई शक नहीं रहा कि वह अपने युद्ध-उद्देश्यों को स्पष्ट करने या शासन को जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में सौंप देने को तैयार नहीं थी। पुरानी व्यवस्था चलती रही और चलती रहनेवाली थी; हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के हित अरक्षित नहीं छोड़े जा सकते थे। इस बात पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे पेश कर दिये, क्योंकि वे युद्ध चलाने में इन शर्तों पर सहयोग करना नहीं चाहते थे। विधान स्थगित कर दिया गया और स्वेच्छाचारी हुकूमत फिर से कायम हो गई। ठीक वही पुराना वैधानिक संघर्ष हिन्दुस्तान में भी आ खड़ा हुआ जैसा कि पश्चिमी देशों में निर्वाचित पार्लमेंट और सम्राट् के विशेषाधिकारों में छिड़ा था, और जिसमें इंग्लैण्ड और फ्रांस के दो सम्राटों को अपनी जान देनी पड़ी थी। लेकिन इस वैधानिक पहलू के अलावा कुछ और बात भी थी। ज्वालामुखी अभी फूटा नहीं था लेकिन वह छिपा था जरूर और उसकी गर्जना सुनाई दे रही थी।

अड़ंगा जारी रहा और इसी दरमियान नये कानून और आर्डिनेंस धीरे-धीरे हमपर लादे जाने लगे और कांग्रेसियों और दूसरे लोगों की गिरफ्तारियां बढ़ने लगीं। विरोध बढ़ा और हमारी तरफ से कुछ कार्रवाई करने की मांग भी। लेकिन लड़ाई के रवैये और खुद इंग्लैण्ड के संकट से हम झिझक भी रहे थे, क्योंकि हम वह पुराना सबक पूरी तौर से नहीं भूल सकते थे, जो गांधीजी ने हमें सिखाया था कि हमारा लक्ष्य विपक्षी को उसकी मुसीबत की घड़ी में परेशान करना नहीं होना चाहिए।

ज्यों-ज्यों लड़ाई बढ़ती गई, नये-नये मसले खड़े होते गये या पुराने मसले नई शकलें अख्तियार करते गये, और पुरानी रूपरेखाएं बदलती मालूम

होने लगीं, पुराने स्टैण्डर्ड (माप) धुंधले पड़ने लगे। कई धक्के लगे और जमे रहना मुश्किल हो गया। रूस-जर्मनी का समझौता, सोवियट का फिनलैण्ड पर हमला, और रूस का जापान की तरफ दोस्ताना झुकाव! इस दुनियां में क्या कुछ सिद्धान्त भी हैं, संसार में आचरण का कोई आदर्श भी है या सब कुछ केवल अवसरवादिता ही है?

अप्रैल आया और नार्वे की हार हुई। मई में हालैण्ड और बेलजियम के भयंकर काण्ड हुए। जून में अचानक ही फ्रांस का पतन हुआ और पेरिस, जो एक घमंडी और मनोरम नगर था और आजादी का पालना था, अब कुचला हुआ और गिरा हुआ पड़ा था। फ्रांस की सिर्फ फौजी हार ही नहीं हुई, बल्कि उसका नैतिक दासत्व और पतन भी हुआ जो बेहद बुरी बात थी। मैं अचम्भे में था कि यदि मूल में कोई खराबी न थी तो यह सब कैसे हुआ? क्या खराबी यह थी कि इंग्लैण्ड और फ्रांस उस पुरानी व्यवस्था के सबसे बड़े प्रतिनिधि थे, जिसको अब खत्म होना चाहिए, और इसीलिए वे कायम नहीं रह सकते थे? क्या साम्राज्यवाद जाहिरातौर पर उन्हें ताकत पहुंचा रहा था, पर दरअसल उस किस्म की लड़ाई में उनको कमजोर कर रहा था? अगर वे खुद अपने यहां आजादी का दमन करते थे तो उसके लिए लड़ कैसे सकते थे, और उनका साम्राज्य-वाद नग्न फासिज्म में बदल जाता—जैसा कि फ्रांस में हुआ। मि० चैम्बरलेन और उनकी पुरानी नीति की छाया अब भी इंग्लैण्ड पर पड़ रही थी। जापान को खुश करने के लिए बर्मा-चीन का रास्ता बन्द किया जा रहा था। और यहां हिन्दुस्तान में किसी परिवर्तन का संकेत तक नहीं था, और हमारी खुद अपने पर लगाई हुई रोक का मतलब यह लगाया जाता था कि हम कोई कारगर काम करने के काबिल नहीं हैं। मुझे आश्चर्य था कि ब्रिटिश सरकार में जराभी दूरदर्शिता नहीं है और वह जमाने की रफ्तार को और जो कुछ हो रहा है उसको समझने और अपने आपको उसके मुताबिक बनाने में असमर्थ है। क्या यह कोई प्राकृतिक नियम था कि अन्य क्षेत्रों की तरह राजनैतिक घटनाक्रमों में भी कारण के बाद कार्य अवश्य होना चाहिए, और जिस पद्धति की अब कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी, वह अब समझदारी के साथ अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती थी?

अगर ब्रिटिश सरकार ही मन्दबुद्धि थी और तजरुबे से भी कुछ सबक नहीं ले सकती थी तो भारत-सरकार की निस्बत कोई क्या कहे? इस सरकार

की कारगुजारियों पर कुछ तो हंसी आती है, पर कुछ दुख भी होता है, क्योंकि कोई भी दलील, खतरा या आफत उसकी स्वत: सन्तुष्ट रहने की सदियों पुरानी नीति से उसे डिगाती नहीं दिखाई देती। रिप वॉन विंकिल की तरह वह जगते हुए भी शिमला-शैल पर सोती रहती है।

युद्ध की परिस्थिति में तब्दीलियां होती गईं, और कांग्रेस कार्य-समिति के सामने नये-नये सवाल आते गये। गांधीजी चाहते थे कि कार्य-समिति अभी तक अहिंसा के जिस सिद्धान्त का आजादी की लड़ाई में पालन कर रही थी उसे बढ़ाकर स्वतन्त्र राष्ट्र-संचालन के लिए भी अनिवार्य कर दे। स्वतन्त्र भारत को बाहरी हमलों या अन्दरूनी झगड़ों से अपनी हिफाजत करने के लिए इसी सिद्धान्त पर निर्भर रहना होगा। उस वक्त हमारे सामने यह सवाल नहीं था, लेकिन उनके खुद के दिमाग में वह समाया हुआ था और वह महसूस करते थे कि उसकी स्पष्ट घोषणा का वक्त आ चुका है। हममें से हरेक यह विश्वास करता था कि हमको अपनी लड़ाई में अहिंसा की नीति पर पूर्ववत् डटे रहना चाहिए। यूरप के युद्ध ने इस विश्वास को पक्का कर दिया था। लेकिन इसके साथ भविष्य के राष्ट्र को बांध देना एक दूसरी ही और ज्यादा मुश्किल बात थी। और यह देखना आसान न था कि राजनीति की सतह पर चलने फिरने वाला कोई इसे कैसे कर सकेगा?

गांधीजी ने महसूस किया, और शायद ठीक ही किया, कि वह सारी दुनिया के लिए अपना सन्देश न तो छोड़ सकते हैं, और न उसे सीमित कर सकते हैं। उनको अपनी इच्छानुसार अपने सन्देश का प्रचार करने की आजादी होनी चाहिए और राजनीतिक आवश्यकताएं उनके मार्ग में बाधक नहीं होनी चाहिए। इसलिए पहली मर्तबा उन्होंने एक रास्ता अख्तियार किया और कांग्रेस कार्य-समिति ने दूसरा। उनसे पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था, क्योंकि आपस के बन्धन बड़े कड़े थे और निस्सन्देह अब भी वह तरह-तरह से सलाह देते रहेंगे और अक्सर नेतृत्व करते रहेंगे। फिर भी इतना तो शायद सच है कि उनके कांग्रेस से आंशिक रूप से हट जाने से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक काल खत्म हो गया है। इन पिछले बरसों में मैंने उनमें एक कड़ाई आती देखी है, और परिस्थितियों से मेल बैठाने की जो क्षमता उनमें थी, वह कम हो गई है। लेकिन उनमें पुराना जादू अभी है, वह पुराना आकर्षण अब भी काम करता है

और उनका व्यक्तित्व और उनकी महानता सर्वोपरि है । कोई यह खयाल न करे कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों पर उनका जो असर था, वह कुछ कम हो गया है। वह बीस साल से अधिक समय से हिन्दुस्तान के भाग्य-निर्माता रहे हैं और उसका काम अभी पूरा नहीं हुआ है।

पिछले चन्द हफ्तों में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के कहने पर कांग्रेस ने ब्रिटेन के सामने एक और प्रस्ताव रक्खा । राजगोपालाचार्य कांग्रेस के नरम पक्ष के कहे जाते हैं। उनकी अद्‌भुत मेधाशक्ति, निःस्वार्थ चारित्र्य और विश्लेषण की अपूर्व क्षमता हमारे लक्ष्य के लिए बहुत लाभदायक रही है । कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल के शासनकाल में वह मद्रास के प्रधान मन्त्री थे। संघर्ष से बचने के लिए वह चिन्तित थे,इसलिए उन्होंने एक प्रस्ताव रखा जिसे उनके कुछ साथियों ने बिना हिचकिचाहट के मंजूर कर लिया। प्रस्ताव यह था कि ब्रिटेन हिन्दुस्तान की आजादी मंजूर करे, केन्द्र फौरन ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बना दे, जो मौजूदा केन्द्रीय धारासभा के प्रति जिम्मेदार हो। अगर यह हो जाय, तो रक्षा का भार यह नई सरकार ले ले और इस तरह लड़ाई की कोशिशों में मदद पहुंचावे।

कांग्रेस का यह प्रस्ताव खासतौर से व्यावहारिक था और फौरन बिना कोई गड़बड़ी पैदा किये अमल में लाया जा सकता था। राष्ट्रीय सरकार अनिवार्य रूप से सम्मिलित रूप की होती, जिसमें अल्पसंख्यक दलों का पूरा प्रतिनिधित्व होता। प्रस्ताव निश्चित रूप से नरम था । रक्षा और युद्ध-प्रयत्नों की दृष्टि से कोई गम्भीर कार्य किया जाय, तो जनता का विश्वास और सहयोग होना चाहिए, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। और सिर्फ राष्ट्रीय सरकार को ही ऐसा विश्वास और सहयोग मिल सकता है। साम्राज्यवाद के द्वारा यह होना नामुमकिन है।

लेकिन साम्राज्यवाद तो उल्टी ही दिशा में सोचता है। वह खयाल करता है कि वह अपना काम चलाता रह सकता है और अपनी मर्जी पूरी करने के लिए लोगों पर दबाव भी डालता रह सकता है। खतरा सिर पर होने पर भी वह इस बड़ी भारी मदद को पाने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि इसमें हिन्दुस्तान की राजनीतिक और आर्थिक बागडोर छोड़नी पड़ती है। और तो और, उसे उस बड़ी भारी नैतिक प्रतिष्ठा की भी परवा नहीं है जो उसे हिन्दुस्तान में और

साम्राज्य के बाकी हिस्सों में इस तरह की न्यायोचित बात करने से मिल सकती है।

आज, ८ अगस्त, १९४० को जब मैं यह लिख रहा हूं, वाइसराय ने ब्रिटिश सरकार का जवाब हमें दे दिया है। वह साम्राज्यवाद की पुरानी भाषा में है और मजमून किसी कदर भी नहीं बदला है। यूरोप और दुनिया की तरह यहां हिन्दुस्तान में भी कालचक्र घूमता जा रहा है।

मेरे साथी वापस जेल में पहुंच गये हैं और मुझे उनपर थोड़ा रश्क भी है। शायद युद्ध, राजनीति, फासिज्म, और साम्राज्य वाद की इस पागल दुनिया की बनिस्बत कारावास के एकान्त में जीवन की अखंडता की भावना उत्पन्न कर लेना अधिक आसान है।

लेकिन कभी-कभी कम-से-कम इस दुनिया से थोड़ी देर को छुटकारा मिल ही जाता है। पिछले महीने में २३ बरस के बाद मैं काश्मीर गया। मैं वहां सिर्फ १२ दिन रहा, लेकिन ये बारह दिन बड़े सुन्दर थे, और मैंने जादू-भरे उस देश की रमणीयता का भोग किया। मैं घाटी के इधर-उधर घूमा, ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों की सैर की और एक ग्लेशियर पर चढ़ा और महसूस किया कि जीवन भी एक काम की चीज है।

इलाहाबाद

८ अगस्त, १९४०

परिशिष्ट--क

[२६ जनवरी, १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस, का प्रतिज्ञा-पत्र]

''हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल खुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएं मिलें जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौका मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा उस सरकार को बदल देने या मिटा देने का भी हक है। हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार ही गरीबों के रक्त-शोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज या मुकम्मिल आजादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

''भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया जाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते हैं उनका २० फी सदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फी सदी गरीबों से नमक-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

''हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मन्द हो गई और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये हैं उनकी जगह दूसरे देशों की भांति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये हैं।

''चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अंग्रेजी कारखानों से आता है। चुंगी के महसूल में अंग्रेजी माल के साथ खासतौर पर

पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग गरीबों का बोझा हल्का करने में नहीं, बल्कि एक अत्यन्त अपव्ययी शासन को कायम रखने में किया जाता है विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीके से निश्चित की गई है जिससे देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेजों के जमाने में घटा है उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नहीं आई। हमारे बड़-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के सामने सर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आजादी से जाहिर करने और आजादी से मिलने-जुलने के हमारे हक छीन लिए गये हैं और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गये हैं। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गांवों के छोटे-छोटे ओहदों और मुंशीगीरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"संस्कृति के लिहाज से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की जंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार जबर्दस्ती छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुकाबले की भावना बड़ी बुरी तरह से कुचल दी है। उसने हमारे दिलों में यह बात बिठादी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न विदेशी हमलों से देश की रक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं,चोर,डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नहीं बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति अपराध है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-सम्भव स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायेंगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राजी-राजी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बगैर कर देना बन्द कर सके तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाएं देगी, उनका हम पालन करते रहेंगे।"

परिशिष्ट—ख

[यरवडा सेण्ट्रल जेल, पूना से १५ अगस्त, १९३० को कांग्रेस-नेताओं द्वार सर तेज बहादुर सप्रू और श्री मुकन्दराव जयकर को लिखा गया सुलह की शर्तोंवाला पत्र]

आप लोगों ने ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता कर का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपका वाइसराय के साथ जो पत्र-व्यवहार हुआ है, और आपके साथ हम लोगों की जो बहुत अधिक बातें हुई हैं और हम लोगों में आपस में जो कुछ परामर्श हुआ है, उस सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि अभी ऐसे समझौते का समय नहीं आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो। पिछले पांच महीनों में देश में जो गजब की जाग्रति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले लोगों में से छोटे-बड़े सभी प्रकार और वर्ग के लोगों ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते हैं कि न तो वह कष्ट सहन काफी ही हुआ है, और न वह इतना बड़ा ही हुआ है कि उससे तुरंत ही हमारा उद्देश्य पूरा हो जाय। शायद यहां यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नहीं हैं कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुंची है या वह आन्दोलन कुसमय में खड़ा किया गया है या वह अवैध है। अंग्रेजों का इतिहास ऐसी-ऐसी रक्तपूर्ण क्रान्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनकी प्रशंसा के राग गाते हुए अंग्रेज लोग कभी नहीं थकते; और उन्होंने हम लोगों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है। इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्यरूप में भी बहुत बड़े पैमाने में और अद्भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अंग्रेज को शोभा नहीं देता। पर जो सरकारी या गैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते हैं, उनके साथ झगड़ा करने की हमारी कोई इच्छा नहीं है। हम मानते हैं कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्यजनक रूप से इस आन्दोलन में शामिल हुए, वही इस

बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है। यहां कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते हैं कि अगर किसी तरह सम्भव हो, तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया जाय। अपने देश के पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति में रखना कि उन्हें जेल जाना पड़े, लाठियां खानी पड़ें और इनसे भी बढ़कर दुर्दशाएं भोगनी पड़ें, हम लोगों के लिए कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते हैं कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते हैं, उन सब को ढूंढ़कर उनका सहारा लेने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेंगे, तो आशा है कि आप हम लोगों की इस बात पर विश्वास करेंगे। लेकिन फिर भी हम मानते हैं कि अभीतक हमें क्षितिज पर ऐसी शान्ति का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। हमें अभीतक इस बात का कोई आसार नहीं दिखाई पड़ता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियों ने अपने शुभ विचारों की जो निष्ठापूर्ण घोषणाएं की हैं और जिनमें से बहुत-सी प्रायः अच्छे उद्देश्य से की गई हैं, उनपर हम विश्वास नहीं करते। इधर मुद्दतों से अंग्रेज इस प्राचीन देश के निवासियों की धनसम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये हैं, उनके कारण उन अंग्रेजों में अब इतनी शक्ति और योग्यता नहीं रह गई है कि वे यह बात देख सकें कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नहीं कर सकते कि उनके करने का सबसे बड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढ़े बैठे हैं, उसपर से उतर जांय; और लगभग सौ बरसों तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हम लोगों का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे बाहर निकलकर विकसित होने में हमारी सहायता करें; और अबतक उन्होंने हमारे साथ जो अन्याय किये हैं, उनका इस रूप में प्रायश्चित्त कर डालें।

पर हम यह बात जानते हैं कि आपके और हमारे देश के कुछ और विश

लोगों के विचार हमारे इन विचारों से भिन्न हैं। आप यह विश्वास करते हैं कि शासकों के भावों में परिवर्तन हो गया है; और अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना परिवर्तन जरूर हो गया है कि जिससे हम लोगों को प्रस्तावित परिषद् में जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालांकि हम इस समय एक खास तरह के बन्धन में पड़े हुए हैं, तो भी जहांतक हमारे अंदर शक्ति है वहांतक हम इस काम में खुशी से आप लोगों का साथ देंगे। हम जिस परिस्थिति में पड़े हुए हैं, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न में हम अधिक-से-अधिक जिस रूप में और जिस हदतक सहायता दे सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) हम यह समझते हैं कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है उसमें प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहौर में जो राष्ट्रीय मांग पेश की गई थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्व ही निर्धारित नहीं कर सकते; और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि कांग्रेस की कार्य-समिति, और जरूरत हो तो महासमिति के नियमित अधिवेशन में बिना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सकें। पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगों के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा जबतक कि

(क) पूरे और स्पष्ट शब्दों में यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय;

(ख) भारत में ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित न हो जाय जो उसके निवासियों के प्रति उत्तरदाई हो ताकि उसे देश की रक्षक शक्तियों (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयों पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमें उन ११ बातों का भी समावेश हो जाय जो गांधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र में लिखकर भेजी थीं; और

(ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार न प्राप्त हो जाय कि जरूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतन्त्र पंचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अंग्रेजों को जो विशेष अधिकार और रिआयतें वगैरा प्राप्त हैं, जिसमें भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय सरकार

यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नहीं हैं या भारत की जनता के लिए हितकर
हीं हैं, वे सब अधिकार, रिआयतें और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य
या नहीं ?

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक्त भारत के हित के विचार से इस
स्म के जिस लेन-देन आदि की जरूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने
ए प्रतिनिधि करेंगे।

(२) ऊपर बतलाई हुई बातें ब्रिटिश-सरकार को अगर ठीक जंचे और
ह इस सम्बन्ध में सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम कांग्रेस की कार्य-समिति
इस बात की सिफारिश करेंगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अवज्ञा का
ान्दोलन बन्द कर दिया जाय; अर्थात्, केवल आज्ञा-भंग करने के लिए ही कुछ
वशिष्ट कानूनों का भंग न किया जाय। पर विलायती कपड़े और शराब, ताड़ी
गैरा की दूकानों पर तबतक शांतिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगा, जबतक कि सरकार
ुद कानून बनाकर शराब, ताड़ी आदि और विलायती कपड़ की बिक्री बन्द न
र देगी। सब लोग अपने घरों में बराबर नमक बनाते रहेंगे और नमक-कानून
ी दण्ड-सम्बन्धी धाराएं काम में नहीं लाई जायगी। नमक के सरकारी या
ोगों के निजी गोदामों पर धावा नहीं किया जायगा।

(३) ज्योंही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, त्योंही

(क) वे सब सत्याग्रही कैदी और राजनैतिक कैदी, जो सजा पा चुके हैं
पर जो हिंसा के अपराधी नहीं हैं या जिन्होंने लोगों को हिंसा करने के लिए उत्तेजित
नहीं किया है, सरकार द्वारा छोड़ दिये जायंगे;

(ख) नमक-कानून, प्रेस-कानून, लगान-कानून और इसी प्रकार के और
कानून के अनुसार जो तमाम सम्पत्तियां जब्त की गई हैं, वे सब लोगों को वापस
कर दी जायगी;

(ग) सजायाफ्ता सत्याग्रहियों से जो जुर्माने वसूल किये गये हैं या जो
जमानतें ली गई हैं, उन सबकी रकमें लौटा दी जायगी;

(घ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमें गांवों के कर्मचारी भी शामिल हैं,
जिन्होंने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुड़ा
दिये गये हैं, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहें तो अपने पद पर नियुक्त
कर दिये जायंगे।

नोट—ऊपर जो उपधाराएं दी गई हैं उनका व्यवहार असहयोगकाल के सजायाफ्ता लोगों के लिए भी होगा।

(ङ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये हैं, वे सब रद्द कर दिये जांयगे।

(च) प्रस्तावित परिषद् में कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जांयगे और उसमें कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, इसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातों का संतोष-जनक निपटारा हो जायगा।

भवदीय,
मोतीलाल नेहरू, मोहनदास करमचन्द गांधी,
सरोजिनी नायडू, वल्लभभाई पटेल,
जयरामदास दौलतराम, सैयद महमूद,
जवाहरलाल नेहरू।

परिशिष्ट—ग

[२६ जनवरी, १९३१ को पढ़ा गया पुण्य स्मरण का प्रस्ताव]

"भारत माता की उन सन्तानों का, जिन्होंने आजादी की महान् लड़ाई में भाग लिया और देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक कष्ट और कुर्बानी की; अपने उस महान् और प्रिय नेता महात्मा गांधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे हैं और जो हमें सदैव उसी ऊंचे आदर्श और पवित्र साधनों का मार्ग दिखाते रहे हैं; उन सैंकड़ों हजारों बहादुर नवयुवकों का, जिन्होंने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाई; पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदों का; उन सैंकड़ों हजारों भाइयों का, जिन्होंने दुश्मन के नृशंस लाठी-प्रहारों का मुकाबला किया और उन्हें सहा, गढ़-वाली रेजीमेण्ट के सैनिकों और फौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियों का, जिन्होंने अपनी जानें खतरे में डालकर भी अपने देश-भाइयों पर गोली आदि चलाने से इन्कार कर दिया; गुजरात के उन दबंग किसानों का, जिन्होंने बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशंस अत्याचारों का मुकाबला किया; भारत के अन्य प्रदेशों के उन बहादुर और पीड़ित किसानों का, जिन्होंने सब प्रकार के दमन को सहकर भी लड़ाई में पूरा भाग लिया; उन व्यापारियों और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायों का जिन्होंने जबरदस्त नुकसान उठाकर भी राष्ट्रीय संग्राम में विशेष कर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार में सहायता की; उन एक लाख स्त्री-पुरुषों का, जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे, यहां तक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटें सहीं; और खासकर उन साधारण स्वयंसेवकों का जिन्होंने भारतमाता के सच्चे सिपाहियों की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एकमात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टों और कठिनाइयों के बीच भी अनवरत और शान्ति-पूर्वक कार्य किया, हम .... नगर के निवासी गौरव और कृतज्ञतापूर्ण हृदय से अभिवादन करते हैं; और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते हैं, भारत

की नारी जाति का, जो कि भारत-माता के संकट-समय में अपने घरों की शरण छोड़कर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय-सेना में अपने भाइयों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर अगली कतार में खड़ी रही और बलिदान और सफलता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया; और भारत की उस युवकशक्ति और वानर-सेना पर जिसे उसकी सुकुमार आयु भी लड़ाई में भाग लेने और अपने ध्येय पर कुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते हैं।

"और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्णों ने इस महान् संग्राम में हाथ बंटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्ति-भर प्रयत्न किया। खासकर—मुस्लिम, सिक्ख, पारसी, ईसाई आदि अल्पसंख्यक जातियों के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी अनन्य मातृभूमि के प्रति अपनी एक-निष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त करने और उसे कायम रखने तथा उस नवीन स्वतन्त्रता का भारत के समुदाय के लोगों की बेड़ियां तोड़कर सबमें असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतन्त्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जब तक हिन्दुस्तान आजाद नहीं हो जाता तब तक अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।